5·1

हिन्दी नाट्यशास्त्र



३

चौखम्भा संस्कृत संस्थान · वाराणसी



श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

(विंशत्यध्यायादारभ्य सप्तविंशत्यध्यायान्तो
तृतीयो भागः)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२१५



श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

'प्रदीप' हिन्दीव्याख्या-टिप्पणी-परिशिष्ट-प्रस्तावनादिभिर्विभूषितम्

(विंशत्यध्यायादारभ्य सप्तविंशत्यध्यायान्तो तृतीयो भागः)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री

एम० ए०, साहित्याचार्य प्रभृति

[मध्यप्रदेश शासन (साहित्य अकादमी) सम्मानित]

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष स्नातकोत्तर संस्कृत अध्यापन एवं संशोध विभाग

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, राजापुर (म० प्र०)



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०४०
मूल्य : रु० ८०-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पो० बाक्स नं० ८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
215

NĀṬYA ŚĀSTRA

OF

BHARAT MUNI

Critically edited with 'Pradīpa' Hindi Commentary, Various readings, Introduction, Preface, Index and Critical notes

(PART THIRD)

(Chapters 20 to 27)

By

Prof. BĀBŪ LĀLA ŚUKLA, ŚĀSTRĪ
M. A., Sāhityācārya
Honoured by the Madhya Pradesh Government (Sahitya Acedemy)
Professor and Head of Sanskrit Department in Postgraduate Teaching and Research, Government Postgraduate Coollege, Shajapur (M P.)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Phone : 65889
First Edition : 1983
Price Rs. 80-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Post Box No. 84
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221001
Phone : 65444

पुरोवाक्

नाट्यशास्त्र के 'प्रदीप' हिन्दी-व्याख्यादि के साथ मण्डित तृतीयभाग को प्रस्तुतक्रम में प्रकाशित कर सुधीजन के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता और सन्तोष का अनुभव हो रहा है। यह तृतीय भाग भी द्वितीय भाग के प्रकाशन के चार वर्ष पश्चात् प्रस्तुत हो सका। इन चार वर्षों के अन्तराल में कुछ अप्रत्याशित घटनाएँ घटित होकर प्रत्यूहव्यूह के भेदन के उपरान्त ही यह भाग अपना निर्विघ्न मुद्रण कार्य चलाते हुए पूर्ण हो पाया। इसका भी पिछले भागों की तरह ही स्वागत होगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है तथा अब शेष चतुर्थभाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होकर बिना अधिक प्रतीक्षा के अनुशीलनकर्त्ताओं एवं पाठकों को उपलब्ध हो जाएगा (क्योंकि इसका मुद्रण प्रगति पर है)।

नाट्यशास्त्र के प्रकृत तृतीयभाग में भी पिछले भागों की ही तरह प्रस्तावना में इसी भाग से सम्बद्ध विषयों की विवेचना रखी गयी है जिससे नाट्यशास्त्र के विस्तीर्ण एवं व्यापक अध्ययन में सहायता मिलेगी। परिशिष्ट एक में पूर्वखण्ड के अनुगमन पर व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ रखी गयी हैं जिनमें अध्याय २३ से २७ तक संक्षेप इसलिये किया गया क्योंकि सम्बद्ध स्थान पर टिप्पणियों में दी गयी बातों की पुनरुक्ति न हो। आहार्य अभिनय के कुछ अलंकरणों के रेखाचित्र भी लगाये गये हैं जिससे इस विषय में अधिक रूप में अध्येता को लाभ हो सकेगा, ऐसी आशा है।

नाट्यशास्त्र के इस भाग की प्रस्तावना में अनेक सम्बद्ध विवरण भी लगाये गये हैं तथा इस भाग के मूलपाठ को यथाशक्य ऐसा रखा गया है कि कोई सन्देह या प्रश्न चिह्न न हो तथा खण्डित अंश न बचें। पाठकगण एवं समीक्षक विद्वान् इससे सन्तुष्ट होंगे।

नाट्यशास्त्र के प्रकृत संस्करण को सुधी पाठकों के सहयोग का मिलना एक सुसंयोग रहा तथा इसी गुण के कारण प्रथम भाग का संशोधित

द्वितीय संस्करण का प्रकाशन गतिशील है तथा द्वितीयभाग को मध्यप्रदेश शासन की साहित्य परिषद् द्वारा पुरस्कृत किया जा चुका है जो एक उपलब्धि मानी जाएगी। देशभर के संशोधक सुधीजन एवं अनुशीलक शोधार्थी जन के अतिरिक्त सामान्य पाठकों का भी इसी संस्करण को रुचि-पूर्वक अनुमोदित करना तथा अनेक विश्वविद्यालयों एवं अध्ययन संस्थानों के द्वारा इसी संस्करण का उपयोग भी एक सफलता है एतदर्थ मै इन सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त कर रहा हूँ।

प्रकाशन के सम्बद्ध में एक निवेदन और भी है कि इस तृतीयभाग का प्रकाशन भी अपने पिछले भागों के क्रम में अधिक शीघ्र हो रहा है तथा चतुर्थभाग को भी शीघ्र प्रकाशित करने की भावना से प्रेस में लगा दिया गया है। इसके साथ ही प्रथमभाग के शीघ्र ही द्वितीयसंस्करण को भी पाठकों को उपलब्ध करवाने के प्रयत्न चालू हैं। यह सभी 'प्रदीप' हिन्दी-व्याख्यादि के नाट्यशास्त्र के प्रकृत संस्करण के लिये शुभ वार्ताएं हैं जो अवश्य ही सभी का स्नेह, आशीष एवं समर्थन पाकर और अधिक व्यापकता का क्षेत्र प्राप्त करती रहेगी, यही आशा है।

वाराणसी की गौरवशालिनी प्रकाशन संस्था 'चौखम्भा संस्कृत संस्थान' तथा उसके संचालक श्री भाई मोहनदास जी गुप्त का भी इस कार्य में योगदान मूल्यवान् रहा है जिससे सभी भाग पाठकों को उपलब्ध हो रहे हैं। अब शीघ्र ही चतुर्थभाग भी ये प्रकाशित करने में पूरी शक्ति दे रहे हैं जो अभिनन्दन के योग्य है। सुधीजन एवं सहृदय पाठक इन्हें पूर्ववत् प्रोत्साहन तथा सहयोग देंगे। यह विश्वास है। मैं इस ग्रन्थ के मुद्रणादि में होने वाली त्रुटियों के लिये क्षमाकांक्षी हूँ तथा विद्याविलास प्रेस, वाराणसी की तत्परता के लिये एक बार पुनः कृतज्ञता प्रकट कर रहा हूँ। नाट्यशास्त्र के प्रेस संपादक भी एतदर्थ अभिनन्दनीय हैं।

उज्जयिनी
दिपावलि, वि० सं० २०३९

सुधीजन कृपाकांक्षी
बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

प्रस्तावना

भारतीय वाङ्मय में काव्य की दो प्रधान विधाएँ दृश्य तथा श्रव्य नामों से जानी जाती हैं जिनमें श्रव्य काव्य की परिधि में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीति काव्य, आख्यान, आख्यायिकाएँ, चम्पू आदि की परिगणना की गयी है। इन श्रव्य काव्यों की प्रमुख संपदा वर्णना मानी गयी है। दृश्य काव्य भी रचना के साथ-साथ अभिनेयता को लेकर—जब चतुर्विध अभिनयों के माध्यम से अवस्था के अनुकरण द्वारा–'नाट्य' रूप ग्रहण करता है। नाट्यशास्त्र में इसी नाट्य के विभिन्न आयामों की व्यापकरूप में तथा अतिसूक्ष्मता से ऐसी चर्चा की गयी है जिनसे नाट्य के अंगों की समग्रता निर्मित हो। दृश्यमयता को नाट्य का मूलतत्व मानने के कारण इसे 'दृश्य काव्य' भी माना गया। इस नाट्य के द्वारा पात्रों का केवल रूप ही परिदृश्यता या रूपायित नहीं होता परन्तु समग्र जीवन आस्वाद्य या अनुभवगम्य बनता है। यह रस ही वह चरम आनन्द हैं जो नाट्य के माध्यम से आस्वाद्य बनाया जाता है।

नाट्य—पारिभाषिक रूप में यह नाट्य 'रूप' भी कहा गया है, क्योंकि तभी दृश्यमयता आती है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार 'नाट्य' शब्द नट् (नमनार्थक धातु) से निष्पन्न है, जहाँ पात्र अपने स्वभाव (या स्वरूप) को त्याग कर परभाव ग्रहण करे तो वह 'नाट्य' या रूप हो जाता है। अष्टाध्यायी में (४।३।१२९) 'नटानां धर्म आम्नायो वा नाट्यम्' कह कर नटों के धर्म या चेष्टाओं के अतिरिक्त उनके सम्पाद्य कर्म का प्रतिपादक ग्रन्थ भी 'नाट्य' बतलाया। भरतमुनि ने नाट्य की व्यापक चर्चा की तथा उसे वाक्यार्थ के अभिनय द्वारा अभिव्यक्त करते हुए सहृदय के चित्त में रसोत्पत्ति का आधायक तत्त्व कहा। इस प्रकार 'नाट्य' रसाश्रय हो जाता है जिसका उल्लेख आचार्य धनिक और धनञ्जय ने भी किया है। इस नाट्य की दृश्यमयता ही इसे रूपक बनाती है। इस प्रकार दृश्यकाव्यों के लिये नाट्य, रूपक तथा 'नाटक' शब्द प्रचर्चित है तथा इनका साहित्य में समानार्थक प्रयोग होता है। नाट्यशास्त्र में 'नाट्य' का, जो रूपकों की स्वरूपचर्चा के प्रसंग में विवरण दिया गया उसकी आगे चर्चा हो रही है।

नृत्यः—अभिनय-प्रयोग की स्थिति में नाट्य के पश्चात् 'नृत्य' का दूसरा स्थान है। इस शब्द की निष्पत्ति 'नृत्' धातु से मानी जाती है। आचार्य धनञ्जय के अनुसार इसका लक्षण है —जो भावाश्रित होता है वह नृत्य है (भावाश्रितं नृत्यम्) अतएव जिसमें अभिनय के द्वारा किसी पदार्थ को अभिव्यक्त कर आन्तर भावों को अभिव्यक्त किया जाता है वह 'नृत्य' है। अभिनय-दर्पणकार नन्दिकेश्र ने भी रस तथा भावों के व्यंजना कारक प्रदर्शन को 'नृत्य' कहा है जिसको राजसभा आदि में प्रस्तुत किया जाता था। इस प्रकार नृत्य में रस, भाव-व्यंजना का विनियोजन रहता है तथा इसी कारण 'नृत्य' का महत्त्व अभिनय प्रयोग में माना जाताहै। नाट्य में जहाँ रसों तथा वाक्यार्थ के अभिनय पर बल दिया जाता है वहीं नृत्य में रस, भाव तथा पदार्थ का अभिनय प्रस्तुत होता है।

नृत्तः—अभिनय प्रदर्शन में 'नृत्त' महत्त्वपूर्ण एवं तीसरा प्रभेद माना जाता है। इस शब्द की निष्पत्ति भी 'नृती' गात्रविक्षेपे धातु से मानी जाती है। जिस प्रदर्शन में भाव या पदार्थ का प्रदर्शन नहीं होता उसे आचार्य नन्दिकेश्वर ने 'नृत्त' कहा है—

'भावाभिनयहीनं तु नृत्तमित्यभिधीयते।'

नृत्त में ताल तथा लय के अनुरूप हस्त, पाद आदि अंगों का संचालन होता है। आचार्य भरत ने नृत्त का अभिनय के साथ प्रयोग इसलिये मान्य किया कि वह शोभा का आधायक होता है।

आचार्य नन्दिकेश्वर ने इस नृत्त के अवसरों का निर्देश करते हुए बतलाया कि इसे—राज्याभिषेक, महोत्सव यात्राकाल, तीर्थयात्राप्रसंग, प्रियजन का समागम, नगरप्रवेश, गृहप्रवेश, पुत्रजन्म तथा इसी प्रकार के अन्य शुभ कार्यों के अवसर पर आयोजित किया जाता है। यथाः—

नृत्तं तत्र नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे।
यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसङ्गमे।
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।
शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं माङ्गल्यं सर्वकर्मभिः॥

इस प्रकार केवल ताल एवं लय के आश्रित रहने पर भी अभिनय प्रयोग में 'नृत्त' की आवश्यकता समझी गयी जो 'नाट्य' के बाद भी अपेक्षित थी।

नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों में 'नृत्त' के दो प्रभेद माने गये हैं—ताण्डव तथा लास्य। देवाधिदेव महेश्वर द्वारा प्रवर्तित एवं तण्डु द्वारा महेश्वर से उपलब्ध इस नृत्त की प्राप्ति भरत मुनि को हुई थी। नृत्त पुरुषपात्र के द्वारा प्रयोज्य उद्धत प्रयोग वाला रहने से 'ताण्डव' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस 'नृत्त' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कथा है कि दक्षप्रजापति के यज्ञ का विध्वंस कर सान्ध्यवेला में शिव ने विविधरेचकों तथा अंगहारों आदि के साथ सर्व प्रथम 'ताण्डव' किया था।

इस प्रकार अंगहार, पिण्डीबन्ध तथा रेचकों से जिस 'नृत्त' की सृष्टि हुई थी उसे शिव के ही अनन्य पार्षद महामति तण्डु मुनि ने उसीमें गान एवं वाद्ययन्त्रों का संयोग करते हुए प्रयोग स्थापित किया। इसी कारण इन मुनि के नाम पर ही इसका 'ताण्डव'-नामकरण भी हुआ। भरतमुनि ने इसके रूप एवं प्रयोग को स्पष्ट करते हुए बतलाया कि इस ताण्डव में वर्धमानक का समायोजन होता है जो कला, ताल, वर्ण एवं लय पर आश्रित रहता है। इसमें स्वर, ताल, लय और कलाओं के अनुसार वाद्ययन्त्रों के वादन की योजना करते हुए अर्थ-व्यंजना के लिये गात्रविक्षेप या अंगचालन किया जाता है। इसके प्रयोग का अवसर देवताओं की अर्चना के समय रहता है; इसके अतिरिक्त शृंगाररस के सुकुमार भावों की अवतारणा में भी इसको सुविधानुसार रखा जाता है। ताण्डव में सूची चारी का भाण्ड वाद्य के साथ प्रयोग बहुलता से रहता है। नटराज के इस ताण्डव नृत्त में सृष्टि विषयक पाँच प्रक्रियाओं का निरूपण भी परिलक्षित होता है यथा:— सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोभाव एवं अनुग्रह (मुक्ति)। परम्परागत ग्रन्थों में नटराज शिव के चार रूप मान्य है जिनमें प्रथम है **'संहारमूर्ति'** (ध्वंसात्मक शक्ति वाला रूप) द्वितीय **दक्षिणामूर्ति** (शुभप्रद रूप), तृतीय **'अनुग्रहमूर्ति'** (वरप्रदायक रूप) तथा चतुर्थ **'नृत्यमूर्ति'** (गीतादि कलात्मक रूप) है। इनके नृत्य रूप में ही १०८ मुद्राएँ बनती है जिनकी मन्दिरों, कलामण्डपों आदि में अंकित स्थितियाँ देखी जा सकती हैं।

लोक में अभिनय की सृष्टि करते समय लोक में भगवती पार्वती द्वारा जिस विलासपूर्ण (शृंङ्गारप्रचुर) सुकुमार सृष्टि को किया गया वही 'लास्य' नृत्त के नाम से प्रचलित हुई। नाटचशास्त्र में लास्य के दस प्रभेदों का विवरण मिलता है जिनके नाम हैं; यथा—(१) गेयपद, (२) स्थित–पाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक,

(६) द्विगूढ़क, (७) त्रिगूढ़क, (८) सैन्धव, (९) उत्तमोत्तमक तथा (१०) उक्तप्रयुक्त । (इनके लक्षणादि ना० शा० २० वें अध्याय में यथा स्थान देखें) ।

इस प्रकार नृत्त और नृत्य के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि जहाँ 'नृत्य' भावों पर आश्रित है तो 'नृत्त' अंग विक्षेप युक्त होता है और ताल एवं लय पर आश्रित भी। जहाँ नृत्य में किसी पदार्थ या विषय पर अभिनय किया जाता है तो 'नृत्त' किसी भी विषय पर नहीं रहता, नृत्य भावाभिनय में सहकारी बनता है पर नृत्त केवल सौन्दर्य विधायक होता है। 'नृत्य' के क्षेत्र व्यापक और नृत्त का स्थानीय होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाट्य, नृत्य और 'नृत्त' ये तीनों नाट्यशास्त्र की विकास परम्परा के द्योतक हैं। इनमें 'नाट्य' सुखदुःखात्मक मानवचरित (लोकचरित) की बहुविधता का प्रतिफलन होने से मानवीय जीवनसरिता में एक हिलोर को उत्पन्न करता है और नृत्त' या 'नृत्य' केवल 'नाट्य' के उपकरण बननेतक की गतिशीलता रखते हैं। 'नाट्य' की दृश्यमानता के कारण 'रूप' या रूपक को स्थिति बनती है। धनञ्जय ने स्पष्ट ही कहा है कि रूप, रूपक और नाट्य का प्रयोग शक्र, इन्द्र और पुरन्दर की तरह पर्यायवाची है और ये दृश्यकाव्य के लिये प्रयुक्त हैं। नाट्यशास्त्र में रूपकों का निरूपण (इस तृतीय भाग के) बीसवें अध्याय में दिया गया है।

अध्याय के आरंभ में ही मुनि ने बतलाया कि जैसे संगीतशास्त्र में एक ग्राम या स्वरसमुदाय की दूसरे ग्राम से भिन्नता (पार्थक्य) स्वरगत योजना के कारण बनती है वैसे ही वृत्तियों की विभिन्न योजना से रुपकों के भेद होते हैं। अतः मुनि ने जिन दस प्रकारों को आरंभ में उद्देश्य क्रम में ही बतलाया वे परस्पर भिन्न हैं और यें नाट्यरचना के शुद्ध मूल रूप हैं। यहाँ ऐसे रूपकों को नहीं लिया गया जो दो रूपकों के लक्षणों के मिश्रण या मेल से बनते हों; जैसे— नाटिका जहाँ नाटक और प्रकरण के तत्त्वों का मिश्रण कर नया विभेद वतलाया है। भरत के उत्तरकालीन कोहल आदि शास्त्रकारों ने रूपकों के मिश्रप्रभेदों तथा लक्षणादि का भी विवरण दिया है।

रूपक के दोप्रमुख प्रकार :—दस रूपकों का क्रम देखने पर स्पष्ट है कि इसमें रूपकों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है जिसमें एक पूर्णवृत्ति वृत्यंग अर्थात् वे रूपक जो सर्वाङ्ग हैं एवं दूसरे वृत्तिन्यून अर्थात् जिनमें कुछ अंगों से न्यून रूपों की स्थिति रूपकों में हों। नाटक तथा प्रकरण प्रथम वर्ग में

तथा शेष आठ रूपक प्रभेद दूसरे वर्ग में आते हैं। इन दो प्रभेदों में भी प्रकरण की अपेक्षा प्रमुखता रखने के कारण सर्वप्रथम नाटक के विषय में ही विचार आवश्यक है।

नाटक :—रूपकों के प्रकारों में 'नाटक' अपनी उत्कृष्टता की स्थिति के कारण प्रथम उल्लेख की योग्यता रखता है तथा रूपकों का प्रधान भेद भी है। इसकी कथावस्तु प्रख्यात या ऐतिहासिक होती है, जहाँ नृपति उदात्तचरित्र वाले व्यक्ति का वृत्त अनेक भावों तथा रसों से पूर्ण रखकर इस प्रकार पल्लवित किया जाता है कि प्रेक्षकों के मानस में भी उन्हीं सुख दुःभात्मक संवेदनाओं की अनुभूति हो तथा उदात्तीकरण भी[1] नाटक के इतिवृत्त की प्रख्यात स्थिति से प्रयोग में लोकप्रियता आ जाती है तथा दर्शकों में (उसके प्रति) रुचि बनी रहती है। अतः (हमारे) परम्परागत एवं प्राचीन रामायण, महाभारत, पुराण एवं बृहत्कथा जैसे आख्यानादि के आधार पर नाटकीय इतिवृत्त का पल्लवन नाटक में आवश्यक माना गया है। इस विषय में आचार्य अभिनव गुप्त एवं आचार्य भट्ट तोत का मत है कि 'नाटक की प्रदर्शनीय वस्तु प्रसिद्ध तो होना ही चाहिए परन्तु इन घटनाओं के सम्बन्ध लोकप्रसिद्ध नायक को लोकप्रसिद्ध स्थान पर विद्यमान भी प्रदर्शित करना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाटक में इतिवृत्त या वस्तु, विषय या देश, नायक तथा रस ये चारों ही प्रख्यात होने चाहिए क्योंकि नाटक के ये प्रधान अंग है।

नाटक का नायक रार्जाष—वंशधर होने से 'प्रख्यात' तथा वीर-रस के प्रदर्शन के उपयुक्त उदात्त होता है। इसे दिव्य या देवता नहीं होना चाहिए जिसे इष्टवस्तु की सिद्धि अपनी दिव्य शक्ति से हो जाती है। रसानुभव के लिये अपेक्षित तादात्म्य दिव्यनायक के साथ कठिनाई से स्थापित होने के कारण केवल नाटक का दिव्य-नायक शिक्षाप्रद और उपयुक्त नहीं हो सकता। अतः नाटक में केवल दिव्य पात्र को नायक की सहायता के लिये मंच पर प्रस्तुत करना चाहिए, यही उचित है। नायक की उदात्तता, गुणसम्पन्नता भी अर्थपूर्ण समझना चाहिए क्योंकि ये नायकगुण धीरोदात्त के अतिरिक्त धीरललित तथा धीरप्रशांत में भी नाटक में हो सकते हैं। यद्यपि विश्वनाथ कविराज तथा सिंहभूपाल जैसे आचार्यों ने नाटक के नायक को केवल धीरोदात्त ही रहना

१. हृ० ना० शा० २०।१० तथा आगे भी।

बतलाया है परन्तु संस्कृत के ऐसे अनेक नाटक मिल जाएँगे जिनमें नायक या तो धीरोद्धत है या धीरललित या धीरप्रशान्त भी। भरत के मत में ये सभी नाटक के नायक हो सकते है।[1] इसी तथ्य को ठीक मान कर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने धीरोदात्तादि चारों प्रकार के नृपतियों को ही मान कर उन्हें नाटक के नायक के उपयुक्त दिखलाया।

नाटक के प्रख्यात कथावस्तु को सन्धि सन्ध्यन्तर, लक्षण, अर्थ-प्रकृति, अवस्था आदि के सभी प्रभेदों से युक्त रहना चाहिए। इसी प्रकार रहने से नाटक में पूर्णता एवं शास्त्रीयता का निर्वाह होगा। नाटक में कथा-वस्तु के अन्तर्गत नानाविभूति, ऋद्धि एवं विलास की भी कल्पना की गयी है। यद्यपि मनुष्य के जीवन में आनेवाले धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जैसे पुरुषार्थ का भी प्रयोग होने पर वही ऋद्धि या विलास से यदि पूर्ण रहे तो उसमें लोकप्रियता भी आती है, इसलिये इनकी बहुलता नाटक में अपेक्षित मानी गयी। एक बात और भी है कि ऋद्धि एवं विलास के द्वारा वीर तथा शृंगार रस की प्रमुखता की भी नाटक में स्थिति संकेतित की गयी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नाटक में नायक की पुरुषार्थ सिद्धि में सहायक घटनाओं का ही प्रदर्शन रहना चाहिए। कभी-कभी सामान्य जन की रुचि को ध्यान में रख कर अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की सिद्धि में सहायक घटनाओं को भी ले लेना चाहिए परन्तु नाटककार को ऐसी घटनाएँ प्रदर्शित नहीं करना चाहिए जो पुरुषार्थसिद्धि में प्रत्यक्षतः सहायक न हों। इस प्रकार नाटक के प्रभाव को ध्यान में रखकर भरतमुनि ने ये सभी बातें नाटक में रखने की बात कही।

नाटक की समग्रता के लिये इसमें वृत्तियों की योजना भी रसानुकूल रहना चाहिए क्योंकि ये नाट्य की मातृभूता होती हैं। यदि संभव हो तो सभी वृत्तियों की योजना की जाए परन्तु यदि ऐसा न हो तो भी कोई दोष नहीं होगा। नाटकीय कथावस्तु के अंग, प्रभाव तथा उद्देश्य की दृष्टि से इसमें पाँचों सन्धियों, चौसठ अंगों, छत्तीस लक्षणों से युक्त, गुण एवं अलंकारों से शोभित, प्रयोग से रमणीय, सुखाश्रय एवं मृदुल रचनाशाली नाटक होना चाहिए।[2] नाटक में सभी भाव, सभी रस, सभी कर्म एवं प्रवृत्तियों की स्थिति

---

१. ना० द० सू० पृ० २३।

२. पंचसन्धि, चतुर्वृत्तिश्चतुष्षष्ट्यंगसंयुतम्। इत्यादि
ना० शा० २१।१३९–१४१

रहना चाहिए। इसीलिये रूपकों के सभी भेदों में नाटक श्रेष्ठ तथा सर्वप्रथम उल्लेख्य माना गया।

भरत मुनि ने नाटक के प्रसंग में नाट्यप्रदर्शन में रखे जाने वाले विधि-निषेधों को भी दिखलाया। उनके अनुसार नाटक का विभाजन अंकों में होना चाहिए जो पाँच से कम तथा दस से अधिक न रहें। इससे अधिक रहने पर यह 'महानाटक' हो जाता है। नाटकीय कथावस्तु की धारावाहिकता के लिये आवश्यकतानुसार उसमें प्रवेशक तथा विष्कम्भक आदि पाँच अर्थोपक्षेपकों की भी योजना रखी जाती है। इसमें युद्ध, राज्यभ्रंश, मरण, नगरोपरोध जैसी रखी जाने वाली घटनाओं को इन्हीं अर्थोपक्षेपकों से प्रस्तुत करना चाहिए। नाटक में प्रधान नायक का वध साक्षात् प्रस्तुत नहीं किया जाता है, केवल उसका ग्रहण या अपसरण या सन्धि ही योजित की जावे। प्रत्येक अंक में ऐसी घटनाएँ न रखी जाएँ जिनमें अधिक पात्रों का जमाव हो जाए; जैसे—रामाख्यान में वानरों के द्वारा सेतुबन्ध कार्य। अंक में चलने वाली घटनाएँ या अंक का आयाम गोपुच्छ के बालों की तरह आवश्यकतानुसार छोटा बड़ा रखा जाता है। भरत ने यह सभी विवरण नाट्यप्रयोग की समृद्धि और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से रखा है।

भरत मुनि ने नाटक की भाषा के मृदुललित पदार्थ युक्त, गूढ़शब्दार्थ हीन तथा जनपदसुखबोध्यता को ध्यान में रख कर प्रयुक्त करने का भी संकेत दिया जो प्रयोग की दृष्टि से उपयोगी है।

नाटक के स्वरूपान्तर्गत विभिन्न प्रभेदों की कल्पना को भावप्रकाशनकार शारदातनय ने आचार्य सुबन्धु का मत दिखलाते हुए दर्शाया। तदनुसार इसकी पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित तथा समग्र मदें होते हैं। इनमें जिस नाटक में मुख आदि पाँचों सन्धियों की स्थिति रहे वह 'पूर्ण'। इसके प्रशान्त विभेद में सभी पाँचों सन्धियाँ तो रहती ही हैं इसके अतिरिक्त उनमें विशेषरूप में न्यास, समुद्भेद, बीजोक्ति, बीजदर्शन तथा अनुद्दिष्टसंहार का भी समावेश रखा जाता है। ऐसे उदाहरण के लिये नाटक है—स्वप्नवासवदत्त। इसके तीसरे 'भास्वर' प्रभेद में एक विशेष रूप में सन्धियाँ कथावस्तु में ग्रथित की जाती हैं। जिनके क्रमशः नाम है—माया, नायकसिद्धि, ग्लानि, परिक्षय तथा मात्रावशिष्ट संहार।[1] इसी भास्वर नाटक का उदा-

१. भ० प्र० पृ० २३८–२४१

हरण राजशेखर कृत बालरामायण को लिया जा सकता है। चतुर्थ प्रकार 'ललित' है जिसमें पाँचों सन्धियों को विलास, विप्रलम्भ, विशोधन तथा उपसंहार की परिधि में चार भागों में स्थापित किया जाता है। इसका उदाहरण कालिदास कृत विक्रमोर्वशीय को समझना चाहिए [यद्यपि यह एक सन्धि या अंग की न्यूनता के कारण 'त्रोटक' उपरूपक माना गया है]। सुबन्धु के पाँचवें 'समग्र' प्रभेद में नाटकीय कला की सभी विधाओं, अंगों तथा आदर्श या विधान के साथ-साथ सभी प्रकार के पात्रों को लेकर लक्षणानुसरी नाट्यरचना रहती (तो वह समग्र कहलाती है) है। इसका उदाहरण है हनुमद् कवि का 'महानाटक'। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सुबन्धु आचार्य ने विभिन्न नाटकों के लिये सन्धियों के अलग-अलग नाम दिखलाकर कथावस्तु की स्थिति को दर्शाया। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि उसने ऐसा करते हुए भी भरत मुनि की पंचसन्धि वाले नाटक के स्वरूप को न केवल ध्यान में रखा वरन् उसका क्षेत्रविस्तार के साथ-साथ अनुसरण भी किया।

प्रकरण :—प्रकरण रूपकों में द्वितीयस्थानीय प्रमुख प्रकार है, जो नाटक की ही तरह पूर्ण लक्षण वाला होता है, केवल थोड़ी-सी भिन्नता के साथ। प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य या कविकल्पित होती है नाटक की तरह प्रख्यात नहीं। इस प्रकार प्रकरण के नायक, साध्य एवं साधन सभी कविकल्पना से निर्मित रहते हैं। इसी कारण इसका कथानक भी धार्मिक आख्यानक ग्रन्थों को छोड़कर बृहत्कथा आदि कविरचनाओं से लेकर निबद्ध होता है जिसमें नवीन काल्पनिक घटनाओं की योजना भी रखी जा सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है 'कथावस्तु' के कल्पित रहने से इसका स्रोत 'लोक-साहित्य' होता है।

प्रकरण का नायक भी धीरप्रशान्त प्रकृति का विप्र, वणिक्, अमात्य या सार्थवाह आदि होता है जिसके नानाविध चरित का अंकन कथासामग्री के अनुरूप किया जाता है। सहायक पात्रों में विट, विदूषक, श्रेष्ठी, दास, शकार, भिक्षु आदि पात्रों की योजना रहती है। आचार्य अभिनवगुप्त के मत में प्रकरण में विदूषक के स्थान पर विट की योजना रखना उचित है परन्तु प्रकरण में विट और विदूषक दोनों एक साथ भी रखे जा सकते हैं; जैसा कि मृच्छकटिक में है भी।

प्रकरण की नायिका अद्विजवर्णा कुलजा अथवा वेश्या या दोनों को रखा जा सकता है तथा इतिवृत्त के अनुरोध पर किसी की भी प्रमुखता दिखलाई जा सकती है। परन्तु पारिवारिक कथाक्रम में विप्र, वणिक् सार्थवाह, अमात्य, पुरोहित, अधिकारी तथा विट जैसे (सातों प्रकार के) नायकों के घर पर वेश्या नायिका की उपस्थिति न दिखलाई जावे। इसके अतिरिक्त कुलजा और वेश्या नायिका की एक ही स्थान पर उपस्थिति तथा अनुरागादि की स्थिति नहीं रखना चाहिए। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार यदि प्रयोजनवश दोनों एक दृश्य में वर्तमान भी हों तो दोनों की भाषा और व्यवहार तथा प्रकृति में अन्तर होना चाहिए। वेश्या की भाषा यहां संस्कृत और कुलांगना की शौरसेनी रखते हुए दोनों के आचार विनय और मर्यादा के अनुरूप (अपनी प्रकृति के भी) रहने चाहिए।

प्रकरण में नाटक की ही तरह अंक विधान, विष्कम्भक, प्रवेशक, सन्धि सन्ध्यंग, लक्षण, अलंकार, वृत्ति तथा प्रवृत्ति का प्रयोग किया जाता है। यहाँ कैशिकीवृत्ति की मात्रा कम रहती है क्योंकि शृंगाररस के लिये यहाँ नाटक से प्रकरण कई बातों में भिन्नता रखता है।

श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार नायिकाओं की भिन्नता के आधार पर तथा नायक, वस्तु और फल की विभिन्नता के आधार पर प्रकरण के अवान्तर भेद हो जाते हैं जिनकी संख्या २१ है। अन्य आचार्यों ने नायिकाओं के कुलस्त्री, गणिका तथा कुल स्त्री गणिकामिश्र रूप के आधार पर प्रकरण के तीन प्रभेद ही माने हैं। प्रकरण में शृंगाररस की प्रधानता के विषय में भी आचार्यगण भिन्नता रखते हुए भी शृंगाररस की योजना में सहमति रहते हैं।

वास्तव में प्रकरण जीवन की यथार्थ भूमि पर विकसित, सुरभित ऐसा प्रसून है जिसमें मानव की संवेदनाओं की सुवास उच्छसित हो रही है, यही मानना पड़ता है।

नाटिका :—आचार्य भरतमुनि ने दस रूपकों के विवरणादि की प्रतिज्ञा तथा नाटक एवं प्रकरण जैसे दो रूपकों के लक्षण के तुरन्त बाद ही 'नाटिका' का लक्षण दिया। 'नाटिका' का मूल पाठ नाट्यशास्त्र का प्रक्षिप्त अंश है इस विषय के विवाद का कोई निश्चित निर्णय संभव नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त नेइस तथ्य पर कुछ निर्णय न करते हुए भी केवल 'नाटिका' के नाट्यशास्त्रीय मूलभाग पर व्याख्या की जिससे इस प्रभेद की प्राचीन काल से आ रही सत्ता

तथा नाट्यरूपकों में गणना की पुष्टि हो जाती है। क्योंकि नाट्यशास्त्र के परवर्ती प्रायः सभी शास्त्रग्रन्थों में 'नाटिका' का लक्षण मिलता है।

नाटिका :—नाटक तथा प्रकरण के विधायक तत्त्वों (अर्थात् नाटक के प्रख्यात नायक तथा प्रकरण की कल्पित नायिका आदि) के योग से 'नाटिका' की रचना होती है। इसमें प्रकरण के समान कथावस्तु कविकल्पित रहती है तथा नाटक के समान नायक प्रख्यात तथा नृपति होता है। अन्तःपुर में स्थित संगीतादि कलाओं में प्रवीण की कन्या इसमें नायिका होती है। नायिका कन्या के प्रति महाराज के गुप्त प्रणय की घटना रहने के कारण महारानी या ज्येष्ठा नायिका सदा क्रुद्ध रहती है तथा महराज इसके क्रोध को उपायों से सदा शान्त करने में सक्रिय रहते हैं, क्योंकि इसी मुख्य नायिका के अधीन इनका मिलन (या पाणिग्रहण) रहता है। पात्रों में नायक एवं नायिका, महादेवी के परिजन इसमें पात्र तथा अन्तःपुर सभी घटनाओं का केन्द्र या प्रदेश रहता है। नारी पात्रों की बहुलता, ललित अभिनय, अंगों का संश्लिष्ट योजनाएँ, नृत्य, गीत एवं पाठ्य की व्यवस्थित एवं रमणीय स्थितियाँ और शृंगाररस की प्रमुखता रहती है। इसमें चार अंक तथा सन्धियों में किसी एक सन्धि के संकोच या अल्प अंगों की योजना रखी जाती है तथा इसमें कैशिकी वृत्ति की बहुलता भी होती है।

'नाटिका' के स्वरूप पर परवर्ती नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने भी लक्षण देकर व्याख्याएँ की। धनञ्जय एवं धानिक आचार्यों के मत में कन्या नायिका भी नृपवंशजा ही होती है परन्तु यह अपनी मुग्धता, सौन्दर्य एवं कला-ज्ञान के कारण नायक का आकर्षण बन जाती है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने नायिकाओं की प्रख्यात एवं अप्रख्यात स्थिति को लेकर दोनों नायिकाओं के चार भेद मानते हुए 'नाटिका' के भी नाटक की तरह चार अवान्तर भेदों की कल्पना करते हुए इसे नाटकोन्मुखी माना है। सागरनन्दी, विश्वनाथकविराज तथा शारदातनय ने भरत के लक्षण का अनुगमन किया। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार नाटिका में कन्या नायिका में रति आदि प्रणय-भावों की तथा महादेवी या ज्येष्ठा नायिका में क्रोध, प्रसाद तथा दम्भ आदि भावों योजता रखी जाती है। हर्ष रचित रत्नावली नाटिका आदि इसके उदाहरण हैं।

समवकार :—समवकार रूपक अपने प्रमुख विलक्षण स्वरूप को अपनी कथावस्तु, नेता या पात्रों के नाट्यव्यापारों के कारण रखता है। इसकी

कथावस्तु, पात्र तथा साध्यफल आदि को भरतमुनि ने सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है जो रूपकों के प्राचीन इतिहास तथा उनकी आरम्भक स्थिति को दर्शाता है। इन सभी के परिप्रेक्ष्य में 'समवकार' का विशेष महत्त्व भी है। समवकार को भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में रखे गये उद्देशक्रम में भाण के बाद स्थान दिया गया परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रभेद को नाटक, प्रकरण तथा इन दो मुख्य रूपकों के लक्षणों से मिश्रित नाटिका के बाद ही रखने की स्थिति को औचित्यपूर्ण दिखलाया।

समवकार में नायकों की संख्या बारह होती है तथा इनमें देव तथा दानव जैसे दिव्य पात्र आते हैं जिनमें उदात्त तथा उद्धत प्रकृति के पात्र हैं। यह संख्या नायक तथा प्रतिनायक को मिला कर भी मानी जा सकती है। परवर्ती आचार्यों में आचार्य विश्वनाथ कविराज द्वादश नायकों में मर्त्य पात्र को भी नायक मानते हैं यदि कथावस्तु में उसकी योजना हो। सभी नायक प्रख्यात तथा उदात्त होते हैं। समवकार में तीन अंक होते हैं तथा कथावस्तु प्रख्यात।

समवकार के तीन अंकों में प्रथम में हास्योत्पादक वस्तु भी रखी जाती है। इसमें तीन प्रकार का कपट, तीन प्रकार का विद्रव तथा तीन प्रकार का शृंगार प्रस्तुत किया जाता है। प्रथम अंक का समय बारह नाडिका, द्वितीय अंक का समय चार नाडिका तथा तृतीय अंक का समय दो नाडिका नियत है। (एक नाडिका २४ मिनिट के बराबर मानी जाने से प्रथम अंक चार घंटे अड़तालीस मिनिट, दूसरा एक घंटे छत्तीस मिनिट और तीसरा अड़तालीस मिनिट का होगा)। इसका प्रत्येक अंक अन्य रूपकों की तुलना में स्वयं एक पूर्ण रूपक भी हो जाता है क्योंकि इसके प्रत्येक अंक में कथा-वस्तु समाप्त सी हो जाती है तथा इसके अंकों में अन्यरूपकों की तरह कथा में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। कथावस्तु के इसी बिखराव या विकीर्णता के कारण (समवकीर्यन्ते एभिरर्थाः' इति समवकारः) उसकी अन्वर्थ संज्ञा समवकार है।

तीनों अंकों में प्रयोज्य कपट, विद्रव तथा शृंगार की त्रिविधता इसमें रखी जाती है। इसमें परप्रयोजित, दैववश या सुख दुःख के आघातों से उत्पन्न होने वाला कपट रहता है। विद्रव युद्ध, वायु, अग्नि, हाथी आदि के कारण होता है। शृंगार के तीन प्रभेद होते हैं—धर्मशृंगार, अर्थशृंगार तथा काम शृंगार। तीनों प्रकार के कपट, विद्रव तथा शृंगार का प्रत्येक का

प्रयोग एक-एक अङ्क में रहता है। इस प्रकार समवकार की कथावस्तु नाटक या प्रकरण की तरह शृंखलाबद्धता नहीं रखती।

समवकार में केवल चार सन्धियों की योजना रखी जाती है तथा इसमें विमर्शसन्धि की योजना नहीं होती। इसके प्रथमअंक में दो सन्धियों का तथा द्वितीय और तृतीय में एक-एक सन्धि का समायोजन रहता है। नायकों की प्रकृति को ध्यान में रख कर इसमें वीर तथा रौद्र रस की प्रमुखता रहती है, अतः कोमल रसों की उद्भावना यहाँ क्षीणता लिये रहती है। यद्यपि यहाँ त्रिविध शृंगार का प्रयोग होता है परन्तु उसमें भी किसी सुन्दर स्त्री के आकर्षण से होने वाला संघर्ष भी आ जाता है अतः वह स्थायी रूप नहीं ले पाता। **आचार्य भट्ट तोत** का मत है कि समवकार में कामभाव विद्यमान तो है परन्तु वह राम या दुष्यन्त की तरह न होकर रावण जैसा रहता है तथा विलासादि को यहाँ स्थान न मिलने से कैशिकीवृत्ति को भी अधिक विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। इसमें भारती, सात्वती और आरभटी वृत्ति की बहुलता रहती है जिसके कारण वीर एवं रौद्र रस का प्रसार क्षेत्र बढ़ा हुआ होता है।

समवकार में उष्णिग्, गायत्री आदि बन्धकुटिल छन्दों (या प्राचीन वैदिक छन्दों) का प्रयोग किया जाता है, यह भरतमुनि का मत है। परन्तु नाट्यशास्त्र के टीकाकार उद्भट ने इसमें निषेधपरक पाठ को स्वीकार कर उसकी व्याख्या में इन बन्धकुटिल छन्दों का निषेध करते हुए स्रग्धरा जैसे अधिक वर्णों वाले लम्बे छन्दों का प्रयोग स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने भी इसी मत का अनुगमन किया।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार समवकार में देवयात्रा आदि के दृश्यों के कारण श्रद्धालु भक्त दर्शक ऐसे प्रयोग से अनुगृहीत होते हैं अतः इसका प्रयोग देवप्रतिष्ठा जैसे उत्सव के समय किया जाता है। इसके अन्य दर्शक स्त्री तथा बालकों का भी ऐसे प्रयोग में अनुरंजन हो जाता है तथा वे त्रिकपट शृंगार आदि से मुग्ध होते हैं, क्योंकि वे सम्पूर्ण रूपक को व्यापक दृष्टि से नहीं देख सकते। अतः समवकार आकर्षण एवं रंजन के योग से मण्डित है, यह स्पष्ट है। समवकार का प्राचीन निदर्शन 'अमृतमन्थन' है जिसका भरतमुनि ने उल्लेख किया। वत्सराज प्रणीत 'अमृतमन्थन' सम्प्रति प्राप्य रूपक है तथा घनश्याम प्रणीत 'नवग्रहचरितम्' भी इसका उदारण समझना चाहिए।

ईहामृग :—'ईहामृग' (एक या) चार अंकों वाला रूपक है। इसका नायक उद्धत प्रकृति का होता है जो या तो दिव्य या मानव होता है। इसमें कुल बारह पात्रों की योजना रहती है जो उद्धत स्वभाव वाले होते हैं। इसमें किसी अलभ्य दिव्य स्त्री की प्राप्ति के लिये संघर्ष रखा जाता है अतः उद्धत स्वभाव के पात्रों तथा स्त्री रोष आदि के योग से कथासूत्र आगे वढ़ता है। इसमें अलभ्य स्त्री की प्राप्ति को केन्द्रबिन्दु मानने के कारण सफेद, विद्रव, अपहरण जैसे नाट्यव्वापारों का प्रयोग रखते हुए रूपक को चमत्कारी बनाया जाता है। इसमें परस्पर संघर्ष तो रहता है पर वाद में किसी व्याज या अवसर को रखकर वातावरण शान्त कर दिया जाता है। इसका नायक प्रख्यात तथा इतिवृत्त भी प्रख्यात ही रहता है। इसमें मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धि रखी जाती हैं तथा भारती, आरभटी तथा सात्वती वृत्तियाँ प्रमुखता से रहती हैं। इसमें रति के क्षणस्थायी आभास रहने से शृंगार का योग अल्प एवं कैशिकी की विरल या नगण्य स्थिति रहने से यह रूपक भी कैशिकी रहित होता है। ईरामृग के अंक, रस, इतिवृत्त तथा नायक के विषय में ऐकमत्य नहीं। भरत के अनुगामी सागरनन्दी आदि ने ईहामृग को चार अंक का रूपक माना है तथा इसमें बारह पात्रों के स्थान पर छः पात्रों की स्थिति एवं दो प्रमुख रसों को मान्य किया। आचार्य विश्वनाथ आदि ने अन्य पाठ को स्वीकार कर तथा व्यायोग की समानता को लेकर ईहामृग को एक अंक वाला रूपक माना। आचार्य रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र ने चार या एक अंक का ईहामृग माना परन्तु पात्रों की संख्या बारह ही स्वीकार की। इसका इतिवृत्त प्रख्यात तथा कल्पित या (दोनों के मिश्रण के कारण) 'मिश्र' भी हो सकता है। श्रीरूपगोस्वामी ईहामृग के 'मिश्र इतिवृत्त' को दिखलाते हैं। 'ईहामृग' एक अन्वर्थ संज्ञा वाला रूपक भेद है। ईहा का अर्थ है अभिलाषा तथा 'मृग' शब्द तृण को ढूढ़ने वाले के लिये है अतः जहाँ अलभ्य नायिका के मार्गण या खोजने की वृत्ति को नायक में रखते हुए कथावृत्त को विकसित किया जाये तो वह 'ईहामृग' है। इसमें पताका नायकों को भी मंच पर प्रविष्ट दिखलाया जाता है जो या तो दिव्य या मानव हों परन्तु वे नायक के अभ्युदय में सहायक होते हैं। विश्वनाथ कविराज के अनुसार पात्रों की संख्या दस से बारह रखी जा सकती है। आचार्य शारदातनय ने अन्य वातों के अतिरिक्त इसमें छः रसो की (भयानक तथा बीभत्स को छोड़कर) योजना को भी मान्य किया। ईहामृग रूपकों के प्राचीन

भेदों में मान्य है परन्तु इसका प्राचीन उदाहरण उपलब्ध नहीं। वर्तमान में वत्सराज रचित 'रुक्मिणीहरण', कृष्णमिश्र कृत 'वीरविजय' ईहामृग के प्राप्य उदाहरण हैं।

डिम—'डिम' नाटक के समान ही होता है परन्तु यह कुछ विशेष लक्षणों को भी रखता है। तदनुसार 'डिम' के नायक 'उदात्त' प्रकृति के होते हैं तथा इतिवृत्त ऐतिहासिक या प्रख्यात होता है। 'डिम' में चार अंक होते हैं तथा शृङ्गार एवं हास्यरस की (शान्त की भी) स्थिति नहीं होती पर शेष सभी रस होते हैं। इसकी कथाधारा में उल्कापात भूकम्प, सूर्य तथा चन्द्रग्रहण, युद्ध, द्वन्द्वयुद्ध, छल तथा इन्द्रजाल या माया आदि का प्रचुरता से प्रदर्शन रहता है। 'माया' के प्रयोग के अन्तर्गत दृश्यचित्रों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता है। 'डिम' में सोलह पात्र या नायक होते हैं जिनमें देवता, नाग, असुर, यक्ष, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पिशाच तथा महाराजिक जैसे पात्र होते हैं तथा उद्धत प्रकृति के पात्रों के अनुरूप ही शास्त्रानुसारी सात्वती और आरभटी वृत्ति की योजना रखी जाती है। इसके चार अंकों में चार दिन की घटनाएँ आती हैं जो बड़ी सरस, सुसंगठित एवं सम्बद्ध होतीं हैं (वे समवकार की तरह असम्बद्ध नहीं होतीं)। इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक के नहीं रहने से कथानक में सूच्यांशों का प्रकट करने का अवसर इसलिये नहीं रहता क्योंकि इसका घटनाकाल चार दिन का होता है जो सभी प्रदर्शन के क्षेत्र में आ जाता है। नाटक से लेकर समवकार तक के विविध रूपकों के बाद 'डिम' को प्रस्तुत करने का कारण है—इसमें एक से अधिक अंक का आयाम, अनेक रसों की योजना, प्रख्यात नायक तथा सोलह पात्रों की स्थिति का होना। 'डिम' संज्ञा का कारण शब्द निष्पत्ति को देखते हुए इसमें प्रमुख रूप से संघात या संघर्ष पूर्ण वातावरण तथा विद्रव का रहना है। आचार्य अभिनवगुप्त ने डिम, डिम्ब तथा विद्रव को पर्यायवाची मानकर इसी व्युत्पत्ति को संकेतित किया है जब कि आचार्य धनञ्जय के अनुसार यह शब्द डिम् संघाते धातु से निष्पन्न है।

भरत, अभिनवगुप्तपाद तथा आचार्य विश्वनाथ कविराज के मत में 'डिम' में विष्कम्भक तथा प्रवेशक नहीं होते परन्तु शारदातनय इन दोनों की डिम में योजना का निषेध नहीं करते। रामचन्द्र गुणचन्द्र के मत में डिम में चार रस (शृंगार, हास्य, करुण तथा शान्त) नहीं होते। भरतमुनि ने 'त्रिपुरदाह' को डिम बतलाया जो सम्प्रति अप्राप्य है परन्तु वत्सराज प्रणीत

'त्रिपुरदाह' डिम इसका लक्षणानुसारी उदाहरण है। शारदातनय तथा सागरनन्दी ने इसका उदाहरण नरकोद्धरण या वृत्तोद्धरण दिया है।

व्यायोग :—'व्यायोग' भी डिम और समवकार की तरह ही प्राचीन रूपकों के भेदों में महत्वपूर्ण स्थिति वाला 'रूपक' है। यह डिमादि से समानता भी रखता है और भिन्नता भी। 'व्यायोग' शब्द की निष्पत्ति अनेक पात्रों के एकत्र आकलन या पुरुषपात्रों के युद्ध प्रयोगों के करने से हुई है। यह एकाङ्करूपक है।

व्यायोग का नायक उदात्त न होकर ऐतिहासिक या प्रख्यात पुरुष होता हैं जो राजर्षि (होता) है। आचार्य अभिनवगुप्त व्यायोग के राजर्षि नायक का निषेध करते हैं, वे केवल प्रख्यात नायक ही मानते हैं। उसमें पुरुष पात्रों अधिकता तथा स्त्री पात्रों की विरलता रहती है तथा सब मिलाकर बारह पात्र रहते हैं। इसमें शस्त्रयुद्ध, बाहुयुद्ध, ईर्ष्या, विद्वत्ता, विश्रुत वंशयिता तथा शारीरिक सौष्ठव का चमत्कारिक प्रदर्शन रखा जाता है। एक अंक के आयाम के कारण प्रधानतया वीर अथवा रौद्ररस का कथानक तीन सन्धियों गर्भ विमर्श, रहित (या प्रथम और अन्तिम सन्धि) वाला रहता है। इसमें संग्राम अस्त्रीनिमित्त होता है। विश्वनाथ के अनुसार व्यायोग का नायक दिव्य पुरुष या राजर्षि भी हो सकता है क्योंकि वह धीरोदात्त रूप में मान्य है। सागरनन्दी के अनुसार व्यायोग में ऋषि कन्याओं का परिणय कथावस्तु में ग्रथित किया जा सकता है। प्राचीन रूपक भेदों में रहने से इसका उदाहरण भास का 'मध्यम-व्यायोग' है। प्रयोग की दृष्टि से व्यायोग की लोकप्रियता और महत्व दोनों महत्वपूर्ण है।

उत्सृष्टिकाङ्क :—'उत्सृष्टिकांक' एकाङ्क एवं करुणरस प्रधान रूपक है आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार उत्सृष्ट प्राणों वाली या दिवंगत आत्माओं के लिये शोकाकुल स्त्रीजन का विलाप इसमें रूपायित होता है। इसमें कथावस्तु प्रख्यात तथा कल्पित दोनों ही प्रकार की रखी जा सकती है। इसमें सात्वती आदि वृत्तियों को अवकाश न रहने से केवल वाग्व्यापार प्रधान भारती वृत्ति का प्रयोग होता हैं। इसमें प्रधान रस करुण होता है, जो युद्ध की समाप्ति पर दुःखप्रताडित स्त्रीजन के विलाप पूर्ण संवादों को लेकर उद्दीप्त होता है। इस प्रकार के रूपक का 'उत्सृष्टिकांक' नाम भी दुःखसन्तप्त नारियों के कारण विलाप को अंकित करने के कारण रखा गया है अथवा अन्य वृत्तियों के न रहने या छोड़ देने के कारण इसका वैसा नामकरण हुआ है। इसका

प्रयोजन भी शोकसन्तप्त दर्शकों को अतिशय दुःखसंतप्त जन की करुणदशा प्रस्तुत कर आश्वस्त या शान्ति देना है। इसमें दिव्य पात्र कोई नहीं रखा जाता है परन्तु यदि कथावस्तु के अनुरोध पर कोई दिव्य पात्र रखा भी जाए तो वह भारतवर्ष देश का ही होना चाहिए। यह एकांक रूपक है जिसमें प्रथम और अन्तिम सन्धि की योजना रहती है। आचार्य शारदातनय ने कोहल तथा आंजनेय के मतों के अनुसार द्वयंक तथा त्र्यंक के भी 'उत्सृष्टिकांक' को माना है। इसमें करुणा में भी रंजना-प्रमुखता रहती है। सिंहभूपाल ने रूपक में घटित अमंगल की अन्त में मंगल के साथ समाप्ति की पहल की तथा बतलाया कि वध आदि का प्रयोग यदि हो तो पुनर्जीवन धारण के लिये रहे। महाकवि भास का 'ऊरुभंग' इसका उदाहरण है। आचार्य विश्वनाथ तथा धनिक के मत में उत्सृष्टिकांक का नायक प्राकृत तथा इतिवृत्त प्रख्यात होता है या कल्पित भी। आचार्य धनिक ने इस रूपक को 'गर्भाङ्क' स्वीकार नहीं किया और इस तर्क का खण्डन किया है। शारदातनय ने लक्ष्मण को शक्ति लगने की घटना वाले इतिवृत्त से 'उत्सृष्टिकांक' की स्थिति वाले रूपक ग्रथित होने की बात कहकर मात्र इस रूपक का विषय या कार्यक्षेत्र का संकेत दिया है।

प्रहसन :— प्रहसन हास्यरसप्राय एवं रंजनाप्रधान रूपक भेद है जिसके मुनि ने दो प्रभेद बतलाये—शुद्ध तथा सङ्कीर्ण। शुद्ध प्रहसन में किसी मिथ्याचारी एवं लोकनिन्दित के जीवन को प्रदर्शित किया जाता है अतः इसके नायक कोई यति, तपस्वी, भिक्षु, श्रमण तथा गृहस्थ होते हैं। इसमें मिथ्याचारी नायक का दम्भी जीवन प्रस्तुत होता है, जिसमें नायक धार्मिक कृत्यों की मूढ़ताओं को अपने विवेक से प्रस्तुत करते हुए हास्यरस की भी सृष्टि करता है अतः अतिशय विकट भाषा संस्कृत की इसमें योजना रखी जाती है। भरतमुनि के अनुसार संकीर्ण प्रहसन में विट, वेश्याजन, क्लीव, परस्वजीवी, धूर्त, कुट्टनी जैसे पात्रों की निर्लज्ज वेशभूषा, गति, स्थिति एवं ऐसी मुखाकृति को प्रदर्शित किया जाता है जो जनरुचि में हास्यास्पद हों। इसका प्रयोजन मिथ्याचारीजन को पहचानने और उनसे दूर रहकर जीवन-यापन का मंगल संकेत देना होता है जिससे सामान्य जन उनके चंगुल में न फँस पायें। इसका प्रमुखरस हास्य तथा कथावस्तु उत्पाद्य होती है। आवश्यकतानुसार इसमें वीथी के अंगों को रखा जाता है। शास्त्रकारों के मत में शुद्ध प्रहसन में एक अंक तथा संकीर्ण में पात्रों की संख्या के कारण दो अनेकों या

दो अंकों का रखा जा सकता है। अन्य आचार्यों के मतों में एकांकी रूपकों में प्रहसन की गणना रहने से प्रहसन में एक ही अंक का रहना उचित है। प्रहसन में मुख तथा निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं तथा आरभटी वृत्ति का निषेध। हास्योत्पादक प्रसंगों तथा कथनों से परिपूर्ण होने से इस रूपक की प्रहसन संज्ञा अन्वर्थ है। नाट्यदर्पणकार के मत में प्रहसन व्यंग–विनोद–प्रधान रूपक होते हुए भी जीवन में सुधार की सूक्ष्मप्रेरणाएँ देने वाला होता है। इस प्रकार प्रहसन में स्थित हास्य प्रदर्शन के द्वारा स्त्री, बालक तथा सामान्य जन की रुचि नाटक में जाग्रत होती है तथा व्यङ्ग-विनोद के साथ रुचिकर रूप में जीवन-सुधार की सूक्ष्म प्रेरणा भी प्राप्त होती है, यह स्पष्ट है। धनञ्जय तथा सागरनन्दी आचार्यों ने प्रहसन का तीसरा भेद 'वैकृत' भी माना है। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने प्रहसन में वीथ्यंगो की योजना का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार विनोद के साथ-साथ समाज सुधारक होने से 'प्रहसन' लोकप्रिय 'रूपक' है। इसमें शुद्ध प्रहसन का उदाहरण शशिविलास तथा सङ्कीर्ण का 'भगवदज्जुक' है। प्रहसनों की संस्कृत साहित्य में कमी नहीं तथा ऐसे अनेक प्रहसन सम्प्रति उपलब्ध हैं जो इनकी लोकप्रियता को बनाए हुए हैं।

भाण :—'भाण' एकाङ्क रूपक है जिसमें एक ही पात्र भी होता है तथा वही अभिनेता रूपक के समग्र कथानक को प्रदर्शित करता है। इसकी भाण संज्ञा का कारण भी रंगमंच पर एक नायक द्वारा कथा में विद्यमान अन्य पात्रों के भाषणों का स्वयं कथन या दोहराना है जिसमें वह अपने तथा अन्य व्यक्तियों के अनुभवों का वर्णन करता चलता है। यह एक पात्र ही रंगमंच पर से अन्य पात्रों को—जो घटनाक्रम में आते हों—देखता और उनकी बात सुनता हुआ दिखलाई देता है। इसका नायक विट या धूर्तपुरुष होता है जो कल्पित पात्र है तथा इसकी कथावस्तु भी उत्पाद्य प्रकृति की होती है। यह इसी कारण एकांकी और नट प्रधान रूपक है, जो समाज में विद्यमान कई व्यक्तियों के हृदयों के प्रच्छन्न रहस्यों, पाखंडों, वैशिक जन की मायाओं एवं धूर्तताओं का उद्घाटन करते हुए हास्य की सृष्टि करता है। इसी कारण भाण के दो प्रभेद हो जाते हैं—प्रथम आत्मानुभूतशंसी तथा दूसरा परसंश्रय अनुभव को वर्णित करने वाला। भाण में वाग्व्यापार की प्रचुरता रहने से प्रधानतः भारती वृत्ति की भी इसमें योजना रखी जाती है। इसमें शृंगार या वीररस का प्रयोग रहता है तथा दसों लास्यांगों की योजना की जा सकती है। इसमें मुख तथा निर्वहण सन्धियों तथा दसों लास्यांगों की योजना

२ प्र० ना० शा० तु०

रखी जाती है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार लक्षण में 'सविस्मय' की प्रमुखता एवं भारती वृत्ति के उल्लेख से इसकी प्रहसनता स्पष्ट है। आचार्य विश्वनाथ कविराज ने भाण में भारती वृत्ति के अतिरिक्त कैशिकी वृत्ति तथा लास्यांगों की योजना को भी स्वीकार करते हुए बतलाया कि विट का वर्णन प्रेमलीला से सम्बद्ध रहने से शृंगार रस की इसमें जहाँ स्थिति होगी तो कैशिकी वृत्ति अवश्य होगी। इसका हास्यरस प्रमुख अंग होता है तथा परवर्ती काल में गीत, वाद्य तथा नृत्य की भी योजना इसमें रहने लगी थी। भाण का लक्ष्य दुष्टस्वभाव एवं दुश्चरित्र व्यक्तियों के स्वरूपों का उद्घाटन करना होता है। जिससे सामाजिक एवं सरलस्वभाव के जन इनके प्रभाव से निकल सकें। आचार्य अभिनवगुप्त तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार इसके दर्शकों में साधारण जन या मूढ़ प्रकृति के व्यक्ति आते हैं जो हल्के मनोरंजन को पसन्द करते हैं। यही कारण है कि कालान्तर में यह रूपक अधिक लोकप्रियता को प्राप्त न कर सका। परन्तु यह सामान्यजन की रंजना करने के कारण अनेक रचनाकारों को प्रेरित अवश्य करता रहा है। इसके उदाहरणों में सर्व प्राचीन उदाहरण 'चतुर्भाणी' है तथा उत्तरकालीन अनेक प्राप्य भाण हैं। यह एक ऐसा व्यङ्ग्य प्रधान रूपक है जिसमें हास्य की मीठी पुट के साथ शृङ्गार आदि रसों का आस्वादन सहृदय जन करते हैं। इसे रूपकों का आरम्भक प्रभेद भी अनेक समीक्षक मानते हैं।

वीथी :—रूपकों में 'वीथी' प्रत्येक रस को प्रकट या प्रस्तुत करने के कारण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाला एकांक रूपक माना जाता है। इसमें तेरह अंग या भाग होते हैं तथा एक या दो पात्र होते हैं जो समाज के उच्च, मध्य या निम्न जाति के होते हैं। इसमें एक पात्र के रहने पर भाण की तरह आकाशभाषित शैली या फिर दो पात्रों के रहने पर नाटकीय कथनोपकथन शैली की योजना रखी जा सकती है। इसमें तेरह वीथ्यंगों का अपेक्षानुसारी प्रयोग किया जाता है।

वीथी का नायक तीनों प्रकृति के हो सकते हैं जो कथावस्तु के अनुरोध पर रहेगें। आचार्य अभिनवगुप्त ने श्री शंकुक के इस मत को मान्य नहीं किया कि वीथी का नायक अधम न हो, क्योंकि जहाँ हास्यरस की सृष्टि होगी तो अधमत्व कैसे रोका जा सकेगा। इसमें कैथिकी वृत्ति तथा सूच्य एवं प्रमुख रसशृंगार रहता है तथा अन्य सभी रसों की स्पर्शिता रहती है। वीथी एक ऐसा नाट्य-नृत्य-प्रधान रूपक है, जहाँ दसों लास्यांगों तथा वीथ्यांगों का

प्रयोग किया जाता है। इसकी नायिका सामान्या या परकीया होती है जो अनुरागिनी भी होती है। आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने वीथी को न केवल सभी रसों की प्रयोज्य भूमि माना, उसे 'सर्वस्वामिरसा' कह कर सभी रूपकों का सार भी स्वीकार किया। इसके उदाहरणों का उल्लेख मात्र मिलता है। जैसे—बकुलवीथी भावप्रकाशन के अनुसार तथा मालविका साहित्य दर्पण के।

अन्य रूपक भेद तथा उपरूपकों का विकास:—उत्तरवर्ती आचार्यों में हेमचन्द्र या रामचन्द्र गुणचन्द्र प्रभृति ने नाटिका प्रकरणिका तथा सट्टक को रूपक भेद के अन्तर्गत माना जब कि भरतमुनि के दस प्रभेदों को हो अन्तिम निष्कर्ष के रूप में स्वीकार कर धनञ्जय आदि आचार्यों ने अन्य प्राप्य प्रभेदों को रूपक के किन्ही प्रकारों में स्वीकार नहीं किया, यह कह कर कि भरतमुनि ने केवल रूपकों के दस शुद्ध प्रभेद ही मान्य किये हैं। नायिका विषयक भरतमुनि के विवरण के आधार पर यह कल्पना साधार है कि मुनि ने जव इतिवृत्त के मिश्रण या नेता के आधार पर रूपक भेदों को दिखलाया तो फिर अन्य प्रकार की संभावनाओं के द्वार भी खुल गये। अतः प्रकरणिका तथा सट्टक जैसे भेदों को भी मान्य किया जाना तर्क संगत हो गया। नाट्यशास्त्र में नाटिका के अतिरिक्त प्रकरणिका का यद्यपि ऊल्लेख नहीं मिलता है परन्तु नाटक के अनुरूप नामकरण से तथा अन्य लक्षणों के मिश्रण से जैसे 'नाटिका' हो जाती है उसी प्रकार प्रकरणिका भी। आचार्य धनञ्जय ने यद्यपि 'प्रकरणिका' जैसे प्रभेद का खण्डन किया परन्तु इससे प्रकरणिका के (दशरूपककार के पूर्व) प्रचलन तथा स्वरूप की विद्यमानता प्रकट होती है। यद्यपि इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त मौन हैं किन्तु आचार्य वर्धमान ने अपने **'गणरत्नमहोदधि'** में प्रकरणिका के विषय में बतलाया कि भरत के नाटिका विषयक विधान के आधार पर प्रकरणिका का प्रभेद भी मूलतः नाट्यशास्त्रीय आधार पर ही है जहाँ नाटिका के आधार पर प्रकरणिका को देखे तो इसमें इतिवृत्त अप्रख्यात होता है जब कि नाटिका में यह प्रख्यात है। अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोक लोचन के अनुशीलन से यह स्पष्ट दिखता है कि अभिनवगुप्त भी प्रकरणिका से परिचित थे। उत्तरवर्ती आचार्यों में रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि ने प्रकरणिका को रूपकों के अन्तर्गत तथा (अन्य) विश्वनाथ प्रभृति आचार्यो ने इसे उपरूपकों के अन्तर्गत माना है। प्रकरणिका का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा वाग्भट्ट आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

(१) प्रकरणिका :—प्रकरणिका या प्रकरणी की भी नाटिका के आदर्श पर रचना की गई है। प्रकरण के उन्मुख यह प्रभेद रहने से इसका धीर प्रशान्त नायक् विप्र, वणिक् या अमात्य और नायिका भी सजातीय ही रखी जाती है। प्रकरण की तरह वेश संभोगादि तथा स्त्रीपात्रों की भी बहुलता होती है। इसकी कथा में दुःखप्रचुरता रहने से कैशिकीवृत्ति की अत्यल्पता रहती है। नाटिका के अनुकरण के कारण इसमें श्रृंगाररस निवद्ध होता है तथा चारों सन्धियों की भी नाटिका के समान ही योजना रखी जाती है। विश्वनाथ कविराज प्रकरणिका का नायक सार्थवाह तथा नायिका नृपवंशजा मानते हैं। सिंहभूपाल तथा धनञ्जय आदि आचार्यों ने भरत सम्मत दश रूपकों से भिन्न रूपकों को अमान्य किया क्योंकि रूपकों के शुद्ध प्रभेदों को मिलाने पर सामान्य भिन्नता के आधार पर रूपकों के अनन्त भेद संभव हैं तथा फिर उनकी संख्या की कोई सीमा नहीं रहेगी। प्रकरणिका का उदाहरण का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

(२) सट्टक :—'सट्टक' महत्वपूर्ण रूपकप्रभेद (या नृत्यप्रभेद) है। यह नाटिका के समान ही समग्र अपना ढाँचा रखता है, केवल इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते तथा समग्र रचना में एकमात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग रहता है, केवल नाट्यनिर्देश संस्कृत भाषा में रखे जाते हैं लक्षण को देखने पर यह भी स्पष्ट है कि समग्र रचना संस्कृत भाषा में रहे तो भी 'सट्ट' हो सकता है, परन्तु इस रूप में विचार तो किया जा सकता है उदाहरण नहीं मिलने से इसे आधार प्राप्त नहीं है। इसकी वृत्ति कैशिकी तथा अंक के स्थान पर उनके यवनिकान्तर नाम रखे जाते हैं जो नाटिका की तरह ही चार होते हैं। इसमें नायक राजा का भी शौरसेनी प्राकृत में संवाद रखा जाता है तथा अन्य पात्र मागधी आदि प्राकृत में संभाषण करते हैं। यह एक नृत्य-भेदात्मक रूपक है जिसमें छादन, स्खलन तथा भ्रान्ति आदि की स्थिति नहीं होती तथा अद्भुतरस की योजना रखी जाती है। आलोचकों का मत है कि 'सट्टक' नाटिका जैसा ही अतिप्राचीन कोई लोकरूपक है। इसका सर्वप्रथम लक्षण भोजराज ने दिया जिसमें 'अप्राकृतसंस्कृतया' पद महत्पूर्ण है। इस पद की व्याख्या से यह तो स्पष्ट है कि इसकी रचना एक ही भाषा में हो परन्तु वह प्राकृत या संस्कृत से भिन्न अपभ्रंश भाषा हो, यह स्पष्ट नहीं। भाषागत इस सन्देह को शारदातनय ने 'प्रकृष्ट प्राकृतमयी' पद से दूर करते हुए यह दिखलाया कि सट्टक की भाषा समग्ररूप में प्राकृत ही रखी जाय।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने सट्टक को कोहलानुमोदित तथा कोहलोद्भावित रूपक प्रभेद माना। सट्टक के उदाहरण में राजशेखर कृत 'कर्पूरमंजरी' प्रथम स्थानीय है। इसके अतिरिक्त अन्य सट्टक भी प्राप्त होते हैं।

(३) **त्रोटक :**—यह नाटक के आदर्श पर रचित उपरूपक प्रकार है जिसमें पाँच, सात, आठ या नौ अंक होते हैं। इसका नायक उदात्त प्रकृति का मर्त्य तथा नायिका दिव्य होती हैं। विदूषक की स्थिति प्रत्येक अंक में रहती है। इसका शृंगार मुख्यरस तथा वृत्ति कैशिकी तथा भारती होती है। सभी आचार्य त्रोटक में मर्त्य दिव्य नायक नायिका की स्थिति मान्य करते हैं। सागरनन्दी ने त्रोटक के स्वरूप की चर्चा के मध्य आश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादरायण आदि आचार्यों के मतों का संकेत दिया। आचार्य शारदातनय ने हर्ष के मत को भी दिखलाते हुए 'त्रोटक' को नाटक का ही एक विशिष्ट भेद कहा। हर्ष ने त्रोटक में प्रत्येक अंक में विदूषक की स्थिति आवश्यक नहीं बतलाई परन्तु अन्य सभी उत्तरवर्ती आचार्य इसमें विदूषक की प्रत्येक अंक में स्थिति को आवश्यक 'लक्षण' मानते हैं। त्रोटक का उदाहरण कालिदास का विक्रमोर्वशीयम् है जो पाँच अंकों का है। त्रोटक के अन्य उदाहरणों में मेनकानहुष में नौ अंक, मदलेखा में आठ अंक तथा स्तम्भितरम्भक में सात अंक हैं।

उपरूपक :—यद्यपि (भरत प्रणीत) नाट्यशास्त्र में दस प्रमुख प्रमुख रूपकों के अतिरिक्त उपरूपकों का विवरण प्राप्य नहीं परन्तु परवर्ती आचार्यों ने रूपकों ने अतिरिक्त भेदों का विवरण देकर ने इन अतिरिक्त भेदों को **'उपरूपक'** नाम से अभिहित किया। भारतीय नाट्य में नृत्यगीतों से मिश्रित ऐसे दृश्य रागकाव्यों के रूपों के विकास होने से इनकी 'उपरूपक' संज्ञा हुई। इन उपरूपकों को रूपकों से अतिरिक्त शास्त्रीय प्रतिष्ठा एवं स्वरूप दिलवाने वाले आचार्यों में कोहल सर्वप्रथम हैं जिनके नृत्यात्मक राग काव्यमय उपरूपकों में डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, षिद्गक (शिल्पक), रामाक्रीड, हल्लीसक तथा रासक आते हैं जिन्हें आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने संक्षिप्त लक्षणों के साथ वर्णित किया है। दशरूपक के अवलोक में भी डोम्बी आदि सात नृत्यभेदों की चर्चा है जिनमें गोष्ठी और जोड़ दी गयी थी। महाराज भोज ने रूपकों के बारह भेद तथा उपरूपकों के भी बारह भद बतलाये जो इस प्रकार हैं :—श्रीगदित, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, काव्य (चित्र), भाण, भाणिका, गोष्ठी, हल्लीसक, नर्तनक, प्रेक्षणक, रासक तथा

नाट्यरासक। भोजराज के पश्चात् शारदातनय, सागरनन्दी, रामचन्द्र गुणचन्द्र तथा आचार्य विश्वनाथ कविराज ने भी उपरूपकों का लक्षणादि के साथ विवरण दिया है।

उपरूपकों की परम्परा का आरम्भ यद्यपि आचार्य कोहल ने किया था परन्तु इनकी 'उपरूपक' संज्ञा विश्वनाथ कविराज के पूर्ववर्ती शास्त्र ग्रन्थों में नही मिलती। रूपकों में रसों का समग्र रूप में प्रसार तथा आस्वादन रहता है जब कि इन नृत्यगीतात्मक नाट्य रूप वाले उपरूपकों में भावावेश तथा गीत नृत्य की प्रमुखता के साथ भावों का विशेष प्रदर्शन रखा जाता है। इसमें किसी एक दृश्यभाग को गीत नृत्य की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया जाता है। रूपक में कथावस्तु को उसके अंगों, कथोपकथन तथा आदर्श शील आदि से समृद्ध करते हुए मंच पर उपस्थित किया जाता है जब कि उपरूपकों में नाट्य के ये अंग कम क्षेत्र में तथा शिथिल स्थिति में रहते हैं परन्तु हृदय के किसी एक भाव या कथा के एक दृश्य को मधुर गीत, नृत्य आदि से आकर्षक एवं रंजक रूप में मुख्यतः प्रस्तुत किया जाता है। इसी कारण इनकी रूपक से थोड़ी समानता होती है जो इसके नामकरण—'उपगतं सादृश्येव रूपकमिति उपरूपकम्' से स्पष्ट है। इन उपरूपकों की संख्या का विवरण एक जैसा नहीं मिलता, रूपकों की तरह फिर भी इनकी उपयोगिता एवं महत्त्व को देखते हुए इनकी चर्चा संक्षेप में की जा रही है।[1] इन में आचार्य विश्वनाथ कविराज ने नाटिका, सट्टक, प्रकरणी तथा त्रोटक को भी उपरूपकों की श्रेणी में रख कर लक्षण दिये थे परन्तु इन्हें अन्य आचार्यों ने रूपकों के मिश्र भेद या उपरूपकों से थोड़े ऊँचे या विशिष्ट माना था (अतः हमने इन्हें उपरूपकों के पूर्व रखकर यहाँ विवरण दिया है।)

(१) **भाणिका** :—भाणिका एकांकी नृत्यरूपक है जिसका विकास एक पात्री भाण रूपक की प्रेरणा से हुआ है। इसमें कुछ पात्र ही होते हैं तथा प्रथम और अन्तिम सन्धि होती है। इसमें भारती तथा कैशिकी वृत्ति एवं शृङ्गाररस प्रयोज्य होता है। नायिका उदात्त एवं वचननिपुणा तथा नायक इसकी तुलना में हीन या मन्द स्थिति वाला होता है। भाणिका का मुख्य लक्षण इसके सात अंग होते हैं; यथा–उपन्यास, विन्यास, विबोध, साध्वस, समर्पण,

---

१. उपरूपकों के विस्तृत विवरण एवं विवेचन के लिये प्रकृत लेखक का प्रबन्ध ग्रन्थ—'संस्कृत नाट्य साहित्य में उपरूपक : स्वरूप एवं विकास' का अवलोकन करे।

निवृत्ति तथा संहार। इसमें सुन्दरता तथा वेशविन्यास की सम्यक् स्थिति के साथ ललित करणों का प्रयोग रखा जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भाणिका में श्रीकृष्ण लीला की कथा या वराहावतार या नृसिंहावतार की कथा भी निबद्ध की जा सकती है तथा सभी लास्यांगों की योजना रखी जा सकती है। इसका प्राप्य उदाहरण श्री रूपगोस्वामि प्रणीत 'दानकेलि-कौमुदी' भाणिका है। आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इसी भाणिका का एक **'भाणक'** रूप भी माना है जिसमें कोई स्त्री पात्र नहीं रहता तथा जो प्रयोग ताल एवं अनुताल से अनुगत होता है।

२. भाणः—इस उपरूपक का विवरण आचार्य अभिनवगुप्त, सागरनन्दी, भोज, विश्वनाथ जैसे सभी आचार्यों ने दिया है। इसमें नृसिंहावतार या वामनावतार की कथा को नृत्य के द्वारा नर्तकी प्रस्तुत करें। इसमें उद्धत करणों का प्रयोग रखा जाता है तथा कठिन से कठिन अभिनय वस्तु की योजना। अतः यह उद्धत अंगों से प्रचालित स्वरूप वाला होता है जहाँ स्त्री पात्रों की विरलता होती है परन्तु जब यही हरिहरादि देवों की अभ्यर्थना हेतु सुकुमार प्रयोग से युक्त रखी जावे तो 'भाणिका' में परिवर्तित हो जाती है तथा स्त्री पात्रों को ऐसे प्रयोग में समाविष्ट कर लिया जाता है। इसमें सात विश्राम संगीत के अनुसार रहते हैं जिनमें प्रत्येक विश्राम में क्रमशः इन अंगों की योजना रहती है :—

प्रथम विश्राम में वर्ण, मत्तपाली, भग्न ताल तथा मात्रा, द्वितीय में भग्नताल मात्रा, द्विपथक तथा वसन्त, तृतीय में विषमछिन्न मात्रा, भग्नताल, मागधी तथा रथ्या, चतुर्थ में द्विपथक, रथ्या तथा वसन्त और पाँचवें विश्राम में रथ्या, भग्नताल, मार्गनिका, द्विपथ तथा विषम की योजना रहती है। इस प्रकार का साङ्ग भाण नन्दिमाली 'भाण' कहलाता है।

३. गोष्ठिः—यह एकाङ्क रूपक होता है जिसमें कैशिकी वृत्ति तथा शृंगार रस की स्थिति एवं कथावस्तु गर्भ और अवमर्श सन्धि से हीन रहती है। इसमें दस पुरुष तथा छः स्त्री पात्र रहते हैं। शारदातनय के अनुसार इसमें कामशृङ्गार की प्रचुरता होना चाहिए। भोज के मत में इसकी कथावस्तु कृष्ण द्वारा असुरों के वध से सम्बद्ध होना चाहिए तथा सुकुसार भी। इसका नायक अप्राकृत या दिव्यादिव्य होना लक्षण से संकेतित है। विश्वनाथ कविराजने इसका उदाहरण—'रैवतमदनिका' दिया है।

४. नाट्यरासक :—नाट्यरासक रुचिर एकांकी रूपक है जिसमें ताल तथा लय का प्रचुर योग के साथ प्रयोग रखा जाता है। इसमें उदात्त नायक तथा उसके सहायक के रूप में पीठमर्द कथा में योजित किया जाता है। इसमें हास्य रस की प्रधानता तथा विप्रलंभ शृङ्गार रस की अल्प व्याप्ति होती है। मुख और निर्वहण सन्धियां रखी जाती हैं तथा वासकसज्जा प्रकार की नायिका रूपगर्विता होती है। इसमें दसों लास्यांगों की योजना रहती है। इसके नाट्यरासक नामकरण में हेतु नृत्य की अपेक्षा नाटय या अभिनय की मात्रा का आधिक्य रहना है जिससे नाटकादि की तरह इसमें कथावस्तु का ग्रथन भी हो सकता है और नृत्य से होने वाला उपरंजन भी जो एक संश्लिष्ट रसास्वादन को प्रदान करता है। इसका उदाहरण—'वीणावती' है।

५. रासक :—यह एकांकी उपरूपक है जिसमें पाँच पात्र होते हैं। भारती तथा कैशिकी वृत्ति तथा विभिन्न भाषाओं की योजना रहती है तथा वीथ्यंग, नृत्य गीत एवं कलाओं का प्रयोग। सूत्रधार इसमें नहीं रखा जाता। इसकी नायिका प्रख्यात तथा नायक मन्द होता है और उत्तरोत्तर उदात्त भावों का प्रकाशन चलता है जो भावप्रकाशन का कार्य सम्पन्न करता जाता है। अभिनवगुप्तपाद ने रासक को अनेक नर्तकी योज्य रूप मान कर इसकी नृत्य प्रधानता को दिखलाया। यह नृत्यप्रधान एवं भावप्रवणता वाला ऐसा भेद है जो कथा के अनुसार मसृण या उद्धत हो सकता है। इसका उदाहरण—'मेनकाहित' है।

६. प्रस्थान :— यह नाम अन्वर्थ है क्योंकि इसमें प्रिय के प्रवास के कारण विप्रलम्भरस की प्रस्तुति तथा प्रथमानुराग की स्थिति का ग्रंथन करने वाली कथा वस्तु रहती है। इसमें दो अंक होते हैं तथा भारती और कैशिकी वृत्ति। इसमें नायक हीन या दास और विट उपनायक होता है। इसमें दासी नायिका होती है तथा मुख एवं निर्वहण सन्धियों की योजना रहती है। यह नृत्यरूपक लय एवं ताल बद्ध नृत्य से पूर्ण होता है। अन्त में वीररस की भी योजना रहती है। अतः यह नृत्यरूपक सुकुमार तथा उद्धत दोनों है। शारदातनय ने इसका उदाहरण 'शृङ्गारतिलक' प्रस्थान दिया है।

७. उल्लाप्य :—उल्लाप्य एकांक अथवा तीन अंकों वाला उपरूपक भेद है। इसका नायक उदात्त तथा कथावस्तु दिव्यता लिये हुए रखी जाती है। इसमें शृङ्गार, हास्य तथा करुण रसों की तथा कथावतु के अनुरूप मनोहर गीत की यवनिका के पीछे से योजना रहती है। इसमें अवमर्श सन्धि को छोड़कर

शेष चार सन्धियों की योजना रखी जाती है तथा शिल्पक के सभी अंगों का प्रयोग किया है। साहित्यदर्पण के अनुसार इसमें चार नायिकाएँ तथा तीन अंक होते हैं तथा बहुल संग्राममययी घटनाएँ भी। शारदातनय इस प्रकार को 'उपरूपक' में समाविष्ट नहीं मानते। इसका उदाहरण—देवीमहादेव तथा उदात्तकुंजर है।

८. काव्य :—इसका 'राग काव्य' भी अन्य नाम है जिसमें गीत, नृत्य की प्रधानता होती है। इसमें एक पात्र के द्वारा एक कथा का धारावाहिक प्रदर्शन होता है। इसमें एक राग में काव्य का भाव रहता है तथा लय और ताल अपरिवर्तित होते हैं, जिससे एक रस की प्रमुखता प्रायः आ जाती है। इसमें आरभटी वृत्ति को छोड़कर शेष वृत्तियाँ तथा गर्भ और अवमर्श सन्धि को छोड़कर शेष सन्धियों की योजना रखी जाती है। खण्डमात्रा, द्विपदिका तथा भग्नताल जैसे गीतों से यह प्रयोग मण्डित रहता है। आचार्य अभिनव ने इसके रामकथा पर आधारित दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—मारीच-वध तथा राघवविजय। इनमें मारीचबध में ककुभ तथा राघवविजय में ठक्क राग का प्रयोग होता है। कोहल और भोज के मत में यदि ऐसे प्रयोग में राग तथा काव्य गत परिवर्तन हो तो यह चित्रकाव्य रूपी अतिरिक्त प्रभेद होगा।

९. श्रीगादित :—यह गेयरूपक है जिसमें श्री के समान विरहिणी नायिका आसीन होकर प्रिय की प्रशंसा और स्मृति में करुणभाव में गान करती है। यह एकांकी रूपक है जिसका नायक तथा नायिका प्रख्यात होती है, तथा इसमें गर्भ तथा विमर्श सन्धियों को छोड़कर शेष सन्धियाँ रखी जाती है एवं भारती वृत्ति की बहुलता होती है। इसमें आक्रोश, प्रशंसा और निन्दा का समन्वय रहता है। भोज तया अभिनवगुप्त के प्रदर्शित षिद्गक से लक्षण श्रीगदित से समीप्य रखते हैं। भावप्रकाशन में इसका उदाहरण 'रामानन्द' दिया गया है।

१०. संलापक :—यह तीन अथवा चार अंकों का होता है। इसका नायक (साधारण या) पाखण्डी और कथावस्तु प्रख्यात, उत्पाद्य या मिश्र भी हो सकती है। इसमें कभी-कभी शृङ्गार तथा हास्य का प्रयोग नहीं भी रहता है तथा आचार्य विश्वनाथ के अनुसार इसमें करुणरस भी वर्जित है। कैशिकी तथा भारती वृत्तियों का प्रयोग नहीं होता, शेष वृत्तियों का प्रयोग तथा नगरोपरोध, प्रवंचना तथा संग्राम के दृश्य या प्रयोग रहते हैं। प्रतिमुख सन्धि वर्ज्य, शेष सभी सन्धियाँ कथावस्तु के अनुरोध पर इसमें रखी जाती हैं।

११. शिल्पक :—शिल्पक सर्वरस प्रधान चार अंकों का उपरूपक है। इसमें चारों वृत्तियों की योजना रखी जाती है तथा इसमें नृत्य आदि शिल्पों की बहुलता रहती है। सागरनन्दी के अनुसार इसमें हास्यरस की स्थिति नहीं होती। इसका नायक ब्राह्मण,उपनायक अनुदात्त प्रकृति के होते हैं तथा स्मशान आदि प्रदेशों की वर्णना रखी जाती है। शिल्पक के सत्ताईस अंग होते हैं—उत्कण्ठा, अवहित्थ, प्रयत्न, अशंसन, तर्क, संशय, तप, उद्वेग, मौर्ख्य, आलस्य, कम्प, अनुगति, विस्मय, साधन, उच्छ्वास, आतङ्क, शून्यता, प्रलोभन, नाट्य, सम्फेट, आश्वास, सन्तोषातिशय, प्रमाद, प्रमद, युक्ति, प्रलोभन तथा प्रशस्ति। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार इसमें शान्त तथा हास्य रस वर्ज्य हैं। इसका उदाहरण 'कनकावती माधव' है।

१२. डोम्बी:—यह एकांकी उपरूपक है जिसमें उदात्त प्रकृति नायिका होती है तथा नायिका के प्रति छल एवं अनुरागमयी नायक की मनोभावना का कोमल प्रस्तुतिकरण रखा जाता है। इसमें कैशिकी तथा भारती वृत्ति की योजना रखी जाती है तथा दसों लास्यांगों का सन्निवेश रहता है। इसका उदाहरण—'कामदत्ता' है। शारदातय उदात्त नायिका की विशेष दशा में 'भाणिका' ही डोम्बी है—मानते हैं। परन्तु भोज और शारदातनय के भाणिका के लक्षण से विश्वनाथ का लक्षण भिन्न है।

१३. प्रेक्षणक :—यह एकांक एवं विलक्षण प्रकार वाला उपरूपक है जिसमें 'कामदहन' जैसी कथाओं को ललित और लयान्दित नृत्त के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। नायक उत्तम या मध्यम होता है तथा सूत्रधार, विष्कम्भक और प्रस्तावना नहीं होती। नेपथ्य से ही नान्दी एवं प्ररोचना को सम्पन्न किया जाता है, विपत्ति एवं अनुचिन्ता की दशाओं को तथा द्वन्द्व-युद्ध को भी प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य विश्वनाथ इसे 'प्रेङ्खण' कहते हैं। इसका उदाहरण 'वालिवध' या 'नृसिंहविजय' है।

१४. दुर्मल्लिका :—यह चार अंकों का उपरूपक है, इसका प्रथम अंक तीन नाडिका का होता है जिसमें विट की क्रीड़ा प्रस्तुत होती है। द्वितीय अंक पाँच नाडिका का है जिसमें विदूषक हास्य प्रसंगों को दिखलाता है। तृतीय अंक छः नाडिका का होता है जिसमें पीठमर्द का कार्य तथा अन्तिम चतुर्थ अंक दस नाडिका का होता है जिसमें नायक का नाट्य या अभिनय रखा जाता है। इसमें कैशिकी तथा भारतीवृत्ति नहीं होती तथा गर्भसन्धि को छोड़ कर शेष सभी सन्धियों का प्रयोग रहता है। भोज के अनुसार इसमें

दूती चौर्यरति एवं युवा युवति का रहस्योद्भेदन करती है। नाट्यदर्पण में इसे दुर्मिलित कहा गया है। इसका उदाहरण है—बिन्दुमती।

१५. विलासिका :—यह एकांकी उपरूपक है जो शृङ्गार बहुल एवं दसों लास्यांगों से युक्त रहता है। इसमें नायक नहीं रहता पर पात्र के रूप में विट, विदूषक तथा पीठमर्द रखे जाते हैं। गर्भ एवं विमर्शसन्धियों को छोड़ कर शेष तीन सन्धियाँ योजित की जाती हैं। इसकी कथावस्तु या इति-वृत्त अतिशय सुन्दर नेपथ्य से मण्डित रखा जाता है तथा शृङ्गाररस मुख्य होता है। साहित्यदर्पण में इसे दुर्मल्लिका के अन्तर्गत लेने का अन्य आचार्यों का उल्लेख मिलता है। अभिनव ने इसकी चर्चा नहीं की।

१६. हल्लीश :—यह नृत्यप्रधान उपरूपक है तथा इसमें एक अंक होता है। इसमें पाँच या छः नायक (पात्र) होते हैं जो प्रख्यात तथा दक्षिण एवं ललित स्वरूप वाले होते हैं तथा जो विप्र, वणिक्, क्षत्रिय या अमात्य में से कोई होते हैं। इसमें मुख तथा अवमर्श सन्धियों की योजना रखी जाती है, कैशिकी वृत्ति तथा शृङ्गाररस होता है। इसमें लास्य के यति, खण्ड, ताल, लय और विश्राम का प्रयोग होता है। यह ऐसा नाट्य नृत्य प्रयोग है जिसमें मंडलाकार नाच और गान रखा जाता है जो वर्तमान में गुजरात के गर्बानृत्य से समानता रखता है, जिसमें कृष्ण की तरह एक मुख्य नायक मध्यवर्ती रहता है और नर्तकियाँ इसी के चारों ओर पात्र के रूप में घूम कर नृत्य करतीं हैं। इसका उदाहरण 'केलिरैवतक' है।

१७. नर्तनक :—नाट्यदर्पण में तथा शारदातनय ने इसका विवरण दिया है तदनुसार जहाँ नर्तकी ललित लय में पदार्थाभिनय को प्रस्तुत करती हो तथा जिसमें शम्या, लास्य, छलित तथा द्विपदी की योजना रहे तो वह 'नर्तनक' है। इसमें गर्भ एवं विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं तथा मागधी और शौरसेनी भाषा में (देशभाषा में) नाट्य रचना रखी जाती है। इसमें उत्तम तथा अधम नायक होते हैं, भारती या आरभटी वृत्ति तथा कभी-कभी सात्वती वृत्ति भी रहती है। इसका उदाहरण—'बालिवध या 'नृसिंहविजय' है।

१८. कल्पवल्ली :—यह एक नृत्य प्रधान उपरूपक है जिसमें नायक उदात्त तथा उपनायक पीठमर्द रहता है। हास्य तथा शृङ्गाररस की योजना रहती है तथा वासकसज्जा या अभिसारिका नायिका होती है। इसमें मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण (तीन) सन्धियों की योजना रहती है। सभी लास्यांगों

के अतिरिक्त द्विपदी, रथ्या, खण्ड, वासकताल तथा तीनों लयो की योजना भीरहती है। इसका उदाहरण है—'माणिक्य-वल्लिका'।

१९-२०. रामाक्रीड तथा रण :—यह शृङ्गार गर्भित 'नाटच रूपक है जिसमें ऋतुवर्णन की भी योजना रहती है तो **'राम क्रीड'** कहलाता है तथा प्रहेलिका आदि के प्रयोग से हास्यप्राय रहने पर **'प्रेरण'** उपरूपक हो जाता है। आचार्यअभिनव के इस उल्लेख के अतिरिक्त अन्य विवरण इनके नहीं मिलते।

२१. मल्लिका या मणिकुल्या :—तह दो अंकों का नृत्यनाटचप्रधान उपरूपक है जिसके प्रथम अंक में विदूषक का और दूसरे में विट का अभिनय-नृत्यादि रहता है, गर्भ तथा विमर्श से हीन सन्धियों की योजना रहती है तथा इसकी कथावस्तु प्रयोग के साथ धीरे-धीरे अन्त में ज्ञात होती हैं। इसमें गाथा, द्विपथक, रथ्या, वासकताल का प्रयोग रखा जाता है।

२२. पारिजातक लता :—यह एकांकी तथा मुख एवं गिर्वहण सन्धि से युक्त नृत्य प्रधान उपरूपक है। इसमें वीर तथा शृङ्गार रसों की प्रमुखता (तथा कैशिकी, आरभटी वृत्तियों की योजना) रहती है। इसमें विदूषक की क्रीडा एवं परिहासों से मनोहारिता या रंजकता लायी लाती है। इसका भाव प्रकाशन में 'गंगातरंगिका' उदाहरण है।

इनके अतिरिक्त शम्या, द्विपदी तधा छलिक का भी नृत्यरूपकों या उपरूपकों के रूप में विवरण मिलता है अतः हम यहाँ उनकी भी थोड़ी चर्चा कर रहे हैं।

(क) शम्या—भरतमुनि ने ताल सहित शब्द, हस्त एवं पाद के संचालन की क्रिया को 'शम्या' कहा है तथा समय की सूचक हाथ से बजायी गयी छोटिका या चुटकी की आवाज को भी 'शम्या' कहा जाता है। छोटी यष्टिकाओं के प्रहार को भी 'शम्या' कहा जाता है अतः लय ताल के ऐसे ही नृत्यनाटचप्रयोग को 'शम्या' समझना चाहिये।

(ख) द्विपकी—द्विपदी शब्द गतिप्रचार में नाटचशास्त्र में आया है जो पात्र की मानसिक दशा के अनुरूप तीव्र या मन्द गति का संकेत देते हैं। इस प्रकार संगीत, लय, गीत तथा नृत्य तक 'द्विपदी' रहने से ऐसा नाटच या नृत्य प्रयोग भी 'द्विपदी' कहलाया। संक्षेप में यह गीतनृत्यप्रधान होने से 'द्विपदी' उपरूपक' के रूप में प्रकाश में आता है।

(ग) छलिक—यह शृङ्गार वीररस प्रधान नृत्यात्मक उपरूपक प्रभेद है जिसमें ताण्डव और लास्य का योग रहता है। छलिक का उल्लेख

महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक भी किया जिसमें गीत नृत्य का प्रयोग सम्मिलित रूप में था। हरिवंशपुराण में[1] प्रद्युम्नप्रभावती के विवाह के अवसर पर देव वारांगनाओं ने देवगान्धार छलिक का गान किया था और बाद में नान्दी का प्रयोग हुआ। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि यह (छलिक) प्रयोग पूर्वरंग का ऐसा अंग था जिसमें नृत्य, गीत की योजना या प्रमुखता रहती थी।

इस प्रकार भरतमुनि ने जो रूपकों का विकल्पन तथा वर्गीकरण किया तथा उसमें जिन आधार तत्वों की चर्चा रखी उन्हें परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया और इनके विभाजन का आधार भी (वस्तु, नेता, रस) सभी ने माना, इतना ही नहीं उनमें कोई नया आधार भी प्रस्तुत नहीं किया। इसी कारण अनेक परवर्ती आचार्यों ने भेदविस्तार की चर्चा नहीं की या उसे स्वीकार नहीं किया। परवर्ती आचार्यों में रूपकों के विस्तार के उद्भावक कोहल थे जिनके कुछ अतिरिक्त भेदों को हमने उपरूपक के स्वरूप प्रसंग में चर्चा की है परन्तु जिन भेदों की नवीन परिकल्पनाएँ हुईं उनका आधार भी भरत की विवेचना प्रणाली ही थी। अतः यह स्पष्ट है कि रूपकों की शास्त्रीय विवेचना का स्थायी एवं मान्य आधार भरत का नाट्यशास्त्र ही था जिसके आधार पर शास्त्रीय परम्परा का विकास हुआ।

भरत के नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय में इतिवृत्त तथा सन्धिसन्ध्यंगों की चर्चा है। इतिवृत्त या नाटकीय कथावस्तु नाट्य का शरीर माना गया है। यह शरीर वागात्मक है तथा मानवीय शरीर के अंगों की तरह इतिवृत्त की रचना में पाँच सन्धियों का महत्त्व असाधारण होता है। वह कथावस्तु दृश्यरूपक की वह कथा है जो दर्शकों को दिखलाना इष्ट होता है। यह कथा वस्तु तीन प्रकार की होती है :—(१) जो किसी परम्परागत रामायण महाभारत या लोकप्रिय ऐतिहासिक आधार को लेकर निर्मित प्रख्यात हो, (२) जो न परम्परागत या लोक प्रसिद्ध कथाओं या इतिहास को लेकर बने किन्तु वह कविकल्पना प्रसूत इतिवृत्त से युक्त 'उत्पाद्य' होती है तथा जो (३) इन दोनों कथातत्वों को मिलाकर निर्मित हो तो वह इतिवृत्त 'मिश्र' कहलाता है। सागरनन्दी प्रथम प्रकार को उपात्त तथा दूसरे को प्रतिसंस्कृत कथावस्तु मानते हैं। इसी इतिवृत्त के दो अंग या शाखाएँ है—आधिकारिक तथा प्रासंगिक।

---

१. द्र०, हरि० पुरा०, अध्याय० ८८, ८९ तथा अ० ९३ (चित्रशाला प्रेस पूना संस्करण)

आधिकारिक 'इतिवृत्त' फलोन्मुख होता है। क्योंकि इसमें कार्य व्यापार का अवसान फलप्राप्ति में होता है तथा इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नेता से रहता है और इसका फलभोक्ता भी वही होता है। इसी मुख्यता के कारण यह आधिकारिक इतिवृत्त कहलाता भी है। प्रासंगिक इतिवृत्त परार्थ या आनुषंगिक होकर मुख्य कथा की सहायता करता है तथा फलाभिमुखीकरण में उपकारक होता है। रामकथा में सीताप्रत्यावर्तन का आख्यान आधिकारिक तथा सुग्रीव का प्रयत्न प्रासंगिक है। प्रासंगिक इतिवृत्त को विस्तार की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जाता है—पताका तथा प्रकरी। पताका का प्रसार कथावस्तु के अनेक क्षेत्रों में होता है तथा उसका अपना भी स्वतन्त्र महत्त्व होता है; जैसे—सुग्रीव एवं विभीषण श्रीराम के उपकारक है और स्वयं उपकृत भी। प्रकरी का विस्तार अल्प रहता है और वह प्रमुखतः परार्थ ही होती है; जैसे—रामायण में शवरी का चरित्र परार्थ ही है। इसके अतिरिक्त कथा मेंचार पताकां स्थानकों का भी मुनि ने निर्देश किया जो काव्यवस्तु के अस्फुट संकेतों, चमत्कारिता एवं श्लिष्टता की दृष्टि से रखे जाते हैं तथा कथा के उपकारक होते हैं।

अवस्थाएँ—इतिवृत्त के केन्द्र में साध्यफल के रूप में पुमर्थसाधन विद्यमान होता है अतः साध्य या फलप्राप्ति के हेतु नायक जिस कार्य या व्यापार का प्रसार करता है उसकी अवस्थाएँ पाँच होती है—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति संभव, नियतफलप्राप्ति तथा फलयोग।

(१) आरम्भ—नायक की फलप्राप्ति के प्रति उत्सुकता का निबन्धन वाला प्रथम अंश फलारम्भ या आरम्भ है। **(२) प्रयत्न**—फलप्राप्ति के दृष्टिपथ पर न रहने पर भी उसके लिये उत्सुकता के साथ उद्यम की आकांक्षा का निबन्धन जो प्रयत्नप्रेरित कथांश के रूप में हो 'प्रयत्न' कहलाता है। **(३) प्राप्ति सम्भव या प्राप्त्याशा**—उपाय के उपलब्ध होने पर भी फलप्राप्ति में बिघ्न की आशंका का बना रहना 'प्राप्तिसम्भावना' है। **(४) नियतफल प्राप्ति या नियताप्ति**—विघ्नों के दूर हो जाने पर मुख्य उपाय से नियन्त्रित कार्य व्यापार का फलोन्मुख या फल की ओर अग्रसर होना नियताप्ति या नियतफल प्राप्ति है। **(५) फलयोग या फलागम**—नायक को अपने अभीष्ट समग्र फल की उपलब्धिया क्रियाफल की प्राप्ति हो जाना 'फलयोग' है। नाट्य में इतिवृत्त काआरम्भ आधिकारिक कथावस्तु से ही होना चाहिए।

अर्थप्रकृतियाँ—पांच अवस्थाओं की ही भाँति इतिवृत्त की पाँच अर्थप्रकृतियाँ भी होती हैं। अर्थप्रकृति फल के साधन या उपाय होते हैं तथा

विश्वनाथादि आचार्यों के मत में ये प्रयोजन सिद्धि कों हेतु हैं। अवस्था का सम्बन्ध कथा के विकासक्रम से तथा अर्थप्रकृति का सम्बन्ध कथावस्तु के उपादान कारणों से होता है। अवस्थामूलक भेदों का विकास (नायकादि की) मानसिक दशाओं के आधार पर तथा उपायमूलक अर्थप्रकृति का इतिवृत्त की शारीरिक रचना के आधार पर होता है। अतः अवस्थामूलक एवं उपायमूलक दोनों भेदों से इतिवृत्त की आन्तरिक और वाह्य प्रवृत्तियों का समन्वय होता है। ये उपायमूलक अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी तथा (५) कार्य।

(१) बीज—यह अपने अर्थानुरूप ही इतिवृत्त का वह आरम्भक अंश है जो किसी संवेदना या प्रयोजन के विना घटित होकर उत्तरोत्तर प्रसार करते हुए फलप्राप्ति के रूप में समाप्त होता है। यह उस लौकिक बीज की तरह होता है जो फलरूप में परिणत हो जाए। यह भी नाट्य-कथा के आरम्भक अंश की तरह आधिकारिक कथा से सर्वथा सम्बन्धित रहता है।

(२) बिन्दु—कथावस्तु का वह महत्त्वपूर्ण अंश जो इतिवृत्त में अन्त तक विद्यमान रहता है, चाहे इतिवृत्त के प्रयोजन में विच्छिन्नता आजाए फिर भी वस्तुबन्ध की समाप्ति तक पहुँचता ही है उसे 'बिन्दु' कहते हैं। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार यह बिन्दु छितराते तैलबिन्दु की तरह होता है। बीज और बिन्दु में अन्तर यह है कि बीज मुखसन्धि से अपना उन्मेष करता है और बिन्दु मुखसन्धि के बाद, पर दोनों ही समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहते हैं। सिंहभूपाल के अनुसार जैसे जलबिन्दु अभिषिक होकर वृक्ष के मूल में जाता है तथा फल देता है उसी प्रकार यह नाट्य कथावस्तु का विकास कर उसे फलागम में प्रवृत्त करता है।

(३) पताका—जो पताका की तरह एक-देशिनी होकर भी समस्त इतिवृत्त को प्रकाशित करती हो वह 'पताका'। पताका परार्थं होती है तथ प्रधान की उपकारक होने से प्रधानवत् होकर आधिकारिक कथा के साथ-साथ चलती है, जैसे—सुग्रीव का चरित्र।

(४) प्रकरी—यह आनुषंगिक कथा है, कथा के किसी सीमित प्रदेश में ही इसका उपयोग रहता है तथा यह प्रधानवत् नहीं होती क्योंकि यह नितान्त परार्थ तथा उपकारक भी होती है।

रामकथा में शबरी की कथा प्रकरी है। परन्तु जहाँ दोनों आनुषंगिक अर्थ प्रकृतियों का प्रयोग न हो पाए तो बिन्दु को ही विस्तार देना पड़ता है।

(५) कार्य—अन्तिम अर्थप्रकृति 'कार्य' होती है। आधिकारिक कथा वस्तु का प्रयोग प्रधान नायक आदि के द्वारा होता है उसके सहायक के रूप में जिन सामग्रियों का प्रयोग रहे उन समस्त नाटचव्यापार को–जो त्रिवर्ग के साधक होते हैं–'कार्य' कहते हैं। सिंहभूपाल के मत में यदि त्रिवर्ग में से किसी एक पुरुषार्थ को साध्य रूप में ग्रहण किया जाए तो यह शुद्धश्रेणी का कार्य होता है तथा अनेक पुरुषार्थों को साध्य बनाने पर यही 'मिश्र' भेद हो जाता है। इनमेंबीज बिन्दु तथा कार्य नामक अर्थप्रकृतियों की स्थिति रूपक में आवश्यक होती है। इन सभी अर्थप्रकृतियों का प्रयोग, आरंभ आदि अवस्थाओं की तरह नहीं होता है परन्तु नायक का जिससे अधिक प्रयोजन होता है वही प्रधान हो जाती है क्योंकि वही सर्वाधिक प्रयोजन की सिद्धि में कारण बनती है।

सन्धियाँ—नाटचशास्त्र में शरीरभूत इतिवृत्त के लिये अवस्थाओं तथा अर्थप्रकृतियों के योग से पाँच सन्धियों की भी कल्पना की गयी है। ये सन्धियाँ आरम्भ आदि अवस्थाओं की भाँति इतिवृत्त की अभिन्न अंग होती हैं तथा अनिवार्य रूप में इतिवृत्त की दशाओं में संयोज्य होती हैं। इतिवृत्त की विवेचना में पांच सन्धियों के प्रयोग के विषय में सभी आचार्य सहमत हैं। भरतमुनि तथा आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार सन्धियाँ बीज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं की प्रतीक होती हैं। जैसे बीज कभी अंकुरित होता है तथा फिर बाधाओं से दब कर पुनः प्रकट होते हुए अन्त में फलरूप में परिणत हो जाता है। वैसे ही नायक से सम्बद्ध साध्यप्रयत्न साध्याभिमुख होता है, बाधाओं से वह थोड़ा अदृश्य भी हो जाता है पर अन्त में नायक को साध्य फल मिलता ही है। इस रूप में कथा के अनेक अंगों का तथा विविध अवस्थाओं का योग होना ही 'सन्धि' है।

इन सन्धियों के द्वारा नाट्यप्रयोग में इतिवृत्त का अवस्थाभेद से पाँच भागों में विभाजन होता है। प्रत्येक सन्धि के कुछ अंग होते हैं जिनके योग से सन्धि पूर्णता पातीं हैं। प्रासंगिक इतिवृत्त में स्थित सन्धियाँ मुख्य कथावस्तु की जहाँ अनुगामिनी होती हों वे 'अनुसन्धि' होती है। भरतमुनि ने स्पष्टतः कहा कि रूपकों में नियमतः तो पाँचों सन्धियाँ प्रयोज्य हैं परन्तु कारणवश हीनसन्धि रूपकों की भी रचना होती है। सागरनन्दी सन्धियों को कथा का

परस्पर संघटन मानते हैं। ये सन्धियाँ पाँच हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श, (अविमर्श) तथा (५) निर्वहण। क्रमशः उन पर आगे विचार करते हैं—

१. मुखसन्धि—जहाँ नाना अर्थ एवं रस के योग से बीज की उत्पत्ति हो वह 'मुखसन्धि' है। मुखसन्धि में प्रमुख इतिवृत्त का फल-हेतु बीज रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अन्य आचार्यों में सागरनन्दी ने मुखसन्धि के भरतोक्त लक्षण को दिखला कर अन्य मत में जहाँ आख्यान या मुख्य इतिवृत्त में बीज और बिन्दु की साहचर्य वश योजना रहती है वह सन्धि प्रदेश 'मुखसन्धि' है। अन्य आचार्य श्लेष या छाया के माध्यम से बीज का कीर्तन ही मुखसन्धि में आवश्यक मानते हैं। जैसे कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् में पुरुरवा तथा उर्वशी का प्रणय या अनुराग बीज नाना अर्थ एवं रस से परिपुष्ट होते हुए उत्पन्न होता है।

२. प्रतिमुख सन्धिः—जब दृष्ट और नष्ट अवस्था में रहते हुए उत्पन्न 'बीज' का उद्घाटनहो तो 'प्रमुखसन्धि' होती है। फलाभिमुख बीज का उद्घाटन होना एक दशा विशेष है और यहाँ 'बीज' अनुकूल दशा या वातावरण में उद्घाटित होने से दृश्य और विरोध (या प्रतिकूलता) वश नष्ट सा प्रतीत होने लगता है। जैसे वेणीसंहार में भीष्मवध से पाण्डवाभ्युदय रूप बीज के अंकुर का उद्घाटन दृश्य होकर अभिमन्यु के वध से नष्ट सा हो गया है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इस सन्धि के विवेचन को विस्तार एवं अनेक मतों के विश्लेषण के साथ दिया है (जो परिशिष्ट में द्रष्टव्य है)। इस सन्धि को प्रतिमुखसन्धि कहने का कारण यह है कि नाट्यकार इस सन्धि में मुखसन्धि से थोड़ा प्रतिकूल चलता है, क्योंकि मुखसन्धि में इसकी जो चेष्टा बीज को प्रच्छन्न करने की रहती है वही यहाँ बीज को प्रत्यक्ष प्रदर्शित करने की बन जाती है।

३. गर्भसन्धि—प्रतिमुख सन्धि के पश्चात् बीज की अगली और अधिक विकसित क्रमिक दशा को प्रकट करने का स्थान 'गर्भसन्धि' होती है। अतः जहाँ बीज उत्पत्ति और उद्घाटन की दशा से व्यापृत हो फलोत्पादकता के लिये अभिमुख हो वह 'गर्भसन्धि' है। यह विधायक इतिवृत्त का वह अंश है जहाँ नायक को लक्ष्य को प्राप्त करते हुए और उसे नष्ट या खोते हुए, फिर प्राप्त करते या दिखाई देते हुए और न होते हुए अनेक बार प्रदर्शित किया जाता है और जब जब इष्ट या लक्ष्य खो जाता है तब उसे प्राप्त करने

की नये उत्साह या चेष्टाएँ रखी जाती है। जैसे रत्नावली नाटिका के दूसरे अंक से लेकर तृतीय अंक के कुछ अंश में 'गर्भसन्धि' है, जहाँ नायक उदयन की फलप्राप्ति में देवी वासवदत्ता द्वारा विघ्न उपस्थित हो जाता है। यहाँ प्राप्तिसंभावना रूप अवस्था भी रहती है पर पताका का यहाँ रहना आवश्यक नहीं है। (यहाँ प्राप्त इष्ट का खो जाना ही प्रमुख लक्षण है।)

४. अवमर्श या विमर्श सन्धिः—जब बीजरूप फलहेतु जो गर्भसन्धि के काल में प्रकट था वह क्रोध, व्यसन (विपत्ति) या प्रलोभन से फलप्राप्ति के विषय में चिन्तन या पर्यालोचन का जब विषय हो जाए तो 'अवमर्श या विमर्श–सन्धि होगी। इस सन्धि का मूल 'सन्देह होता है, क्योंकि इस सन्धि में वह इतिवृत्त का अंश रहता है, जिसमें उस परिस्थिति की पर्यालोचना होती है जो लक्ष्यसिद्धि के प्रति जाती हुई नहीं प्रतीत होती। कुछ आचार्य अवमर्श शब्द को विघ्नवाचक ही मानते हैं परन्तु वामन इसे अन्वेषण भूमि कहते हैं। इन सभी का विवरण अतिरिक्त टिप्पणियों में द्रष्टव्य हैं। जैसे अभि-ज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक में पञ्चम अंक वाले कथानक के अंश में जहाँ दुर्वासा का शाप तथा उससे मोहित नायक दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का परित्याष करना, फिर 'अंगुलीयक की प्राप्ति से शकुन्तला की स्मृति आना। इसमें नियताप्ति अवस्था की भी सहयोजना रखी गयी है। इस रूपक में शीलनिरूपण या घातप्रतिघात की दृष्टि से यही प्रदेश महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि इसमें विघ्न की प्राप्ति और इसके विघात के लिये नायक के हृदय में उत्साह की धारा का स्फोटन होता रहता है।

५. निर्वहण सन्धिः—जहाँ मुखादि सन्धियों और बीज सहित आरम्भादि अवस्थाओं के अतिरिक्त नानाविध सुखदुःखात्मक भावों का चमत्कारपूर्ण रीति से एकत्र समानयन होकर फलनिष्पत्ति की योजना रहे तो 'निर्वहणसन्धि' है, जो फलयोगावस्था से व्याप्त रखी जाती है। यहाँ 'समानयन शब्द' अर्थपूर्ण है, क्योंकि विभिन्न सन्धियों की अवस्था के विकासक्रम में बिखरे हुए कथांश सूत्रों का समाहार यहाँ चमत्कारपूर्ण रूप में रखा जाता है। निर्वहणसन्धि में चरमरूप में फलनिष्पत्ति प्रस्तुत की जाती है। रत्नावली नाटिका में अग्निकाण्ड दृश्य के बाद से लेकर नाटिका के अन्त तक का अंश निर्वहण सन्धि का उदाहरण है।

सन्ध्यङ्ग—रूपक के एक अंश को एक सन्धि प्रकट करता है पर इसी अंश को इसमें स्थित विभिन्न कार्यों एवं घटनाओं में और भी विभाजित किया

जाता है। इन उपविभाजित अंशों को शास्त्रीय भाषा में 'सन्ध्यङ्ग' कहते हैं तथा ये सन्धियों के विधायक अंग होते हैं। इनका सामान्य प्रयोजन यह हैं कि कवि एवं प्रयोक्ता नाटकीय वस्तु सरलता से प्रदर्शित कर सकें और प्रेक्षक भी सरलता से उसे समझ सकें। यह एक तथ्य है कि जब किसी जटिल या विस्तीर्ण आकार की वस्तु को प्रदर्शित करने की चेष्टा हो तो उसे सरल बनाने का अच्छा उपाय है उसे अंशों में विभाजित किया जावे।

इस प्रकार के विभाजन नाट्यकार का कार्य सरल हो जाता है क्यों कि किस पात्र को कौन सा रंगमंचीय निर्देश देना है और कथनीय वस्तु क्या होगी इस प्रकार प्रयोज्य रूपक के प्रत्येक अंश की ओर ध्यान जा कर नाट्य-प्रदर्शन की स्पष्टता में वृद्धि होती है, इसलिये सन्ध्यङ्ग दर्शक, अभिनेता तथा नाटचकार सभी के लिये सहायक होते हैं।

भरतमुनि ने सन्ध्यङ्गों के प्रयोग के सम्बन्ध में काव्यलेखक को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी है, जिसको आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने निर्दशित किया तथा किसका ज्ञान आवश्यक भी है।

भरतमुनि ने सन्ध्यङ्गों का उल्लेख यद्यपि एक विशेष क्रम में किया है परन्तु इनका प्रदर्शन क्रमानुसारी होना आवश्यक नहीं और एक सन्धि के किसी सन्ध्यङ्ग का नाटचलेखक अपनी अपेक्षा से किसी भी स्थान पर प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकार सन्धि के सभी अंगों का प्रयोग भी अभीष्ट नहीं और आवश्यक होने पर किसी अङ्ग का परित्याग भी हो सकता है। इसी प्रकार आवश्यक होने पर एक सन्ध्यंग का अनेक बार भी प्रयोग किया जा सकता है परन्तु यह पुनरावृत्ति अधिक मात्रा में नहीं करना चाहिए। एक सन्धि के अन्तर्गत जिन अङ्गों का उल्लेख है उन्हें अन्य सन्धि में भी कुशलता से रखा जा सकता है परन्तु यदि दो सन्ध्यंगों का प्रयोजन एक से सिद्ध हो जाए तो दूसरे को छोड़ देना या उपेक्षित रखना चाहिए। इसी कारण भरत-मुनि ने सन्ध्यंगों के विवेचन को अधिक प्रश्रय दिया।

प्रत्येक सन्धि के निश्चित अंग हैं जिनके द्वारा इसकी रचना होती है। भरतमुनि ने ऐसे सभी सन्ध्यंगों का नामकरण एवं लक्षण दिये हैं।

इनमें मुखसन्धि के बारह अङ्ग हैं—(१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) विलोभन, (५) युक्ति, (६) प्राप्ति, (७) समाधान, (८) विधान, (९) परिभावना, (१०) उद्भेद, (११) भेद (१२) तथा

करण परिशिष्ट में इनके लक्षण देने से यहाँ पुनः इन्हें नहीं दिया जा रहा है।

प्रतिमुखसन्धि के तेरह अंग हैं—(१) विलास, (२) परिसर्प, (३) विधुत, (४) तापन, (५) नर्म, (६) नर्मद्युति, (७) प्रगयण, (८) निरोध, (९) पर्युपासन, (१०) पुष्प, (११) वज्र, (१२) उपन्यास तथा (१३) वर्णसंहार।

गर्भसन्धि के तेरह अंग हैं—(१) अभूताहरण, (२) मार्ग, (३) रूप, (४) उदाहरण, (५) क्रम, (६) संग्रह, (७) अनुमान, (८) प्रार्थना, (९) आक्षिप्ति, (१०) तोटक, (११) अधिवल, (१२) उद्वेग तथा (१३) विद्रव।

विमर्शसन्धि के अङ्गों की संख्या के विषय में ऐकमत्य नहीं परन्तु इनकी संख्या तेरह है। यथा—(१) अपवाद, (२) संफेट (३) द्रव (विद्रव), (४) शक्ति, (५) व्यवसाय, (६) प्रसंग, (७) द्युति, (८) खेद, (९) प्रतिषेध, (१०) निरोज, (११) आदान, (१२) छादन तथा (१३) प्ररोचना या विवलना। इसके अतिरिक्त इसका 'युक्ति' अंग भी है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार किसी के मत में बारह तथा अन्य के मत में इस सन्धि के तेरह अङ्ग माने गये हैं।

निर्वहणसन्धि के चौदह अंग हैं—(१) सन्धि, (२) निरोध, (३) ग्रथन, (४) निर्णय, (५) परिभाषा, (६) द्युति, (७) आनन्द, (८) समय, (९) प्रसाद, (१०) उपगूहन, (११) भाषण, (१२) पूर्ववाक्य, (१३) काव्य-संहार तथा (१४) प्रशस्ति।

इस प्रकार ये चौसठ सन्ध्यंग हैं जिनका लक्षण तथा विवरण विस्तार से सभी आचार्य देते हैं। इन सन्ध्यंगों के अतिरिक्त इक्कीस सन्ध्यान्तरों का भी नाट्यशास्त्र में उल्लेख है। नाट्यशास्त्र में इनके केवल नाम ही मिलते हैं लक्षण नहीं। इन सन्ध्यन्तरों को मुखादि पंचसन्धियों की अन्तरावर्ती रिक्तता की पूर्ति के लिये प्रयुक्त किया जाता है अतः ये सभी सन्ध्यंगों से सम्बन्द्ध माने गये हैं,क्योंकि ये उनकी विशेषता को उभारने में उपकारण हैं तथा नाट्यप्रयोग के उज्ज्वलीभाव में निमित्त या आधार बनते हैं। इनके लक्षण तथा उदाहरण उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रीयग्रन्थकारों में भोज, सागरनन्दी, सिंहभूपाल तथा रूपगोस्वामी ने दिये हैं। ये सन्ध्यन्तर इक्कीस हैं जिनके नाम हैं—(१) साम,

(२) भेद, (३) प्रदान, (४) दण्ड, (५) वध, (६) प्रत्युत्पन्नमतित्व (७) गोत्रस्खलन, (८) साहस, (९) भय, (१०) धी, (११) माया, (१२) क्रोध, (१३) ओज, (१४) संवरण, (१५) भ्रान्ति, (१६) हेत्ववधारण, (१७) दूत, (१८) लेख, (१९) स्वप्न, (२०) चित्र तथा (२१) मद।

कुछ आचार्यों के मत से इनमें से कुछ का अन्तर्भाव व्यभिचारी भावों में हो जाता है तथा कुछ कथावस्तु के अङ्ग हैं। अतएव इन अङ्गों में अन्तर्भाव होने से इनका पृथक् उल्लेख आवश्यक नहीं। विश्वनाथ कविराज आदि ने धनंजय के उपर्युक्त मत का ही अनुगमन किया किन्तु सिंहभूपाल ने इस मत के समीक्षा में दिखलाया कि सन्ध्यन्तरों की मुखादि सन्धियों में योजना की जाती है क्योंकि कथावस्तु के अङ्गों के रूप में जिन सन्धियों की कल्पना है उनमें विभाग भी है परन्तु इन सन्ध्यन्तरों में ऐसा नहीं है। इनका बिना किसी विभाजन के ही प्रयोग होता है तथा इनका किसी सन्धि विशेष में नियत प्रदेश भी नहीं है। अतः इस तथ्य पर गम्भीरता से विचार न करते हुए इन्हें सन्ध्यंगों आदि में अन्तर्भूत मानना उचित नहीं है। सन्ध्यन्तरों के लक्षण तथा उदाहरण रसार्णवसुधाकर तथा नाटकचन्द्रिका में यथास्थान देखना चाहिए विस्तार भय से उनको यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

लास्यांग'—भरतमुनि ने दस लास्यांगों का भी उल्लेख तथा व्याख्या की है। ये लास्यांग पूर्वरंग के अतिरिक्त अभिनेय रस में भी योजित होते हैं। ये दस हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिमूढ़क, (७) द्विमूढ़क (८), उत्तमोत्तमक, (९) भाविक तथा (१०) विचित्रपद।

इनमें (१) **गेयपद** में अभिनयरहित गीत गायन, (२) **स्थितपाठ्य** में वियोगिनी के द्वारा रसोपयोगी प्राकृत भाषा में पाठ, (३) **आसीन** में चिन्ता शोकादि समन्वित हो अभिनयरहित पाठ, (४) **पुष्पगडिण्का** में पुष्पमाला की तरह गीत नृत्य की योजना, (५) **प्रच्छेदक** में प्रिय के प्रतिबिम्ब के आलिंगन का चित्रण, (६) **त्रिमूढ़क** में समवृत्त से अलंकृत पुरुषभावाढ्य नाट्य, (७) **द्विमूढ़क** में श्लिष्ट भाव तथा रसोपेतता, (८) **उत्तमोत्तमक** में अनेक रसों का पर्यवसान, (९) भाविक में वियोगिनी द्वारा प्रिय के स्वप्नदर्शन पर भावप्रदर्शन तथा (१०) **विचित्रपद** में मदनानलद

संतप्ता वियोगिनी का स्वप्न में प्रिय को लक्ष्य बनाकर किया हुआ अभिनय होता है।

इतिवृत्त का अन्यविभाजन—अर्थप्रकृति सन्ध्यंग, लास्यंग, शिल्पकांग ये सभी इतिवृत्त के महत्त्वपूर्ण अंश है, जिनके द्वारा इसकी रसभाव समन्वित एवं सुगठित रचना की जाती है परन्तु प्रयोग की दृष्टि से भरतमुनि ने इतिवृत्त का एक अन्य विभाजन भी किया है जो अंकों में होता हैं! रूपक तथा उपरूपकों के पूर्ववर्णित प्रभेदों नें अंकों की संख्या नियत है। नाटचशास्त्र के अनुसार कथावस्तु के दो खण्ड है जिनमें कथावस्तु का सरस अंश अंकों के द्वारा मंच पर प्रत्यक्षतः प्रस्तुत किया जाता है और नीरस और आदर्शनीय अंश अर्थोपक्षेपक के माध्यम से प्रस्तुत होता है। धनञ्जय ने इसे दृश्य तथा सूच्य शब्दों से अभिहित किया है। इनमें दृश्य के द्वारा मंच पर प्रयोज्य कथांश प्रस्तुत होता है और सूच्य के द्वारा नीरस या अन्य घटनाओं की—जो मंच पर अदर्शनीय—हों सूचना की जाती है तथा नाटचदर्पणकार ने कथा-वस्तु के इस तत्व को चार प्रकार का माना है। सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य तथा उपेक्ष्य। इनमें सूच्य तथा प्रयोज्य या दृश्य भेद उपर्युक्त है। अभ्यूह्य के द्वारा देशान्तर प्राप्ति की कल्पना की जाती है और उपेक्ष्य के द्वारा निन्दनीय या जुगुप्सित कथांश भाग की कल्पना की जाती है। अंक के अन्तर्गत दृश्य कथांश के आंतरिक शेष सभी सूच्य को अंकच्छेद के द्वारा शाधा जाता है।

अङ्कः—भरत के मत में अङ्क रूढ़ि शब्द है जो भावों और रसों के योग से (अंक में) विद्यमान इतिवृत्त को उत्तरोत्तर चलाता है इसमें नाना विधानों का योग रहता है अतः यह 'अंक' कहलाता है। यह भावों और रसों से गूढ़ और व्याप्त होता है। अंक में रूपकादि का इतिवृत्त अंशतः ही समाप्त होता है, कार्य योग से बिन्दु का विस्तार होता रहता है। नायक तथा उसके परिजन एवं प्रतिनायक आदि पात्रों का चरित यहाँ प्रयोज्य होने से इनकी चारित्रिक विविधता के कारण रसों की भी समृद्धि चलती है। इसमें क्रोध, प्रसाद, शोक उत्सर्ग आदि घटनाएँ दृश्य रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। एक ही अंक में इति-वृत्त के अनेक रूपों का प्रयोग आवश्यक होने पर परस्पर विरोधी न होकर प्रयोज्य है। अतः अंक में अत्यावश्यक परस्पर सम्बद्ध एवं रंजनात्मक इति-वृत्त की योजना अपेक्षित होती है। अधिक घटनाओं के समावेश से अंक यदि

लम्बा हो जाए तो प्रेक्षकों में खेद या उकताहट आ जाती है अतः अंक अधिक बड़े नहीं होना चाहिए।

एक अङ्क में अर्थ बीज को ध्यान में रखते हुए एक दिवस प्रवृत्त घटना का ही सन्निवेश हो जो नाट्यप्रयोग के आवश्यक कार्यों की विरोधी न हो। यदि एक अङ्क में दिवसावसान तक कार्य की समाप्ति न हो तो अङ्क-च्छेद कर उन्हें प्रवेशक के द्वारा प्रयोज्य बनावे। अङ्क की समाप्ति पर पात्र मंच से निष्क्रमण कर जाते हैं पर यह निष्क्रमण भी प्रयोजनानुसारी और विशिष्ट रससम्पदा से भूषित रहना चाहिए। जब इतिवृत्त का अङ्कगत विभाजन हो तो वह कार्य और समय को भी दृष्टि में रख कर किया जाता है, अतः समय निर्धारण आवश्यक है। सागरनन्दी ने भरत के आशय को और स्पष्ट करते हुए बतलाया कि काल की सीमा के सम्बन्ध में एकदिवसप्रवृत्त अर्थ निष्ट दिवस प्रवृत्त एवं दिवस एवं रात्रिप्रवृत्त घटनाओं को एक अङ्क में सन्निवेश किया जाना चाहिए। भरत एक अङ्क में एक दिवस प्रवृत्त घटना से अधिक के प्रयोग के पक्ष में नहीं थे तथा उनने वर्ष भर से अधिक घटना के प्रयोग का प्रतिषेध भी किया। पात्र का अङ्क में प्रवेश सहेतुक होता है तथा निष्क्रमण भी और किसी पात्र का असूचित प्रवेश नहीं होता है।

अङ्क के विभाजन के भी भरतमुनि ने आधार या संकेत दिये हैं। तदनुसार यदि दिवसावसान तक एक अङ्क में सम्पन्न होने वाली घटनाएँ पूर्ण न हो तो अङ्कच्छेद' करके उन्हें सम्पादित किया जाता है। इसके अतिरिक्त यदि दूरदेश की यात्रा, मास और वर्ष का अन्तर प्रकट करना हो तो 'अङ्कच्छेद' हो परन्तु इसकी एक वर्ष से लम्बी कालावधि नहीं होना चाहिए। प्रत्येक अङ्क में नायक की उपस्थिति सामान्यतः अपेक्षित है तथा अङ्क में प्रयोज्य समग्र इतिवृत्त दृश्य होता है। भरत ने अङ्क के लक्षण, प्रतिपाद्य तथा अवधि का यह विचार रूपक विवरण में साथ यद्यपि दिया है परन्तु उसे पृथक् देना आवश्यक होने से हमने इसे विभाजन के साथ उपयुक्त स्थान पर यहाँ प्रस्तुत किया।

गर्भाङ्क :—उत्तरवर्ती आचार्यों ने 'अङ्क' के अतिरिक्त 'गर्भाङ्क' का भी लक्षण दिया है। यह अङ्क के ही अन्दर स्थित घटना में समायोजित किया जाता है। इसमें एक स्वतन्त्ररूपक की तरह छोटी-सी प्रस्तावना होती है तथा बीज और फलनिष्पत्ति सहित एक छोटी कथा या घटना का दृश्यरूप में प्रस्तुतीकरण होता है। यह अङ्क के ही अन्तर्गत एक अंश के रूप में समायोजित होकर-प्रस्तुत होने से इसका 'गर्भाङ्क' नामसार्थक है। इसका उदा-

हरण राजशेखर के बालरामायण नाटक का द्वितीयअङ्क या उत्तररामचरित का सप्तम अङ्क है।

अर्थोपक्षेपक—भरतमुनि ने अङ्क के अतिरिक्त पाँच अर्थोपक्षेपकों का भी उल्लेख किया है। ये 'सूच्य' कथा या इतिवृत्त की सूचना देने के लिये प्रयोज्य होते हैं जिससे कथा में शृंखलाबद्धता रह सके। कथा का यह सूच्य अंश नीरस या अनुचित होने से दृश्यरूप में अङ्क के माध्यम से प्रयोज्य नहीं होता अतः इन्हें अर्थोपक्षेपक के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस सूच्य अर्थ को प्रस्तुत करने वाले पाँच अर्थोपक्षेपक हैं :—(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अङ्कावतार तथा (६) अङ्कमुख या अङ्कास्य।

विष्कम्भक :—उसमें प्रयोज्य मध्यमपात्र होते हैं तथा इसका मुखसन्धि में प्रयोग होता है। इसके दो भेद हैं शुद्ध तथा संकीर्ण। शुद्ध विष्कम्भक में केवल मध्यमपात्र होते हैं तथा भाषा संस्कृत या शौरसेनी प्राकृत होती है परन्तु संकीर्ण विष्कम्भक में मध्यम और अधम प्रकृति के पात्र होने से इसमें भाषा भी संस्कृत, प्राकृत या मिश्र होती है या फिर नीचे स्तर की। विष्कभक में अतीत एवं भावी घटनाओं का सूचन रहता है तथा इसका प्रयोग प्रथमअङ्क के आदि में या प्रस्तावना के बाद भी रखा जाता है परन्तु दो अङ्कों के बीच में भी इसका प्रयोग देखा जाता है तथा अङ्क के मध्य या अवसान में इसका प्रयोग नहीं होता। यह अङ्क सन्धायक माना जाता है। उदाहरणार्थ मालतीमाधव नाटक का विष्कम्भक प्रथम अङ्क में तथा अभिज्ञानशाकुन्तल में तृतीयअङ्क के आरम्भ में रखा गया विष्कम्भक है। अतः विष्कम्भक इतिवृत्त के रूप में अतीत की एक शृंखला के रूप में अथवा दो अङ्कों के मध्य कथा की संयोजक शृंखला के रूप में प्रयोज्य होता है।

प्रवेशक :—इसमें प्रयोज्य नीच पात्र तथा उनकी भाषा प्रायः प्राकृत, मागधी या अभीरी होती है। सागरनन्दी एवं शारदातनय के मत में प्रवेशक की भाषा संस्कृत भी हो सकती है यदि विट या ब्राह्मण जैसे पात्र हों। नीच पात्रों के द्वारा प्रयोज्य रहने से उदात्त वचनों का इसमें विन्यास नहीं होता तथा नाटक और प्रकरण में इसकी योजना की जाती है। बिन्दु आदि का संक्षेपार्थ लक्ष्य कर दो अङ्कों के बीच इसे रखा जाता है तथा गद्य पद्य दोनों का सन्निवेश रहता है। प्रवेशक की योजना अनेक प्रयोजन के लिये होती है। यथा—उदयास्त, समयपरिवर्तन, अङ्क का आरम्भ तथा कार्य आदि का संकेत, सेतुबन्ध जैसी घटनाओं का सम्बन्ध जहाँ बहुसंख्यक पात्रों से हो

और दृश्यरूप में जिसकी अवतारणा संभव न हो तो ऐसी घटनाओं की सूचनाके लिये 'प्रवेशक' की योजना की जाती हैं। दीर्घकालीन कार्य एवं घटनाओं का संक्षिप्तरूप में सूचन भी प्रवेशक ही करता है। इसी प्रकार युद्ध, राज्यभ्रंश, मरण या वध जैसी घटना की सूचना भी प्रवेशक के द्वारा दी जाती है।

प्रवेशक की सबसे बड़ी विशेषता है परिमित वागात्मकता और प्रयोजन है संक्षेप में कार्य या घटनाओं का सूचन जिससे प्रेक्षकों की रुचि तथा उत्साह नाट्यप्रयोग को देखने में बनी रहे।

चूलिका :—इसके द्वारा अर्थ या घटना की सूचना रंगमंच साक्षात् पर नहीं किन्तु यवनिका के पीछे से दी जाती है तथा इसके सूचना देने वाले पात्र नीच कोटि के सूत, मागध या वन्दी होते हैं। अतः यह घटनाओं की विशिष्ट विधि से सूचना देने वाला अर्थोपक्षेपक है। चूलिका का प्रयोग अङ्क के मध्य में किया जाता है। सिंहभूपाल ने चूलिका के एक भेद खण्डचूलिका का भी निर्देश किया है जिसमें पात्रों का बहिर्गमन या निष्क्रमण नहीं होता अतः यह अङ्क के आरम्भ में भी प्रयोज्य हो सकती है।

अङ्कावतार :—एक अङ्क के समाप्त या विच्छिन्न हुये बिना ही जहाँ दूसरे अङ्क की कथा या वृत्त का संकेत किया जाता है मानों इस सूचन से दूसरे अङ्क (या अग्रिम अङ्क) का अवतरण हो तो वह 'अङ्कावतार' कहलाता है। इसमें बीजार्थ की योजना रहती है तथा इसका प्रयोग अङ्क के बाहर नहीं अन्दर ही किया जाता है। जैसे मालविकाग्निमित्र के प्रथमअङ्क से समाप्त होने के पूर्व ही अगले अङ्क में मालनिका द्वारा प्रयोज्य छलिक नाट्य की सूचना देना 'अङ्कावतार' है। आचार्य कोहल ने चूलिका आदि तीन अर्थोपक्षेपकों की योजना अङ्क के अन्तर्गत करते हुए इनके अर्थोपक्षेपकत्व को मान्य नहीं किया।

अङ्कमुख—इसमें समस्त कथा के सारे रूप को संक्षेप में सूचित किया जाता है तथा इसकी योजना प्रायः अङ्क के आरम्भ में रहती है। इसमें भावी कथावस्तु के श्लिष्ट रूप में उपक्षेपण का कार्य रहता है। इसके प्रयोक्ता पात्र पुरुष या स्त्री होते हैं। धनंजय के मत में छूटे हुये अर्थ या सूत्र का सूचन 'अङ्कास्य' में होता है जो भरतानुमोदित नहीं है।

इन पाँचों अर्थोपक्षेपकों में विष्कम्भक तथा प्रवेशक अधिकांश नाट्यकारों द्वारा प्रयोग होने से अधिक महत्व रहते हैं तथा इनका उपयोग दीर्घव्यापी

घटनाओं की सूचना आदि कार्यों के लिये किया जाता है। इसके बाद शेष तीनो अर्थोपक्षेपकों का उतना महत्व नहीं है उनसे केवल उत्तरोत्तर अवधिगत न्यूनता के हो जाने से घटनाओं की सूचना मात्र मिलती है।

इस प्रकार कथावस्तु के अवस्थागत, उपायगत एवं अङ्गगत विभाजन आदि से भरतमुनि ने ऐसी कल्पना की है कि पात्रों के चरित्रों का समुचित विकास हो तथा रसात्मकता की सृष्टि हो तथा जिसके आनन्दात्मक प्रभाव या रंजनगत सन्तोष भी दर्शक को प्राप्त हो सके।

नाटचशास्त्र के बाइसवें वृत्तिविकल्पन अध्याय में वृत्तियों का विवरण है। नाटचप्रयोग में वृत्तियों का महत्त्व असामान्य होता है तथा इसी कारण ये नाटच की मातृभूता होती है, क्योंकि सभी प्रकार के काव्यों के अस्तित्व का कारण विविधस्वरूप वाली वृत्तियाँ हैं अतः माता और उसकी सन्तान में जो सम्बन्ध है यही वृत्ति तथा काव्य में रहता है। क्योंकि काव्य में उन माननीय स्थायी भावों को प्रदर्शित किया जाता है जो मानवजीवन के एषणीय चारों पुरुषार्थों की सिद्धि की ओर ले जाने में शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापारों के रूप में सहायक होते हैं। अतः स्पष्ट है कि व्यापार या वृत्ति काव्य की कारणीं भूता है अतः इनसे न केवल शरीर के अङ्गों की दशा ही प्रदर्शित हो जातीं हैं किन्तु वागिन्द्रिय का व्यापार भी वृत्ति बन जाता है। इसी वृत्ति से नाटच में रसोदय होता है।

वृत्ति का उद्गम :—नाटचगत वृत्ति ऐसा अभिनेतृ व्यापार है जिसका कर्त्ता के निजीहित की साधना से सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार की भावना को स्पष्ट करने के लिये भरतमुनि ने इसकी पौराणिक कथा प्रस्तुत की है जहाँ प्रथमतः ऐसा व्यापार हुआ था।

सृष्टि की प्रलयावस्था में जब समग्रतः संसार एक समुद्र के रूप में ही बचा था तथा श्री विष्णु शेषनाग पर सो रहे थे तभी वीर्य एवं बल से उन्मत्त मधु एवं कैटभनामक दों विकट दानवों ने श्रीविष्णु को युद्ध के लिये बार-बार ललकारा। ये दोनों दानव अपने पुष्ट बाहुओं को बार-बार मलते हुए एवं जानु और मुष्टियों के प्रहारों को करते हुये श्रीविष्णु के साथ युद्ध करते लगे। युद्ध करते हुये उनने इतने वेग से कठोर एवं तिरस्कार भरे वचनों का प्रयोग किया कि उससे महासागर भी कांपने लगा। ऐसी विषमदशा के उत्पन्न होने पर ब्रह्मा ने श्रीविष्णु से निवेदन किया कि क्या भारती वृत्ति (वाणी) ही यहाँ प्रवृत्त हो रही है। श्रीविष्णु ने उत्तर में बतलाया कि नाटचक्रिया के लिये वृत्तियाँ

उत्पन्न होती हैं जिनकी मैंने रचना की। दैत्यों से द्वन्द्वयुद्ध करते हुये जब अपने पादन्यास पृथ्वी पर बल देकर रखे तो भूमि पर अधिक भार होने से वाक्यभूयिष्ठा 'भारती वृत्ति' की उत्पत्ति हुई। अपने शार्ङ्गनामक धनुष को वीर रसोचित रीति से संचालन करने से 'सात्वती वृत्ति' उत्पन्न हुई। महाविष्णु के विचित्र अङ्गहारों एवं लीलापूर्ण चेष्टाओं के साथ केश संयमन करने से 'कैशिकी वृत्ति' तथा वेग, उत्साह तथा उद्धत चारियों के साथ द्वन्द्वयुद्ध करने से 'आरभटी वृत्ति' की उत्पत्ति हुई। यहाँ भरतमुनि ने वृत्तियों के उद्गम के रूप में पौराणिक परम्परा को दिखलाकर इसके अतिरिक्त वैदिक स्रोत का भी निदर्शन किया। तदनुसार संवाद प्रधान ऋग्वेद से भारतीवृत्ति, मनोव्यापार एवं अभिनय प्रधान यजुर्वेद वे सात्वती वृत्ति, गीतवाद्य प्रधान सामवेद से कैंशिकी तथा उद्धतचारियों के साथ द्वन्द्वयुद्धादि की प्रधानता वाले अथर्ववेद से 'आरभटी वृत्ति' का उद्गम हुआ।

वैदिक एवं पौराणिक परम्परा के अतिरिक्त नाटचशास्त्र में एक और भी विवरण मिलता है तदनुसार भरतों ने अपने ही नाम पर वाक्प्रधान, पुरुषप्रयोज्य भारती वृत्ति का प्रचलन किया था। नाटचोत्पत्ति के प्रसंग में यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वयं भरतमुनि ने अपने प्रयोज्य नाटचप्रयोग में तीन वृत्तियों का प्रयोग किया और कैंशिकी वृत्ति की प्रेरणा उन्हें भगवान् नीलकण्ठ शिव के ताण्डवनृत्य से मिली। भरतमुनि के अनुरोध पर कैशिकी वृत्ति के प्रयोगार्थ नाटचालंकार चतुर अप्सराओं को देवराज इन्द्र ने भरतमुनि को प्रस्तुत कर दी। इस प्रकार नाटचशास्त्र में ही ये चार विवरण वृत्ति के विषय में मिलते हैं। भावप्रकाशन में एक अन्य विवरण भी मिलता है जिसके अनुसार शिव एवं पार्वती के नृत्य को देखने वाले ब्रह्मा के चारों मुखों से वृत्तियों की उत्पत्ति हो गयी। इन परम्पराओं पर विचार करने से स्पष्ट है कि पात्रों का दैहिक सात्विक एवं वाचिक व्यापार ही वृत्ति है जिससे रसोदय हो जाता हैं और इसी कारण भरतमुनि ने इन्हें नाटचमातृका' कह कर इनका महत्व दिखलाया।

भरत-सम्मत वृत्तियाँ :—भरतमुनि के अनुसार वृत्तियाँ चार हैं :— भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी। यद्यपि ये एक दूसरे से पृथक् हैं परन्तु ये परस्पर संवलित भी रहती हैं क्योंकि वाचिक, शारीरिक एवं मानसी चेष्टाएँ मिल कर ही एक दूसरे को पूर्णत्व प्रदान करती है। अभिनवगुप्तपाद ने इस विषय में बतलाया कि ये चार वृत्तियाँ यद्यपि किसी एक

वृत्ति की प्रधानता के कारण अपनी पृथक्ता रखती हैं पर अनेक व्यापारों से मिला हुआ वृत्तितत्व एक ही है क्योंकि नाट्य में कोई भी एक वृत्ति दूसरी वृत्ति के योग के बिना निष्पन्न ही नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट है कि परस्पर संवलित होने पर भी अंशविशेष की प्रधानता के आधार पर ये चार प्रकार की हो गयी हैं।

भारतीवृत्ति :—जो वाग्वृत्ति पुरुषपात्र प्रयोज्य, स्त्रीवर्जित तथा संस्कृत पाठ से युक्त होती है तथा जो भरतों या नटों के अपने नाम पर प्रयुक्त की जाती हों वह 'भारती वृत्ति' है। यह वाग्व्यापारमयी होने से सर्वत्र विद्यमान होती है तथा चारों वृत्तियों में प्रमुखता के कारण प्रथम उल्लेख के योग्य है। इस भारतीवृत्ति के चार अङ्ग हैं :—(१) प्ररोचना, (२) आमुख, (३) वीथी तथा (४) प्रहसन। इनमें प्ररोचना पूर्वरंग का अङ्ग होती है। आमुख या प्रस्तावना के पाँच प्रभेद होते हैं—(१) उद्घात्यक, (२) कथोद्घात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवृत्तक तथा (५) अवलगित। वीथी तथा प्रहसन आदि की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है तथा इनका लक्षणादि यथास्थान चर्चित है।

सात्वती वृत्ति :—सत्वप्रधान व्यापारों की प्रमुखता रहने पर सात्वती वृत्ति होती है। यह न्यायपूर्ण शूरता और त्याग आदि कारणों के योग से युक्त रहने से उत्कट हर्ष के प्रकाशन तथा शोक का संहरण करने वाली होती है। इसमें वीर, अद्भुत तथा रौद्र रसों की प्रचुरता रहती है तथा शान्त, शृङ्गार एवं करुण रसों का निषेध रखा जाता है। इसमें उद्धत पात्रों की अधिकता रहने से प्रसंगवश या परस्पर आधर्षण कार्य भी रखा जाता है। सात्वतीवृत्ति के चार प्रभेद होते हैं—(१) उत्थापक, (२) परिवर्तक (३) संल्लापक तथा (४) सांघात्य। (इनके लक्षणादि का सोदाहरण विवेचन यथास्थान चर्चित है।)

कैशिकी वृत्ति :—जो मनोहारी वेष विन्यास से विचित्रता लिये हुये स्त्रीपात्रों से युक्त तथा नृत्य गीत से सरस एवं कामभाव से समृद्ध, शृङ्गार रसात्मक व्यापार वाली होती है वह 'कैशिकी' है। इसके व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ से भी यही संकेत मिलता है कि जैसे स्त्रियों के केशों के द्वारा किसी क्रिया का सम्पादन नहीं होता परन्तु उनका सहजसौन्दर्य अधिकसमृद्धि प्राप्त करता है, वैसे ही इस वृत्ति से नाट्य मनोहारी हो जाता है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मत में कैशिकी वैचित्र्याधायकत्व एवं सौन्दर्य के कारण शृङ्गार रस का प्राण तो है ही अन्य रसों में भी विद्यमान रहती है। कैशिकीवृत्ति के चार

अङ्ग हैं—(१) नर्म, (२)) नर्मस्फंज (३) नर्मस्फोट तथा (४) नर्म गर्भ। (इनके स्वरूपादि का सोदाहरण विवरण यथास्थान दिया गया है।) कैशिकी के इन चार अङ्गों के वेष वाक्य तथा चेष्टा भेदों के क्रम में बारह भेद हो जाते हैं। यह वृत्ति अपने सुकुमार वेषभूषा कोमल शृंगारभाव, गीत-नृत्य प्रधानता एवं स्त्रीपात्रों की बहुलता के कारण लाती है।

आरभटीवृत्तिः—जहाँ वीरों के क्रोधावेग, कपट, प्रपंच, छल, दम्भ, असत्य-भाषण, उद्भ्रान्त चेष्टा, बन्धन तथा वध आदि की प्रमुखता हो तो 'आरभटी' वृत्ति होती है। यह वृत्ति कैशिकी के प्रतिकूलभाव को रखती है तथा 'न्यायवृत्त' की प्रतिकूलता के कारण सात्वती से भी प्रतिकूलता ही रखती हैं। 'आरभट' अर्थात् उत्साह सम्पन्न वीर योद्धाओं के गुण जिस वृत्ति में हो वह 'आरभटी' वृत्ति, यह इसका अन्वर्थ नामकरण भी है। रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार 'आर' पद का अर्थ कशा या चाबुक है अतः जहाँ ऐसे योद्धा या भटों की—जो चाबुक के समान ही प्रमुखता रखते हों—वहाँ 'आरभटी' है। यह वृत्ति कायिक, मानसिक तथा वाचिक व्यापारों तथा अभिनयों से युक्त रहने से नाट्य के लिये उपयोगी होती है, क्योंकि इसमें अभिनयगत सभी विधानों का समायोजन संभव रहता है। आरभटी वृत्ति के चार अङ्ग हैं—(१) संक्षिप्तक, (२) अवपात, (३) वस्तूत्थापन तथा (४) सम्फेट। (इनके लक्षण तथा उदाहरणों सहित विवरण यथास्थान चर्चित है)।

वृत्तियों की संख्याः—यद्यपि भरतमुनि ने चार वृत्तियाँ ही स्वीकार कीं फिर भी नाट्यशास्त्र के व्याख्यान में अभिनवगुप्तपाद ने उद्भट का मत उद्धृत कर बतलाया कि आचार्य उद्भट ने सात्वती तथा कैशिकीवृत्ति को अस्वीकार कर उनके स्थान पर एक 'फलसंवित्ति' नामक वृत्ति को माना। इस प्रकार वे केवल भारती, आरभटी तथा फलसंवित्ति नामक तीन वृत्तियाँ ही मानते थे। परन्तु उद्भट के मतानुयायी पाँच वृत्तियों को स्वीकार करते हैं। इनमें भरतानुमोदित चार वृत्तियों को मान कर एक वृत्ति आत्मसंवित्ति को भी उनने माना। वृत्तियों की संख्या के विषय में महाराज भोज का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं मिलता। वे सरस्वतीकण्ठाभरण में दो अतिरिक्त भेद जैसे (१) मध्यम आरभटी तथा (२) मध्यम कैशिकी भी मानते हैं। इस प्रकार भोज के मत में छः वृत्तियाँ हैं। शृङ्गार-प्रकाश में चार वृत्तियों के अतिरिक्त इनके परस्पर मिश्रण होने पर 'मिश्र' वृत्ति यहाँ भी मानते है तथा वृत्तियों की संख्या चार से बढ़ा कर पाँच स्वीकार करते

हैं। (इस विवरण की चर्चा परिशिष्ट टिप्पणी में की गयी है जो यथास्थान देखना चाहिये)।

वृत्तियों की रसानुगतता एवं प्रयोगः—वृत्तियों का सम्बन्ध पात्रों के वाचिक, मानसिक, कायिक व्यापारों से होता है जो रसोद्‌वोध, करते हैं। अतः भरतमुनि ने वृत्तियों की रसानुगतता का भी विवरण दिया है। भरत की इस सरणि में कैशिकी वृत्ति सुकुमार होती है तथा उसमें शृङ्गार तथा हास्यरस की वहुलता होती है। सात्वतीवृत्ति में वीर तथा अद्भुत रसों की प्रमुखता होती है। आरभटीवृत्ति में रौद्र तथा अद्‌भुत रस की तथा भारती वृत्ति में करुण एवं बीभत्सरस की प्रमुखता रहती है। आचार्य कोहल के मत में भी कैशिकी वृत्ति की योजना रखनी चाहिये अतः इन रसों में इन्हीं वृत्तियों का प्रयोग अभीष्ट है। वृत्तियों के उपसंहार में स्वयं मुनि ने स्पष्ट रूप से बतलाया कि कोई काव्य या नाटच प्रयोग के क्रम में एक रसज नहीं होता उसमें विभिन्न भावों, रसों वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का योग रहता ही है। इन रसों भावों वृत्तियों के समवेत होने पर उनमें प्रमुख तत्व 'रस' ही रहता है तथा शेष की स्थिति उनकी प्रमुखता को लेकर ही निर्धारित की जाती है।

नाटचशास्त्र के तेईसवें अध्याय में 'आहार्य-अभिनय' की चर्चा है। आहार्य अभिनय नेपथ्य या वेषभूषा, सजावट आदि (के विषय) का विधान होता है। पात्रों के अपनी अवस्था के अनुरूप तथा प्रकृतिगत वेष विन्यास, अलंकार परिधान, अङ्गरचना तथा रंगभंच पर प्रस्तुत निर्जीव एवं सजीव प्राणियों के नाटचधर्मी प्रयोग आहार्य-अभिनय कहलाते हैं। भरत के अनुसार पात्र अपनी अनुरूप वेषभूषा तथा अङ्गों के वर्ण-विन्यास आदि से युक्त होकर ही प्रेक्षक के समक्ष राम या सीता आदि के रूप में आहृत होता है। पात्र की नानाप्रकृतियों तथा शोकादि अवस्थाओं को नेपथ्य से ही अनुरूप वेष तथा वर्णरचना द्वारा मंच पर आहृत किया जाता है, तब कहीं आंगिक एवं वाचिक अभिनयों के योग से रसोदय हो पाता है। अतएव आहार्य अभिनय का नाटचप्रयोग में असाधारण महत्व होता है यह स्पष्ट है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मत में समस्त अभिनय व्यापारों के उपशमन के उपरान्त भी नेपथ्य विधान से युक्त पात्रों के रूप रंग का आलोक प्रेक्षक के हृदय में आलोकित होता है। अतः चित्ररचना की आधार भित्ति की तरह आहार्य अभिनय ही आधार भूमि है अभिनयप्रयोग की।

यह आहार्य-अभिनय नाट्यप्रयोग के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित है। इसका भाव यही है कि पात्र जिस अनुकार्य राम आदि की वेषभूषा धारण करता है वह समग्र प्रयोगकाल के लिये उसीके व्यक्तित्व से आच्छादित हो जाता है। जैसे आत्मा एक देह को त्याग कर दूसरी देह में प्रवेश करते हुये प्रथमदेह के सुखदु:खात्मक भावों को छोड़कर दूसरी देह के भावों को ग्रहण करे। इसी प्रकार पात्र भी नाट्यप्रयोग काल में 'स्वभाव' को त्याग कर 'पर-भाव' को ग्रहण करते हुये प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। यह कार्य अतिशय श्रमसाध्य है परन्तु आहार्यविधानगत वेष एवं वर्ण रचना के योग से यह सरलता से सम्पन्न किया जाता है।

आहार्य के प्रकार:—नाट्यशास्त्र में आहार्य अभिनय को चार भागों में विभक्त किया हैं—(१) पुस्त (models), (२) अलंकार प्रसाधन, (३) अङ्गरचना (या आकृति परिवर्तन) तथा (४) संज्जीव या जीव-जन्तुओं का मंच पर प्रदर्शन का नाटकीय प्रयोग।

पुस्त:—आहार्य अभिनय की विधि में सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण होता है 'पुस्त' क्योंकि इसी के द्वारा रंगमण्डप पर दृश्यविधान साधा जाता है। यही शैल, यान, विमान, रथ, हाथी, ध्वज, छत्र तथा दण्ड आदि पदार्थों के सांकेतिक पुस्तों (models) के द्वारा मंच पर उनका सारूप्य सृजन करता है, जिससे नाट्य प्रयोग अधिक यथार्थता धारण कर ले। पुस्त का भाव है सांकेतिक पदार्थ की रचना। इस विधान के तीन प्रभेद या वर्ग हैं—(१) सन्धिम (२) व्याजिम तथा (३) वेष्टिम या चेष्टिम।

सन्धिम:—सन्धिम का अर्थ है बाँधना या जोड़ना अत: इसके द्वारा विभिन्न वस्तुओं की बाँध या जोड़ कर उपयुक्त रचना की जाती है। इसमें उपकरण बनते हैं भूर्जपत्र, वस्त्र, चर्म, लौह तथा बाँस आदि की पत्तियाँ जिनसे अपेक्षित वस्तु दृश्यता लेती है तथा मंच पर प्रासाद, दुर्ग, वाहन, रथ, हाथी, घोड़ा जैसी वस्तुओं को प्रस्तुत किया जाता है।

व्याजिम:—जिन (भौतिक) पदार्थों को यान्त्रिक साधनों से रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाए वे 'व्याजिम' कहलाते हैं। इसी के माध्यम से रथ, यान, विमान आदि को रंगमंच पर कृत्रिम गति प्राप्त होती है। अभिनवगुप्तपाद ने बतलाया कि ऐसे पदार्थ सूत्र के माध्यम से आगे पीछे आकर्षित करते हुये गतिशील बनाए जा सकते हैं। इस विधि से अनेक

भौतिक पदार्थों को उनकी चेष्टा आदि के संकेतों के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

वेष्टिम (या चेष्टिम) :—यह ऐसी पुस्तविधि है जिसमें वस्त्र आदि को आवेष्टित या लपेट कर प्रयोग होता है। यहाँ चेष्टिम तथा चेष्टित भी पाठ मिलता है तदनुसार यदि भौतिक पदार्थों का ज्ञान तद्वत् चेष्टा के प्रदर्शन से संकेतित किया जाए तो वह चेष्टिम या चेष्टित फलविधि है।

नाटचप्रयोग में इसी पुस्तविधि से शैल, यान, वाहन, विमान तथा हस्ती आदि को मंच पर प्रस्तुत करने का प्रयोग होता था। इसी प्रकार छत्र, मुकुट इन्द्रध्वज तथा विभिन्न स्तरों के पात्र जैसे राजा, मन्त्री, महादेवी आदि के लिये विहित काष्ठासन, मुण्डासन, मयूरासन आदि पदार्थों का प्रस्तुतीकरण भी इसी पुस्त विधि से सम्भव होता है। आहार्य-अभिनय की प्रकृत पुस्तविधि के द्वारा नाटचप्रयोग को रूपायित वा प्रकृष्ट रूप देने में अधिक सहायता मिलती है। प्रासाद,मन्दिर, मूर्ति, ध्वज आदि का नाटचधर्मी प्रयोग भी इसी विधि से सम्पन्न होता है। भरतमुनि इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि बहुमूल्य पदार्थ सुलभ नहीं होते अतः प्रयोग के अनुरूप पदार्थों को वेणुदल, लाक्षा, अभ्रक, घासफूस तथा मोम के योग से निर्मित कर हलकेफुलके रूप में मंच पर प्रस्तुत किया जाये। इस प्रकार यह पुस्तविधि भरतमुनि की अतिशयप्रतिभा सम्पन्न दृष्टि की सूचना देती है। इतना विस्तृत विवरण देकर भी मुनि ने नाटचाचार्य पर भी यह कार्य छोड़ दिया कि वे समय और आवश्यकता के अनुसार ऐसे पदार्थ अपने विवेक से मंच पर प्रस्तुत करे। नाटच कथा के अन्तर्गत प्रयोज्य युद्ध नियुद्ध आदि में विविध अस्त्र-शस्त्रों की रचना एवं प्रयोग का भी मुनि ने संकेत दिया है। इनके मत में कुन्त, शतघ्नी आदि शस्त्र लौकिक पदार्थों के अनुकृत स्वरूप वाले हलके वजन के होना चाहिये न कि यथार्थ क्योंकि भारी अस्त्रों के उठाने से पात्र श्रान्त हो जाएँगें तथा वे आंगिक अभिनय की शास्त्रीय विधियों का सम्पादन नहीं कर पावेंगें। अतः शस्त्रों का परस्पर प्रहार केवल स्पर्श करते हुए रहना चाहिये अन्यथा प्रहार से पात्रों के क्षतविक्षत होने की दुर्घटना भी हो सकती है। इस प्रकार रंगमञ्च पर शस्त्रप्रयोग सीमित रूप में ही हो जिससे छेदन भेदन के दृश्य में रुधिरस्राव न हो तथा यदि ऐसा दिखाना भी पड़े तो वह भी नाटचधर्मी या पुस्तविधि से सरलता से दिखलाया जावे।

अलंकार विधान :—भरतमुनि ने पात्रों के प्रसाधन के लिये अलंकारों की भी विवेचना की है। पात्र का अलंकार मुख्यरूप में तीन प्रकार से

होता है। (१) माला का धारण, (२) आभूषण परिधान तथा (३) वेशविन्यास।

माल्य :—इनमें माल्य या माला द्वारा शरीर का प्रसाधन भी पाँच प्रकार से होता है। यथा—(१) वेष्टित, (२) वितत, (३) संघात्य, (४) ग्रन्थित तथा (५) प्रलम्बित। आचार्य अभिनवगुप्त ने इनको स्पष्ट करते हुये बतलाया कि **वेष्टित** माला में हरी पत्तियों को तथा पुष्पों को गूंथ कर बनाया जाता है। **वितत** में पुष्पों की माला प्रसृत रहती हैं, **संघात्य** में पुष्पों के डंठल सूत्र में अदृश्यभाव से बींधकर गूथें जाते है, **ग्रन्थित** में केवल पुष्पों को गूंथ कर माला बनाते हैं तथा **प्रलम्बित**माला लम्बी और लटकी हुई होती है।

आभूषण परिधान :—शरीर पर अलंकार धारण करने की विधि भी मुनि ने बतलाई। तदनुसार अलंकार के चार प्रभेद किये गये—(१) आवेध्य, (२) बन्धनीय, (३) क्षेप्य तथा (४) आरोप्य।

आवेध्य के अन्तर्गत ऐसे अलंकार आते हैं जो अङ्गों को बींध कर धारण किये जाएँ। अतः कान के कुण्डल तथा नाक में पहिनने के विविध आभूषण इसी प्रकार के आवेध्य अलंकार होंगे। **आरोप्य** उन्हें कहते हैं जो शरीर पर आरोपित या पहने जाते हैं :—जैसे हेमसूत्र, मणिमाला या ऐसे ही अनेक मनोहारी अलंकार 'आरोप्य' होंगें। **बन्धनीय** के अन्तर्गत अङ्गों में बाँधे जाने वाले आभूषण आते हैं। जैसे :—अङ्गद, केयूर, करधनी आदि। **प्रक्षेप्य** के अन्तर्गत उतारने तथा पहिरने वाले अलंकार आते हैं जैसे नूपुर, अंगूठी तथा वस्त्रादि को बांधने के अलंकार।

इस प्रकार चार वर्ग के आभूषणों का विवरण देकर नाटयशास्त्र में पुरुष एवं स्त्रियों के अङ्ग, उपांग में धारण करने योग्य आभूषणों का भी ऐसा विवरण दिया है, जो प्रयोग की मनोहारिता में महत्त्व रखता है। इस प्रकार के आभूषणों को विविध शारीरिक भागों में धारण करने के विवरण से तत्कालीन सौन्दर्यदृष्टि और समृद्धजीवन का भी परिचय मिलता है जो सांस्कृतिक दृष्टि से अति उपयोगी एवं महत्त्वशाली है।

पुरुषों के अलंकार :— पुरुषों द्वारा धार्यमाण अलंकारों का विवरण अतिविस्तीर्ण एवं व्यवस्थित है जिनमें आमस्तकपाद के आभूषण बतलाये गये हैं। इनमें भी शिर पर चूड़ामणि, कानों में कुण्डल, कंठ में मुक्तावली, हर्षक तथा सूत्रक, अंगुली में अंगुलीयक (अङ्गूठी) तथा वेतक (बींटी)

बाहुनाली में हस्तली और वलय, बाहु में रुचक तथा चूलिका, बाजू के ऊपरी भाग में केयूर और अङ्गद, वक्षःस्थल पर मौक्तिकमाला, हार तथा त्रिसर तथा कटि में सूत्रक, तरल या हेमसूत्र। इन आभूषणों को देवता या (प्रधान) पुरुष पात्र धारण करते हैं।

स्त्रियों के अलंकार :—स्त्रीपात्रों के सिर पर शिखापाश, शिखाव्याल, पिण्डीपत्र, चूड़ामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्षिक तथा शीर्षजाल; ललाट पर शिखिपत्र, वेणीगुच्छ, ललाटतिलक; कानों में कर्णिका, कर्णवलय पत्रकर्णिका, कुण्डल, कर्णमुद्रा, कर्णोत्कीलक तथा कर्णफूल; नेत्रों में अंजन तथा ओठों का रंजन तथा अधरपल्लवों की प्रभा नवपल्लव के समान ताम्रवर्ण की रखी जाती है। कण्ठ के आभूषणों में मुक्तावली, व्यालपंक्ति, मंजरी, रत्नमालिका, रत्नावली तथा सूत्रक है। बाहुमूल के आभूषण अङ्गद तथा वलय रखे जाते हैं। अङ्गुली में कलापी कटक, हस्तपात्र, सुपूरक तथा मुद्रा धारण किये जाते हैं। श्रोणीप्रदेश पर मेखला, कांचिका, रशना तथा कलाप तथा पैरों में नूपुर, किङ्किणी, घटिका, रत्नजालक तथा सघोष-कटक (छड़े) को धारण करते हैं। जंघाओं पर पादपत्र, पैरों की अङ्गुली में अङ्गुलीयक तथा दोनों पैरों के अङ्गूठों पर अङ्गूष्ठतिलक धारण करते हैं। इसके अतिरिक्त पादतलों में रक्तवर्ण अलक्तक को अनेक रचनाओं से रेखांकित कर लगाते हैं।

इस प्रकार भरतमुनि ने स्त्रियों के विविध आभूषणों को अधिक विस्तार से दिया जो उनकी आभूषणप्रिय प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए हुआ है। इनका प्रयोग भी भाव तथा रस के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए तथा यह आगम, प्रमाण, पात्र, रूप, शोभा तथा लोकप्रचलित व्यवहारों की पृष्ठ-भूमि में होना चाहिए। शोकादि की दशा में नारी को भूषणों का प्रयोग कम ही रखना उचित है।

इस प्रकार भरतमुनि ने स्त्रियों के अङ्ग तथा उपांगों के लिये विविध आकार के अलंकारों का विधान उनके सौन्दर्य एवं भाव-रस की समृद्धि के लिये किया था। इस भूषणविधान से उनकी प्रयोगदृष्टि की सूक्ष्मता का भी परिचय मिलता है तथा तत्कालीन भारतीय समाज में अलंकारों के उपयोग की सूचना भी।

वेष-केशविन्यास आदि :—भरत ने अलंकारों के बाद नारीशरीर के वेषादि का भी विवरण दिया है। यह उनके जाति, देश आदि को लेकर किया

जाता है। वेष की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा कि जो हृदय को व्याप्त था आविष्ट कर ले वही 'वेष' है। यह वेष आभरण तथा केशविन्यास से साधा जाता है तथा केशों की मनोहारी रचनाएँ नारी को सदैव सुन्दरता से प्रस्तुत करने में प्रमुखता रखती है तथा इससे रसपोष भी होता है। अतः घुंघराले केश या अलक भी अलंकारों की तरह आकर्षक है। इसके अतिरिक्त शरीर को चारों ओर से आच्छादित करने वाले विविध वस्त्रों के योग से भी 'वेषरचना' या साजसज्जा सम्पन्न की जाती है।

विन्यास—विद्याधरी, यक्षिणी, अप्सरा, नागकन्या या नागपत्नी, देवांगनाएँ और ऋषि पत्नी आदि अपने वेष के कारण ही एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होती हैं। अतः सिद्ध, गन्धर्व तथा दिव्य नारियों के मस्तक पर केशाग्र बंधे हुए रख कर उन पर मोती पिरोये जाते हैं। विद्याधारियों का वेष एवं परिच्छद शुभ्रवर्ण का रखा जाता है। यक्षिणी और अप्सराओं के अलंकार रत्नजटित होते हैं, इनका केशविन्यास सम होता है तथा यक्षिणी के केश शिखापाश से युक्त ग्रथित रहते हैं। दिव्यस्त्री तथा नागाङ्गनाओं की केशविन्याश विधि आकर्षक रूप में रहती हैं जहाँ उनके मुक्तामणि मण्डित फणाकार केशगुच्छ बनाते हैं, मुनिकन्याओं के केश तथा आभरण बन के निवास तथा उनकी सरलप्रकृति के अनुरूप होते हैं जहाँ शिर एकवेणी तथा शरीर पर कोई आभरण नहीं केवल पुष्पमाला रहती है। सिद्धाङ्गनाओं का आभरण मुक्तामरकतप्राय होता है तथा वे पीतवस्त्र धारण करती है। गन्धर्व-कन्या का आभरण पद्मरागमणि जटित रखा जाता है, उनके वस्त्र कुसुंभी वर्ण केतथा हाथमें वीणा रहती है। राक्षसियों के आभूषण इन्द्रनीलमणि से जड़ित तथा वस्त्र नील एवं वर्ण भी नील रखा जाता है। देवांगनाओं के आभूषण मुक्ता तथा वैदूर्यमणि से जटित रखे जाते हैं और उनके वस्त्र शुकपंखों के सदृश हरे वर्ण के रहते हैं।

मानवी स्त्रियों के आभरण, वेष तथा परिच्छद उनकी देशगत विशेषताओं को लिये हुए रखें जाते हैं, जिनसे उनकी विलक्षणता एवं विभेद स्पष्ट हों जाएँ। इनमें अवन्तीदेश की स्त्रियों के शिर पर कुन्तल अलक होते हैं। गौड देश की स्त्रियों की वेणी में शिखायपाश की रचना रहती है! आभीर स्त्रियाँ दो वेणी वाली केशरचना रखती हैं, उनके वस्त्र नीलवर्ण के होते हैं और वे अपने सिर को ढँके हुए रखती हैं। पूर्वोत्तर देश की स्त्रियों का सिर शिखण्ड अर्थात् ऊपर उठी हुई शिखावाला रखा जाता है, वे सिर से पैर तक अपने

शरीर को ढँके हुए रखती हैं। दक्षिणदेश की स्त्रियाँ उल्लेख नामक अलंकार मस्तक पर धारण करती हैं तथा ललाट पर गोल तिलक लगाती हैं। गणिकाओं का वेष विचित्र तथा इच्छानुरूप रखा जाता है। प्रोषितभर्तृका या वियोगिनी नारी का वेष मलिन रहता है विचित्र नहीं, ये अधिक आभरण भी धारण नहीं करतीं। नारियों के उक्त विधान में देश, अवस्था तथा समय का ध्यान रखना आवश्यक है। भरत ने स्पष्टतः यह बतलाया कि देशानुसार वेष, आभरण और परिच्छिद शोभादायक होते हैं, क्योंकि यदि मेखला को वक्षस्थल पर रखे तो यह शोभा नहीं किन्तु हास्य ही उत्पन्न कर सकती है। अतः यह स्पष्ट ही है कि आभरण वस्त्रादि की वेषगत विधि नाट्य-प्रयोग में रससृष्टि के लिये ही उपयुक्त होना चाहिए।

पुरुषों का वेषादिविधान भी देश, जाति, स्थिति तथा अवस्था के अनुरूप होता है। भरत मुनि ने पुरुषों के इस विवरण के पूर्व अङ्गरचना, वर्तना तथा वर्णों की भी चर्चा की, इसका कारण यही है कि वर्णरचना या रंगों के शरीर पर लगाने के कार्य के बाद ही वस्त्रादि धारण किया जाता है। अतः हम यहाँ भी वर्ण रचनादि को उसी तरह क्रमशः प्रस्तुत करते हैं।

अंगरचना तथा वर्ण—अङ्गरचना आहार्य अभिनय का महत्वपूर्ण अंग है जो देश, जाति, वय तथा दशा के अनुरूप रखी गयी है, क्योंकि इसी से पात्र का स्वरूप बनता है। भरत मुनि ने वर्ण या रंगों का बड़ा वैज्ञानिक वर्णन दिया है। उनके मत में मूलरूप में प्रधान या स्वाभाविक वर्ण चार हैं—(१) सित (उज्ज्वल), (२) पीत, (३) नील तथा (४) रक्त। इन चार वर्णों के मिश्रण से अनेक अन्य रंगों का विधान किया जाता है। पाण्डु (सफेद) तथा पीले के मिश्रण से, कपोत, सित तथा नीले के मिश्रण से, कमल, सित तथा लाल के मिश्रण से, हरित या हरा पीले तथा नीले रंग के मिश्रण से कषाय नीले तथा लाल के मिश्रण से तथा गौर पीले तथा लाल के मिश्रण से बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक वर्णों के मिश्रण से अनंत रंग बन जाते हैं जिनमें तीन या चार रंगों का मिश्रण अनेक अनुपातों में किया जाता है। रंगों के सम्मिश्रण की इस विधि को ध्यान में रख कर पात्रों के शरीरादि को विविध भूमिकाओं के अनुसार रंगा जाता है। इस प्रकार रूप तथा वेष नाट्य-भूमिकाओं को प्रभावशाली बनाता है।

भरत ने प्राणियों तथा अप्राणियों का भी इस प्रसंग में विभेद बतलाया है। मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, देव, दानव आदि प्राणिवर्ग में तथा पर्वत,

प्रासाद, यन्त्र, कवच, तथा अस्त्र-शस्त्र आदि अप्राणिवर्ग में आते हैं। नाटकीय अपेक्षा के अनुसार कभी-कभी अप्राणियों को भी प्राणियों के रूप में मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। इन प्राणियों में देवता, यक्ष तथा अप्सराओं का वर्ण गौर चित्रित किया जाता है जिनमें रुद्र, अर्क, द्रुहिण, स्कन्द आदि देवगण भी आते हैं। सोम, बृहस्पति, शुक्र, वरुण, नक्षत्र, समुद्र, हिमाचल तथा गंगाजी का वर्ण रफेद रखा जाता है। मंगल लाल रंग में, बुध तथा हुताशन (अग्नि) पीले रंग में, नारायण, नर तथा वासुकी नीले रंग में चित्रित होते हैं। दैत्य, दानव, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, पर्वत का अधिदेवता तथा आकाश का वर्ण गहरा नीला होता है। यक्ष, गन्धर्व, पन्नग (नाग) विद्याधर, पितर, भूत तथा वानरादि को विभिन्न रंगों में चित्रित किया जाना चाहिए। विभिन्न द्वीपों के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप में रंजित करना चाहिए। जम्बूद्वीप में जहाँ अनेक वर्णों के निवासी हैं उनमें उत्तर कुरुक्षेत्र को छोड़कर शेष को स्वर्णवर्ण में रंगना चाहिए। इनमें भद्रदेश तथा केतु-भाल के लोग सित वर्ण में तथा अन्य द्वीपों के निवासी गौरवर्ण में रंगने चाहिए।

भारत के निवासी जन में राजा का वर्ण कमल, श्याम या गौरवर्ण में, सुखी जन को गौरवर्ण में, दुराचारी जन को श्याम (असित) वर्ण में तथा तपस्वियों को असित वर्ण में चित्रित करते हैं। ऋषि जन का तथा बदरी, किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रविड़, काशी, कोशल, पुलिन्ध्र तथा दाक्षिणात्य लोगों का रंग प्रायः असित रखते हैं। शक, यवन, पह्लव, वाल्हीक को (लगभग) पीले वर्ण में तथा पांचाल, शूरसेन, माहिष, उड्र, मागध, अंग, बंग, कलिंग को श्यामवर्ण में रंगा जाता है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय गौरवर्ण में तथा वैश्य एवं शूद्र को श्यामवर्ण में रंगते हैं। इस प्रकार मुख तथा शरीर के रंगने की यह विधि पात्रों के स्वभाव, जन्म, अवस्था आदि को देखकर प्रयुक्त करना चाहिए।

पात्रों की मनोदशा के अनुरूप भी उसकी अंगरचना और वर्ण रहने से प्रत्येक रस के लिये भी वर्ण नियत किया गया है। तदनुसार शृङ्गार रस का श्याम, हास्य का शुभ्र (सित), करुण का घूसर, रौद्र का रक्त, वीर का गौर, भयानक का कृष्ण, अद्भुत का पीत तथा वीभत्स का नील वर्ण रखा जाता है।

इस प्रकार भरत द्वारा विविध देशवासियों, जातियों तथा वर्णों के लिए जो पृथक्-पृथक् वर्ण विधि दिखलाई गयी उसके मूल में उन-उन जनपदादि निवासियों के विद्यमान रूप रंग भी रहे हैं। भारतीय जातियों का भी जो वर्ण दिखलाया है वह अधिकांश में यथार्थ है। यद्यपि पिछले हजारों वर्षों में संस्कृतियों तथा जातियों के अन्तरावलम्बन के कारण प्रजातियों, जातियों तथा देशवासियों के वर्ण में परिवर्तन हुआ है परन्तु अभी भी भरत की कल्पना अधिकांश में उपयुक्त है तथा इसके निर्दशित वर्ण भी उन-उन जातियों में (अंशतः) सुरक्षित हैं।

पुरुष पात्रों का केशादि वेष—पात्रों की अंग रचना या शरीर तथा मुख को रंगने के बाद (पात्रों के) देश, काल, वय तथा अवस्था के अनुरूप ही श्मश्रुकर्म भी रखने चाहिए। इसके चार प्रकार हैं—(१) शुद्ध, (२) विचित्र, (३) श्याम तथा (४) रोमश। बनी हुई या साफ श्मश्रु 'शुद्ध' कहलाती है। कुछ उगी हुई 'श्याम', अच्छी तरह बनी सँवरी श्मश्रु को 'विचित्र' तथा घनी उगी हुई 'रोमश' कहलाती है।

इन चारों श्मश्रुओं का प्रयोग पात्रों के स्वभाव, वय तथा स्थिति को ध्यान में रख कर करते हैं। **शुद्धश्मश्रु** में केश नही रहते (डाढ़ी साफ रहती है) जिन्हें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, मन्त्री, पुरोहित, इन्द्रियसुख निवृत्त तथा दीक्षित पुरुष के लिए रखते हैं। अशौच तथा व्रत के ग्रहण करने पर भी केश कर्तन नहीं होता है। **विचित्र श्मश्रु** में केशविन्यास क्षुर (उस्तरे) से आकर्षक शिल्प में रखते हैं। अतः राजा, राजकुमार, राजकीय पुरुष, (शृंगारी प्रकृति के) विट, यौवनोन्मादी पुरुषों के श्मश्रु 'विचित्र' रखे जाते हैं। इसी प्रकार व्रती, प्रतिज्ञापरायण, प्रतिशोध लेने के लिये उद्यत तपस्वी एवं विपद्ग्रस्त पात्रों को **'श्याम श्मश्रु'** में रखा जाता है। ऋषि, तपस्वी तथा दीर्घव्रतधारी को **'रोमश श्मश्रु'** में रखते हैं। श्मश्रु विधान के इस विवरण के मूल में अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं मानसिक दशाएँ आधार बनी हुई (होती) हैं।

वेष—विभिन्न पात्रों के उपयुक्त अनेकविध वेष रहता है परन्तु इसे तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है—(१) शुद्ध, (२) विचित्र तथा (३) मलिन। कहीं इसे पाठान्तर के आधार पर आच्छादन भी कहा गया है। इनमें शुद्ध सित, रक्त और विचित्र विभिन्न रंगों का होता है।

देव मन्दिर जाने के लिये, मंगलादि कार्य के अवसरों पर, नियम में स्थित रहने पर, तिथि नक्षत्र के योग में, विवाह के अवसर पर, स्त्री तथा

पुरुष का वेष **'शुद्ध'** रखा जाता है। देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, राजा तथा कामुक प्रकृति के पात्र **'विचित्र'** वेष धारण करते हैं। कंचुकी, अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सिद्ध, विद्याधर, शास्त्रज्ञ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा राजा के स्थानीय अधिकारीगण का वेष भी शुद्ध रखा जाता है। उन्मत्त, प्रमत्त, पथिक, विपद्ग्रस्त पात्र का वेष **'मलिन'** होता है। मुनि, निर्ग्रन्थ (श्रमण), शाक्य (भिक्षु) तथा यति का काषाय वर्ण का तथा पाशुपत का नाना वर्ण वाला विचित्र वेष रखा जाता है। लोक या प्रजा अपने सहज या स्वाभाविक वेष में रखे जाते हैं तथा तपस्वी का वेष चीर, वल्कल तथा मृगादि चर्मधारी रखते हैं। अन्तःपुर में नियोजित परिजन का तथा अर्हत आदि का वेष क्रमशः कंचुकपट तथा काषाय वस्त्रधारी होता है।

योद्धाओं की वेष-भूषा युद्ध के अनुरूप अस्त्र-शस्त्र, धनुष-बाण, कवच आदि से युक्त रहती है। राजा का वेष अनेक रंगों में विचित्र परन्तु अशुभ या मांगलिक कार्य के व्रतादि अनुष्ठानों के अवसरों पर 'शुद्ध' रखा जाता है। यह संग्राम में प्रवृत्त हो तो विचित्र शस्त्र, धनुष आदि का धारण करने वाला होता है। इस प्रकार भरत ने देश, जाति तथा अवस्था और उत्तम, मध्यम और अधम स्त्री एवं पुरुषों की दृष्टि से समग्र वेष रचना को रखा जो शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य आदि से विचार रखते हुए रखी जाती थी।

शरीर के वेष के अतिरिक्त प्रमुख अंग शिर का भी प्रसाधन आवश्यक होने से भरत ने इसका भी विवरण दिया। इस प्रसंग में मुकुटों के विवरण को शिर के वेषविन्यास के क्रम में दिया गया। तदनुसार मुकुट-पार्श्वगत (पार्श्वमौलि), मस्तकी और किरीटी के रूप में तीन प्रकार के होते हैं। इनमें किरीटी बहुमूल्य रत्नों से जटित एवं उत्तम होता है तथा यह सिर पर उठा हुआ रहता है। मस्तकी मुकुट सिर को ढँके हुए रहता है तथा रत्नजटित होता है। पार्श्वगत या पार्श्वमौलि मुकुट केवल मस्तक के एक या अग्रभाग को ढँकता है तथा इसे ही अर्धमुकुट भी कहते हैं। शिरोवेष में इन तीनों प्रकार के मुकुटों का प्रयोग दिव्य तथा पार्थिव पात्रों द्वारा होता है। इनमें भी जो उत्तम हैं वे किरीट मुकुट, थोड़े मध्यम पात्र पार्श्वमौलि तथा अन्य दिव्यपात्र शीर्षमौलि मुकुट धारण करते हैं। राजाओं के सिर पर मस्तकी मुकुट रहता है। युवराज, सेनापति के सिर पर पार्श्वमौलि या अर्धमुकुट रखे जाते हैं। सिद्ध, विद्याधर एवं चारणों के शिरोवेष को ग्रन्थियुक्त रखा जाता है। राजा के अमात्य, सेवक एवं कंचुकी तथा श्रेष्ठी के प्रशंसकों के मस्तकों को वस्त्रपट्टबन्ध

पगड़ी से युक्त रखा जाता है। पिशाच, उन्मत्त, साधक तथा तपस्वियों के वेष लम्बे केशधारी रखे जाते हैं। संन्यासी, श्रोत्रिय, शाक्य, भिक्षु तथा यज्ञ के लिये दीक्षित पात्र का मस्तक मुण्डित रखते हैं। बालकों का सिर शिखण्ड से भूषित एवं ऋषियों के मस्तक जटाजूट से मण्डित रखते हैं। राक्षस, दानव तथा दैत्यों के केश पिंगल तथा डाढ़ी-मूंछ अल्प रखी जाती है। अपने-अपने सम्प्रदाय के विधि-विधान के अनुरूप अन्यपात्रों के मस्तक मुण्डित शिर के, केश कुञ्चित(घुंघराले या छोटे कटे केशों के) या लम्बे केशोंवाले रखे जाते हैं। सेवकों के मस्तक त्रिशिख या मुण्डित रखे जाते हैं या विच्छिन्न केशवाले विदूषक का मस्तक खल्वाट, मुण्डित या काकपद से युक्त रखते हैं। इस प्रकार बिना मुकुट के पात्रों के मस्तकों की त्रिविध् केश रचना—मुण्डित, कुञ्चित और लम्बे केश वाली भरत ने दिखलाई जो पात्रों के विभिन्न चरित्रों, अवस्थाओं तथा प्रकृति के अनुसार निर्दिष्ट हैं।

इस प्रकार वेषरचना में भूषण, माला, वस्त्र आदि उपकरण आते हैं। भरत का इस सन्दर्भ में स्पष्ट निर्देश है कि पात्र की प्रकृति तथा अवस्था को ध्यान में रख कर उसे उपयुक्त भूमिका देते हुए उनकी वेष रचना की जाए। प्रयोग वश यदि दिव्यपात्र भी मंच पर अवतरित हों तो उनकी आंगिक चेष्टाएँ और मनोभावादि भी मनुष्यवत् रखना चाहिए।

संजीव तथा रंगमंचीय अन्य उपकरणः—आहार्य अभिनय के संजीव प्रकार के अन्तर्गत मुनि ने अपद, द्विपद तथा चतुष्पद प्राणियों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की विधि पर भी विचार किया। रंगमंच पर इन प्राणियों को प्रस्तुत करने की कथावस्तु के अनुसार अपेक्षा आ जाती है। रंगमंच पर जिन तीन प्रकार के प्राणियों की ऊपर चर्चा है उनमें सर्प आदि अपद, मनुष्य तथा पक्षी आदि द्विपद तथा ग्राम्य या आरण्य मृग, अश्व आदि पशु चतुष्पद कहलाते हैं। छोटे एवं सरल प्राणियों को तो रंगमंच पर साक्षात् प्रस्तुत करने की कल्पना की जा सकती है परन्तु भयदायी हिंस्र चतुष्पदों की जिनमें सिंह, व्याघ्र आदि तथा अपदों में सर्प आदि के प्रवेश में मंचीय व्यवस्था में कई कठिनाईयाँ आ जाती हैं। अतएव ऐसे समय उनकी कृत्रिम रूपरचना का भरत ने विधान बतलाया जिनसे नाटकीय प्रयोग समृद्ध एवं मनोरम हो सके। इस विधान के मूल में कल्पना यही है कि इन प्राणियों की कृत्रिम अवतारणा से नाट्यप्रयोग में सारूप्य का सृजन हो क्योंकि लौकिक पदार्थों एवं जीवों का रूपसादृश्य नाट्यप्रयोग को सजीवता देता है अतः इस दृष्टि से भी 'संजीव पद्धति' अतिशय उपयोगी है।

रंगमंच पर प्रयोगों में अनेक सामग्री की अपेक्षा होती है जिनमें जर्जर, दण्ड काष्ठ, छत्र, चमर, ध्वज, भृङ्गार आदि पदार्थ आते हैं। जर्जर भारतीय रंगमंच पर इन्द्रध्वज के रूप में नाट्यपूजा का प्रतीक माना गया है। इसका निर्माण वंशवृक्ष या उसकी शाखा से किया जाता है परन्तु बांस का जर्जर सर्वश्रेष्ठ होता है जो एक सौ आठ अंगुल प्रमाणवाला होता है। दण्ठकाष्ठ बिल्व या कपित्थ की लकड़ी का अथवा बांस का होता है जिसे तीन जगह से झुका हुआ रखते हैं। नाटचप्रयोग को प्रस्तुत करने के लिये छत्र, चमर आदि अनेक उपकरणों की आवश्यकता दृश्यों तथा भूमिकाओं के अनुसार रहने से उन्हें उनके शिल्पकारों से बनवाने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं परन्तु नाटच में प्रयोग को ध्यान में रख कर इन्हें लोहे से भारी प्रमाण नहीं बनाए जावें अन्यथा प्रयोग में बाधा आ सकती है। उपकरण के रूप में किसी भी वस्तु की अनुकृति हो सकती है परन्तु घर, प्रासाद, सवारी आदि के लिये 'संजीव' प्रकृति का प्रयोग प्रभावी होगा। अतएव इन उपकरणों को लाख, चमड़े, लकड़ी, कपड़ा, पत्तियों जैसी हलकी वस्तुओं से बनाना चाहिए। कवच, ढाल, ध्वज, पर्वत, महल आदि के ढांचे बांस की चिपटियों से बना कर उन पर विविध वस्त्रों को चड़ाते हुए उनकी अनुकृति बनानी चाहिए। इनमें कपड़े का प्रयोग यदि संभव न हो तो उन्हें ताड़पत्र और चटाई (किलिंज) के योग से ढंक दिया जाना चाहिए। युद्धादि के प्रयोग में आने वाले शस्त्रादि का निर्माण तृण तथा बांस की तीलियों से किया जाना चाहिए तथा लाख तथा भेण्ड से अनेक अनुकृत उपकरण तैयार किये जावें। पाद, मस्तक तथा हस्तादि की अनुकृति तृण, कलिंज या भेण्ड से या फिर इन वस्तुओं की रूपाकार अनुकृति मिट्टी के द्वारा भी बनाई जावे। पर्वत, कवच, ध्वज आदि कपड़ा, लाख, अभ्रक से भी बनाये जा सकते हैं। फल, फूल आदि का निर्माण लाख या अभ्रक से किया जाता है जिनमें अनेक रंगों के अभ्रक प्रयोग में लाये जाते हैं। अभ्रक की पन्नियों से अनेक रत्नों की आभा उत्पन्न की जाती है। इसी प्रकार आभूषणों की रचना में पतले तांबे के पत्र, अभ्रक की पन्नी, भेण्ड तथा मोम का प्रयोग किया जाता है।

पटी घटी की रचना :—संजीव के अन्तर्गत पटी का प्रयोग भी नाटचप्रयोग में किया जाता है जो एक प्रकार का आच्छादन या आवरण-सा होता है तथा जिसे अनेक प्राणियों आदि की रूप रचना को दिखाने के लिये पात्र धारण करते हुए उसी के अनुरूप चेष्टाओं का प्रदर्शन करते हैं। पटी की

रचना के लिये सामग्री, उनका माप तथा उनमें आवश्यक छिद्र रचना का भी विधान रखा गया है, क्योंकि इन छिद्रों के माध्यम से ही पात्र देखता, साँस लेता तथा सुनता है और संवाद भी बोलता है। इन पटियों की विविध आकारों में रचना बिल्व का गूदा, धान का भूसा, भस्म, वस्त्र, छाल आदि से की जाती है। इनकी रचना को सन्तुलित रूप में रखा जाता है और ये न बहुत छोटी, न लम्बी, न पतली और न ही झुकी हुई होती हैं। जब बनने के बाद ये सूख जाएँ तो किसी तीखे औजार से इन्हें काटते हुए कर्ण, नेत्र आदि के स्थान बनाना चाहिए। इसके बाद इन पटी या चेहरों या मुखौटों में मस्तक पर मुकुट बनाये जाते हैं तथा अभ्रक आदि से इन्हे चमकीला बना कर सौन्दर्य का भी सृजन किया जाता है। भरतमुनि ने यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया कि प्रयोगात्मक नाट्य के उपकरणों की कोई नियत सीमा नहीं है, अतः जो भी सरलता से द्रव्य उपलब्ध हो जाए उन्हीं के द्वारा देश काल के अनुसार योजना रखनी चाहिए।

आहार्याभिनय नाट्यप्रयोगों के महत्वपूर्ण कलात्मक प्रयास के रूप में महत्वशाली होता है। इसी के द्वारा लोकधर्मी या स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है नाट्यधर्मी रूप में। इसका उद्देश्य है कि नाट्यप्रयोग का दृश्यविधान अधिकाधिक प्रकृत जीवन की अनुरूपता को धारण कर सके। इसी के लिये ये सारी कल्पनाएँ और विधियाँ भी दिखलाई गयी हैं क्योंकि सभी वस्तुओं का अपने असली रूप में सीमित रंगमंच पर प्रयोग या प्रस्तुतीकरण संभव नहीं हो सकता है। भरतमुनि ने पात्रों की अंगरचना, वेषविन्यास, केश-विधान तथा अलंकारों के विवरणों को देकर प्रभावशाली दृश्यविधान की आधारभूमि को दिखलाया है जिससे नाट्यप्रयोग समृद्धता युक्त होकर प्रभावी लोकप्रियता का अर्जन कर सके।

इस प्रकार भरत के माध्यम से हमें भारतीय रंगमंच के विधान का व्यापक विवरण प्राप्त हो जाता है जिसके द्वारा वे नाट्यप्रयोग को कलात्मकरूप देने का प्रयास करते हैं। एक ओर अनुकर्ता पात्र अनुकार्य की प्रकृति, अवस्था, देश, जाति तथा वय की अनुरूपता के साथ अवतरित होकर प्रेक्षकों के हृदय में रसोद्गम लाता है तो दूसरी ओर आहार्य की विधियों के द्वारा दृश्यविधान के वातावरण में नाट्यप्रयोग को रमणीयता के साथ कलात्मक रूप में भी प्रस्तुत करता है। आहार्य अभिनय की विधि से दर्शक यथार्थता के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य बोध की भी अनुभूति करता है, क्योंकि यह रस की अभि-

व्यक्ति के लिये ही होता है। यह आहार्य अभिनय भरत मुनि की प्रयोगात्मक चिन्तन प्रवृत्ति तथा नाटचोपयोगी दृष्टि की अनेक संभावनाओं को अपने में लिये हुये होने से सभी में अन्तःप्रविष्ट हैं। इसी कारण समस्त नाटच-प्रयोग इसी में स्थित हैं यह स्पष्ट ही कहा भी है कि—'यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितः' अर्थात् सभी कुछ आहार्य में ही प्रतिष्ठित है। इसका भरत ने ही व्यापक विवरण दिया जिसको आगे के नाटचशास्त्रीय आचार्य भी सदैव सहमति देते रहे।

सामान्याभिनय-स्वरूपादि विचारः—नाटचशास्त्र के चौबीसवें अध्याय में सामान्याभिनय का विवेचन है। यद्यपि यह चतुर्विध अभिनय से स्वतन्त्र एवं भिन्न नहीं होता परन्तु आंगिकादि अभिनयों के समानीकृत रूप के विशिष्ट हो जाने से यह महत्वपूर्ण एवं उपादेय हो गया है। अभिनवगुप्त ने इसकी महत्ता बतलाते हुए इसे कवि एवं नाटचप्रयोक्ता की शिक्षा के लिये भी उपयुक्त एवं उपादेय बतलाया। अतः नाटचप्रयोग की दृष्टि से सामान्याभिनय महत्वपूर्ण होने से मुनि ने इसका पृथक् उल्लेख भी किया है।

सामान्याभिनय आंगिक, वाचिक तथा सात्विक अभिनयों का समन्वित प्रकार (होता) है। अंगादिगत शिर, हस्त दृष्टि आदि के द्वारा सम्पाद्य अभिनय का समानीकृत प्रयोग सामान्याभिनय के ही द्वारा सम्पन्न होता है। विभिन्न अभिनयों का प्रयोग किस प्रकार किया जाए यह सामान्याभिनय के अन्तर्गत ही विचार किया जाता है। अतः सामान्याभिनय की सीमा अतिशय व्यापकता लिये हुए है। यह 'वागंगसत्त्व' होने के कारण जहाँ नरनारीगत उपचार का प्रतिपादन करता है वहीं आहार्यअभिनय भी इसकी प्रतिपाद्य परिधि में आ जाता है। यद्यपि आहार्य अभिनय बाह्य होता है पर संकेतात्मकता या वेषभूषा तथा अन्य अभिनयों को भी परस्पर प्रभावित करते हुए वह नाट्यप्रयोग को उज्ज्वल या समृद्ध बनाता है। आन्तरिक मनोदशा के अनुरूप संवाद, अंगसंचालन तथा स्वेदादि का प्रदर्शन तदनुरूप वेष विन्यास से ही संभव होता है, पर यह तब होगा जब ये समन्वित हों। लोकाचार की दृष्टि से भी संयोगदशा में उज्ज्वल तथा शोकादि में मलिन वेष का औचित्य रहता है अतः नाटचप्रयोग के लोकानुमत रहने से सामान्याभिनय में आहार्य अभिनय का भी समीकरण हो जाता है।

सत्वाभिनय की उत्तमता एवं उसका आधार:—सामान्याभिनय आंगिक, वाचिक तथा सात्विक का यद्यपि समीकरण है परन्तु तीनों अभिनयों

में सत्व की ही प्रमुखता रहती है। क्योंकि सत्व या अन्तर्मन की स्थिति का ही प्रदर्शन वाणी तथा शरीर की विभिन्न चेष्टाओं से होता है तथा देह ही मानसिक भावों के प्रकाशन का माध्यम बनता है। क्योंकि सत्व तो अव्यक्त रहते हैं, पर रोमांच' स्वेद, अश्रु के यथास्थान प्रयोग होने पर वे अभिव्यक्ति पा जाते हैं अतः इन्हीं सात्विक अभिनयों के द्वारा नाटचप्रयोग रसमय बनता है क्योंकि रस का प्राणतत्व सात्विक भाव ही होता है अतएव अन्य अभिनयों की अपेक्षा सत्व में अधिक प्रयत्न की अपेक्षा रहती है।

सात्विक की मात्रा के अधिक होने पर यह उत्तमोत्तम प्रकार का अभिनय हो जाता है परन्तु जब दोनों अभिनय सम अनुपात में हों तो मध्यम कोटि का तथा सत्व रहित अधम कोटि का अभिनय होता है। अभिनय की उत्तमता का आधार ही है सात्विक भाव का अधिकाधिक मात्रा में रहना या उसका प्रयोग तथा इस स्थिति में आंगिक और वाचिक गौण हो जाते हैं। ये केवल सात्विकभावों के प्रदर्शन में माध्यम मात्र हो जाते हैं तथा सात्विकभावों की मुख्यता होती है। यदि अन्य अभिनय के द्वारा आन्तरिक या सत्व का प्रकाशन न हो तो अभिनय का उद्देश्य ही बाधित हो जाता है। अतः भरत की यह सत्वातिरिक्तता आन्तरिक मनोवेगों को प्रभावी रूप देने की कलात्मक नाटचविधि है यह निर्विवाद है।

सत्वज अलंकार:—सामान्याभिनय के सिद्धान्त का आकलन करते हुए भरत ने नारी तथा पुरुष के सत्वज अलंकारों की विवेचना की। उनके अनुसार भाव, हाव, हेला तथा अन्य अयत्नज एवं सहज चेष्टालंकारों के द्वारा भावों का प्रेषण होता है। ये अलंकार रस तथा भाव के आधार बनते हैं। ये अलंकार शास्त्रीय दृष्टि में देहात्मक सात्विक विभूतियाँ हैं जिनके दर्शन प्रायः उत्तम स्त्री तथा पुरुष में होते हैं। स्त्रियों की शृंगाररस में एवं पुरुषों की वीररस में उत्तमता होती है। ये देहात्मक अलंकार उत्तम स्त्रीपुरुषों के अतिरिक्त अन्यत्र भी परिलक्षित हो सकते हैं क्योंकि सात्विक भाव, तामस तथा राजस शरीरों में भी अवस्थित रहता ही है।

आचार्य भट्टतौत तथा श्रीशंकुक ने भी सात्विक भावों के प्रकाशन में चेष्टालंकारों के महत्व को स्वीकार किया। उनके विचार में पुरुष के उत्साह को सूचित करने वाली सात्विक विभूतियाँ तथा शृंगार के अनुरूप उनकी विविध चेष्टाएँ शारीर सामान्याभिनय की कोटि में आते हैं। ये चेष्टालंकार लावण्य आदि की तरह अनभिनय भी नहीं होते क्योंकि ये

शरीर विकार एवं अनुभाव रूप होते हैं जो कि सामान्य अभिनय की सीमा में ही आते हैं क्योंकि सामान्याभिनय चतुर्विध अभिनयों के समन्वित क्रम में प्रस्तुत तो होता ही है।

आङ्गिक-विकार—पुरुष तथा स्त्रियों के आंगिक विकारों द्वारा सात्विक का प्रदर्शन होता है। नारियों के आंगिक विकार उनके यौवन-काल में अधिक वृद्धिशील रहते हैं जिनके तीन प्रकार होते हैं—(१) अंगज, (२) स्वाभाविक तथा (३) अयत्नज। अंगज विकार के तीन प्रभेद होते हैं—(१) भाव, (२) हाव तथा (३) हेला। सत्व एक आन्तरिक वृत्ति होकर जब देह के माध्यम से प्रकट होती है तो ऐसे सत्व से भाव, भाव से हाव तथा हाव से हेला उत्तरोत्तर विकसित होती है। ये एक दूसरे से (भी) विकसित होते रहते हैं तथा शरीर (की प्रकृति) में स्थित सत्व के ही विविध रूप होते हैं।

भाव—वाणी, अंग, मुखराग तथा सत्व के अभिनय द्वारा हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का जिसमें भावन होता हो तो वह 'भाव' है। यह भाव वासनारूप में मानवमात्र के अन्तःकरण में विद्यमान होता है।

हाव—चित्त (सत्व) से उत्पन्न होता है। नयन, भ्रू, चिबुक आदि के द्वारा शृंगार की अनुभूतिशीलता करवाता है जिसे देह—विकार यह रूप देते हैं।

हेला—यही भाव जब शृंगाररस की उत्पत्ति करते हुए अतिशय तीव्र भाव को ललित अभिनय से स्पष्ट करता है तो 'हेला' है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'हेला' तीव्रता का वाचक है तथा भरत ने तीव्रता से प्रसार के अर्थ में ही इसका प्रयोग किया है। सत्व के इन तीन विकारों द्वारा आन्तरिक रति का उद्‌बोधन होता है। स्त्रियों के लिये ये लोकोत्तर अलंकार भी हैं तथा अतिशय आनन्द के लक्ष्य भी।

अयत्नज या सहज अलंकार:—स्त्रियों के स्वभावज तथा अयत्नज अलंकारों से हृदयस्थित मनोभावों का प्रकटीकरण होता है। ये हैं—(१) लीला, (२) विलास, (३) विच्छित्ति, (४) विभ्रम, (५) किलकिञ्चित् (६) मोट्टायित, (७) कुट्टमित, (८) बिव्वोक, (९) ललित तथा (१०) विहृत। इन अलंकारों के द्वारा नारियाँ अपने हृदय की सुकुमार मनोदशाओं को सहज-रूप से सूचित करती हैं। इसके अतिरिक्त अयत्नज अलंकार सात होते हैं—

(१) शोभा, (२) कान्ति, (३) दीप्ति, (४) माधुर्य, (५) धैर्य, (६) प्रगल्भता तथा (७) औदार्य। शोभा, कान्ति और दीप्ति नारी से सहजसौन्दर्य कामभाव एवं उपभोग की उत्तरोत्तर विकसित होती हुई वृत्तियों की स्थितियाँ होती हैं। अयत्नज अलंकारों की संख्या सात ही हो यह आवश्यक नहीं, क्योंकि उत्तरवर्ती आचार्यों में राहुल, सागरनन्दी तथा मातृगुप्त आदि ने मौग्ध्य, मद, तापन तथा विक्षेप आदि को भी अतिरिक्त अयत्नज अलंकार के रूप में वर्णित किया है।

पुरुषों के सत्वभेद :—नारियों के समान ही पुरुष के भी सत्वभेदों का मुनि ने विवरण दिया। ये हैं (१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) स्थैर्य, (५) गाम्भीर्य, (६) ललित, (७) औदार्य तथा (८) तेज। यह विवरण नारियों के अयत्नज अलंकारों की परम्परा से अनुगत है जिसमें शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य तथा गाम्भीर्य आदि नाम दोनों में समान है परन्तु इनमें निहित तात्विकरूप भिन्न हैं। अतः जहाँ नारी में भावगत सौकुमार्य, लालित्य एवं विलासमय आंगिक चेष्टाओं की मनोहारिता है तो पुरुष में वीरता, उत्साह, तेज तथा गम्भीरता आदि से उसके पौरुष की आभा प्रसृत होती है।

शारीर अभिनय :—भरत ने इस क्रम में समानीकृत शारीर अभिनय को भी वर्गीकृत कर उसके छः प्रभेद दिखलाये। यथा—(१) वाक्य, (२) सूचा, (३) अंकुर, (४) शाखा, (५) नाटचायित तथा (६) निवृत्यङ्कुर।

वाक्य—विविध रसों एवं अर्थों से युक्त गद्यपद्यमय (संस्कृत या प्राकृत भाषा युक्त) वाक्य का अभिनय 'वाक्य' कहलाता है। यह गद्य, पद्य तथा संस्कृत प्राकृत भेद से चार प्रकार का होता है।

सूचा—सात्विक अंगों द्वारा वाक्य या वाक्यार्थ का पहिले सूचन कर फिर वाक्याभिनय का प्रयोग 'सूचा' नामक शारीर अभिनय है। अतः सूचा में गीत तथा नृत्य प्रस्तुत किये जाते हैं।

अङ्कुर :—सूचा की पद्धति से हृदयस्थ भावों का आंगिक अभिनय के द्वारा प्रस्तुतीकरण होने पर 'अङ्कुराभिनय' होता है। यह नृत्य के लिये उपयुक्त होता है जिसे निपुण प्रयोक्ता ही व्यवस्थितरूप में प्रस्तुत कर पाते हैं।

शाखा—शिर, मुख, जंघा, ऊरू, पाणि तथा पाद के द्वारा एक साथ यथाक्रम अभिनय को 'शाखा' कहते हैं।

नाट्यायित—भाव तथा रस से प्रेरित हर्ष, शोक तथा रोष आदि के सन्दर्भ में किया गया 'ध्रुवा' गान जब अभिनय युक्त हो तो वह 'नाट्यायित' कहलाता है।

निवृत्यङ्कुर—जब किसी अन्य पात्र के द्वारा उच्चारित वाक्यों को अन्य पात्र 'सूचा' के द्वारा प्रस्तुत करे तो वह 'निवृत्यङ्कुर' होता है।

भरतमुनि ने इन शारीर-अभिनयों के एक दूसरे के अनुगत होने का विधान किया है अन्यथा नाट्यार्थ बोध की परिकल्पना ही नहीं होगी। ऐसे अभिनयों के साथ पाठ्य का भी योग रखा जाता है।

वाचिक के अन्य रूप :—वाचिक अभिनय को भरत ने इन बारह प्रकारों से बतलाया—(१) आलाप, (२) प्रलाप, (३) विलाप, (४) अनुलाप, (५) संल्लाप, (६) अपलाप, (७) सन्देश, (८) अतिदेश, (९) निर्देश, (१०) उपदेश, (११) व्यपदेश तथा (१२) अपदेश। इन बारह प्रकार के वाचिक अभिनय की शारीर अभिनय के छः प्रकारों में योजना की जाती है तथा ये सामान्य अभिनय होने के कारण सभी में समान स्थिति में विद्यमान रखे जाते हैं। वाचिक के विवरण में मुनि ने कालकृत भेद भी दिखलाते हुए प्रत्यक्ष, परोक्ष, आत्मस्थ, परस्थ तथा भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान (कालकृतभेद) सात प्रभेद दिखलाये। इन सातों में वाक्यार्थ तथा शारीर अभिनय को सामान्य अभिनयगत स्थिति में रखा जाता है। इसके परस्पर मिश्रण से गुणात्मक रूप में होने वाले अनेक भेद हो जाते हैं जिनका अपना शास्त्रीय महत्व भी है।

नाट्य के अवान्तर तथा बाह्य रूप :—जब आंगिक अभिनय व्यापारों का समीकृत सामान्य रूप में रसभाव समन्वित, ललितहस्त संचारों एवं मृदुलआंगिक चेष्टाओं से औचित्यसम्पन्न अभिनय का ऐसा प्रयोग हो जो अनुद्धत, असंभ्रान्त, अनाविद्ध अंगचेष्टाओं से युक्त हो; जों लय, ताल एवं कला के प्रमाण से नियत सुविभाजित पदालापवाला अनाकुल और अनिष्ठुर अभिनय प्रयोग हो तो ऐसा नाट्य 'आभ्यन्तर' कहलाता है। अभिनय के लिये निर्धारित लक्षणों एवं विधियों का अनुगमन करने से शास्त्रानुसारी रहने के कारण यह 'आभ्यन्तर' कहलाता है परन्तु जब अभिनय में स्वेच्छाचारिता से पूर्ण गति और चेष्टाएँ रहें, गीत तथा वाद्य अनुबद्ध न रहें तथा अन्य अभिनय प्रक्रियाएँ विपर्यस्त हों तो ऐसा शास्त्रबाह्य अभिनयप्रयोग **'बाह्य'** कहलाता

है। सामान्य अभिनय में शास्त्रानुमोदित परम्पराओं से अनुगत प्रयोग ही इष्ट होते हैं और शास्त्रबहिष्कृत तथा स्वच्छन्द अभिनय प्रयोग इष्ट नहीं है।

इन्द्रिय या विषय-अभिनय :—लौकिक विषयों के पंच इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकरण तथा उसकी अभिनय विधि, मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध तथा इन्द्रियों के आकर्षण एवं विकर्षण के द्वारा हृदयस्थ सत्व का प्रकाशन जैसे गम्भीर विषयों का भी भरत ने नाट्य के विवेचन के प्रसंग में विवरण दिया है। विविध लौकिक विषयों का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव या प्रत्यक्षीकरण नाट्य की प्रक्रिया को विकसित करता है; अतः नाट्यप्रयोग की दृष्टि से यह विवेचन विशेष महत्व रखता है।

इन्द्रियों से भावों का अभिनय :—इन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गन्ध के प्रति कैसी प्रतिक्रिया होनी चाहिए इसका अतिशय स्पष्टता से लोकाचार को ध्यान में रखकर भरत ने विवेचन किया है। यद्यपि इन इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान मन को होता है परन्तु इन्द्रियों के ही माध्यम से मन इनका प्रत्यक्ष करता है तथा मनोदशा के अनुगत ही इन्द्रियों की प्रतिक्रियाएँ प्रतिफलित होती हैं।

मन :—भावों की अनुभूति में इन्द्रियों के विषयों और मन के सम्बन्धों पर भी भरत ने सूत्ररूप में विचार किया है। इनके अनुसार इन्द्रियों द्वारा जिन अनुभावों की अभिव्यक्ति होती है वे केवल इन्द्रियों के नहीं किन्तु मन सहित इन्द्रियों के होते हैं। इन्द्रियाँ तो मन की सुखदुःखात्मक प्रतिफलन के साधन मात्र होती हैं तथा इन्हीं के माध्यम से मन इष्ट तथा अनिष्ट भावों का अनुभव करता है तथा इन्हीं से वह अभिव्यक्ति भी पाता है। अतः यदि मन किसी गम्भीर चिन्ता में लीन हो तो सम्मुखीन विषयों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। भावों का स्पन्दन और कम्पन आदि मानस सरिता में ही होता है अतः नाट्य में भी पंचेन्द्रियों द्वारा जो भावों का प्रत्यक्षीकरण दिखलाया गया है वह भी मन के भावों को अभिव्यक्त करने के लिये है।

अभिनय की दृष्टि से मन के इष्ट, अनिष्ट तथा तटस्थ रूप में तीन प्रकार होते हैं। इष्टभाव का प्रकाशन शरीर के प्रह्लादन, रोमांच तथा मुख की प्रसन्नता के द्वारा होता है। सिर को पीछे ले जाकर या हटा कर नेत्र और नाक को पीछे की ओर आकर्षित करने या उधर न देखते हुए अनिष्ट भाव का प्रदर्शन किया जाता है। जहाँ न अत्यन्त इष्ट और न ही अतिशय जुगुप्सा का भाव हो तो वह तटस्थ या मध्यस्थ-भाव हो जाता है।

कामभाव तथा उसके प्रभेद :—भरतमुनि ने इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ तथा मन पर विचार करने के क्रम में बतलाया कि सभी भावों की निष्पत्ति काम से होती है। अतः धर्मकाम, अर्थकाम तथा शृंगारकाम और मोक्षकाम जैसे इनके रूपों में हमें कामभाव के दर्शन होते हैं। काम की प्रमुखता नाट्य में इसी लिये है कि यह समस्त लोक को आच्छादित किये रहता है।

स्त्रियों में पुरुषों का तथा पुरुषों में स्त्रियों का जो सहजस्नेह है वही 'काम' है। स्त्री तथा पुरुष के इस सहज आकर्षण एवं पारस्परिक सम्मिलित होने की स्थिति से 'प्रजनन' का आरम्भ होता है, अतः इन दोनों का योग ही 'काम' है। स्त्री तथा पुरुष का यह संयोग रतिसुखदायी होता है जो उपचारकृत होने पर शृंगाररस में परिणत होते हुए आनन्द का सृजन करता है। लौकिकजीवन में काम की प्रमुखता रहती है अतः नाट्य भी लोकजीवन का प्रतिरूप होने से उसमें भी कामभाव प्रमुखता लेता है। इस कामभाव से समस्त लोक अनुरंजित होता है अतः भरत ने स्त्रियों को सुख का मूल मानकर अपना यह विवरण दिया। नर-नारी के कामभाव में लोकमानस की सहज संवेदना उच्छ्वसित होती है इसी कारण यह सहृदयसंवेद्य बन जाता है। यह विचार लोकजीवन की व्यावहारिकता को दृष्टि में रख कर है क्योंकि लोकजीवन नाट्य के निकटवर्ती रहता है। नाट्य में लोकजीवन के प्रदर्शन के साथ-साथ इसीलिये कामभाव की स्थिति भी लक्ष्य रहती है। यह काम धर्म, अर्थ तथा काम के शृंगार भेद से विवेचित है।

नायिका भेद—भरतमुनि ने नारी को सुख का मूल, कामभाव का आलम्बन मान कर विस्तार से तथा सूक्ष्मता से नायिकाभेद को भी प्रस्तुत किया। नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा, आचार की शुद्धता, काम की विविध दशाएँ, वय की विशेषता, अंगरचना और प्रकृति की आधार भूमि को लेकर नायिका भेद प्रवृत्त हुआ है। वह विवरण नाट्योपयोगी नायिका की दृष्टि से है जहाँ नारी के अंगसौन्दर्य के अतिरिक्त उसके शील, आचारादि को भी ध्यान में रखा गया था।

इस प्रकार अंगरचना और अन्तःप्रवृत्ति के अनुसार नारी के दिव्यसत्वा, मनुष्यसत्वा आदि बाइस भेदों को लक्षण सहित मुनि ने दिखलाया। प्रकृतिभेद से उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन भेद, आचरण की दृष्टि से बाह्या, आभ्यन्तरा तथा बाह्याभ्यन्तरा तीन भेद, सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से दिव्या, नृपस्त्री, कुलांगना तथा सामान्या चार भेद, शील की दृष्टि से ललिता,

उदात्ता, निभृता आदि चार तथा कामदशा की स्थिति से वासकसज्जा आदि आठ भेद वर्णित किये हैं।

इन आधारों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि ये नारी की कामप्रवृत्ति, शालीनता, सौजन्य आदि को ध्यान में रख कर किये गये थे। अतः इनकी व्यापकता में कोई कमी नहीं, क्योंकि नारी के विविध रूप रंगों और स्वभावादि का इन प्रभेदों में सरलता से समावेश किया जा सकता है।

नाट्योपयोगी नारीपात्र—राजोपचार में प्रयुक्त नारियों का भरत ने विवेचन किया जहाँ नायिका के अतिरिक्त अन्य नारीपात्र भी है, जिनकी मर्यादा, स्वभावादि भिन्न-भिन्न हैं, जिनमें महादेवी, स्वामिनी आदि आती हैं। इनके अतिरिक्त मध्यम तथा निम्न श्रेणी की नारियाँ भी हैं जो अन्तःपुर के जीवन में सौन्दर्य का वातावरण निर्मित करती हैं। भोगिनी, शिल्पकारिका, प्रतीहारी, कुमारी आदि ऐसे ही नारीपात्र हैं। इन मध्यम तथा निम्नश्रेणी की नारियों का प्रयोग नाटककारों ने अपनी रचनाओं में किया है। ये सभी आभ्यन्तरा नारी होती हैं।

सामान्या या साधारणी—भरत ने साधारणी नायिका की चर्चा की क्योंकि यह कई रूपक प्रभेदों में नायिका रखी जाती है। साधारणी के अनुरक्ता तथा विरक्ता दो भेद नाट्यशास्त्र में मिलते हैं। आचरण की दृष्टि से आभ्यन्तर नायिका के अतिरिक्त बाह्या तथा बाह्याभ्यन्तरा भेद भी मुनि ने दिखलाये जिनमें बाह्या साधारणी या वेश्या होती है तथा बाह्याभ्यन्तरा वेश्या होकर कृतशौचा नारी होती है।

अवस्था भेद से नायिकाओं के आठ भेदों का पूर्व में उल्लेख हो चुका है। ये विविध कामदशाओं की स्थिति में प्रेम, विरह, उपेक्षा आदि भावों का भी आधार लेकर किये गये हैं यह स्पष्ट है तथा जिनने परवर्ती साहित्यशास्त्र में अति लोकप्रियता भी अर्जित की। ये हैं:-(१) **वासकसज्जा**—रतिसंभोग की लालसा से प्रेरित हो अपना मंडन करती है। (२) **विरहोत्कण्ठिता**—प्रिय के न आने के दुःख से व्यथित रहती है। (३) **स्वाधीनभर्तृका**—जिसके सौन्दर्य तथा रतिरस पर मुग्ध हो प्रिय उसके समीप सदैव बने रहने की स्थिति रखता है। (४) **कलहान्तरिता**—ईर्ष्या या कलह के कारण विदेश स्थित पति के न लौटने के आवेश में बनी रहने वाली होती है। (५) **विप्र-**

लब्धा—समय और स्थान के संकेत पर प्रिय के न होने से ठगी हुई रहती है। (६) प्रोषितभर्तृका—अन्य आवश्यक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण पति के विदेश जाने से विरह में उदास जीवन रखने वाली होती है। (७) खण्डिता—अन्य स्त्री में आसक्त प्रिय के न आने से पीडिता रहती है तथा (८) अभिसारिका—प्रबल मिलनभाव के कारण स्वयं प्रिय के स्थान का अभिसरण करती है।

भरत ने पात्रविधान के प्रसंग में नाट्योपयोगी नारी तथा पुरुष पात्रों का विवरण दिया जिनमें नारी का विवरण कामतन्त्र पर भी ध्यान रखते हुए रखा गया था। मानवजीवन में काम की महत्ता तथा तदनुरूप प्रतिपादन भरत की यथार्थवादी दृष्टि का संकेत करता है, परन्तु नायक नायिकाओं के प्रभेदों का विवरण उनके जीवन की बहुविधता का भी परिचय देता है। भरत पात्रों के नाट्य में चरित्र लोकोत्तर ही नहीं लौकिक भी चाहते थे। यही कारण है कि प्रधानपात्रों के अतिरिक्त अनेक नाट्योपयोगी पात्रों का भी नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया गया है। भरत की दृष्टि पात्रविधान में यथार्थवादी तो है ही पर उनके पात्र महत्तर आदर्श की प्रभा से उद्दीप्त भी हैं तथा सौन्दर्यशाली भी। अतः भरत का नायक-नायिकादि का विवरण आदर्श तथा यथार्थ का संगम है। पात्रों के विविध चरित्रों के माध्यम से कथावस्तु का विकास होता है क्योंकि कथावस्तु और पात्रों के चरित्र एक दूसरे के पूरक तत्व हैं। चारित्रिक विशेषताओं से कथावस्तु में गति आती है, प्राणों का संचार होता है तथा दोनों के योग से रस की आस्वाद्यता होकर चरमानन्द की प्राप्ति होती है। इसीलिये नाट्यशास्त्र में इन पात्रों का विवरण दिया गया जो नितान्त नाट्योपयोगी हैं तथा जिनके जीवनस्रोत के सिंचन द्वारा नाट्य का वृक्ष पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होता है यह स्पष्ट ही है।

नाट्यशास्त्र का पच्चीसवाँ अध्याय वैशिकोपचाराध्याय है जिसमें एक स्वतन्त्र अध्याय में सामान्याभिनय के अन्तर्गत चर्चित कामतन्त्र को आधार बना कर पात्रों के अन्तर्गत 'वैशिक' का विवरण दिया गया जो पूर्व अध्याय में नायिका के सम्बोधन के बाद इस अध्याय में आया। इन सम्बोधनों की प्रेरणा का स्रोत वैशिकशास्त्र ही है जो यहाँ आधार भी रहा था। वैशिक अध्याय में कामतन्त्र को दृष्टि में रखकर स्त्रियों के साथ पुरुषों के विभिन्न व्यवहारों की शास्त्रीय मीमांसा करते हुए पुरुषों के पाँच प्रभेदों की कल्पना की गयी

है। जिनमें—(१) **चतुर**—दुःख, क्लेश सहने वाला तथा प्रणयकोप के प्रसादन में कुशल पुरुष होता है। (२) **उत्तम**—मधुर स्वभाव वाला, त्यागी, विरागी तथा नारी के अपमान को सहन न करने वाला होता है। (३) **मध्यम**—नारी के किंचित् कोप को देख कर विरक्त हो जाता है तथा समय पर दान भी देता है। (४) **अधम**—मित्रों द्वारा निषेध करने तथा नारी द्वारा अपमानित होने पर भी उसके प्रेम में आकुल रहता है तथा (५) **संप्रवृद्धक**—भय और कोप की चिन्ता न करनेवाला तथा कामतन्त्र में निर्लज्ज आचारशील होता है।

यह विवरण उत्तरवर्ती आचार्यों के कल्पित नायकों के पति, उपपति तथा वैशिक के लिये भी आधार है। पति के रूप में नायक होता है पर यदि उसे अन्य पत्नी का अनुराग प्राप्त हो तो वही 'उपपति' भी हो जाता है। वैशिक का स्वरूप है जो वेशविद्या में भी कुशल हो, रसिक भाव का, केलि तथा कला का प्रेमी पुरुष जो विट प्रकृति का होता है। भरत ने यह विवरण युगीन सामाजिक चेतना को दृष्टिगत रखते हुए दिया था जिसका परवर्ती आचार्यों ने आकलन कर उसे शास्त्रीयरूप प्रदान किया।

नाट्यशास्त्र के छब्बीसवें अध्याय में चित्राभिनय का विवरण है। यह सामान्याभिनय से भिन्न है जो इन दोनों के स्वरूपों से ही स्पष्ट है। सामान्याभिनय का सम्बन्ध चारों अभिनयों से तथा उनके समन्वय से रहता है परन्तु चित्राभिनय का सम्बन्ध मुख्यरूप में आंगिक अभिनय से ही होता है जहाँ मुद्राओं के द्वारा चित्रात्मक प्रभाव की सृष्टि की जाती है। चित्राभिनय कुछ विशिष्ट विधियों, प्रतीकों एवं कल्पनाओं का विशिष्ट विधान कर अभिनय में वैचित्र्य एवं सौन्दर्य की सृष्टि करता है इसी कारण इसे विशिष्ट रूप में तथा पृथक् भी माना गया है।

यद्यपि आंगिक अभिनय के माध्यम से ही चित्राभिनय को प्रस्तुत कर उसे स्वतन्त्र रूप मिलता है परन्तु इसका क्षेत्र विस्तीर्ण भी है। इसके द्वारा प्रभात, सन्ध्या, रात्रि, सूर्य तथा चन्द्र का उदय और अस्त, नदी, समुद्र, पर्वत तथा जलप्रलय आदि प्राकृतिक रूपों की भव्यता तथा हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म, वसन्त आदि ऋतुओं की मनोमुग्धकारिता तथा मानवीय मनोदशाओं को रूप प्रदान किया जाता है। प्रकृति के नानारूपों एवं मानव मन की विविध-दशाओं को इस अभिनय के द्वारा प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत किया जाता है अतः इस अभिनय का व्यापकक्षेत्र है यह स्पष्ट है।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार चित्राभिनय का प्रवर्तन भरत द्वारा किया गया तथा इसकी स्वतन्त्रसत्ता एवं उपयोगिता भी इसी कारण विशिष्ट है। इस अभिनय में कल्पना तथा प्रतीक का जैसा विधान किया गया तथा इनके प्रयोग से अभिनय में सौन्दर्य एवं चमत्कार का जैसा समायोजन होता है उससे इसकी स्वतन्त्रता तथा उपयोगिता की महत्ता ही प्रतिपादित होती है। उत्तरवर्ती आचार्यों में रामचन्द्रगुणचन्द्र आदि ने इसकी आंगिक अभिनय से पृथक् स्थिति को मान्य नहीं किया तथा विश्वनाथ कविराज, सिंहभूपाल आदि ने इसका विवरण कमोवेशी भी नहीं दिया। परन्तु उपर्युक्त कारणों से तथा भरतपरम्परा के कोहल आदि आचार्यों के द्वारा इस विधि को अधिक पल्लवित करने से इसकी स्थिति की विशिष्टता ही इसे स्वतन्त्र एवं पृथक् स्थिति सिद्ध करती ही है।

लोकात्मकता—प्रकृति और लोकजीवन पर आश्रित इस चित्राभिनय में कल्पना एवं अनुभूति का सामञ्जस्य रखा जाता है और प्राकृतिक रूपगत लोकपरम्परा एवं जीवन के विविध रूपों की कल्पना प्रेक्षकों को संवेद्यता एवं ग्राह्यता देती है। मानव की जैसी आंगिक प्रतिक्रिया प्रकृति और शेष जगत् के पदार्थों के प्रति है उसे कलात्मक नाट्यरूप में रंगमंच पर साक्षात् प्रस्तुत करने से चित्त में चित्र जैसा आनंद आता है। अतः चित्राभिनय में प्रयुक्त विधि तथा पद्धति लोकानुप्राणित हैं, यह स्पष्ट है।

प्रतीक विधान—कथावस्तु के अनुरोध पर नाट्यप्रयोग में ऐसे अवसर आते हैं जहाँ लौकिक प्राणियों, मानवीय दशाओं तथा प्राकृतिक घटनाओं की स्थिति उपस्थित होती है। अतः भरत ने लौकिक एवं प्राकृतिक पदार्थों के एवं विविध मानवीय दशाओं के सूचनार्थ प्रतीकों का विधान किया जो लोकपरम्परा एवं व्यवहारों पर आश्रित हैं। इन प्रतीकों के प्रयोग से रंगमंचीय योजना सरल हो जाती है और अनुभवगम्यता भी रहती है। रथारोहण या जलसंतरण जैसे आंगिक अभिनय के प्रयोगों से यह ऐसे प्रस्तुत होता है कि दर्शक उनकी उपस्थिति अनुभव कर सके। इससे आहार्यगत कृत्रिम वस्तु की भी प्रयोक्ता को आवश्यकता नहीं रहती और नाटकीय अपेक्षा भी पूर्ण हो जाती है। अतः चित्राभिनय प्रतीक विधियों तथा विविध कल्पनाओं पर आश्रित है यह स्पष्ट है। अब हम ऐसे ही प्रतीको के कुछ नाट्यशास्त्रीय विवरण दे रहें है।

प्राकृतिक-पदार्थ—इसमें प्रभात, गगन, रात्रि, सन्ध्या, दिवस, मेघ-माला, दिशाएं, ग्रह, नक्षत्र आदि का अभिनय पार्श्वसंश्रित स्वस्तिक हस्तों को उत्तान कर एवं मस्तक को ऊपर उठा कर देखते हुए किया जाता है। भूमिस्थ वस्तुओं का संकेत नीचे देखते हुए रखते हैं। स्पर्श, ग्रहण तथा रोमाञ्च के प्रदर्शन के द्वारा चन्द्र की ज्योत्स्ना, सुखद वायु, मधुरगन्ध तथा रस का; वस्त्रावगुंठन के द्वारा सूर्य, धूम, अग्नि तथा धूलि का; छाया की अभिलाषा के द्वारा भूमि के ताप तथा उष्णता का, ऊपर की ओर देखने से मध्याह्न कालीन सूर्य का, गात्र के स्पर्श तथा पुलक के द्वारा सौम्य एवं सुख-प्रद भावों का; मुख के अवगुंठन, उद्वेग तथा असंस्पर्श के द्वारा तीक्ष्ण रूप का और गर्व तथा सौष्ठवपूर्ण गात्र के द्वारा गम्भीर एवं उदात्त भावों का (संकेतपूर्ण) अभिनय किया जाता है। विद्युत्, उल्कापात, मेघगर्जन, स्फुलिंग तथा प्रकाश का अभिनय त्रस्त अंगों तथा नेत्रों के निमेष द्वारा किया जाता है।

पशु आदि के प्रतीक—सिंह, व्याघ्र, वानर तथा अन्य श्वापदों को दोनों हाथ स्वस्तिकमुद्रा में तथा पद्मकोश की मुद्रा में अधोमुख रखते हुए प्रस्तुत करते हैं। आकुंचित हस्तांगुलियों द्वारा स्वापदों के प्रति भय का प्रकट करना संकेतित किया जाता है। दण्डधारण मात्र से राजप्रभाव विषयक ध्वज छत्र, अस्त्र-शस्त्र आदि वस्तुओं का चित्रअभिनय में संकेत रहता है। भरत ने नाट्यप्रयोग में ऋतुओं के प्रतीकात्मक अभिनय का भी विधान किया है। दिशाओं की प्रसन्नता, विविध रंगवाले पुष्पों के प्रदर्शन तथा इन्द्रियों की स्वस्थता के द्वारा शरद ऋतु का; सूर्य, अग्नि तथा ऊनी वस्त्रों को लेने की अभिलाषा के तथा गात्रसंकोच के द्वारा हेमन्तऋतु का अभिनय किया जाता है। दांत, ओठ तथा मस्तक के कंपन तथा गात्रसंकोच से अधमपात्र शिशिर का अभिनय करते हैं परन्तु दैववश का विपद्ग्रस्त उत्तमपात्र भी इसी विधि से शिशिर का अभिनय प्रस्तुत कर सकते हैं। नानाविध प्रमोद, उपभोग तथा सुखा-वह कृत्यों एवं पुष्पों के प्रदर्शन के द्वारा वसन्त ऋतु का अभिनय किया जाता है। स्वेद प्रमार्जन, भूमिताप, पंखा झलने के कार्य तथा उष्ण वायु के स्पर्श के द्वारा ग्रीष्म ऋतु का अभिनय किया जाता है। कदम्ब, निम्ब, कुटज, हरी घास, वीर बहूटी तथा मूर्धा के गंभीर नाद के द्वारा वर्षा ऋतु का तथा धारासार वर्षा, बिजलियों की चमक तथा कड़कड़ाहट की ध्वनि से वर्षा की घनी-रात्रि का संकेत दिया जाता है। ऋतुओं की स्थिति को दृष्टि में रख

कर भरत ने स्पष्ट निर्देश दिया कि मनुष्य जिस सुख या दुःख के भावों सें आविष्ट रहे तो उसी के अनुरूप उसकी प्रतिक्रिया भी तदनुरूप होगी। अतएव नाट्यप्रयोग में ऋतुओं का अभिनय स्थिति, काल तथा मनोभावों को ध्यान में रखते हुए प्रदर्शित की जावे।

मनोभाव—नाट्यप्रयोग में मनोभावों के प्रदर्शन की भी स्थिति आती है जिस पर भरत ने भावाध्याय तथा सामान्याभिनय में पर्याप्त विवरण दिया है। चित्राभिनय के प्रसंग में भी मनोभावों की प्रदर्शन विधि दिखलाई गयी है तथा विभावों एवं अनुभावों से मनोभाव का प्रदर्शन दिखलाया है। विभाव से सम्बद्ध कार्यों का प्रदर्शन अनुभावों के द्वारा होता है, भाव का सम्बन्ध आत्मानुभव से तथा अनुभाव का सम्बन्ध अन्य के प्रति उद्भूत आत्मभावों के प्रदर्शन से होता है। जैसे गुरु, मित्र, सम्बन्धी तथा प्रियजन के आगमन का आवेदन विभाव से तथा आसन से उठकर अर्घ्य, पाद्य तथा आसन-दान का आवेदन अनुभाव से किया जाता है। इसी प्रकार दूत के सन्देश का प्रतिवेदन अनुभाव से यथोचित रीति में स्त्री तथा पुरुषपात्र प्रस्तुत करते हैं। पुरुष और स्त्री के प्रकृतिगत अन्तर को ध्यान में रखते हुए भरत ने दोनों के लिये भिन्न गति तथा अनुभावों का विधान किया। तदनुसार स्वभाव का प्रदर्शन पुरुष वैष्णवस्थान से करता है तथा इनके हाथ, पैर आदि का संचरण उद्धत एवं धीर गति में रखा जाता है। स्त्रियों का स्थान आयत या अवहित्थ रहता है तथा उनके अंगों की चेष्टाएँ मृदु तथा ललित रखी जाती हैं तथा प्रयोग के प्रयोजनवश अन्य रूपों में भी इन भावों को रखा जा सकता है। पुरुष तथा स्त्रीपात्रों के समस्त भावप्रदर्शन रस तथा भाव के सन्दर्भ में रहते हैं, जिससे नाट्य में वे अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि कर सकें। अतः भरत ने सुख-दुखात्मक मनोभावों के प्रदर्शन के विषय में निश्चित प्रयोगों का ऐसा विधान बतलाया जो उनकी सूक्ष्म प्रयोगदृष्टि से ही संभव था। गात्रों के आलिंगन, स्मितभरे नयन तथा रोमांच के द्वारा हर्ष का सामान्य रूप से अभिनय होता है परन्तु हर्षभाव का नर्तकी जब अभिनय करे तो उसके अंग-प्रत्यंग में रोमाञ्च तथा नेत्रों में आनन्दाश्रु का प्रदर्शन रखना चाहिए। क्रोध के प्रकाशन में आँखें लाल तथा फैली हुई रहें तथा पात्र अधरों का बार-बार दंशन कर वेगातुर हो निश्वास लेते हुए अंग को निरन्तर कम्पित रखे। क्रोध में स्त्रीपात्र का मस्तक कम्पित, भौंहें तनी हुईं, माल्य आभरण का त्याग, मौन स्थिति में अंगुलियों का मरोड़ना रखते हैं तथा यह आयतस्थान में स्थिति रहती है। पुरुष :खद्

का प्रदर्शन लम्बी साँसे लेते हुये, नीचे की ओर मुँह झुका कर तथा चिन्तामग्न होकर करता है, अथवा वह आकाश की ओर देखकर दैव को उपालम्भ देते हुए रखा जाता है। इसी भाव में स्त्रीपात्र को रोते, लम्बी साँस लेते, मस्तक पीटते, भूमि पर गिरते तथा शरीर ताडन करते हुए रखना चाहिए। आनन्दज या दुःखसंभूत रुदन में स्त्रीपात्र रहते हैं, पुरुष नहीं। पुरुष के भय का अभिनय संभ्रम, शीघ्रता के कार्यों, शस्त्र-संघात आदि से तदनुरूप धैर्य, आवेग और शक्तिप्रदर्शन के साथ किया जाता है परन्तु स्त्री का भयभाव का प्रदर्शन संत्रस्त हृदय से दोनों बाजु के देखने, पति के अन्वेषण, जोर से आक्रन्द करने तथा प्रिय के आलिंगन करने के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार स्त्री एवं पुरुषगत विविधभावों का अभिनय उनकी प्रकृति को दृष्टि में रख कर किया जाता है। अतः ललित एवं सुकुमार भावों का प्रयोग स्त्रियों के द्वारा तथा धैर्य, माधुर्य सम्पन्न भावों का प्रदर्शन पुरुषों के द्वारा किया जाता है।

लौकिक पदार्थ तथा प्राणि-वर्ग—भावों के लिये प्रतीकों के विधान के साथ-साथ भरत ने शुक, सारिका, सारस, मयूर, हिंस्र जन्तु, भूत, पिशाच, देव, पर्वत, गुहा आदि के लिये भी भावगम्य संकेतों का विवरण दिया है। शुक, सारिका जैसे छोटे पक्षी तथा मयूर, सारस और हंसों को रेचक और अंगहारों से, सिंह, व्याघ्र तथा उष्ट्र जैसे पशुओं का उन्हीं के अनुरूप गति प्रचार, चेष्टाओं तथा अंगरचना से अभिनय किया जाता है। भूत, पिशाच, यक्ष, दानव तथा राक्षस का तदनुरूप अंगहारों के साथ-साथ उनके नाम निर्दिष्ट कर अभिनय प्रस्तुत किया जाता है परन्तु प्रत्यक्ष उपस्थित होने योग्य दशा में विस्मय युक्त भय एवं उद्वेग को प्रकट करते हुए इनका अभिनय प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार देवों के अदृश्य रूप में रहनेपर उन्हें प्रणाम तथा भावानुरूप चेष्टाओं के द्वारा अभिनय किया जाए और यदि मनुष्य भी अदृश्य हो तो उसका अभिनय दायीं ओर से अराल हस्त को उठा कर ललाट का स्पर्श करते हुए करना चाहिए। यदि देव, गुरु, प्रमदा मंच पर प्रत्यक्ष उपस्थित हों तो खटका, वर्धमानक तथा कपोत हस्तों के द्वारा इनका अभिनन्दन करना चाहिए। उनकी उपस्थिति के बोध में गम्भीरभाव एवं वातावरण को प्रभावकारी ढंग से योजित करना चाहिए। पर्वतों का प्रांशुभाव तथा ऊँचे वृक्षों को प्रसारित बाहुओं के द्वारा तथा विमान, समुद्र तथा सेना का उत्क्षिप्त पताकहस्तों के द्वारा अभिनय करना चाहिए। कामपीडित, शापग्रस्त एवं

ज्वरग्रस्त पुरुषादि का तदनुकूल चेष्टाओं से अभिनय किया जाता है। दोला का संकेत मंच पर केवल रज्जु ग्रहण से होता है परन्तु दोला पर बैठ कर झूलने के दृश्य को पुस्तविधि से ही उस पर बैठ जाने पर वेग देकर गति देते हुए दिखलाया जाता है। गर्व, धैर्य, शूरता एवं उदारता जैसे भावों को अरालहस्त में ललाट स्पर्श के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इन अभिनय विधियों के प्रयोग से नाट्य में भौतिक, प्राकृतिक तथा आकाशीय पदार्थों एवं भावों आदि को प्रतीतकरूप में प्रयुक्त करना चाहते थे, जिससे नाटकीय कथा में गतिशीलता, यथार्थता एवं समुचित प्रभाव की उत्पत्ति हो सके। यह सब बातें उनको व्यापक नाट्यदृष्टि को ही संकेतित करती है, यह स्पष्ट है।

अभिनय के विशिष्ट शिल्प—नाट्यप्रयोग को शृंखलाबद्धता एवं गतिशीलता के लिये भरत ने कुछ विशिष्ट अभिनयों का भी निरूपण किया है जिनका प्रयोग भारतीय नाटकों में प्रचुरता से प्राप्त होता है। जिनके द्वारा अतीत की घटना तथा सीमित पात्रों के लिये नाट्योपयोगी कथांशों का संकेत आदि हो जाता है। ये हैं—(१) आकाशभाषित, (२) आत्मगत, (३) अपवारितक तथा (४) जनान्तिक। धनञ्जय ने इन्हें कथावस्तु को विकसित करने की विशिष्ट शैलियाँ माना है।

आकाशवचन (या आकाशभाषित)—जहाँ रंगमंच पर अप्रविष्ट पात्र से संवाद तथा प्रविष्ट पात्र से अन्तर्हित होते हुए वाक्य की योजना की जाती हो वह 'आकाशवचन' है। यहाँ अन्य पात्र की उपस्थिति के बिना ही उत्तरप्रत्युत्तर शैली में संवाद रखे जाते हैं। आकाशवचन का अधिकतर प्रयोग 'भाण' में होता है जहाँ एक ही पात्र कई पात्रों के साथ संभाषण कर अपना कार्य पूरा करता है।

आत्मगत—हृदयस्थ भाव ही आत्मगत या स्वगत है अतः जहाँ हर्ष, मद, भय, विस्मय, रागद्वेष तथा दुःखादि से पुरुष ग्रस्त हो वह एकाकी ही अपने मनोभाव प्रकट करता हो तो 'आत्मगत' होता है। इसे ही स्वगत या स्वगतभाषण कहते हैं। इसकी कई विधियाँ हैं। इसमें कभी पात्र एकाकी होता है तथा अपने मनोभावों को अन्यपात्रों की अनुपस्थिति में प्रकट करता है। ऐसी स्वगत योजना मुखराग द्वारा या पात्र से एक ओर दूर हट कर स्थित रखते हुए प्रस्तुत की जाती है। यह जटिल परिस्थितिवश योजित होता है अतः ऐसे वस्तुतत्व की योजना को विचार पूर्वक करने का भरत ने निर्देश दिया।

अपवारितक—निगूढ़भाव से संयुक्त वचन 'अपवारितक' है। इसमें पात्र अपना वक्तव्य रहस्यमय रीति से ऐसा प्रस्तुत करता है कि वही पात्र इसे सुन पाता है, जिसके लिए यह प्रयुक्त किया जाए, अन्य नहीं। अन्यों से छिपा कर कहने से इस वक्तव्य की अन्वर्थ संज्ञा है 'अपवारितक'।

जनान्तिक—जब कार्यवश कोई पात्र अपने कथन को ऐसे ही व्यक्ति को बतलाता या कहता हो जो उसके सुनने का अधिकारी हो तो वह 'जनान्तिक' है। इसे अन्य पार्श्वगत व्यक्ति भी नहीं सुन पाते हैं ऐसा समझा जाता है तथा इसका प्रयोग हाथ को व्यवहित कर त्रिपताक मुद्रा में एक नाट्यशैली में रख कर करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपवारितक और जनान्तिक दोनों में ही रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्रों की अश्राव्यता की स्थिति से समानता मानी परन्तु इन दोनों की पृथक्ता इनकी सीमा के कारण हो सकती है। अतः यदि कोई वृत्त या कथन एक के लिये योग्य हो तथा अनेक के लिये प्रकाश्य या अगोप्य रहे तो 'जनान्तिक' होता है तथा इसके विपरीत जो एक के लिये ही प्रकाश्य तथा अनेक के लिये गोप्य हो तो वह 'अपवारितक' है। इसीलिये जनान्तिक में वृत्त का गोप्य अंश कर्णप्रदेश में एक पात्र दूसरे को सूचित करता है। दोनों ही नाट्यधर्मी रूप में प्रयोग में निरन्तर किये जाते हैं।

स्वप्न, वाक्य आदि :—नाटकों में कथा वस्तु के अनुरोध पर स्वप्न तथा मद की योजना की जाती है अतः स्वप्नावस्था के अनुरूप विधान भी भरत ने दिया। स्वप्नदशा में उच्चारित वाक्यों में हस्तसंचार नहीं रखना चाहिए केवल यहाँ वाक्यों की ही मन्द स्वर संचार एवं व्यक्त एवं अव्यक्त शब्दों को रखते हुए इनका पाठ्य रखना चाहिए।

मरण—इसी प्रकार मरण काल में अत्यन्त शिथिल, करुण, घर्घर युक्त गद्गद् वाक्यों का पाठ्य रखा जाता है। इस समय हिचकी तथा श्वास-प्रश्वास के आवेग द्वारा मूर्च्छा का अभिनय उचित होता है। ऐसी अवस्था में हाथ पैर विक्षिप्त हो जाते हैं। व्याधिजन्य मरण में शरीर अकड़ जाता है। विषपान से मृत्यु होने कर शरीर और पैर विक्षिप्त रहते तथा अंग तड़फते हैं। विषपान में मृत्यु की ओर गतिशील सात वेग दशाओं के अनन्तर आठवीं स्थिति आने पर मरण का भरत ने विवरण दिया है। इनमें प्रथम वेग में दुर्बलता, द्वितीय में

कम्प, तीसरे में दाह, चौथे में लार का बहना, पाँचवें में मुँह में फैनों का आना, छठे में ग्रीवाभंग तथा सातवें में नितान्त जडता और अन्तिम आठवें में 'मरण' होता है। इनमें अल्पभाषण से कृशता का, सर्वांग कम्पन से कम्प का, शरीर और हाथ पैरों के पटकने से दाह का, अव्यक्त अक्षरों के उच्चारण से विलल्लिका (लार टपकाना) का, निसंज्ञता तथा निमेष से फैन का, सिर के कन्धों पर ढलकाने से ग्रीवाभंग का, सभी इन्द्रियों के निष्क्रिय भाव से जड़ता का तथा नेत्रों के नितान्त बन्द करने से मरण का अभिनय किया जाता है। व्याधिजन्य करण का भी इसी प्रकार अभिनय होता है तथा सभी अभिनय प्रतीकात्मक होते हैं। गद्‌गद् वाणी तथा लड़खड़ाते वचन-विन्यास से वृद्धजन का तथा तुतलाते मीठे शब्दों के द्वारा बालक का अभिनय किया जाता है।

पुनरुक्ति—नाट्यप्रयोग में जब पात्र शोक, घबराहट तथा आवेग की दशा में किन्हीं शब्दों का बार-बार प्रयोग करे तो यह पुनरुक्ति यहां अपेक्षित ही रहती है। इसी प्रकार प्रशंसा, जिज्ञासा आदि के अवसर पर भी उपयुक्त वचनों का दो बार दोहराना उचित है। अतः यहां पुनरुक्ति दोष नहीं होता।

सत्व के अनुकूल अभिनय—भरत ने नाट्यप्रयोग के लियें महत्वपूर्ण निर्देश भी इस प्रसंग में दिये हैं। अतः जिन उत्तम भावों का विधान उत्तम पात्रों के लिये शास्त्र में हो उनका नीच पात्रों में प्रयोग नहीं किया जावे तथा नीचपात्रों के उपयुक्त भावों का अभिनय उत्तम पात्र भी न करें। पृथक्-पृथक् पात्रों के लिये निर्दिष्ट भाव तथा रसों के अनुगत नाट्यप्रयोग में ही राग का सृजन होता है। अतः इन सभी अभिनय विधियों में सत्वातिरिक्तता होना आवश्यक है। सत्व की अभिव्यक्ति ही नाट्यप्रयोग का प्रधान प्रयोजन रहता है, जो रसोद्‌गम तक की दर्शकों की यात्रा निर्बाध करवाता है।

नाट्य की लोकानुगतता—भरत ने नाट्यप्रयोगों के लिये लोकपरम्परा, वेद तथा अध्यात्म को प्रमाण माना। अतः अभिनय विधियां तथा व्यवहारों का नाट्य में प्रयोग लोक-परम्परा को ध्यान में रखकर ही किया जाना चाहिए। शब्द, छन्द, गीत आदि का प्रयोग शास्त्र से सिद्ध होने पर भी उनमें नाट्य की लोकात्मकता की अनुवर्तिता ही उसे सफलता देती है। यद्यपि लोक में आचार, व्यवहार, व्यक्ति, परिस्थितियां, वस्तु आदि के प्रति मानव की प्रतिक्रिया का कोई अन्त नहीं और शास्त्र भी ऐसी बातों का निर्णय पूर्णतः

नहीं कर सकता। अतः लोकपरम्परा को दृष्टि में रख कर सत्व एवं शील की उचित योजना के साथ नाट्यप्रयोग को करना उचित है। चित्राभिनय यद्यपि कल्पनाशील नाट्यप्रयोग की विशिष्ट एवं विचित्रतापूर्ण विधि है परन्तु उसका आधार लोकजीवन में प्रचलित आंद्योगिक प्रतिक्रियाएं हैं यह भी स्पष्ट है। भरत ने इस चिन्तन को इतने मौलिक रूप में रखा कि यह आज भी नाट्यप्रयोगों के लिये प्रमाण तथा उपयोगिता रखता है तथा नाट्य-प्रयोग को सिद्धि देने वाला भी है।

नाट्यशास्त्र का सत्ताइसवां अध्याय 'सिद्धिव्यञ्जक' है। सिद्धि के निर्धारण के लिये भरत ने निश्चित मानदण्डों का निर्देश सिद्धिविधान के अन्तर्गत दिया है। इसमें सिद्धि के भेद तथा उसका आधार, सिद्धि की सांकेतिक आंगिक प्रक्रियाएँ, सिद्धि के लिये नाट्यमंडलियों की प्रतिस्पर्धा, पारितोषिक या पताका प्रदान की प्रणाली, सिद्धि में बाधाएँ, सिद्धि के निर्णायक गण, गुणदोष विवेचक प्राश्निक तथा प्रेक्षक के विषय में तात्विक विचारों का आकलन है। नाट्यप्रयोग का चरम उत्कर्ष सिद्धि में ही निहित हो है अतः प्रयोगात्मक नाट्यदृष्टि की चरमपरिणति यहीं दृष्टिगत होती है।

सिद्धि-स्वरूप तथा प्रभेद—नाट्य की प्रयोगगत सिद्धि भरत के मत में दो प्रकार की होती हैं (१) दैवी तथा (२) मानुषी। ये दोनों सिद्धियाँ अभिनयों के लोक एवं शास्त्र की परम्पराओं पर आश्रित होती हैं। **मानुषी सिद्धि** मुख्यतः प्रसन्नताबोधक संकेतों पर आधृत होती है। प्रेक्षक अपनी वाणी एवं शरीर से प्रसन्नता का प्रकाशन करता है। इसके दो भेद हैं—(१) वाङ्मयी तथा (२) शारीरी। **वाङ्मयी सिद्धि**—इस सिद्धि के छः भेद होते हैं—(१) स्मित, (२) अर्धहास, (३) अतिहास, (४) साधु (५) अहो! कष्टम् तथा (६) प्रवृद्धनाद। पात्र के द्वारा रसमय एवं शिष्ट हास्य को मंच पर प्रस्तुत करने पर प्रेक्षक के मुख पर मन्दहास्य की रेखा अंकित होने पर 'स्मित' कहलाता है। अस्पष्ट हास्य या अस्पष्ट वचनों के प्रयोग होने पर प्रेक्षकों का (अस्पष्ट रूप में) हंसना 'अर्धहास्य' है। विदूषक की विकृत, आंगिक चेष्टाओं अथवा उपहासास्पद नेपथ्यज विधियों आदि से 'अतिहास' होता है। अभिनेताओं के द्वारा धर्म या उचित कार्यों के उत्तम प्रदर्शन पर परितोष के कारण प्रेक्षक 'साधु' शब्द कहते हैं। इसी प्रकार सहजभाव से शृङ्गार, वीर तथा अद्भुत आदि रसों का अभिनय प्रस्तुत करने पर प्रेक्षक भावावेश में भर कर 'अहो अहो' शब्द कहने लगते हैं। करुणरस के

प्रयोगकाल में प्रेक्षक नेत्रों में अश्रु भर कर 'कष्टम्' कह कर परितोष प्रकट करते हैं। प्रयोग में किसी विस्मयापादक भाव या कार्य के प्रस्तुत होने पर प्रेक्षकों की जोरों से ध्वनि होती है। ये सभी 'वाङ्मयीसिद्धि' के लक्षण हैं।

शारीरी सिद्धि—पात्रों के उत्तम अभिनय के प्रति प्रेक्षकों के परितोष प्रकट करने के तीन प्रकार होते हैं—सरोमांच पुलक, अभ्युत्थान तथा चेल-अंगुली-दान। नाट्यप्रयोग के प्रस्तुतीकरण के काल में जब पात्र परस्पर संघर्षपूर्ण संवादों के द्वारा एक दूसरे को आधर्षित करते हैं तो ऐसे भावों के प्रति दर्शकों के शरीर परितोषसूचक रोमांच पूर्ण हो जाते हैं तथा पुलकित भी। इसी प्रकार जब वीरभाव के अवसरों पर युद्ध, छेदनभेदन तथा आक्रमण आदि के उत्तेजनात्मक दृश्य हो तो उनके प्रति प्रेक्षक अपनी तुष्टि आसनों से उठकर या खड़े होकर 'अभ्युत्थान' से करते हैं। प्रयोग से जब प्रेक्षक संतुष्ट होते है तो वे भावनावश पात्रों को बहुमूल्य वस्त्र देकर या अंगुली उठाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं अथवा दर्शकों में समृद्ध पुरुष उन्हें बहुमूल्य वस्त्रादि या अंगुलीयक भी पुरस्काररूप प्रदान करते हैं।

दैवी सिद्धि—भाव की अतिशयता तथा सात्विकभावों की समृद्धि रहने पर नाट्यप्रयोग को दैवीसिद्धि व्यक्त होती है तथा ऐसे समय प्रयोगगत श्रेष्ठता के कारण रंगमण्डप शान्त तथा प्रेक्षकों से पूर्ण होता है। इनमें दैवी तथा मानुषी सिद्धि में अन्तर भी समझा जा सकता है कि मानुषीसिद्धि तब होतीं है जब नाटचप्रयोग में शारीरिक चेष्टाओं या वाक् चेष्टाओं की प्रमुखता होती है और तदनुरूप ही प्रेक्षक भी युद्ध आदि के आश्चर्यकारी दृश्यों से अपना परितोष प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त नाटचप्रयोग में ऐसे भी अवसर या दृश्य आते हैं जहाँ आंगिक अभिनय तथा वाक्यों के स्थान पर सात्विकभावों तथा जीवन के भावधारापूर्ण अभिनय के कारण प्रेक्षक गंभीरवातावरण में डूबा रहता है जो दैवीप्रभाव है। इसे ही दैवीसिद्धि कहेंगे। नाटचप्रयोग की इन दो सिद्धियों के विधान से भरत ने प्रयोक्ता तथा प्रेक्षकों की दो भिन्न परम्पराओं का भी संकेत किया है क्योकि सुसंस्कृत प्रेक्षक ही उत्तम नाटचप्रयोगों में रुचि ले सकते हैं।

बाधाएँ (दोष)—नाटचप्रयोगों में सिद्धि के अतिरिक्त आनेवाली बाधाओं का भी भरत ने उल्लेख किया है। ये हैं—(१) दैवी, (२) पर या आत्मसमुत्था (३) तथा औत्पातिकी। दैवी बाधा के अन्तर्गत वायु का उत्पात, मण्डप का

गिरना, अग्निदाह, वर्षा का प्रकोप, मदमत्त कुंजर का प्रेक्षागृह में प्रवेश, भुजंग का निकलना, कीड़े चींटी आदि का आ जाना आदि हैं। यदि नाट्य-मण्डप शास्त्रानुमोदित निर्मित हो तो दैवी बाधाएँ कम आ सकती हैं तथा प्रयोग सफल हो जाता है। परसमुत्था बाधा के अन्तर्गत ऐसी बाधाएँ हैं जो नाट्यप्रयोग को असफल करने के लिये की जाती हैं। इनमें प्रयोग को बिगाड़ने के उद्देश्य से विरोधी नाट्यदल के व्यक्ति जोरों से हँसने, रोने तथा धीमे-धीमे बात करने आदि के कार्य करते हैं। इनके समर्थक प्रेक्षक भी मंच पर घास फूस, चींटियों का झुंड या पत्थर के टुकड़े भी फेंकते हैं जिससे नारी पात्र उद्विग्न हो जाएँ। इस प्रसङ्ग में ईर्ष्याभाव, शत्रुपक्ष से मिल जाने के भेद तथा अर्थभेद का भी भरत ने उल्लेख किया है। अर्थभेद से आशय यह है कि शत्रुपक्ष की मंडलियाँ प्रेक्षकों को रिश्वत में कुछ अर्थ देकर भी नाट्यप्रयोग में बाधा डालती थीं। सभासमितियों तथा नाट्यमंडलियों में आज भी ऐसी वृत्ति के दर्शन होते हैं जो मानवीय प्रवृत्ति की स्थायी प्रतिक्रिया-सी लगती है। आत्मसमुत्था बाधा में पात्रगत त्रुटियाँ आती हैं जिनके अनेक रूपों तथा स्थितियों का मुनि ने विवरण दिया है। इनमें अभिनय की अस्वाभाविकता से वैलक्षण्य, अनुचित आंगिकचेष्टाओं से अचेष्टा, दूसरे पात्र की भूमिकामें दूसरे पात्र के मंच पर अवतरण से अविभूमिकत्व, पाठ्यांश या संवाद के विस्मरण से स्मृतिप्रमोष, जोरों से चिल्लाने पर आर्तनाद, यान आदि पर आरोहण या अवतरण के क्रम में हस्तों के त्रुटिपूर्ण संचालन से विहस्तत्व, अपने पाठ्य के स्थान पर दूसरे के पाठ्य के वाचन करने पर 'अन्य वचन' जैसे पात्रगत स्खलन हैं जो बाधाएँ मानी गयी हैं। इसी प्रकार अभिनय के अवसर पर पात्र का अधिक रोना या हँसना, स्वरों की त्रुटि, आभूषण आदि का यथोचित न रहना, मुकुट का स्थान से सरक जाना, पात्र का मंच पर निर्धारित समय पर प्रवेश न करना, मृदंग आदि वाद्यों का औचित्यानुकूल प्रयोग न होना आदि भी नाट्यप्रयोग की दोष या त्रुटियाँ मानी जाती हैं। इस प्रसंग में मुनि ने पुनरुक्त, असमास, विभक्तिभेद, विसन्धि, अपार्थ, प्रत्यक्ष-परोक्षसम्मोह, छन्दोवृत्तपरित्याग, गुरुलघुसंकर, यतिभेद, जैसे दोषों का भी इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जो उनके समय में प्रायः देखी जाती थीं।

औत्पत्तिक बाधा (घात)—औत्पत्तिक बाधाएँ मनुष्य के वश में नहीं होती हैं। इनमें भूकम्प, आँधी, वर्षा और प्राकृतिक प्रकोप आते हैं।

बाधाओं के रूप—नाट्यप्रयोग की ये बाधाएँ तीन रूपों में मिलती हैं—(१) मिश्र; (२) सर्वगत तथा (३) एकदेशज। इनमें मिश्र में नाट्य की सिद्धियाँ तथा बाधाएँ दोनों ही मिली रहती हैं। सर्वगत में नाट्यप्रयोग सर्वथा दूषित हो जाता है तथा एकदेशज में नाट्यप्रयोग अंशत दूषित होता है। भरत ने इस बाधा या घातों तथा सिद्धियों का प्रयोगकाल में स्पष्ट उल्लेख करने का निर्देश किया है। यदि कोई दोष या बाधा आंशिक हो तो उसका उल्लेख आवश्यक नहीं क्योंकि शास्त्र तथा लोक व्यवहार में नितान्त निर्दोषता की कल्पना नहीं होगी।

काल-विनिश्चय—रूपक के किसी अंक, गीत, नृत्य आदि के प्रयोग कितने समय में पूर्ण हों यह नालिका के द्वारा निर्धारित था। निर्धारित अवधि में प्रयोग के समाप्त न होने पर नालिका दोष होता है। भरत ने कालजनित दोष के प्रति विशेष सावधानी का संकेत किया है क्योंकि इनसे निर्धारित काल में प्रयोग की परिसमाप्ति नहीं हो पाती।

आलेखन—नाट्यप्रयोग काल में दोषों के आलेखन का प्रयोग आवश्यक होता है। पूर्वरंग के क्रम में कभी अभिनेता अनपेक्षित देवता की भी वन्दना करने लगते हैं, कभी वास्तविक नाट्यकार के स्थान पर दूसरे ही नाट्यकार का स्मरण कर बैठते हैं तथा कभी सूत्रधार के द्वारा प्रयोज्य अंश में किसी अन्य रूपक का भी अंश मिला दिया जाता है। इन सभी त्रुटियों का उल्लेख नाट्य सिद्धि की बाधा में किया जाना चाहिये। पात्र कभी-कभी शास्त्रनिहित भाषा, देश तथा वेष आदि की अवहेलना कर स्वबुद्धि कल्पित वेशादि का प्रयोग कर लेते हैं। ऐसी त्रुटियाँ आलेख्य होती हैं।

लोकशास्त्रपरम्पराओं का अनुगमन—भरत शास्त्रविहित प्रयोग की सीमा से परिचित थे अतः उन्होंने स्पष्ट रूप से बतलाया कि शास्त्र में नियमों की विशाल एवं दृढ़ परम्परा है पर सभी का यथावत् प्रयोग कभी संभव ही नहीं होता है। अतः लोकपरम्परा, वेद तथा शास्त्रों की मर्यादा के अनुरूप गम्भीर भावसंवलित एवं लोकग्राह्य शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार अभिनय के वाचिक आदि प्रभेदों को रसभाव, गीत आतोद्य एवं लोकव्यवहार के अनुरूप प्रयोगों से पूर्ण अनुशासित कर इसमें सतर्कता का भी संकेत दिया गया है।

प्रेक्षक तथा प्राश्निक—नाट्यशास्त्र में सिद्धि के प्रसंग में प्रेक्षक तथा प्राश्निक का विवरण भी दिया गया है। नाट्यप्रयोक्ताओं में सूत्रधार तथा नाट्यप्रयोग की सफलता के निश्चय में प्राश्निक का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। सफल नाट्यप्रयोग के लिये उसके प्रेक्षक तथा प्राश्निक ही वह केन्द्रबिन्दु है जहाँ से उसकी परीक्षा होकर निर्णय होता हैं। अतः प्राश्निक तथा प्रेक्षकों का स्वरूप भी मीमांस्य है जो भरत ने दिया भी है।

जिसका चरित्र उज्ज्वल हो, जो कुलीन, शान्त, विद्वान्, यशस्वी, नाट्य-मर्मज्ञ, वाद्यवादनप्रवीण, तत्त्वदर्शी, देशभाषा के विधानों का विशेषज्ञ, कला-शिल्प का प्रयोजक, अभिनयवेत्ता, रसभावों का सूक्ष्म परिज्ञाता, शास्त्रों का तथा छन्दो विद्या का पारंगत विद्वान् हो वह 'प्राश्निक' है।

इसी प्रकार जो संयमी, ऊहापोह विशारद, दोषदर्शक और अनुरागी हो तो ऐसे व्यक्ति 'प्रेक्षक' कहलाते हैं। ये पात्रों के तुष्ट होने पर तुष्ट, शोकार्त होने पर शोक संवलित, क्रोध में क्रुद्ध तथा भय की दशा में भयभीत होते हैं। इस प्रकार अभिनय के अनुगत ही इनका कार्य भावानुभावन होता है।

मुनि ने प्रेक्षक तथा प्राश्निकों के इतने गुणों को दिखला कर भी यह स्वीकार किया कि जिसका जो कर्म, शिल्पादि हो वही तदनुरूप नाट्यप्रयोग की समीक्षा करे तो उसकी सिद्धि और घात या बाधा का रूप अवश्य स्पष्ट हो जाएगा। उत्तम, मध्यम तथा अधम, वृद्ध तथा स्त्रियों की रुचि तथा प्रवृत्ति एक दूसरे से भिन्न होती है। जैसे युवा व्यक्ति कामभाव से प्रसन्न होते हैं, विरागी मोक्षगत कथावस्तु से, शूर पुरुष युद्धादि से, वृद्ध जन धर्माख्यान से प्रसन्न होते हैं अतः प्रेक्षकों की ये अनेक श्रेणियाँ हैं यह स्पष्ट है। उत्तमपात्रों के अभिनय को अधम प्रेक्षक हृदयंगत नहीं कर पाते हैं तथा इसी प्रकार विद्वान् प्रेक्षक तात्त्विक वृत्तों से संतुष्ट होते हैं जब कि बालक तथा स्त्रीजन हास्य तथा नेपथ्यज दृश्यों से प्रसन्न होते हैं।

इसी प्रकार प्राश्निकों की भी स्थिति है जो उनकी विषय की भिन्नता के कारण होती है। कथावस्तु में यज्ञ की योजना रहने पर यज्ञवित्, नृत्य की योजना रहने पर नर्तक, छन्दों के होने पर छन्दोज्ञाता, नेपथ्य के सौन्दर्य की समीक्षा के लिये चित्रकार, कामोपचार के लिये वेश्या, स्वरयोजना या संगीत के रहने पर गायक, ऐश्वर्य प्रदर्शन में राजा तथा शिष्टाचार के प्रदर्शन में राजकीय पुरुष को प्राश्निक बनाया जाता है। इस प्रकार नाट्यप्रयोग

की पूर्णता के लिये भरत ने प्राश्निकों की स्वरूपादि की विस्तार से चर्चा की तथा एक लम्बी सूची भी प्रस्तुत की। प्राश्निकों के ऐसे दुर्लभ विवरण से भरतानुमोदित नाट्यप्रयोग की श्रेष्ठता का आभास भी मिलता है।

प्रयोगप्रतिद्वन्द्विता एवं पुरस्कार-विधान :—विकसित नाट्य-परम्परा के क्रम में आने वाली प्रयोक्ता मंडलियों में अर्थप्राप्ति, प्रतिस्पर्धा तथा विजय की पताका प्राप्त करने की भावना रहती थी, जिससे वे अपनी प्रयोग कुशलता दिखलाकर पुरस्कार प्राप्त करतीं थीं। पुरस्कार प्रदान में निर्णायकों के विषय में प्राश्निक का विवरण देकर इनके निश्चित नियमों का निदर्शन किया गया है। अतः प्राश्निक निष्पक्षभाव से प्रयोग का परीक्षण करे तथा सहायक रूप में उसके पास स्थित लेखक घात और सिद्धि का उल्लेख सहित आलेखन करे। तब दैवी एव परसमुत्थबाधाओं को छोड़कर नाट्यप्रयोगगत एवं पात्रगत दोषों की न्यूनता तथा गुणों की आधिक्य की स्थिति रहने पर उन्हें पुरस्कृत किया जावे। यदि दो पात्र या नाट्य मंडली समानरूप से पुरस्कार के अधिकारी हों तो दोनों को ही स्वामी के आदेश से पुरस्कृत करना चाहिए। पुरस्कार में शासक द्वारा पताका के प्रदान करने का भी प्रावधान रहता था।

भरत के उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी सिद्धि तथा प्राश्निकों के कुछ विवरण प्राप्त है। भावप्रकाशन में भरत का अनुसरण करते हुए प्राश्निकों की चर्चा की गयी है। अभिनयदर्पण में नाट्यप्रयोग तथा नृत्य की उत्तमता के निर्णय के लिये प्राश्निकों का विधान भी दिया है। इनके विचार में नाट्य-प्रयोग में प्रेक्षक कल्पवृक्ष के समान हैं, वेद उसकी शाखाएँ हैं, शास्त्र पुष्प है तथा विद्वान् भ्रमरहैं। इनके अनुसार नाट्यप्रयोग की सफलता का निर्णायक सभापति होता है तथा यह प्रेक्षकों में प्रमुख होता है जिसके परामर्शदाता अनेक प्रेक्षक या प्राश्निक होते हैं। यह सभापति ही पुरस्कार तथा विजय का निश्चय करता है। इस दृष्टि से भरत का सिद्धि विधान अतिशय महत्त्वपूर्ण है जहाँ नाट्यकार, प्रयोक्ता तथा प्रेक्षक का त्रिवेणीसंगम है।

नाट्यप्रयोग के उपयुक्त समय—भरत ने नाट्यप्रयोग को प्रस्तुत करने के समय का भी विचार किया है। इनमें दिन में प्रस्तुत किये जाने वाले नाट्य-प्रदर्शन पूर्वाह्न, अपराह्न तथा मध्याह्न में भी रखे जा सकते हैं। नाट्यप्रयोगों के विषयगत आधार को लेकर धार्मिक आख्यान के नाट्यप्रयोग पूर्वाह्न में रखे जाते हैं। वाद्यसंगीत की प्रचुरतावाले प्रयोग अपराह्न में तथा श्रृंगाररस एवं

नृत्यगीत प्रचुर प्रयोगों को प्रदोषकाल में रखते हैं। करुणरस के प्रयोग निद्रा-नाशक होने से इन्हें रात्रि के चौथे प्रहर तक प्रदर्शित रखा जावे किन्तु सामयिक स्थिति और स्वामी की आज्ञा से किसी भी समय उपयुक्तता को देखकर नाटचप्रदर्शन रखा जा सकता है।

सफल नाट्यप्रयोग के लिये 'त्रिक' :—सफल नाटचप्रयोग के लिये अन्त में मुनि ने एक और सिद्धान्त भी दिखलाया। उनकी दृष्टि में सफल नाटचप्रयोग के लिये पात्र, प्रयोग तथा समृद्धि का समन्वय अपेक्षित है। इनमें बुद्धिमता, सुरूपता, लयताल विशेषज्ञता, रसभावपरिज्ञान, उचितवय, गात्र की अविकलता, भय तथा उत्साह पर विजय प्राप्त करने की क्षमता आदि 'पात्रगत' विशेषताएँ हैं जिनसे नाटचप्रयोक्ता अपने प्रयोग में सिद्धि प्राप्त करता है। सुवाद्यता, सुगीत, सुन्दर पाठ्य तथा नाटचशास्त्रीय विधान का सभी विधियों में अनुगमन होने पर 'प्रयोग' आदर्श बन जाता है। इसी प्रकार सुन्दर आभूषण, माला तथा वस्त्र धारण तथा अन्य नेपथ्यज विधान का कुशलता-पूर्ण प्रस्तुतीकरण नाटचप्रयोग की 'समृद्धि' कहलाता है। इस प्रकार मुनि ने पात्र, प्रयोग तथा आहार्यज विधि का निर्देश कर प्रयोग को उत्तम तथा सफल बनाने का ऐसा महत्त्वपूर्ण उपाय दिखलाया जिसकी उपेक्षा होने पर प्रयोग की सफलता में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। सिद्धिविधान में मुनि ने प्रयोगगत पक्ष को दृढ़ता से स्थापित किया क्योंकि वे किसी भी पक्ष को दुर्बल नहीं रखना चाहते थे। अतः जहाँ कवि एवं प्रयोक्ता के लिये नियम या शास्त्रविधान निर्दशित हुआ वहीं प्रेक्षक तथा प्राश्निकों का भी विधान दिया गया है। सिद्धि अध्याय मुख्यतः प्रेक्षक तथा प्राश्निकों के लिये ही है, जब कि शेष विवरण नाटचप्रयोक्ता तथा कवि के लिए है यह इससे स्पष्ट है।

नाट्यशास्त्र में प्रतिबिम्बित भारतीय संस्कृति के तत्त्व—जैसा कि हमने प्रकृत नाटचशास्त्र के प्रथम एवं द्वितीयभाग के सम्बद्ध अनुच्छेदों में बतलाया कि नाटचशास्त्र की रचना ईसापूर्व पाँचवी शताब्दी के आसपास की गयी थी। यह तथ्य भारत के तत्काल सम्बद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों से भी समर्थित होता है। क्योंकि नाटचशास्त्र जितना भारत के सांस्कृतिक इतिहास से सम्बद्ध है उतना राजनीतिक बातों से नहीं क्योंकि नाटच में ही मनुष्यों की विविध गतिविधियाँ समाविष्ट रहती हैं तथा उन्हीं का दर्शन होता है। नाटचशास्त्र उन्हीं तत्त्वों का अनुमोदन करता है जो लोकजीवन के प्रत्येक जाति एवं वर्ग की ऐसी झलक दे जो उनकी तत्कालीन स्थिति की भी सत्या-

पना करे। यहाँ हम संक्षेप में ऐसे कुछ तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करने की भावना से चर्चा कर रहे हैं जिन पर नाट्यशास्त्र ने एक या दूसरे प्रकार से प्रकाश डाला है।

भौगोलिक विवरण :—नाट्यशास्त्र के चतुर्दश, अष्टादश एवं त्रयोविंश अध्यायों में (भारत के) कुछ प्रदेशों के विवरण हैं। इनमें अंग, अन्तर्गिरि, अवन्ती, अर्बुदेय, आनर्त, आन्ध्र, उत्कलिङ्ग, उशीनर, औढ्र, कलिङ्ग, काश्मीर, कोसल, ताम्रलिप्त, तोसल, त्रिपुर, दशार्ण, दाक्षिणात्य, द्रामिल (द्राविड),नेपाल, पांचाल, पुलिन्ध्र, पाण्ड्य, प्राग्ज्योतिष, बहिर्गिरि, ब्रह्मोत्तर, भार्गव, मागध, मद्रक, मलद, मलवर्तक, मार्गव, मालव, महावेण्ण, महेन्द्र, मृत्तिकावत, मोसल, वंग, वत्स, वानवास, वाल्हीक, विदिशा, विदेह, शूरसेन, सात्वत, (सात्वक), सिन्धु, सौराष्ट्र तथा सौवीर। इसके अतिरिक्त भारत की नदियों में चर्मण्वती, वीरवती, गङ्गा तथा महावेण्णा आदि के उल्लेख है। पर्वतों के नामों में—महेन्द्र, मलय, मेकल, कालपंजर, विन्ध्य, सह्य तथा हिमालय का उल्लेख मिलता है। कुछ देशों के नामों में भारतवर्ष, जम्बूद्वीप (सम्भवतः एशिया महाद्वीप के अर्थ में) भद्राश्व, केतुमाल तथा उत्तरकेतु के नाम आते हैं।

ये वर्णन भारत के विभिन्न भागों से सम्बद्ध हैं जिससे यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के रचयिता को भारत के इन भागों का स्पष्ट ज्ञान था जो उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण सागर तक फैले हुए थे तथा पश्चिम में सिन्धु सौवीर से लेकर पूर्व में अंग तथा प्राग्ज्योतिषप्रदेश तक फैले हुए थे। इसके अतिरिक्त इसमें वाल्हीक तथा नेपाल का भी वर्णन है तथा ये सभी मिलकर भरत के व्यवस्थित भौगोलिक ज्ञान को दिखलाते हैं।

नृवंश विद्या :—नाट्यशास्त्र में मनुष्य की विविध जातियों के (उनके निवास प्रदेश के साथ) विवरण दिये गये हैं। यथा—खस, कोसल, बर्बर, आन्ध्र, द्रमिड, आभीर, शबर, चाण्डाल, शक, पह्लव, (पल्लव ?) तथा यवन। इनकी कुछ स्थितियों में या कथावस्तु के अनुरोध पर ऐसे पात्रों के आने पर (इनकी) प्रकृति, व्यवहार तथा इनके शरीरों को तदनुसार वर्णों वाला दिखलाने के लिये रंगने का विधान दिया गया है। इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि भरत ने हूण तथा चीन देश के निवासियों का उल्लेख नहीं किया किन्तु शक और यवनों का किया है। अतः यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के आसपास शक तथा यवन भारतवर्ष की

उत्तरदिशा में बसे हुए थे किन्तु यह उत्तरदिशा वही है जो ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित है तथा जिसे ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचक विद्वान् पश्चिम पंजाब का प्रदेश स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि ये जातियाँ जब भारत के उत्तरपश्चिम में विद्यमान थीं तभी नाटचशास्त्र की रचना हो रही होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये यवन वे ही हैं जिनका पाणिनि[1] ने उल्लेख किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सिकन्दर के आक्रमण के कुछ वर्षों पूर्व ही ग्रीक के यवन भारत के उत्तरपश्चिम प्रदेश में बस गये थे और वे भारतीय समाज के अंग बन गये थे। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में पह्लवों का भी उल्लेख विचारणीय है। म०म० हरप्रसाद शास्त्री का विचार है कि पह्लव शब्द पर्थव शब्द (Parthian) से निष्पन्न होता है। ये नाटचशास्त्र के रचयिता के समय विद्यमान थे जो इसके रचनाकाल को भी स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार वाह्लीक शब्द भी है जो इनके भारत निवास का प्रमाण है। मौर्य साम्राज्य में वाह्लीक समाविष्ट थे तथा ये प्राचीनकाल में भी कदाचित् बस चुके थे जिनका उल्लेख महाभारत में भी प्राप्त है। हमें शकों की अतिप्राचीनकाल में भारत में स्थिति के आधार तथा प्रमाण प्राप्त नहीं है। शकों ने भारत में एक सौ ईसापूर्व में अपना सामर्थ्य एवं प्रभाव बढ़ाया था तथा यह भी कल्पना की गयी है कि इनकी एक बड़ी संख्या इन्हीं शतियों में भारत के उत्तरपश्चिम प्रदेश[2] में बस चुकी थी और शकों की शक्ति के उदय तथा संवर्द्धन में इनने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसलिये यहाँ कोई कठिनाई नहीं होगी कि ये भारतीय नाटच में भी रुचि लेकर उसमें भी अपना स्थान प्राप्त कर लें। इसी प्रकार भरत ने 'पार्श्व' शब्द का भी प्रयोग किया है जो पार्श्वागत तथा पार्श्व-मौलि में (ना० शा० २३।१३५–१३७) आया है। यह कदाचित् पर्शुशब्द से गृहीत प्रतीत होता है जो ऋग्वेद में यदु तथा तुर्वसु से सम्बद्ध इतिहास प्रसिद्ध जातियाँ थीं। इस प्रकार भरत ने एक अतिप्राचीन ऐतिहासिक तथ्य को यहाँ दिखलाया कि पर्शुओं का एक वर्ग भारत में भी स्थित था। यहाँ प्रयुक्त पार्श्व-मौलि शब्द का वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड में भी व्यक्ति संज्ञा के रूप में प्रयोग मिलता है तथा इस नाम की व्याख्या में एक रोचक उपाख्यान भी मिलता है (द्र० वा० रा०, उ० का०, अ० १५)। इसी प्रकार बलराम के एक

---

१. इस सन्दर्भ में यह कल्पना भी हो सकती है कि इनमें से कुछ उत्तर-पश्चिम में इससे भी प्राचीन काल से बस गये थे।

२. यह प्रदेश 'सीस्तान' था जो भारत से अधिक दूर नहीं था।

पुत्र का नाम था पार्श्वनन्दी। इस प्रकार यदि पर्शु और पार्श्वमौलि को सम्बद्ध मानलिया जाए तो कोई गम्भीर आपत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार पार्श्वगत प्रकार के जो पटी या मुखौटे तथा मुकुट नाटशास्त्र (अ० २३) में वर्णित हैं ये सभी भारत निवासी प्राचीन जातियों का भी संकेत दे रही हैं, यह स्पष्ट है।

भाषाएँ—यह सामान्यतः सर्वविदित है कि प्राचीन भारत में रूपकों में प्रयुक्त तथा रंगमंच पर व्यवहार में आने वाली भाषाओं में संस्कृत तथा प्राकृत प्रमुख थीं। नाट्यशास्त्र में संस्कृत भाषा के विषय में संक्षेप में विवरण (अध्या० १८) मिलता है तथा इसी प्रकार प्राकृत भाषाओं का भी। नाट्यशास्त्र के ध्रुवाविधानाध्याय में दिये गये प्राकृत भाषा के उदाहरण भी प्राकृत भाषा की ऐतिहासिक स्थिति एवं स्वरूप के अध्ययन में अतिशय मूल्यवान् स्थान रखते हैं। इसके अतिरिक्त हमें कुछ प्रजातियों की भी भाषागत स्थिति का नाट्यशास्त्र से पता चलता है। ये हैं—बर्बर, किरात, आन्ध्र, द्रमिल शबर तथा चाण्डाल।

इस प्रकार यहाँ विभिन्न जातियों के जो नामोल्लेख प्राप्त हो रहे हैं, इनकी जातिभाषा का नाट्यप्रयोग में निषेध कर उसके स्थान पर प्राकृत का प्रयोग दिखलाया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ भाषा का विधान किसी पात्र की जाति से न रखते हुए उसके प्रदेश से किया गया है। यहाँ यह भी स्पष्टतः कहा गया है कि नाट्यप्रयोक्तागण इस बात में स्वतन्त्र हैं कि वे अपनी सुविधानुसार तथा देशकाल को ध्यान में रखकर स्थानीय भाषाओं का प्रयोग करें; जैसे—मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका तथा दाक्षिणात्या। इससे एक तथ्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि नाटकादि में स्थित प्राकृत सदा एक लचीली स्थिति में रखी गयी थी तथा यह अपनी प्राचीन मूलस्थिति को पूर्णतः सुरक्षित नहीं रख पायी। इसके विरुद्ध यह भी तथ्य है कि संस्कृत भाषा में ऐसी स्थिति नहीं रही और वह अपनी स्थिति को बनाए रही। यह कल्पना हमें नाटकों के संभाषण या संवादजन्य विभाग की (जो संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में होता था) सही और प्राचीनयुग की उनकी स्थिति को प्रतीत करवा देता है।

साहित्य:—नाट्यशास्त्र का भारतीय साहित्यशास्त्र के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। नाट्यशास्त्र में प्रथम बार सार्वप्राचीन रूप में

छन्दों तथा अलङ्कारों, गुण, वृत्ति, रस, भावादि का जो विवरण मिलता है वही इस विषय के अध्ययन को आधार प्रदान करता है। यही बातें 'रससिद्धान्त' के विषय में भी कही जा सकती हैं जो नाटचप्रयोग के प्रस्तुत करने तथा इनकी उत्तमता के न्यायपूर्ण निश्चय के लिये यहाँ कही गयीं। इस विवरण ने काव्यशास्त्र के सभी पक्षों तथा रचनाओं में चर्चित आलोचना-सिद्धान्तों में अतिशय प्रमुखता तथा महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की।

मनोविज्ञान :—नाटचशास्त्र में नाटचरचना तथा नाटचप्रदर्शन के दुहरे महत्त्व को ध्यान में रख कर मनुष्य की मानसीदशाओं का विवरण दिया गया है जो मनोविज्ञान के अनुकूल है (तथा इस विषय का प्रतिपादक यह प्राचीन ग्रन्थ है)। नाटचशास्त्र में दिया गया नायक तथा नायिकाओं का विवरण तथा वर्गीकरण उनकी मनोवैज्ञानिक प्रकृति के अनुरूप है। यह इस विषय के महत्त्व तथा इसके ऐसे प्रवेश को प्रमाणित करता है जो नाटचकला का एक रचनात्मक एवं सशक्त पक्ष है। इसमें सभी विषयों के उचित ज्ञान तथा सभी संभव प्रतिक्रियाओं को (जो पात्रों के विविध स्वभाव, चरित्र, घटना तथा वातावरण के कारण हो) दिखलाया गया है। यह उन प्रयोगों को भी सफलता दिखलाता है जो चरित्रांकन से प्राप्त हों। सभी भारतीय सिद्धान्तकारों ने एक साथ भरत के मानस विवरण या मनोविज्ञान की स्थिति को मान्य किया है। यह अतिप्राचीनकाल से ही खोज लिया गया था कि वस्तुनिष्ठ या विषयनिष्ठ स्तर-जो श्रेष्ठता के लिये आधार होता है तथा जो भौतिकतत्त्वों में रहता है वह—जब कला से सम्बद्ध हो तो मनोविज्ञान सम्मत स्थिति प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त भरत का यह विवरण कि रंगमंच का निर्माण नाटच लेखक के विविध कलागत प्रतिमानों के तथा अभिनेताओं के अनुरूप होना चाहिए—जो कि विभिन्न स्तर के दर्शकों को सफलता पूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करे—तो यह मनोवैज्ञानिक है। ऐसी कल्पना से यह भी विचार आता है कि रस और भाव की स्थिति क्या है? यह नाटचप्रयोग तथा आलोचना के लिये अति महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार नाटचरचना के लिये भी यही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह भी इसी पर निर्भर है। इससे हमें एक अन्य लाभ यह भी है कि ऐसा होने पर किन्ही घिसे पिटे या बने बनाए तथ्य या वस्तु को ले लेने की अनुमति नहीं मिलती तथा यह दर्शकों के लिये विचारत या दृष्टिकोण को भी एक ऐसा आधार प्रदान करता है जो कि एक दूसरे से चाहे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के विभेद के कारण भिन्नता या भिन्नरुचि ही रखते हों। इसी कारण

भारतीय साहित्य में भरत के ये सभी विवरण विशिष्ट स्थान प्राप्त किये हुए हैं यह स्पष्ट है।

लोकप्रथा, आभूषण तथा उनके विवरण:—नाट्यशास्त्र के २३ वें अध्याय में पुरुष तथा नारी के शरीर के अलंकरण हेतु उपयोग में आने वाले वस्त्र तथा आभूषणों के भी विवरण दिये गये हैं। ये उल्लेख समाज विज्ञान के लिये अतिशय मूल्यवान् हैं तथा महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हैं यह बात निस्सन्दिग्ध है। नाट्यशास्त्र में इस विषय पर भी अन्य बातों की तरह सभी (पूर्णतायुक्त) विवरण दिया गया है। इससे भलीभाँति हमें यह विदित हो जाता है कि विभिन्न प्रदेशों की नारियाँ किस प्रकार अपनी केशसज्जा किया करतीं थीं तथा वे रंगों के चुनाव तथा धारण किये जाने वाले वस्त्रों के रंग आदि में कैसी रुचि रखतीं थीं। इसी प्रकार पुरुषों के आच्छादन तथा रंगों की स्थिति है। इस प्रकार इसमें दिये गये आभूषणों के विवरणों से भी (जो कि पुरुषों तथा नारी पात्रों के द्वारा धारण किये जाते थे) हमें प्राचीन भारत के भव्य एवं आकर्षक स्वरूप का सुरुचिपूर्ण चित्र उपस्थित-सा उपलब्ध हो जाता है जो विधान के कारण सम्पाद्य भी है।

कला:—नाट्यशास्त्र से हमें नृत्य, नाटय तथा संगीत जैसी कलाओं का ही केवल परिज्ञान नहीं होता किन्तु चित्र एवं स्थापत्यकला का भी महत्त्वपूर्ण ज्ञान मिलता है जो अध्येय है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में एक स्थान पर[1] बतलाया गया है कि चित्रकला के शास्त्रीय सिद्धान्त को नृत्य से पूर्ण परिचय रखे बिना जाना नहीं जा सकता। भारतीय नाटक के विषय में जो पूर्व में दिखलाया गया है कि यह कला भी नृत्य के विशिष्ट ज्ञान पर निर्भर है—अतः भारतीय नाटक इसी कारण अपनी प्रमुख स्थिति रखता है। इसी प्रकार चित्रकला के सिद्धान्त तथा प्रतिमा-निर्माण या शिल्पशास्त्र के विज्ञान भी नाटचशास्त्र से गहरी सम्बद्धता रखते हैं तथा ये तीनों कलाएँ एक दूसरे से अतिशय सम्बद्ध हैं। इसी कारण नाटचशास्त्र में इन तीनों ही कलाओं के उपादेय विवरण दिये गये जो अतिशय महत्त्व के हैं। और यह स्वाभाविक है कि नाटचशास्त्र में पुरुषों के वैष्णवस्थान, समपाद, मण्डल, आलीढ़ तथा प्रत्यालीढ़ का तथा इसी प्रकार स्त्री पात्रों के स्थानों का भी विवरण (ना० शा० अध्या० १३।१५०-१७०) है। भावप्रदर्शन के उपयुक्त विभिन्न भंगिमाओं तथा अन्य हस्त आदि मुद्राओं का जो विवरण है ये सभी शिल्पशास्त्र तथा

---

१. विष्णु० ध० पुरा० ११।२-४

चित्रकला के अध्ययन में पर्याप्त सहायक हैं तथा ये मुद्राएं इनमें आधार भी बनती हैं। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि एक मध्यकालीन विश्वकोषात्मक ग्रन्थ समराङ्गणसूत्रधार भी (जिसे धाराधीश भोज ने लिखा था) जब प्रतिमा निर्माण के नियम अथवा सिद्धान्तों का विवरण देता है तो वह लगभग नाट्यशास्त्र की न केवल भाषा वरन् उनके हस्त-मुद्रा-विवरणों को भी अपना आधार बना कर तथ्यों को प्रकट करता है।

वैशिक शास्त्र या कला :—नाट्यशास्त्र में लगभग अनेक (विभिन्न अध्यायों के) स्थानों पर कामतन्त्र का उल्लेख तो हुआ ही है परन्तु विषय-गत महत्ता एवं लोकरुचि के आग्रह पर एक पूरे अध्याय में पृथक् रूप से 'वैशिक' का विवरण दिया गया है। ऐसा करना इसलिये भी आवश्यक है कि नाट्यरचनाकार को स्त्रीपात्रों तथा पुरुषों के चरित्र तथा प्रकृति का आलेखन करने में आधारभूत ज्ञान की पूर्ति हो सके। इसके द्वारा काम-शास्त्र के ऐसे सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है जो प्राचीन किसी शास्त्र या लोक-परम्परा में प्रचलित कामतन्त्र में विद्यमान थे। इनको आधार बनाकर ही कदाचित् वात्स्यायन मुनि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कामसूत्र' की रचना की होगी जिसका आलेखन ईसा पूर्व चतुर्थशती में हुआ था।

नाट्यशास्त्र में स्त्रियों को उनके शीलादि के आधार पर २४ भेदों में विभक्त किया गया। इसी तथ्य को व्यवस्थित कर वात्स्यायन ने स्त्रियों को चार वर्गों में विभक्त किया। भरत ने कामतन्त्र शब्द का प्रयोग किया है; कामसूत्र का नहीं क्योंकि इसका अस्तित्व ही उसके बाद में आया था। यह भी संभव है कि नाट्यशास्त्र उस समय लिखा भी गया हो तो भी उसे वात्स्यायन के ग्रन्थ का ज्ञान न रहा हो, पर ऐसा मानना एक दम तथ्यों के विपरीत होगा। कामसूत्र के अनुशीलन से एक संकेत ऐसा अवश्य मिलता है जो कम से कम कामसूत्र के रचनाकाल के निर्धारण का एक तथ्य है। इसमें समयानुकूल भाषा के प्रयोग करने के उपाय को दिखलाते हुए बतलाया कि :—

नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयन् लोके बहुमतो भवेत्[1]॥

इससे यह स्पष्ट (प्रतीत) हो जाएगा कि कामशास्त्र की रचना के समय संस्कृतभाषा का लोकभाषा या देशभाषाओं के साथ कम या

---

१. वात्स्या०, कामसूत्र— १,४।२०

अधिक मात्रा में व्यवहार होता था तथा सामान्यतः प्रजा में इनमें से किसी एक का व्यवहार अधिक पसन्द नहीं किया जाता था। जब कि नाट्यशास्त्र में वर्णित जातिभाषा का अधिकांश प्रजा के द्वारा व्यवहार होता था और ऐसी स्थिति में ही यह बात हो सकती थी तथा ऐसा समय पाणिनि से अधिक बाद में नहीं हो सकता। कामसूत्र के ऐसे विवरण के आधार पर श्री जेकवी ने कामसूत्र का स्थितिकाल पाँचवीं शती ईसापूर्व के उत्तरार्ध को अन्तिम सीमा मानकर कामसूत्र का रचनाकाल भी ईसापूर्व चतुर्थशती माना। कुछ विद्वान् कामसूत्र का लेखनकाल तीसरी शती ईसवी मानते हैं पर वे यह तथ्य ध्यान में नहीं रखते कि इस समय संस्कृत भाषा लोकव्यवहार से छूट गयी थी तथा उस समय इसका व्यवहार साहित्यलेखन तथा राजकीय कार्यों में किया जाता था। यह समय देशभाषा के मिश्रप्रयोग के अनुकूल नहीं था जो कि उपर्युक्त वात्स्यायन के उद्धरण के आधार पर भाषाप्रयोगों को दिखलाता हो। अतः स्पष्ट है कि वात्स्यायन का स्थितिकाल ईसापूर्व चतुर्थशती था तथा भरत का नाट्यशास्त्र इससे पश्चाद्वर्ती नहीं हो सकता जिसके कारण उपर्युक्त हैं। ये ही तथ्य उसके रचनाकाल को भी संकेतित करते हैं, यह स्पष्ट है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा भरत :—नाट्यशास्त्र में अपने विषय-निरूपण के बीच कभी-कभी आकस्मिकरूप में अनेक ऐसे विषयों पर भी विचार मिलता है जो अर्थशास्त्र के विषयों का औचित्य रखते हैं। जैसे इसमें एक राजा के आदर्शगुण या योग्यता का विवरण दिया जाना और राजा के महत्वपूर्ण अधिकारियों के स्वरूप भी जैसे सेनापति, पुरोहित, मन्त्री, सचिव प्राड्विवाक (न्यायाधीश Judge), कुमाराधिकृत तथा सभासद। ये सभी विवरण भरत ने किसी प्राचीन अर्थशास्त्र से लिये थे सम्भवतः बृहस्पति के अर्थशास्त्र से, जिसका नामतः उल्लेख नाट्यशास्त्रकार ने किया भी है। इस सन्दर्भ में भरत द्वारा प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्द विशेष विचार-सापेक्ष हैं। उदाहरणार्थ नाट्यशास्त्र में जिस 'सभास्तार' का उल्लेख है उसकी व्याख्या व्यासस्मृति में 'ऐसे राजसभा में अवस्थित व्यक्ति' से है जो धार्मिक आचार तथा चरित्र आदि की विचार पूर्वक व्याख्या देता हो (धर्मवाक्यः)। इसी शब्द के महाभारत में प्रयुक्त होने पर इसके व्याख्याकार नीलकण्ठ ने अन्य व्याख्या भी की है[1]। नीलकण्ठ के अनुसार सभास्तार ऐसी सभा में स्थित

१. द्रष्टय—महाभारत—४।१।२४

सदस्य को कहते हैं जो कि द्यूतमें रुचि लेता हो। नाटचशास्त्र में जिस रूप में 'द्वाःस्थ' का वर्णन है वही कौटिल्य ने लिया है जो कि कौटिल्य के मत में दौवारिक है। यहाँ ऐसे स्नातक की नियुक्ति की जाती थी जो ब्राह्मण नियमपूर्वक वेदों का अध्ययन पूर्ण कर चुका हो। यह विवरण हमें मौर्यों की उत्तरभावी शुङ्गों के उदय की स्थिति का भी संकेत देता है। प्रो० सिल्वालेवी ने पुष्यमित्र शुङ्ग का विवरण देते हुए बतलाया कि उनके यहाँ मूलतः दौवारिक स्नातक ही होता था। दौवारिक का उसने व्यापकभाव में अर्थ भी A Mayor of the Palace दिया है। इसके अतिरिक्त इसमें एक अन्य शब्द है 'कुमाराधिकृत' जो कौटिल्य ने कुमाराध्यक्ष शब्द से दिखलाया है। गुप्तकाल में इसी शब्द का 'कुमारामात्य' पद से व्यवहार होता था।

नाट्यशास्त्र तथा भास :—नाटचशास्त्र में दिये गये नियमों का दृढ़ता से अनुगमन न करने की कल्पना या आधार को लेकर कभी-कभी भास की प्राचीनता को भरत से पूर्ववर्ती दिखलाने का कुछ विद्वानों ने प्रयत्न किया है। इसमें यह तर्क भी दिया जाता है कि भास के भरत के पूर्ववर्ती होने के कारण उसके द्वारा अपने उत्तरवर्ती नाट्य–सिद्धान्तों का अवलोकन संभव नहीं था परन्तु यह तार्किकता उनके मत को नीतिसम्मत एवं मान्य नहीं बनाती। इसके विपरीत यही मानना अधिक सरल है कि नाट्यशास्त्र का आधार (अपने से पूर्व अस्तिमत्व में आने वाले नाटचसाहित्य) सामान्यतः सभी का उत्पादन करना है जो इसके पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निर्दशित थे। इसलिये यदि यह तर्क किया जाए कि भास के पश्चात् नाटचशास्त्र की रचना हुई है तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि भास की कृतियों के अनुरूप नाटचशास्त्र में नियम क्यों नहीं रहे उसके विपरीत ही क्यों हो गये। हम यहाँ ऐसे स्थल दे रहे हैं जहाँ भास ने नाटचशास्त्र के नियमों का अनुगमन नहीं किया था यथा—।

(१) सूत्रधार द्वारा नाटक का आरम्भ करना; जब कि नाटचशास्त्र के अनुसार स्थापक इस कार्य को सम्पन्न करता है।

(२) नाटचशास्त्र के निषेधों को ध्यान में न रख कर भास द्वारा अभिषेक नाटक तथा प्रतिमा नाटक में मृत्यु के दृश्य को दिखलाना।

(३) मध्यमव्यायोग तथा दूतघटोत्कच में भास ने अन्त में नियमानुसारी भरत वाक्य ही नहीं रखा तथा उसके स्थान पर जो मिलता भी है वह एक भिन्न प्रवृत्ति है।

(४) अभिषेक में वरुण का रंग नीला दिखलाया गया है जब कि नाट्यशास्त्र में देवों का वर्ण गौर या श्वेत निर्दिष्ट था।

परन्तु इसके विरुद्ध यह बात मानने के अच्छे आधार भी विद्यमान हैं जिनसे यह निश्चय किया जा सकता है कि भास नाटचशास्त्र से खूब परिचित थे। जैसे—अविमारक (अंक २–३८, ३९) में ही एक हास्य प्रसंग में विदूषक रामायण के साथ नाटचशास्त्र को मिला देता है। इसलिये यह भी विचार किया जा सकता है कि इसी नाटचशास्त्र को अपने मूलभाव में यहाँ कहा गया है या उसका सन्दर्भ दिया गया है। यह विचार भी पूर्णतः शक्ति या सामर्थ्य से हीन प्रतीत होता है जब कि नाटचशास्त्र ऐसे शब्दों के कठोर प्रयोगों का निषेध करता है जैसे 'चेक्रीडित' इत्यादि। परन्तु भास के रूपकों में सचमुच ऐसे ही शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।[1] इसे एक तथ्य होने पर भी हम बिना किसी विकल्प के इसलिये नहीं ले रहे हैं कि यह नाटचशास्त्र में एक प्रक्षिप्त अंश है। क्योंकि यह पाठ इस प्रकार के नियम की ध्वनि मात्र है तथा यहाँ सामान्यतः प्रयुक्त यह पद्य श्लोक या आर्या में भी नहीं किन्तु वसन्ततिलका छन्द में है जो कि दो बार साथ-साथ एवं निकट ही रखे गये हैं। इसी कारण यहाँ यह एक उत्तरकालीन प्रक्षेप हो सकता है। इसके अतिरिक्त अब हम यहाँ भास के द्वारा उल्लेख की गयी कुछ ऐसी नाटचशास्त्रीय परिभाषाओं को प्रस्तुत कर रहे हैं जिनसे भास का नाटचशास्त्र के नियमों से परिचय प्रकट होता है।

(१) इस प्रकार की पारिभाषिक पदावली के शब्द भास द्वारा प्रयुक्त हैं। यथा—सौष्ठव, प्रस्तावना, सूत्रधार, प्रेक्षक, चारी, गति, भद्रमुख, हाव, भाव, भाषा, मारिष, नाटकीया, पाठ तथा रङ्ग।

(२) 'चारुदत्त' में विट का कण्ठगत स्वरपरिवर्तन की दक्षता का शकार को दिखलाना भी नाटचशास्त्र के काकुस्वरविषयक (ना० शा०, अ० १९।३९) विवरण को दर्शाता है।

(३) चारुदत्त में विट स्वगत भाषण में कहता है 'मैं इस अन्तःपुर में प्रवेशार्थ अनुमति पा गया हूँ' यह नाटचशास्त्र के २०।५४ के सन्दर्भ को दर्शाता है। इसी प्रकार 'कालसंवादिना नाटकेन' भी नाटचशास्त्र के २७।८८ सन्दर्भ को प्रकट करता है।

---

१. अवि० (अ० ३।१८)।

(४) इसके अतिरिक्त चारुदत्त में—'नृत्तोपदेशविशदा' तथा 'अभिनयति वचांसि सर्वगात्रेषु' (चारु० १।६ तथा १।१६) से नाटचशास्त्र के विस्तीर्ण नृत्यविषयक विचारों तथा मुद्राओं के प्रयोग का सम्बन्ध स्पष्टतः दिखता है।

इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर यह पूर्णतः माना जा सकता है कि भास को समग्ररूप में नाटचशास्त्र विदित था जो भरत प्रणीत है।

इस प्रकार नाटचशास्त्र से भास की उत्तरभाविता स्पष्ट होती है फिर भी न तो हम शीघ्रता में कोई निश्चय यहाँ भास के स्थितिकाल का नहीं दे रहे हैं, क्योंकि इस विषय में विद्वानों का एक वर्ग बिना किसी आधार के ही इस नाटचकार भास को अतिशय प्राचीन मानते हुये श्री टी० गणपति शास्त्री के प्राचीनता के लिये दिये गये तर्कों को ही माने बैठा है। इसलिये ऐसे समय इस विषय पर कुछ कहना आवश्यक है। नाटचशास्त्र तथा भास के सभी नाटकों के बारीकी से अध्ययन करने के उपरान्त हमें पूर्णतः यह सन्तोष हो चुका है कि श्री टी० गणपति शास्त्री ने भास के स्थितिकाल के निश्चयार्थ पर्याप्त उपयुक्त तर्क दिये थे। इसी कारण इनके निष्कर्ष को बड़ी योग्यता से डॉ० ए० डी० पुसालकर वे अपनी 'भास—एक अध्ययन' पुस्तक में दिया है। हम उनके ऐसे कुछ निष्कर्ष से अपनी सहमति रखते हैं यथा—

"भास की प्रवाहपूर्णभाषा तथा उनकी संक्षिप्त संवादशैली से—जो कि सरल है, ललित है तथा प्रयोग योग्य है—हमें यह विचार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि भास के समय संस्कृत बोल चाल की भाषा थी तथा इसी कारण हम भास को पाणिनि से उत्तरभावी मानते हैं तथा भास के उपरान्त ही पाणिनि के व्याकरण ने दृढ़ता की स्थिति प्राप्त की थी अतः संभवतः कात्यायन के पूर्ववर्ती काल को भास का स्थिति काल मानना पड़ता है।"[1]

जब सम्प्रति भास के प्राप्त मूल नाटकों की प्राकृतभाषा ईसा की तीसरीया चौथी शती की दिखाई देती है अतः इस विषय पर भी विचार आवश्यक है। यह देखा गया है कि नाटकों की प्राकृतभाषा सदा ही एक लचीली स्थिति में देखी गयी है। आरम्भ से ही प्राकृत एक अलग भाषा के रूप में मान्य नहीं रही किन्तु सम्भाषण या संवाद का एक आंशिक प्रकार मानी गयी थी। यह

१. द्रष्टव्य—A. D. Pusalkar—Bhasa—A Study, पृ० ६१

वही समय था जब भास के नाटकों का निर्माण हुआ, इनमें प्राकृतभाषा की वर्णरचनाप्रक्रिया संस्कृत से अधिक भिन्नता लिए हुए नहीं थी। इसी कारण भास के नाटकों की प्राकृतभाषा में विद्यमान वर्तमान स्वरूप को हमें हस्तलिखित-ग्रन्थों के लेखन परम्परा के काल को आधार बना कर स्वीकार करना पड़ेगा न कि उन प्राकृतों के भास द्वारा लेखन को। तथा इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से उपरिवर्णित विचारों के प्रकाश में नाट्यशास्त्र को ईसापूर्व पाँचवी शती में मान रहे हैं क्योंकि भास ने अपने नाटकों की रचना ईसापूर्व ३५० से ४०० के मध्य की थी। यह विचार अन्य तथ्यों के विनिश्चय में भी उपयुक्त पड़ता है यहाँ तक कि भास का कौटिल्य के साथ कालक्रमानुसारी सम्बन्ध स्थापित करने में भी, जिससे एक उद्धरण अर्थशास्त्र में भास का ही दिया है। यहाँ कुछ विद्वान् यह भी तर्कना करते हैं कि प्रतिज्ञायौगन्धरायण में जो पद्य—'नवं शरावं' (प्र० ४।२) इत्यादि को कौटिल्य ने उद्धृत किया वह एक सुभाषित पद्य है जो प्रसिद्धि प्रवाह प्राप्त है। इसकी चाहे इस नाटक में या चाहे यह एक आनुवंशीय लोकप्रिय पद्य के रूप में ही प्रस्तुत किया गया हो, एक निरर्थक विवाद है क्योंकि जो भास अनेक सुन्दर पद्यों की रचना में समर्थ है वह अपने नाटक में परम्पराप्राप्त अन्य के पद्य को क्यों लेगा जो सामान्य उपयोग में आने वाले किसी भी साधारण पद्य से अधिक मूल्य नहीं रखता। अतः यह स्पष्ट है कि यह पद्य भासरचित ही है जिसे कौटिल्य ने ही उद्धृत किया था।

पुराकथा-शास्त्रीय तथ्य तथा नाट्यशास्त्र—नाट्यशास्त्र में अनेक देवगण, देवियाँ, यज्ञ आदि का विवरण दिया गया है जिसका भारत के धार्मिक इतिहास में अतिशय महत्व है। हम यहाँ उन्हें भी अपने विचार की परिधि में ले रहे हैं।

इनमें भूतलवासी देवात्मक प्राणियों में सर्प (ना० शा० १।१०, ६२, ६३, ६५; ३।७, २६; ४।२६१; ५।५२; ३३।२२१), पक्षी (ना० शा० ३।२८) तथा जल (ना० शा० १।८६; ३।७; ४।२६०) हैं।

भूतगण या विशिष्ट जाति के तामस वर्ग में राक्षस (ना० शा० १।१०, ८२; ३।२७; ५।४८; ३३।२३२), पिशाच (ना० शा० १।९० ३।२६), यक्ष (ना० शा० १।१०, ६२, ९०; ३।२६; ३३।२३२), गुह्यक (ना० शा० १।९०, ३।२६; ५।४८), असुर, दैत्य, दानव(ना० शा० १।१०, ६४, १२०; ५।४१, ४७; १२।१६; ३३।२३२) तथा पितृगण (ना० शा० ३।२६ तथा ५।५२) आते हैं।

इसमें आठ प्रमुख देवताओं में—(१) सूर्य (ना० शा० १।६०, ८४; ३।५, २४), (२) चन्द्र (ना० शा० १।८३; ३।५, २४; ५।५१, १०८; ३३।२२१), (३) वायु (ना० शा० १।६०; ३।२८), (४) अग्नि (ना० शा० १।८४; ३।६), (५) यम (ना० शा० १।८८; ३।६; ४।२६०; ५।६६), (६) वरुण तथा सागर (ना० शा० १।६०, ८४, ८६; ३।७; ३३।६६), (७) इन्द्र (ना० शा० १।११, २१, ५६; ३।४, २६; ४।२५६; ३४।५३), तथा (८) कुवेर (ना० शा० १।६१; ४।२६१; ५।६७) एवं भूतल रक्षक देवता (आठों सम्मिलित रूप में) (१।२४, ५४, ११०; ३।५०) हैं।

इसी प्रकार अन्य देवादि गणों में गन्धर्व, (ना० शा० १।१०; ३।७; ५।४६), अप्सरस् (ना० शा० १।४६, ८६; ५।४६), काम, (ना० शा० ४।२५६), अश्विनी (ना० शा० ३।५, २४), मरुत् (ना० शा० १।८३; ३।५), रुद्र (ना० शा० १।८५; ३।६ तथा ३।२५ आदि), विश्वेदेवा (ना० शा० ३।२५, ३७) तथा आदित्य (ना० शा० १।८५) है।

दिव्य ऋषिगण में तुम्बुरु (ना० शा० ३।६०), वृहस्पति (ना० शा० ३।४; ३४।६८; ३५।५६), नारद (ना० शा० १।५०, ५२, ६०; ५।३८; ३६।७०), विश्वावसु (ना० शा० ३।६०, ६१) तथा स्वाति (ना० शा० १।५०–५२) है।

पृथ्वी में स्थित ऋषि तथा भूपालों में बलदेव (ना० शा० ४।२६१), नहुष् (ना० शा० ३६।५२) तथा सनत्कुमार (ना० शा० ३।५१) हैं। त्रिदेवों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। यथा—ब्रह्मा (१।७, ६०; ३।४, २३; ४।१, ६, ८, ११, १६; ५।६६, १०१; २२।६, ८, २०; २३।२२३, २६३), विष्णु (ना० शा० १।६०, ६२; ३।४, ७, २४; ४।२५६; ५।६६, १००; १२।२, ८, ६, ११, १६; ३३।२२३, २६३) तथा शिव (ना० शा० १।१, ४७, ६०; ३।४, ७, २३; ४।५, ६, १०, ११, २५८, २६२; ५।६६, १०१, १०२; ३३।२२३, २६३)

अन्य देवगणों में कार्तिकेय (ना० शा० १।६२; ३।४, २४; ४।२६०), शङ्कुकर्ण (ना० शा० १।३०; ३३।२६२) वज्रेक्षण (ना० शा० ३३।२७२), विश्वकर्मा (१।७; २।३), महाग्रामणी (१। ; ३३।२७२) तथा देवियों में सरस्वती (१।४५; ३।५, २४), लक्ष्मी (ना० शा० ३।५, २४; ४।२६०), उमा (पार्वती, चण्डिका) (ना० शा० ४।२५८; ५।५४ आदि), सिद्धि,

मेधा, स्मृति, मति (ना० शा० ३।५, २४) तथा नियति (ना० शा० १।८८; ३।६)।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में आनेवाले इस विवरण से देवशास्त्रीय तत्वों का रामायण तथा महाभारत से यदि समीकरण करें तो प्रतीत होगा कि इनमें अधिकांश में समानता दृष्टिगोचर होती है। और यहाँ यह भी विचार करना पड़ेगा कि इन दोनों ही ग्रन्थों से आकार में नाट्यशास्त्र अपेक्षाकृत अधिक छोटा है। फिर भी यह समानता बड़ी ही प्रेरक है जिससे यही कल्पना होती है कि नाट्यशास्त्र का आलेखन उस समय हुआ है जब इन दो प्रसिद्ध ग्रन्थों की प्रसिद्धि हो चुकी थी। अतः अब इसका स्थितिकाल अन्तिमरूप से क्या हो? इस विषय पर विद्वानों में[1] ऐकमत्य यद्यपि नहीं है किन्तु समीक्षकों के इस पर किये गये विश्लेषक विचार तथा निष्कर्ष इस विषय पर थोड़ा मार्गदर्शन करते हुए इस पर प्रकाश डालते हैं। इनमें सर्वप्रथम हम बाल्मीकि रामायण को लेते हैं। इस पर श्री जेकबी ने कुछ सशक्त तर्क रखते हुए इसका रचना-काल बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्ववर्ती माना था किन्तु श्री विंटरनित्स ने इसे स्वीकार न करते हुए तथा श्री जेकबी के विचारों का प्रतिरोध कर कुछ ऐसे तर्क प्रस्तुत किये जो स्वीकारयोग्य थे। इन्होंने बतलाया कि राम का आख्यान ईसा पूर्व तीसरी शती में विद्यमान ही नहीं था और बाद में उन्हीं ने अपना ही यह विचार बदल कर कहा कि यह संभव है कि रामायण की रचना ईसा पूर्व तीन सौ में हुई होगी।' इसे देखकर ऐसा लगता है कि यहाँ वे किसी निश्चित विचारभूमि का आधार लेकर चल रहे हों। यहाँ उनने पतञ्जलि के महाभाष्य में उद्धृत एक पद्य प्रस्तुत किया जिसे महाभाष्य के सम्पादक श्री कीलहार्न ने[2] रामायण के युद्धकाण्ड से उद्धृत बतलाया। अतएव यदि पतञ्जलि के समय रामायण विद्यमान हो तो फिर यह ईसा पूर्व ३०० से अधिक काल की नहीं किन्तु उससे प्राचीन ही ठहरती है। जहाँ तक महाभारत का सम्बन्ध है श्रीविंटरनित्स ने बतलाया कि महाभारत का अस्तित्व ईसापूर्व चौथी शती में विद्यमान था। अतः इससे यह सरलता से प्रतिपादित हो जाता है कि इन दोनों ग्रन्थों की रचनाओं से समानता रखने वाला ग्रन्थ 'नाटयशास्त्र' भी

---

१. द्रष्टव्य—विंटरनित्स—History of Indian Literature vol. I, पृष्ठ ४५४-५००।

२. रामायण—बम्बई संस्करण युद्धकाण्ड अध्याय १२८

अपने देवशास्त्रीय विवरण के आधार पर लगभग ४५० ईसापूर्व में अस्तित्व में अवश्य रहा होगा यह मानना सरल हो सकता है।

देवशास्त्रीय तत्वों के सामान्य सर्वेक्षण पर विचार किये जा सकते हैं यह (यद्यपि) सही है किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ महत्वपूर्ण अंशों के विस्तीर्ण परीक्षण सहायक हैं अतः सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के मंगलाचरण पद्य को लेगें जिसमें पितामह ब्रह्मा तथा महेश्वर शिव का एक साथ उल्लेख होने से सर्वप्रथम इसी पर हमारा ध्यान जाता है। यह हमें ज्ञात है कि साहित्य में वैदिकयुग के बाद के ग्रन्थों में ब्रह्मा का भक्तिपूर्वक प्रणाम करने के उल्लेख कहीं-कहीं मिलते हैं तथा धार्मिक क्षेत्र में तो उन्हें शिव और विष्णु के बाद ही रखा जाता है। इसलिये यह विचार असंगत नहीं कि नाट्यशास्त्र का आलेखन ऐसे समय हुआ था जब[1] वैदिकयुग अपने संक्रमण काल में चल रहा था तथा जिसे हम पौराणिक युग भी कहते हैं। नाटचशास्त्र ही ऐसा ग्रन्थ है जहाँ ब्रह्मा की भक्ति एवं आदर से ग्रन्थकार द्वारा बन्दना की गयी तथा इन्ही के समकक्ष शिव की भी जो अतिप्राचीन भारतीय देव हैं।

नाटचशास्त्र में श्री विष्णु की स्थिति भी कम कौतूहलपूर्ण नहीं रही है। यद्यपि इनका मंगलपद्य में उल्लेख नहीं है परन्तु इन्हें एक पुराकथा देते हुए वृत्तियों के उद्‌गम के प्रसंग में महत्वपूर्ण स्थान पर आसीन किया गया है। श्री विष्णु का दो असुरों (मधु तथा कैटभ) से युद्ध हुआ उसी समय उनसे वृत्तियों की उत्पत्ति हुई थी। भारतीय नाटकों के इतिहास में यह श्रीविष्णु तथा उनके अवतार कृष्ण आदि की स्थिति की भी पुष्टि करता है। इससे यह तथ्य भी उजागर होता है कि इस इतिहास की किसी निश्चित अवस्था विशेष के कृष्ण एवं उनके समर्थक विचिन्तकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है किन्तु कृष्ण का नाम नाटचशास्त्र में नहीं है जो आश्चर्य ही है क्योंकि इसमें बलराम का नाम दो बार आता है। इसलिये यह तो पूर्णरूप से माना जा सकता है कि नाटचशास्त्र के रचयिता को कृष्ण का नाम भी अवश्य ज्ञात था। परन्तु श्रीकृष्ण का उल्लेख कदाचित् इसी कारण न किया गया होगा कि उस समय वासुदेव के रूप में उन्हें समग्र प्रजा तथा कृष्ण सम्प्रदाय में भली भाँति सभी जानते ही थे। क्या इससे यह संकेत नहीं मिलता कि 'नाटचशास्त्र' बहुत ही प्राचीन कालीन ग्रन्थ है'।

---

१. डॉ० मनोमोहन घोष के अंग्रेजी नाटचशास्त्र की प्रस्तावना से साररूप में यहाँ कुछ विवरण साभार लिया गया है—सम्पा०।

संगीत तत्त्व :—नाट्यशास्त्र में अनेक प्रसंगों में संगीत का उल्लेख मिलता है क्योंकि संगीत नाट्य की उपरंजक कला के रूप में अपना विशेष महत्व रखता है। संगीत के कण्ठ्य और वाद्य संगीत का विवरण पृथक् पृथक् रूप और विभागों को रखते हुए छः अध्यायों में (अर्थात् अध्याय २८ से ३३ तक में) किया हुआ है। इसमें नारदीय शिक्षा के विवरणों की छाया कदाचित् विद्यमान है। चतुर्थ भाग में इनसे सम्बद्ध सभी अंगों पर विवरण प्रस्तावना आदि में रखे गये हैं।

इस प्रकार इस तृतीयभाग में नाट्यशास्त्र के 'विंशति अध्याय से लेकर अध्याय सप्तविंश तक के विवरण तथा अन्य सम्बद्ध तत्वों की मीमांसा रखी गयी है। अगले (तथा अन्तिम) चतुर्थ-भाग में भी इसी धारा में अष्टाविंश अध्याय से षट्त्रिंश अध्याय तक का विवेचन रखा जाएगा। नाट्यशास्त्र भाग दो में निर्दिशित सरणि में प्रामाणिक पाठों तथा पाठान्तरों का आकलन इस भाग में भी रखा गया है। विषय की सुविधा को ध्यान में रखकर 'आहार्याभिनय' के अन्तर्गत वर्णित अलंकार आदि के रेखाचित्र भी इसमें लगा दिये हैं जिससे नाट्यशास्त्रीय पदार्थों को हृदयंगम करने में सहायता मिलेगी। परिशिष्ट एक के बाद सन्ध्यन्तरों का सोदाहरण विवरण विस्तीर्ण हो जाने के कारण नहीं दिया गया क्योंकि यह नाट्यशास्त्र की उत्तरभावी रचनाओं में उपलब्ध है। अतः अतिरिक्त टिप्पणियों में केवल इसका स्थलनिर्देश कर दिया गया जो अधिक सुविधाजनक है।

आभार-प्रदर्शन :—नाट्यशास्त्र के इस तृतीयभाग के लिये भी पिछलेदो भागों की तरह अनेक साहित्यविद्यानिष्णात सुधीजन का सहयोग, प्रोत्साहन तथा प्रेरणा मिलती रही है जिनका उपकार मान कर उन्हें धन्यवाद देना प्रथम कर्तव्य है। इनमें सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के पूर्व प्रकाशित सभी संस्करणों के सम्पादकों में काव्यमाला निर्णयसागर के नाट्यशास्त्र संस्करण के सम्पादक श्री वा० शा० पणशीकर तथा श्रीपरब, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी के नाट्यशास्त्र संपादक श्री बटुक नाथ शर्मा तथा श्री बलदेव उपाध्याय, गायकवाड ओरियेन्टल सीरिज के नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती सहित) के सम्पादक श्री म० म० रामकृष्ण कवि तथा कलकत्ता एशियाटिक सोसायटी से अंग्रेजी में प्रकाशित अनुवाद के साथ इन्ही के द्वारा संपादित मूल संस्कृत के सम्पादक श्री० डॉ० मनमोहन घोष के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके संस्करणों ने नाट्यशास्त्र के इस आलोचनात्मक संस्करण को

प्रस्तुत करने में आधार प्रदान किया। इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्रीय वाङ्मय के प्राचीन आकरभूत ग्रन्थकारों के प्रति भी विनम्र प्रणति पुरस्सर अधमर्णता को ग्रहण करते हुए अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। नाटचशास्त्रीय ग्रन्थों के आधुनिक समीक्षकों में श्री डॉ० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री (दिवंगत कुलपति, वारा० संस्कृत विश्वविद्यालय), डॉ० मनोमोहन घोष (सम्पादक-अंग्रेजी नाटचशास्त्र-कलकत्ता), श्री डी० आर० मांकड, गुजरात का विशेषतः आभारी हूँ।

नाटचशास्त्र के प्रकृत संस्करण के लेखनकाल तथा प्रकाशनकाल में प्रथम तथा द्वितीयभाग में अनेक सुधी जन के आशीष, सहयोग तथा आग्रहों का विवरण दिया जा चुका है। उसी क्रम में सर्वप्रथम मैं मध्यप्रदेश शासन के प्रति पुनः अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी सेवा में रह कर मैंने इस भाग का भी संपादन आदि कार्य पूर्ण किया। इसके अतिरिक्त नाटचशास्त्रीय तथा अन्य साहित्यिक अवदान के उपलक्ष में मेरा राजकीय सम्मान कर ताम्रपत्र एवं पाँचसहस्र रुपये प्रदान कर अभिनन्दन करने के कारण मैं मध्यप्रदेश राज्य की साहित्य एकादमी, मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् तथा उसके समस्त अधिकारीगणों का विशेषतः श्रीमान् अशोक बाजपेयी जी, शिक्षा सचिव, मध्यप्रदेश शासन, श्री डॉ० मनोहर वर्मा, श्री सुदीप बनर्जी, सचिव सा० परिषद् तथा श्रीपूर्णचन्द 'रथ' का विशेष आभारी हूँ तथा इन सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। साथ ही नाटचशास्त्र जैसे ग्रन्थ के लेखन काल में एकनिष्ट रह कर सभी प्रकार के सहयोग एवं शुश्रूषा के कारण अपने परिवार के सभी सदस्यों को भी धन्यवाद दे रहा हूँ।

अपने प्रकृत संस्करण के प्रकाशन एवं लेखन काल के समय सदा ही सहयोगादि के प्रदान करने अथवा अनेक विध सुझावों को देने के कारण मैं अपने सम्मान्य सुहृद्वर डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' (भूतपूर्व कुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन), श्री डॉ० कमलेशदत्त जी त्रिपाठी, संचालक, कालिदास अकादमी, उज्जैन, डॉ० प्रभातकुमार भट्टाचार्य, संचालक लोककला अकादमी उज्जैन, सुहृद्वर श्री गोवर्धन पांचाल, अहमदाबाद, डॉ० पुरुदाधीच, प्राध्यापक भातखंडे हिन्दुस्तानी संगीत महाविद्यालय, लखनऊ, श्री डॉ० राधावल्लभ जी त्रिपाठी, अध्यक्ष—संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर, डॉ० विद्यानिवास मिश्र आगरा, डॉ० पानुभाई भट्ट, अहमदाबाद,

डॉ० रुद्रदेवत्रिपाठी, रीडर, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, देहली, श्री सत्यपाल नारंग, प्राध्यापक दिल्ली विश्वविद्यालय, देहली तथा प्रो० श्री निवासदास रथ उज्जैन आदि का हृदय से आभारी हूँ।

इसी प्रसंग में मैं गोलोक वासी श्रेष्ठिप्रवर बाबूजयकृष्ण दास जी गुप्त का भी स्मरण कर रहा हूँ जिनकी ऐसे आकर ग्रन्थों के प्रकाशन की रुचि ने ही प्रकृत ग्रन्थ को प्रकाशन क्रम में संजोया था।

मैं चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी के संचालक भाई श्री मोहनदास जी गुप्त के प्रति भी आभारी हूँ जिनने अतिशय तत्परता के साथ नाट्यशास्त्र के इस प्रदीपव्याख्यान के शीघ्र मुद्रण को पूर्ण करवाया। मुद्रण कार्य को व्यवस्थित गति से सम्पादित करने के कारण विद्याविलास प्रेस, वाराणसी तथा उसके प्रेस संचालक के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

किं बहुना—

नाट्याम्नाय-नितान्ततान्तमनसामासेतुशीताचला-
क्षोणीमण्डलमध्यवर्तिविदुषामाभोगिनी चेतसाम्।
जीयादुक्ति-विवेकजालनिकरैः संशोधिता निस्तुलैः
गम्भीरा मधुरा प्रबोधजननी व्याख्या प्रदीपाभिधा ॥ इति।

विजयादशमी—२०३९ सुधीजनकृपाकाङ्क्षी
उज्जयिनी **श्री बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री**

ग्रन्थ संकेत

अभि० द०	: अभिनयदर्पण।
अभि० भा०	: अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र व्याख्या)।
अ० भा०	: अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र व्याख्या)।
का० प्र०	: काव्यप्रकाश।
काव्या० सू०	: काव्यालंकारसूत्र।
द० रू०	: दशरूपक।
ना० चं०	: नाटकचन्द्रिका।
ना० द० सू०	: नाट्यदर्पणसूत्र।
ना० शा०	: नाट्यशास्त्र।
ना० शा० सं०	: नाट्यशास्त्रसंग्रह।
भ० को०	: भरतकोश।
भा० प्र०	: भावप्रकाशन।
भ० अ०	: भरतार्णव।
भ० भा०	: भरतभाष्य।
म० भा०	: महाभारत।
र० गं०	: रसगङ्गाधर।
वा० रा०	: वाल्मीकिरामायण।
रसा० सु०	: रसार्णवसुधाकर।
शृ० प्र०	: शृङ्गारप्रकाश।
सर० क०	: सरस्वतीकण्ठाभरण।
सा० द०	: साहित्यदर्पण।
सं० र०	: सङ्गीतरत्नाकर।

सामान्य सङ्केत

अ०	: अध्याय।
अं०	: अङ्क।
का० सं०	: काशीसंस्करण।
चौ० सं०	: चौखम्बासंस्करण।
द्र०	: द्रष्टव्य।
नि० सा०	: निर्णयसागरसंस्करण।
गा० ओ० सी०	: गायकवाड़ ओरियेन्टल सीरीज, बड़ौदा।
श्लो० सं०	: श्लोक संख्या।
सं०	: संख्या।

—oo:o:oo—

विषयानुक्रमणिका

एकत्रिंशोऽध्यायः

सन्ध्यङ्गनिरूपण (श्लोक १–१३१)

द्वाविंश अध्याय

वृत्ति विधान (श्लोक १–६६)

त्रयोविंश अध्याय

आहार्याभिनय (श्लोक १–२१३)

चतुर्विंश अध्याय

सामान्याभिनय (श्लोक १–३३०)

पञ्चविंशोऽध्याय

षड्विंश-अध्याय

चित्राभिनय (श्लोक १–१३०)

सप्तत्रिंश अध्याय

नाट्यसिद्धिनिरूपण

(श्लोक–१–१०२)



श्रीभरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

'प्रदीप' हिन्दी-व्याख्योपेतम्

(तृतीयो भागः)

विंशोऽध्यायः

दशरूपकनिरूपणाध्यायः

[1]कथयिष्याम्यहं विप्रा दशरूपविकल्पनम् ।
नामतः कर्मतश्चैव तथा चैव प्रयोगतः ॥ १ ॥

मैं अब रूपकों के दस[1] प्रकारों को विभक्त कर उनके नाम, कार्य तथा प्रयोग के विधान का वर्णन करता हूं ॥ १ ॥

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ।
भाणः समवकारश्च वीथीप्रहसनं डिमः ॥ २ ॥
[2]ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो[3] नाट्यलक्षणे ।
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३ ॥

लक्षणों के अनुसार रूपकों के दस प्रकार होते हैं । यथा :—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) अंक[2] या उत्सृष्टिकाङ्क, (४) व्यायोग, (५) भाण,

---

१. रूपकों के विभेदों के विषय में प्राचीन आचार्य एक मत नहीं थे । फिर भी 'दश रूपक' सभी को इष्ट थे । अभि० गुप्त के अनुसार सट्टक, तोटक और रासक कोहलाचार्य द्वारा उद्भावित रूपक के अतिरिक्त प्रकार हैं । भोज ने रूपकों के बारह भेद (भरत ना० शा० में दी हुई नाटिका को मिलाते हुए) किये हैं जिनमें 'त्रोटक' का समावेश नहीं किया । रूपकों के विभिन्न प्रकारों के विस्तार तथा विवेचन के लिये प्रस्तावना द्रष्टव्य ।

२. 'अंक शब्द को नाटक के अंको के अर्थ में मुख्यतः ग्रहण किये जाने और प्रसिद्ध होने से उससे भिन्न रूपकों के भेद को बतलाने के लिए उसकी 'उत्सृष्टिकांक' संज्ञा की गई थी पर कालांतर में इसका अंक नाम ही बचा भी रहा और वही प्रचलित हो गया ।

---

१. वर्तयिष्या—क०, घ० ।

२. ईहामृगश्च विज्ञेयं दशमं नाट्यलक्षणम्—ग० ।

३. दशमो नाट्ययोक्तृभिः—क० ।

(६) समवकार, (७) वीथी, (८) प्रहसन, (९) डिम[1] तथा (१०) ईहामृग। अब मैं क्रमशः इनके लक्षणों को बतलाता हूँ॥ २–३॥

सर्वेषामेव काव्यानां[1] मातृका वृत्तयः स्मृताः।
आभ्यो विनिस्सृतं[2] ह्येतद्दशरूपं प्रयोगतः॥ ४॥

सभी नाट्यरचनाओं की वृतियां[2] मूलभूततत्व मानी जाती हैं। इनके प्रयोग द्वारा निस्सृत प्रकार ये दस–रूपक होते हैं॥ ४॥

जातिभिः श्रुतिभिश्चैव स्वरा[3] ग्रामत्वमागताः।
[4]यथा तथा वृत्तिभेदैः काव्यबन्धा भवन्ति हि॥ ५॥

जैसे स्वरों की जाति और [3]श्रुतियों से 'ग्राम' का निर्माण होता है, वैसे ही वृतियों का विभेद रूपकरचना (काव्यबन्ध) के विभिन्न स्वरूपों का निर्माता हो जाता है॥ ५॥

---

१. 'डिम' शब्द आपाततः ऐसा प्रतीत होता है मानों कोई अनार्य शब्द हो किन्तु यह 'डिम–संघाते धातु से निष्पन्न हुआ है जिसमें 'डिम' का अर्थ उस रूपक से है जिसमें नायक का घातप्रतिघातों से युक्त संघात-व्यापार हो।

२. काव्यों की उत्पादिका होने से वृत्तियाँ यहाँ मातृभूता कही गयी है क्योंकि वाच्यरूप में जो कवियों के हृदय में स्थित है वही काव्यरूप में उद्भूत होता है। इसके अतिरिक्त प्रयोगयोग्यता को भी ध्यान में रखते हुए रूपकों को 'वृत्तिप्रभव' कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि अभिनेय काव्य प्रत्यक्ष-भावना के योग्य वृत्तियों से ही सम्भूत होता है। इसी कारण मुनि ने रूपकों को वृत्तिप्रभव बतलाकर वृत्तियों को नाटयप्रयोग की जननी कहा है।

३. जैसे स्वरों के विभागों से ग्रामभेद होता है अर्थात् अंगो के विभेद से षड्जग्राम अन्य तथा मध्यमग्राम अन्य हो जाता है, इसी प्रकार वृत्तियों के प्राथम्य और गौणत्व को लेकर उनके विभेद हो जाने से रूपकों के भी विभेद हो जाते हैं।

---

१. नाट्यानां—क० काम्यानां—ख०।
२. विक्निस्सृता—ग०, विनिर्गतं—घ०।
३. स्वरग्रामत्वमागतैः—क०।
४. यद्वत्तथैव वृत्तिभ्यः काव्यबन्धाः प्रतिष्ठिताः—क०, यथा यथा—ग०।

ग्रामौ पूर्णस्वरौ द्वौ तु यथा वै षड्जमध्यमौ।
सर्ववृत्तिविनिष्पन्नौ [1]काव्यबन्धौ तथा त्विमौ ॥ ६ ॥

और जिस प्रकार षड्ज और मध्यम ग्राम स्वरों के जाति और श्रुति के सभी भेदों को अपने में अन्तर्निहित रखते हैं, वैसे ही नाटक तथा प्रकरण नामक दो रूपक-भेदों में सभी वृत्तियां समाविष्ट रहती हैं (अथवा ये सभी वृत्तियों से मिलकर निर्मित होते हैं।) ॥ ६ ॥

ज्ञेयं प्रकरणञ्चैव तथा नाटकमेव च।
[2]सर्ववृत्तिविनिष्पन्नं [3]नानाबन्धसमाश्रयम् ॥ ७ ॥

नाटक और प्रकरण सभी वृत्तियां के द्वारा विनिष्पन्न होते है और इनमें विभिन्न काव्यगत रचना शैलियों (या अनेक अवस्थाओं) का समावेश किया जाता है ॥ ७ ॥

[4]वीथी समवकारश्च तथेहामृग एव च।
उत्सृष्टिकाङ्को व्यायोगो भाणः[5] प्रहसनं डिमः ॥ ८ ॥
कैशिकीवृत्तिहीनानि [6]रूपाण्येतानि कारयेत्।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि काव्यबन्धविकल्पनम् ॥ ९ ॥

वीथी, समवकार, ईहामृग, अंक या उत्सृष्टिकांक, व्यायोग, भाण, प्रहसन तथा डिम के प्रकारों में 'कैशिकीवृत्ति' का निधान या प्रयोग वर्जित है। अब मैं इन (दृश्य) काव्यों के (रूपकों के) क्रमशः लक्षण बतलाता हूँ ॥ ८–९ ॥

नाटक—

प्रख्यातवस्तुविषयं[7] [8]प्रख्यातोदात्तनायकञ्चैव।
राजर्षिवंश्यचरितं [9]तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥ १० ॥

---

१. काव्यबन्धे—ग०, घ०।
२. सर्ववृत्तिविनिष्पन्नो—ख०, ग०।
३. नानावस्थासमा—ग० घ०।
४. भाणः समवकारश्च वीथी चेहामृगस्तथा—क०, ख०, घ०।
५. डिमः प्रहसनं तथा—क०,।
६. काव्यान्येतानि योजयेत्—क०।
७. विषये—क०।
८. राजर्षिवंशजं चैव—क०।
९. तथा च—क० ख०।

नानाविभूतियुक्तम्[1] ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव[2]।
अङ्कप्रवेशकाढ्यं[3] भवति हि तन्नाटकं[4] नाम ॥ ११ ॥

जिसमें कथावस्त का विषय प्रख्यात इतिवृत[1] रहे, जिसका नायक प्रसिद्ध और उदात्त[2] हो, जिसमें राजवंश में प्रसूत पात्र का वर्णन हो, जिसमें दिव्य[3] आश्रय विद्यमान हो, जिसमें (अनेक) ऐश्वर्यगत सम्पन्नता हो, जो समृद्धि और विलास आदि गुणों से युक्त हो, जिसमें उचित संख्या में अंक[4] तथा उपयुक्त 'प्रवेशक' (आदि) विद्यमान या संयोजित किये गये हों तो उसे नाटक[5] समझना चाहिए ॥ १०–११ ॥

---

१. प्रख्यात इतिवृत्त का आशय प्रसिद्ध घटना से है अर्थात् उन घटनाओं की किसी पुराण, इतिहास या लोक-कथा में सत्ता होनी चाहिए।

२. उदात्त नायक के उदाहरण हैं दुष्यन्त, राम आदि। उदात्त और प्रसिद्ध नायक जीवित अवस्था में किसी नाटक के नायक नहीं बन सकते हैं।

३. नाटयदर्पणसूत्र तथा अभिनवगुप्त आचार्य के अनुसार दिव्य पात्रों का पताका या प्रकारी नायक के रूप में (भी) समावेश हो सकता है।

४. अंक और प्रवेशक के लक्षण इसी अध्याय में आगे दिये गए हैं।

५. नाटक रूपकों के समस्त प्रभेदों में प्रमुखता रखता है। इसी कारण इसकी कथावस्तु प्रसिद्ध या ऐतिहासिक होती है तथा रचयिता की अनावश्यक काल्पनिकता का नियन्त्रण इस प्रकार लोकप्रसिद्ध घटनाओं का निवेश कर देता है। श्री शंकुक का मत है कि नाटक में इतिहास प्रसिद्ध सभी घटनाओं का निवेश होना चाहिए तथा अप्रसिद्ध या विवाद-ग्रस्त घटनाओं का सन्निवेश नहीं होना चाहिए। आचार्य अभिनवगुप्त के मत में उक्त मत के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि नाटक में लोकप्रसिद्ध घटनाओं के अतिरिक्त उन २ घटनाओं से सम्बद्ध नायक को लोक प्रसिद्ध प्रदेश में भी वर्तमान रखते हुए प्रदर्शित किया जाए परन्तु नाटक में उन घटनाओं को प्रस्तुत नहीं करना चाहिए जो प्रत्यक्षतः नायक के पुरुषार्थसिद्धि में सहायक न हो।

---

१. विभूतिभिर्युतं—क०, विभूतिसंयुत—घ०।

२. गुणैश्चापि—घ०।

३. अङ्कप्रवेशकाभ्यं—ग०।

४. रूपकमिह नाटकम्—क०, तत्त्रोटकं—ख० (पा०)।

नृपतीनां यच्चरितं [1]नानारसभावचेष्टितं बहुधा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं [2]भवति हि तन्नाटकं नाम ॥ १२ ॥

जिसमें प्रख्यात भूपाल का चरित्र हो, रसों[1] तथा अनेक भावों से जिनके कार्यों का अभिनय किया जाता हो और जिसमें इनके सुख तथा दुःखों से कार्यों की उत्पत्ति होती हो—वह भी 'नाटक' (होता) है ॥ १२ ॥

[3]अस्यावस्थोपेतं कार्यं प्रसमीक्ष्य बिन्दुविस्तारात् ।
[4]कर्तव्योऽङ्कः सोऽपि तु गणान्वितं नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥ १३ ॥

कथावस्तु की विभिन्न अवस्थाओं में अनुकूल या उचित कार्यों को देखकर 'विन्दु' के विस्तार के अनुकूल इसमें 'अंक' की रचना करनी चाहिए, जो कि पात्रों के समूह से युक्त होता है ॥ १३ ॥

अङ्क इति [5]रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च [6]रोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ॥ १४ ॥

---

१. रस नाटचकृति का प्राणस्वरूप होता है जिसके स्थायीभाव पर नायक की लक्ष्यसिद्धि निर्भर रहती है तथा जो इसका केन्द्र बिन्दु रहता है। अतः नाटकादि में किसी एक रस को प्रमुख तथा अन्य रसों को गौण रूप में रखना इष्ट होता है। यद्यपि नाटक में किसी भी रस को प्रदर्शित करने की स्थिति होती है तथा उद्देश्यसिद्धि के लिये जो स्थायीभाव नायक की विशेष लक्ष्य सिद्धि में प्रत्यक्षरूप से सम्बद्ध हो उसे ही नाटककार को प्रमुख रूप में रखना चाहिए क्योंकि वही नाटक के विशेषरस को प्रकट करने में सक्षम होता है। उत्साह के प्रत्येक प्रकार नायक के विशेषगुण होने के कारण तथा प्रत्येक प्रकार की उद्देश्यसिद्धि में सहायक रहने के कारण प्रत्येक प्रकार की नाटचकृति में किसी न किसी रूप में वीररस को अवश्य प्रस्तुत किया जाता है। नाटक में किसी एक ही रस को मुख्यता दी जाती है अतः लक्ष्यसिद्धि के भेद से शृङ्गार या वीररस ही मुख्यतः नाटक में सन्निविष्ट होता है।

---

१. नानाविधभावसंश्रितं च तथा—क०, रसभावसंभृतं—ख ।
२. तज्ज्ञेयं—घ० ।
३. तत्रावस्थोपेतं—क०, अङ्कावस्थोपेतं—ख, नानावस्थान्तरितो बिन्दोः संहारमात्रमधिकृत्य—ग० घ० ।
४. कर्तव्याङ्कोऽप्येवं स तु सम्यग् नाटके तज्ज्ञैः—ग० घ० ।
५. गूढशब्दो—क० । ६. चिह्नयत्यर्थान्—क० ।

'अंक' यह रूढ़ि शब्द हैं जो कि भाव तथा रसों से नाटक के अर्थों को अनेक विधान तथा लक्षणों आदि के द्वारा संवर्द्धित करता है। इसी कारण यह 'अंक' कहलाता है ॥ १४ ॥

[1]अङ्कसमाप्तिः कार्या काव्यच्छेदे न बीजसंहारः।
वस्तुव्यापीबिन्दुः काव्यसमुत्थोऽत्र नित्यं स्यात् ॥ १५ ॥

नाटक के विभाग के अनुसार निर्धारित प्रदेश पर 'अंक' को पूर्ण करना चाहिए तथा इसमें बीज की पूर्णरूप से समाप्त नहीं कर देना चाहिए क्योंकि कथावस्तु में व्यापक रूप में स्थित होने के कारण बिन्दु का पुनः पनः आगे भी उत्थान होता रहता है ॥ १५ ॥

यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र[2] न बीजस्य भवति संहारः।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क[3] इति सदावगन्तव्यः ॥ १६ ॥

अतएव नाटक का वह भाग जिसमें एक विशेष घटना की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति की जाए तथा 'बीज' पूर्णरूप से जहां विच्छिन्न न होता हो और जो 'बिन्दु' के साथ अपने को थोड़ा संलग्न किये रहता हो तो उसे भी 'अंक' समझना चाहिए ॥ १६ ॥

ये नायका निगदितास्तेषां [4]प्रत्यक्षचरितसंयोगः।
[5]नानावस्थोपेतः कार्यस्त्वङ्कोऽविकृष्टस्तु ॥ १७ ॥

जिसमें नायक आदि पात्रों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता हो (जिसे पूर्व में कह आये हैं) तथा जो इन नायकादि के विभिन्न भाव तथा अवस्थाओं से युक्त होता हो उस 'अंक' को अधिक लम्बा[1] नहीं रखना चाहिए ॥ १७ ॥

[6]नायकदेवीगुरुजनपुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्।
नैकरसान्तरविहितो ह्यङ्क[7] इति स वेदितव्यस्तु ॥ १८ ॥

---

१. 'अंक को यदि अधिक बड़ा बनाया गया तो उससे खेलने वाले पात्रों को अधिक आयास करना होता है और दर्शकों को उकताहट आने लगती है।

---

१. अङ्कसमाप्तिः काव्यच्छेदो—ख०।
२. यत्र च—क० ख०। ३. योऽङ्क इति सोऽवगन्तव्यः—क०।
४. चरितसम्भोगः—क०, प्रत्यक्षचारिसंयोगः—ग०।
५. नानावस्थान्तरितः कार्यस्त्वङ्को यथार्थरसः—क०, ग०।
६. देवीपरिजन—ख०, ग०। ७. ह्यङ्कः खलु वेदितव्यः सः—ग०।

'अंक को—जो कि देवी[1] (महारानी) नायक, गुरुजन,[2] पुरोहित, मंत्री तथा सेनापति[3] आदि सम्बन्ध वाले इतिवृत्ति से उत्पन्न होने वाला होता है—अनेक रसों से युक्त रखते हुए निर्मित किया जाता है ॥ १८ ॥

[1]पञ्चापरा दशपरा ह्यङ्काः स्युर्नाटके प्रकरणे च ।
निष्क्रामः सर्वेषां यस्मिन्नङ्कः स विज्ञेयः ॥ १९ ॥

नाटक और प्रकरण में पांच से लगायत दस संख्या तक अंक रखे जाते हैं। जिसके अन्त में पात्रों का रंगभूमि से प्रस्थान हो जाए उसे भी 'अंक' समझना चाहिए ॥ १९ ॥

अंक में प्रत्यक्ष दर्शनीय घटनाएँ—

[2]क्रोधप्रसादशोकाः शापोत्सर्गोऽथ विद्रवोद्वाहौ ।
[3]अद्भुतसम्भवदर्शनमङ्केऽप्रत्यक्षजानि स्युः ॥ २० ॥

क्रोध, प्रसाद, शोक, शाप की प्राप्ति या समाप्ति (शापोत्सर्ग) भगदड़, विवाह अद्भुतपदार्थ की उत्पत्ति या उसका दर्शन होना अङ्क में रखने के विषय नहीं होते हैं (अतः प्रत्यक्ष प्रस्तुत करने के लिये उपयुक्त नहीं हैं) ॥ २० ॥

युद्धं राज्यभ्रंशः[4] मरणं नगरावरोधनञ्चैव ।
[5]न प्रत्यक्षाण्यङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ २१ ॥

---

१. यहाँ देवी से आशय रानी और महारानी जैसे सभी पात्रों से है ।

२. गुरूजन से आशय है कि नायक के शिक्षक, आचार्य और माता, पिता आदि पूज्यजन ।

३. अभिनवगुप्त नें सार्थवाह का अर्थ सेनापति किया है। वैसे सार्थवाह का अर्थ श्रेष्ठी भी होता है। सेनापति की नायक रूप में किसी प्राप्य नाट्य-रचना में उपलब्धि नहीं होती ।

४. शापोत्सर्गः शापकृतस्यानर्थस्य नाशः (अभि० भा० पृ० ४१९ vol II.) अर्थात् शापजन्य कष्ट या विपत्ति का परिहार। जैसे अभि० शाकु० के सप्तम अंक में प्रस्तुत किया गया तथा शाप की प्राप्ति भी जो अभि० शाकु० के चतुर्थ अंक में है ।

---

१. अयं श्लोकः ख० घ० पुस्तके नास्ति ।

२. शोकप्रसादविद्रवशापोत्सर्गप्रसादनक्रोधाः—क०, क्रोधप्रमादशोकाः—ख० ।

३. उत्साहोद्भुतदर्शनमङ्कैः प्रत्यक्षजानि स्युः—क० ।

४. राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव—क० ।

५. प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के—क० ।

युद्धं राज्यभ्रंश, मरण[1], नगर का घेरा डालना (आदि) कार्य अंक में कभी प्रत्यक्ष नहीं दिखलायें जाते हैं—पर उन्हें 'प्रवेशक' के द्वारा अवश्य प्रस्तुत किया जाए ॥ २१ ॥

अङ्के प्रवेशके [1]वा प्रकरणमाश्रित्य नाटकं चापि ।
न वधः कर्तव्यः स्याद् [2]यस्तत्र स नायकः ख्यातः ॥ २२ ॥

किसी नाटक या प्रकरण के अंक या प्रवेशक में—प्रख्यात नायक का वध[2] नहीं होता जो कि उसी में अभ्युदयाकांक्षी (रखा गया) है ॥ २२ ॥

[3]अपसरणमेव कार्यं [4]सन्धिर्वा ग्रहणमेव वा नित्यम् ।
[5]बहुभिः कार्यविशेषैः प्रवेशकैः [6]सूचयेद्वापि ॥ २३ ॥

तथा जो प्रख्यात प्रति नायक है उसका विशेष वर्णनों के द्वारा भाग जाना (अपसरण) सन्धि कर लेना या पकड़ा जाना सूचित किया जाए । और ये सूचनाएँ प्रवेशक आदि में रखते हुए अनेक कार्यों के द्वारा दी जाएं ॥ २३ ॥

---

१. 'मरण' का मंच पर प्रत्यक्ष प्रस्तुती करण न करने का आशय है केवल प्रमुख पात्र होने से नायक का वध न करना जैसा कि अगली कारिका से स्पष्ट है ।

२. यह नियम केवल 'नायक' के वध का निषेध करता है अतएव प्रतिमा नाटक में दशरथ का मञ्च पर मरण दिखलाया जाना या ऊरुभङ्गम् में दुर्योधन का मंच पर वध दिखलाना नाटकीय नियम के प्रतिकूल नहीं हैं । इस तथ्य को विश्वनाथ कविराज ने स्पष्टतः हृदयङ्गम न करते हुए मञ्च पर सामान्यतः सभी पात्रों के मरण का निषेध समझ लिया तथा इसी को आधार मान कार श्री A. B. कीथ ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Sanskrit Drama (p. 293) में लिख दिया कि 'संस्कृत नाटक में वध के दृश्य प्रतिषिद्ध हैं' । परन्तु यह (सभी) उपर्युक्त नियमों के परिशीलन से स्वतः निरस्त हो जाता है ।

---

१. प्रवेशके च—क० । २. योऽभ्युदयी नायकः ख्यातः—क० ।

३. अवतरणमेव कार्यं—ख० ।

४. ग्रहणं वा सन्धिरेव वा योज्यः—क० ।

५. काव्यश्लेषैर्बहुभिर्यथारसं नाट्यतत्त्वज्ञैः—ख०; तैस्तैः काव्यश्लेषैः— ख० एभिः—म०; तैस्तैः कार्यश्लेषैः, ख० घ० ।

६. सूचकैश्चैव—ग० ।

एकदिवसप्रवृत्तः[1] [2]कार्यस्त्वङ्कोऽर्थबीजमधिकृत्य[3] ।
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु[4] ॥ २४ ॥

एक अंक[1] में एक दिन में होनेवाली घटनाएं ही रहनी चाहिए जो कि नाट्य-रचना के बीजार्थ से सम्बन्ध हों और जिससे दैनिकचर्या[2] के आवश्यक-कार्यों में कोई विरोध न दीख पड़े ॥ २४ ॥

एकाङ्के न कदाचिद्बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्[5] ।
आवश्यकाविरोधेन तत्र कार्याणि[6] कार्याणि ॥ २५ ॥

चतुर नाटयकार एक अंक में अधिक घटनाओं को भी न रखे पर इसमें रखी जाने वाली घटनाएं दैनिक कर्तव्यों की या आवश्यक कार्यों की विरोधिनी भी न हों ॥ २५ ॥

[7]रङ्गं तु ये प्रविष्टाः सर्वेषां भवति तत्र निष्क्रामः ।
बीजार्थयुक्तियुक्तं कृत्वा [8]कार्यं यथार्थरसम्[9] ॥ २६ ॥

उचित रस या भावों से पूर्ण बीज के प्रयोजन भूत नाट्य कार्य को पूर्ण या प्रस्तुत करने के उपरान्त अङ्क में प्रविष्ट सभी पात्रों का मंच निष्क्रमण किया जाए ॥ २६ ॥

ज्ञात्वा [10]दिवसावस्थां क्षणयाममुहूर्त्तलक्षणोपेताम्[11] ।
विभजेत् सर्वमशेषं पृथक् पृथक् कार्यमङ्केषु[12] ॥ २७ ॥

---

१. सागरनन्दी ने अङ्क के विषय में इनके अतिरिक्त अनेक नवीन तथ्य उपस्थित किये हैं । द्रष्टव्य—नाटकलक्षणरत्नकोश (चौखम्भा संस्कृत पृ० २४–२५)

२. दैनिक कार्यों से आशय है सन्ध्या, भोजन आदि जैसे आवश्यक कार्य जिनका प्रतिदिन व्यवहार होता हो ।

---

१. प्रयोज्यः—क० । २. स्त्वङ्कोऽथ—क० ।
३. माश्रित्य—क० । ४. प्रबन्धेषु—क० । ५. योजयेद्वापि—क० ।
६. काव्यानि—ख०, ग० । ७. रङ्गे—ख० ।
८. काव्यं—ख०, ग० ।
९. अस्मादनन्तरं—न बहूनीह कार्याणि त्वेकाङ्के विनियोजयेत् ।
आवश्यकाणां कार्याणां विरोधो हि तथा भवेत् ॥
इत्यधिकं क पुस्तके दृश्यते ।
१०. दिवसांस्तान्—ग० । ११. लक्षणोपेतान्—ग० ।
१२. काव्यमङ्केषु—खः, ग० ।

क्षण, याम मुहूर्त आदि में विभक्त दिन का विस्तार जानकर विभिन्न घटनाओं को विभिन्न अंगों में विभाग पूर्वक स्थापित करना चाहिए ।। २७ ।।

दिवसावसानकार्यं [1]यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम् ।
अङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम्[2] ।। २८ ।।

जब एक दिन में पूर्ण हो जाने वाली अनेक घटनाएं हों और उनका एक 'अंक' में रखना संभव हो या वे न आ पाएं तो 'अंक' को पूर्ण कर चुकने पर उन्हें 'प्रवेशक' के द्वारा वतलाना चाहिए ।। २८ ।।

प्रवेशक—

अङ्कच्छेदं [3]कृत्वा मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि ।
तत्सर्वं कर्त्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ।। २९ ।।

जो घटनाएं एक मास या एक वर्ष तक का समय लेती हों उन्हें भी 'अंक' की समाप्ति करते हुए प्रस्तुत करना चाहिए परन्तु एक वर्ष से अधिक की घटनाएँ इस विधि से प्रस्तुत नहीं की जानी चाहिए ।। २९ ।।

[4]यः कश्चित् कार्यवशाद् गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम् ।
तत्राप्यङ्कच्छेदः कर्तव्यः पूर्ववत्तज्ज्ञैः[5] ।। ३० ।।

जब किसी अंक में कोई पुरुष कार्यवश दूर देश की यात्रा करता हो तो उसे अंकच्छेद करते हुए उपर्युक्त विधि से प्रवेशक के द्वारा संक्षेप में वतलाया जाए ।। ३० ।।

सन्निहितनायकोऽङ्कः कर्तव्यो नाटके प्रकरणे च[6] ।
परिजनकथानुबन्धः [7]प्रवेशको नाम विज्ञेयः ।। ३१ ।।

नाटक तथा प्रकरण के अंक में नायक सदा (संयुक्त या) विद्यमान रहता है और 'प्रवेशक' को सेवकजन के स्वामी या नायक सम्बन्धी वार्तालाप से संयुक्त रखा जाता है ।। ३१ ।।

[8]अङ्कान्तरानुसारी [9]सङ्क्षेपार्थमधिकृत्य विन्दूनाम् ।
प्रकरणनाटकविषये प्रवेशकः[10] संविधातव्यः ।। ३२ ।।

---

१. यद्येकेन—क० । २. तद्विधेयं हि—ख० । ३. कुर्यात्—घ० ।
४. यदि—क० । ५. पूर्वतन्त्रज्ञैः—क० । ६. वापि—क, च—ग० ।
७. प्रवेशको वापि कर्तव्यः—ग० । ८. अङ्कान्तराधिकारी—ध० ।
९. सङ्क्षेपमथाधिकृत्य सन्धीनाम्—घ० ।
१०. प्रवेशको भवति काव्येषु—ग० ।

नाटक तथा प्रकरण में रखा जाने वाला 'प्रवेशक' बिन्दुओं के अर्थों को संक्षेप में लिए हुए रहना चाहिए और वह अन्य या पिछले अंक के कार्यों का अनुसरण करने वाला भी रहें ॥ ३२ ॥

नोत्तममध्यमपुरुषैराचरितो नाप्युदात्तवचनकृतः ।
प्राकृतभाषाचारः [1]प्रयोगमाश्रित्य कर्तव्यः ॥ ३३ ॥

इसमें उत्तम तथा मध्यम पात्रों की स्थिति नहीं होती और न ही उदात्त शब्दावली में संवाद ही रखे जाते हैं। इसमें तो केवल प्राकृतभाषाओं का व्यवहार नाट्यप्रयोग की अवस्था को देखते हुए किया जाता है ॥ ३३ ॥

[2]कालोत्थानगति-रसव्यत्यासारम्भकार्यविषयाणाम् ।
अर्थाभिधानयुक्तः[3] प्रवेशकः स्यादनेकार्थः ॥ ३४ ॥

'प्रवेशक' से अनेक कार्य किये जाते हैं। जैसे इसके द्वारा समय का भाग (या अस्त) बतलाया जा सकता है, रसों के परिवर्तन (रस-व्यत्यास) या अंक का प्रारम्भ या किसी ऐसे विशेष कार्य को (भी) बतलाया जाता है ॥ ३४ ॥

बह्वाश्रयमपि[4] कार्यं प्रवेशकैः सङ्क्षिपेच्च सन्धिषु वा ।
[5]बहुचूर्णपदैर्युक्तं जनयति खेदं प्रयोगस्य ॥ ३५ ॥

जो कार्य अनेक व्यक्तियों के उद्योग पर निर्भर हो या सन्धियों में विद्यमान हो तो उन्हें संक्षेप में 'प्रवेशक' के द्वारा प्रस्तुत किया जाए। इसमें अनेक गद्यभागों का (रचना में) रखना दर्शकों को थकाने वाला और प्रयोग के समय का नाशक होता है (अतः लम्बे संवाद न रहें) ॥ ३५ ॥

यत्रार्थस्य समाप्तिर्नभवत्यङ्के[6] प्रयोग-बाहुल्यात् ।
बहुवृत्तान्तोऽल्पकथैः प्रवेशकैः सोऽभिधातव्यः ॥ ३६ ॥

जहाँ प्रयोग के अधिक बड़े होने से कथार्थ की समाप्ति न होने पाती हो

---

१. प्रयोगमासाद्य—घ० ।
२. कालोत्थानगति रसौ व्याख्या—संरम्भ—क०, कालार्थान्तरगति-व्यासा—घ० ।
३. अर्थाभिधानपूर्वः—स० ग० ।
४. बह्वाश्रयमप्यर्थं प्रवेशकैः संक्षिपेत् प्रबन्धेषु—क० ।
५. चूर्णपद्यवृत्तं—क०, पूर्णपद्यवृत्तं—ग० ।
६. न भवेदङ्के—क०, ग० ।

तो ऐसा लम्बा घटनाचक्र थोड़े कथनवाले 'प्रवेशक' के द्वारा रूपक में रखना चाहिए ॥ ३६ ॥

विष्कम्भक—

[1]मध्यमपुरुषैर्नित्यं योज्यो विष्कम्भकोऽत्र[2] तत्वज्ञैः ।
संस्कृतवचनानुगतः सङ्क्षेपार्थः[3] प्रवेशकवत् ॥ ३७ ॥

नाटक में 'विष्कम्भक' की भी आवश्यकतानुसार स्थापना की जाए जो मध्य पात्रों के द्वारा संक्षेप में प्रवेशक के अर्थों को प्रदर्शित करे तथा संस्कार युक्त वचनावली या संस्कृतभाषा में हों ॥ ३७ ॥

शुद्धः सङ्कीर्णो वा द्विविधो[4] विष्कम्भकोऽपि कर्तव्यः ।
[5]मध्यमपात्रः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यकृतः ॥ ३८ ॥

विष्कम्भक[1] दो प्रकार का होता हैं—(१) शुद्ध तथा (२) संकीर्ण । इसमें मध्यमपात्रों से युक्त या निर्मित होने वाला 'शुद्ध' तथा नीच और मध्यम पात्रों से युक्त 'मिश्र' या संकीर्ण होता है ॥ ३८ ॥

अङ्कान्तरे मुखे वा प्रकरणमाश्रित्य नाटके वापि ।
विष्कम्भकस्तु नियतः कर्तव्यो मध्यमैरधमैः[6] ॥ ३९ ॥

नाटक और प्रकरण में दो अंको के बीच में या किसी अंक के प्रारम्भ में विष्कम्भक को रखा जाए जिसमें मध्यम और नीच पात्र हों ॥ ३९ ॥

---

१. विष्कम्भक के इस लक्षण से स्पष्ट है कि इसमें उत्तम पात्र का प्रवेश नहीं होता था ।

शुद्ध विष्कम्भक—जैसे शाकुन्तल (अंक ३) तथा अन्य ।

मिश्रविष्कम्भक—जैसे—विक्रमोर्वशीय (३ अंक) तथा प्रतिमा (अंक २) में ।

---

१. मध्यमपात्रैः कार्यो नित्यं—ग०, घ० ।

२. विष्कम्भकस्तु विज्ञेयः—ग०, घ० ।

३. सङ्क्षिप्तार्थः—ग० ।

४. द्विविधः खलु नाटके प्रयोगज्ञैः—ग०, ख० ।

५. मध्यमपात्रैः—ग० ।

६. एतस्य स्थाने—अङ्कान्तरालविहितः प्रवेशकोऽर्थक्रियां समभिवीक्ष्य ।
सङ्क्षेपात् सन्धीनामर्थानाञ्चैव कर्तव्यः ॥

इति पद्यं समुपलभ्यते—घ० (टिप्पण्याम्) ।

नाटकादि में पात्रों की संख्या—

न महाजनपरिवारं कर्तव्यं नाटकं प्रकरणं वा।
ये तत्र [1]कार्यपुरुषाश्चत्वारः पञ्च वा ते स्युः॥ ४०॥

नाटक और प्रकरण में नायक के परिचारकों या उसके परिवार की संख्या अधिक बड़ी नहीं रहना चाहिए। नायक के परिजन की संख्या (इनमें)[1] चार या पांच तक रखी जा सकती है॥ ४०॥

व्यायोगेहामृगसमवकारडिमसंज्ञितानि काव्यानि।
दशभिर्द्वादशभिर्वा(ङ्कैः)कार्याणि [प्रयोगज्ञैः]॥ ४१॥

व्यायोम, ईहामृग, समवकार और डिम जैसे रूपकों में पात्रों की संख्या (जो कि नायक-परिजन हो) दस या बारह रखी जाए॥ ४१॥

रंगमंच पर रथ तथा महल का प्रदर्शन—

न त्ववतरणं कार्यं रङ्गे रथगजवाजिविमानानाम्।
तेषामाकृतिवेषैर्विधानमुक्तं [2]गतिविचारैः॥ ४२॥

रंगमंच पर रथ, हाथी,[2] घोड़ा तथा विमान (महल) का प्रवेश (या स्थापन) नहीं किया जाए किन्तु (किसी पात्र द्वारा) उनकी आकृति को शारीरिक चेष्टाओं और चाल[3] या हलचलों की नकल करते हुए (वैसा अर्थ) प्रदर्शित करना चाहिए॥ ४२॥

अथवा पुस्तकृतानि तु गजवाजिविमानशैलयानानि।
कर्तव्यानि विधिज्ञैस्तथा [3]चाद्रव्यप्रहरणानि॥ ४३॥

किन्तु हाथी, घोड़ा, विमान (महल) पर्वत या किसी भी यान या वाहनों के वैसे ही छोटे नमूने बना कर या कोई भी हलकी वस्तुएँ (जो विधान के द्वारा निर्मित हों) वहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं॥ ४३॥

---

१. इसका आशय इतना ही है कि अनेक पात्रों के रहने से रंगमंच पर होने वाली व्यावहारिक असुविधा उत्पन्न न होने पाए।

२. रथ तथा हाथी की प्रतिकृति बनाने का उपाय ना० अध्याय २३।८–९ पर देखिये।

३. हाथी आदि की गति का ना० शा० अध्याय १२ में गतिप्रचाराध्याय में वर्णन किया जा चुका है।

---

१. कार्याः पुरुषाः—ग०। २. गतिनिचारैः—ग०।
३. चाद्रव्यप्रहराणि—ग०।

रंगमंच पर सेना का प्रदर्शन—

यदि कारणोपपन्नं [1]स्कन्धावारप्रवेशनं कुर्यात् ।
कर्तव्यमत्र[2] गमनं पुरुषैः षड्भिश्चतुर्भिर्वा ॥ ४४ ॥

यदि किसी कारण वश अपेक्षित होने पर रंगमंच पर सेना तथा पड़ाव (स्कन्धाकर) का प्रवेश करवाया जाए इसमें पांच या छः व्यक्ति का मंचपर प्रवेश करना तथा उन्हीं का बारबार आना जाना बतलाया जाए ॥ ४४ ॥

अल्पपुरुषाल्पवाहनमल्पपरिच्छेदमल्पसञ्चारम् ।
कार्यं दर्शनरूपं [3]क्षेत्रे न नटानां हि राज्यविधिः ॥ ४५ ॥

(किसी नाटक में) यदि सेना का प्रवेश दिखलाना अभीष्ट (ही) हो तो वह थोड़ी संख्या में कुछ मनुष्यों की हो—पर्वतों की स्थिति तथा यात्राओं की आवश्यकता को वतलाते हुए वे मंच पर धीरे-धीरे प्रस्थान करें । क्योंकि क्षेत्र (युद्ध या सेना) की भूमिका में राजनीति के सभी नियम मञ्च पर (अभिनेताओं पर) लागू नहीं हो सकते हैं ॥ ४५ ॥

[4]कार्यं गोपुच्छाग्रं[5] कर्तव्यं काव्यबन्धमासाद्य ।
ये चोदात्ता भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः ॥ ४६ ॥

किसी भी नाटक में गोपुच्छ के अग्रभाग में रहने वाले बालों की तरह कार्यों का छोटा या बड़ा रूप रहना चाहिए, जो कि नाटक की रचना या कथावस्तु के लिये सहेतुक प्रस्तुत हो । इनमें भी जो उदात्तभाव हों उनकी समाप्ति के अवसर पर अवश्य संयोजना की जाए[1] ॥ ४६ ॥

---

१. इस नियम की सारी बातें अस्पष्ट हैं क्योंकि इससे क्या प्रतिपादन करना है यह स्पष्टतः विदित नहीं होता । आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य ने इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह करते हुए जिन तथ्यों को बतलाया वे भी हृदयग्राही नहीं लगते फिर भी हम उन्हीं के कुछ तथ्य यहां दे रहे हैं :—

गोपुच्छके दृष्टान्त से आशय है अङ्कों को क्रमशः छोटे रखते हुए । कुछ अन्य

---

१. करुणोपपन्ना—ग०, कारणोपपन्ना—घ० ।

२. कर्तव्यमन्त्रगमनं—ग० ।

३. क्षतेन—ग० ।

४. काव्यां० ग०, घ० ।

५. गोपुच्छार्ध—क० ।

सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम्।
[1]निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतस्तज्ज्ञैः॥ ४७॥

भाव और रस से पूर्ण सभी रूपकों के अन्त में चतुरजन 'अद्भुत' रस की (सदा) योजना करें॥ ४७॥

नाटकलक्षणमेतन्मया समासेन [2]कीर्तितं विधिवत्।
प्रकरणमतःपरमहं लक्षणयुक्त्या प्रवक्ष्यामि॥ ४८॥

इस प्रकार मैंने संक्षेप में नाटक का विधिवत् लक्षण बतलाया अब मैं लक्षण तथा युक्ति पूर्वक प्रकरण के स्वरूप को बतलाता हूँ॥ ४८॥

प्रकरण—

यत्र कविरात्मशक्त्या[3] वस्तु शरीरञ्च [4]नायकञ्चैव।
औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद्[5] बुधैर्ज्ञेयम्॥ ४९॥

जब नाट्यकार (कवि) अपनी प्रतिभा से ऐसी कल्पितकथावाली रूपक रचना करे जिसमें नाटकीय कथावस्तु और नायक का कलेवर मौलिक (कल्पित, औत्पत्तिक) होकर प्रस्तुत होता हो तो उसे 'प्रकरण' समझना चाहिए॥ ४९॥

आचार्यों का मत है कि कुछ मुखसन्धि में तथा कुछ अन्य प्रतिमुखसन्धि में समाप्त होने वाले कार्यों को तथा कुछ अवमर्श तथा निर्वहण तक जाने वाले या समाप्त होने वाले कार्य रहने चाहिए। जैसे रत्नावली में प्रमोदोत्सव मुखसन्धि में ही समाप्त हो जाता है किन्तु बाभ्रव्य का वृत्तान्त मुखसन्धि में स्वल्प रूप में आरब्ध होकर निर्वहणसन्धि में पूर्ण होता है। आशय यही कि सारभूततत्वों को समाप्ति तक चलाते हुए रखना चाहिये।

१. अतर्कित रूप में उपस्थित घटना की मूलतः उपस्थिति के द्वारा यह कार्य प्रदर्शित किया जाता है। इस नियम के अनुसार शकुन्तला और दुष्यन्त का पुनर्मिलन अद्भुत रस की योजना का निदर्शन' है।

---

१. निर्वहणं कर्तव्यं—क०।
२. प्रकीर्तितं विविधम्—क०।
३. रात्मबुद्धया—ख०, ग०।
४. नाटकञ्चैव—ग०।
५. तद्विधं—क०।

[1]यदनार्षमथाहार्यं काव्यं प्रकरोत्यभूतगुणयुक्तम् ।
उत्पन्नबीजवस्तु प्रकरणमिति तदपि विज्ञेयम् ॥ ५० ॥

जब कवि अपनी कथावस्तु के बीज किसी ऋषिप्रणीत प्राचीन-रचना (जैसे—महाभारत) से न गृहीत करे[1] (इसके अतिरिक्त अन्य प्रसिद्ध रचनाओं से चाहे मूल बीजों को ले ले) और उसमें काव्यसौष्ठव एवं अभूतपूर्व गुणों का (स्वकल्पना से) समावेश किया जाए तो ऐसी मौलिक कथा बीजों से आरचित नाट्यरचना को भी 'प्रकरण' समझना चाहिए ॥५०॥

यन्नाटके मयोक्तं[2] वस्तु शरीरञ्च[3] वृत्तिभेदाश्च ।
तत् प्रकरणेऽपि योज्यं [4]सलक्षणं सर्वसन्धिषु तु ॥ ५१ ॥

नाटक के लिये मैंने जिन बीज (वस्तु) रस स्वरूप तथा वृत्ति के विभिन्न प्रकारों का मूलतः प्रतिपादन किया वे सभी अपने लक्षण तथा सन्ध्यङ्गों सहित प्रकरण में भी संयुक्त किये जाएं ॥ ५१ ॥

विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
चरितं [5]यन्नैकविधं ज्ञेयं तत् प्रकरणं नाम ॥ ५२ ॥

जब ब्राह्मण, वैश्य, मन्त्री, पुरोहित, सचिव (अमात्य) तथा व्यापारी या सेनापति (सार्थवाह) के अनेक-विधि चरित्रों को प्रदर्शन किया जाता हो तो उसे भी[2] प्रकरण' समझना चाहिए ॥ ५२ ॥

---

१. इन दो कारिकाओं में वर्णित 'प्रकरण' के स्वरूप से विदित होता है कि 'प्रकरण' मूलतः कल्पित इतिवृत्त के आधार पर ही नहीं वनाए जाते थे । नाट्यरचनाकार कवि बृहत्कथा जैसे ग्रन्थों से प्रसिद्ध इतिवृत्त लेकर भी प्रकरण का निर्माण कर सकते हैं किन्तु इस प्रकार के कथानकों में अपनी कल्पना के द्वारा ऐसे गुणों की उद्भावना करते हुए नायकादि को रखे जिसका मूलकथा में अभाव हो । अतः पुराण या इतिहास से प्रकरण की कथावस्तु को नहीं लिया जाता ।

२. प्रकरण के विस्तारपूर्वक किये गए इस विवरण से स्पष्ट है कि रूपक

---

१. यदनर्थमपाहार्यं—ख०, यदनायकार्यंहार्यं—ग०, यदनार्षनायकहार्य-काव्यं—घ० ।

२. प्रयोक्तं—क० । ३. शरीरं रसाश्रयोपेतम्—ग० ।

४. केवलमुत्पाद्य वस्तु स्यात्—ग०, घ० ।

५. यन्नैकविधं—ख०, यदनेकविधं—घ० ।

[1]नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगम्[2]।
बाह्यजनसम्प्रयुक्तं [3]तज्ज्ञेयं प्रकरणं तज्ज्ञैः ॥ ५३ ॥

प्रकरण में (कभी) (नाटक की तरह) उदात्त नायक न रखा जाए, (तथा इसमें) किसी दिव्यपात्र का नायक के रूप में चरित्र न हो, (इसमें) राजविहार की कथा न हो और इसमें रहनेवाले सभी पात्र राजा के अन्तःपुर से बाहर रहने वाले (दास, भिक्षु आदि) हों ॥ ५६ ॥

[4]दासविटश्रेष्ठियुतं वेशस्त्र्युपचारकारणोपेतम्[5]।
मन्द-कुलस्त्रीचरितं काव्यं[6] कार्यं प्रकरणे[7] तु ॥ ५४ ॥

प्रकरण में (कुछ अवस्थाओं में) दास,[1] विट, श्रेष्ठि, (जैसा भी पात्र या घटनाओं का प्रसंग हो) तथा वेश्या जैसे पात्रों का उसके उपचारों सहित निवेश रहता है। इसमें कुलस्त्री का चरित्र (कम विस्तार रखने से ठीक से नहीं या) अल्पमात्रा में रखा जाता है ॥ ५४ ॥

सचिवश्रेष्ठिब्राह्मणपुरोहितामात्यसार्थवाहानाम्।
[8]गृहवार्ता यत्र भवेन्न तत्र वेश्याङ्गना कार्या ॥ ५५ ॥

(प्रकरण में) जहां सचिव, श्रेष्ठिजन, ब्राह्मण, पुरोहित, अमात्य तथा सार्थवाह (सौदागर) की परिवारिक या गृहसम्बन्धी कथा हो तो वहां वेश्या पात्र का निवेश या स्थापन नहीं करना चाहिए ॥ ५५ ॥

का यह प्रकार मुख्यतः प्रणयवृत्त को लेकर रचित होता था। प्रकरण के लक्षण में दिये गए व्यापारी, सचिव तथा ब्राह्मण आदि नायकों के चरित्रों वाले प्रकरण सम्प्रति प्राप्त नहीं होते।

१. प्रकरण में नाटक की तरह कंचुकी के स्थान पर दास या अनुचर, विदूषक जैसे पात्र के स्थान पर विट या विशेष परिस्थिति में दोनों ही पात्रों को तथा अमात्य के स्थान पर श्रेष्ठी को सहायक बनाकर नायक के साथ रखना चाहिए।

---

१. नोदात्तनृपोपेतं—क०। २. सम्खोगः—ख०।
३. विज्ञेयं—ग०। ४. दाश—क०।
५. कारणैर्युक्तम्—क०। ६. कार्यं—ग०।
७. प्रकरणेऽपि—क०। ८. गृहवार्तायान्तु—क०।

यदि [1]वेशयुवतियुक्तं न कुलस्त्रीसङ्गमस्तत्र[2]।
[3]अथ कुलजनप्रयुक्तं[4] न वेशयुवतिर्भवेत्तत्र ॥ ५६ ॥

(प्रकरण में) जब कोई व्यक्ति या नायक वेश्या नायिका के साथ हो तब वहां कुलांगना का आगमन नहीं रखा जाए और इसके (कुलांगना के) साथ रहने पर वेश्या का[1] मिलन उसी समय न बतलाया जाए ॥ ५६ ॥

यदि वा [5]कारणयुक्त्या [6]वेशकुलस्त्रीकृतोपचारः स्यात्।
[7]अविकृतभाषाचारं तत्र तु पाठ्यं प्रयोक्तव्यम् ॥ ५७ ॥

अथवा किसी कारणवश वेश्या और कुलांगना का एक साथ मिलना, बैठना आदि किसी दृश्य में दिखलाया ही जाए तो उसमें इनकी भाषा और व्यवहार को यथोचित प्रस्तुत करने वाले संवाद[2] (पाठ्य) रखे जाए ॥ ५७ ॥

प्रकरणनाटकविषये [8]पञ्चाद्या दश परास्तथा चैव।
[9]अङ्काः कर्तव्याः स्युर्नानारसभावसंयुक्ताः ॥ ५८ ॥

नाटक तथा प्रकरण में नाट्यकार को पांच से कम तथा दस से अधिक अंक नहीं रखना चाहिए और ये विविध भाव और रसों से युक्त होने चाहिए ॥ ५८ ॥

---

१. यदि प्रकरण का नायक अब्राह्मण हो तो उसके गृहस्थ जीवन के प्रदर्शन में वेश्यासमागम को प्रदर्शित किया जा सकता है। परन्तु यदि नायक की पत्नी अभिजातवंशीया हो तो वेश्या नायिका के साथ उसका मिलन नहीं बतलाना चाहिए। इसीलिये शूद्रक ने मृच्छकटिक में चारुदत्त की पत्नी के साथ वसन्तसेना की भेंट नहीं दिखलायी तथा भरत के इस सिद्धान्त का पालन किया।

२. नाट्यशास्त्रकार ऐसी स्थिति में किसी विशेष भाषा का स्पष्ट निर्देश नहीं करता पर संभवतः ऐसे अवसर पर संस्कृत भाषा का संवाद में उपयोग होता था यह उत्तरवर्ती ग्रन्थों के विवरण तथा नाट्यरचनाओं के परिशीलन से स्पष्ट हो जाता है।

---

१. वेश्यायुवतियुतं—क०। २. स्त्रीसङ्गमर्हति ततः—ख०।
३. अत्र—ख०। ४. कुलवधू—क०।
५. प्रकरणयुक्त्या—ख०। ६. कुलस्त्री सङ्गमोऽथवा स्यात्—घ०।
७. अधिकृत—क०। ८. कविभिः पञ्चाद्या दशवराश्च—घ०।
९. अङ्कान्तरसन्धिषु च प्रवेशकास्तेषु तावन्तः—घ०।

[1]अङ्कान्तरालविहितः [2]प्रवेशकोऽर्थं क्रियां समभिवीक्ष्य ।
[3]सङ्क्षेपात् सन्धीनामर्थानाञ्चैव कर्तव्यः ॥ ५९ ॥

कथावस्तु की आवश्यकताएं तथा अभिनय पर विचार करते हुए दो दो अंकों के बीच में 'प्रवेशक'[1] की स्थापना करनी चाहिए जिससे सन्धियों की घटनाओं या अर्थों का संक्षेप में प्रस्तुतीकरण हो जाए ॥ ५९ ॥

नाटिका—

अनयोश्च बन्धयोगा[4]दन्यो भेदः प्रयोक्तृभिः [5]कार्यः ।
[6]प्रख्यातस्त्वितरो वा [7]नाटकयोगे प्रकरणे वा ॥ ६० ॥

इन नाटक और प्रकरण के न्यूनाधिक गुणों के मिश्रण से निर्मित एक अन्य प्रकार भी नाटयप्रयोक्ता जन को मान्य है—जिसे 'नाटिका'[2] कहते हैं ॥ ६० ॥

प्रकरणनाटकभेदादुत्पाद्यं[8] वस्तु नायकं[9] नृपतिम् ।
[10]अन्तःपुरसङ्गीतककन्यामधिकृत्य[11] कर्तव्या ॥ ६१ ॥

नाटक तथा प्रकरण से इसका मौलिक विभेद भी है क्योंकि इसकी कथावस्तु उत्पाद्य होती है, नायक राजा होता है तथा अन्तःपुर के कार्य तथा संगीत कला आदि से सम्बन्द्ध कन्या इस नाटिका की नायिका होती है[3] ॥ ६१ ॥

---

१. तुलना—द० रू० १।१८ तथा सा० द० ४।३०२ ।
रूपक के प्रारम्भ या प्रथम—अंक में प्रवेशक नही होता है । 'प्रवेशक को प्राकृत भाषा में रखना होता है ।

२. तु० द० रू० ३।४३;
नाटिका लक्षण का यह भाग कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं पर श्री ए० बी० कीथ इस सन्देह को उचित नहीं मानते । (द्र० Sanskrit Drama. पृ० ३४९)

३. भास कृत 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' को नाटिका मानने में यही प्रमाण

---

१. अनयोरन्तरविहितः—क० । २. प्रवेशकार्थं—ख० ।
३. सङ्क्षेपार्थः सन्धिष्वर्थानां संविधातव्यः—ग० ।
४. योगादेको—ग० । ५. ज्ञेयः—ग० ।
६. प्रत्यारख्यातस्त्वितरो—ग० । ७. नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये—ख० ।
८. दुत्पन्नं—घ० । ९. नायको नृपतिः—घ० ।
१०. सङ्गीतकवार्तामं—ग० घ० । ११. कन्याकाश्रित्य—क० ।

स्त्रीप्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी[1]।
[2]बहुनृत्यगीतपाठ्या रतिसम्भोगात्मिका चैव ॥६२॥

इसमें स्त्री पात्रों की प्रचुरता रहती है, इसके चार अंक होते हैं, ललित अभिनय इसका प्राण होता है, इसके सन्ध्यंग पूर्णतः व्यवस्थित होते हैं, एवं अनेक नृत्य, गीत, पाठ्य और प्रणयात्मक विहार आदि इसके मुख्य गुण हैं[1] ॥ ६२ ॥

[3]राजोपचारयुक्ता [4]प्रसादन-क्रोधदम्भसंयुक्ता।
[5]नायकदेवीदूतीसपरिजना[6] नाटिका ज्ञेया[7] ॥ ६३ ॥

'नाटिका' में राजोचित आचार व्यवहार, क्रोध, दम्भ तथा प्रसादन

दिया जा सकता है कि इसकी कथावस्तु का मूल संगीत के तत्वों पर (जो उदयन ने वासवदत्ता को सिखाये थे—) निर्भर है। साथ ही इसका ४ अंकों का कलेवर भी नाटिका के स्वरूप को ही पुष्ट करता प्रतीत होता है। उक्त रचना के आमुख में 'प्रकरण' शब्द के उल्लेखमात्र से कृति को 'प्रकरण' नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह रचना के नाम तथा स्वरूप को बतलाने हेतु वहां नहीं कहीं गई थी। इसके अतिरिक्त इसकी समाप्ति पुष्पिका में 'प्रतिज्ञा नाटिकावसिता' लिखा मिलता है जो इसके नाटिका होने का संकेत भी देता है।

१. राजकीय आचार व्यवहारों के आधार पर तथा छोटे कलेवर के आधार पर 'मालविकाग्निमित्रम्' को भी नाटिका ही माना जाना चाहिए। (द्रष्टव्य कीथ Skt Dra पृ० ३५०) परन्तु नाटिका का पर्याप्त स्पष्ट तथा सही उदाहरण रत्नावली है।

---

१. सुविहितार्था—घ०।
२. बहूनृत्यगीतवाद्यरति—ख०, प्रनृत्तगीतपाठ्या—ग०।
३. कामोपचार—ग०।
४. शृङ्गाराभिनयभावसंयुक्ता—क०, प्रसादनक्रोधसंयुता चापि—घ०।
५. नायकदूतीचापि देवीसम्बन्धा नाटिका—ख, ग०।
६. परिजनसमन्विता नाटकप्राकृतिः—क०।
७. अस्मादनन्तरम् क०-ग-पुस्तकयो-अन्तर्भावगता ह्येषा भावयोरुभयोर्यतः। अतएव दशैतानि रूपाणीत्युदितानि वै॥ इत्यधिकं पद्यं समुपलभ्यते प्रक्षिप्तञ्च।—(सम्पा०)

होते हैं तथा इसमें नायक, महारानी, दूती तथा राजसेवक आदि पात्र (भी) रहते हैं ॥ ३६ ॥

[1]लक्षणमुक्तं प्रकरणनाटकयोरत्र नाटिकायाश्च ।
वक्ष्याम्यतः परमहं लक्षणयुक्त्या समवकारम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार (संक्षेप से) मैंने नाटक, प्रकरण और नाटिका के लक्षण बतलाए। अब मैं समवकार का लक्षण बतलाता हूँ ॥ ६४ ॥

समवकार—

देवासुरबीजकृतः[2] प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव[3] ।
त्र्यङ्कस्तथा त्रिकपटस्त्रिविद्रवः स्यात् त्रिशृङ्गारः ॥ ६५ ॥
द्वादशनायकबहुलो ह्यष्टादश-नाडिकाप्रमाणश्च[4] ।
वक्ष्याम्यस्याङ्कविधिं [5]यावत्यो नाडिकाः यत्र[6] ॥ ६६ ॥

इस समवकार में देव तथा असुरों की प्रख्यात कथावस्तु का बीजार्थ या किसी प्रयोजन विशेष से सम्बद्ध रूप रहता है। इसके नायक प्रसिद्ध और उदात्त होते हैं। इसमें तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के विद्रव और त्रिविध शृंगार रहता है। (इसके अतिरिक्त) इसमें बारह (तक) नायक होते हैं और इसका अठारह नाड़िका के प्रमाण वाला समय होता है। अब मैं इसके विभिन्न अंको में निर्धारित नाड़िकाओं के विषय में विशेष नियम बतलाता हूँ ॥ ६५-६६ ॥

[7]नाडीसंज्ञा ज्ञेया मानं कालस्य यन्मुहूर्तार्धम् ।
तन्नाडिकाप्रमाणं [8]यथोक्तमङ्केषु संयोज्यम्[9] ॥ ६७ ॥

मुहूर्त का आधा भाग—जो कि काल का प्रमापक भाग है—नाड़िका

---

१. प्रकरणनाटकनाटीलक्षणमुक्तं मया समासेन—ख०, ग० ।

२. बीजकृतं—ग० । ३. नायकञ्चैव—ग० ।

४. नाटिकाप्रमाणञ्च—ग० । ५. यत्रान्या—ग० ।

६. कार्याः—ग० । ७. ज्ञेयं तु नाडिकाख्यं मानं—क० घ० ।

८. यथोत्तमाङ्केषु—ख० ।

९. अस्मादनन्तरम्—या नाडिकेति संज्ञा कालविभागे क्रियाभिसम्पन्ना ।
कार्या सा च प्रयत्नाद्यथाक्रमेणैव शास्त्रोक्ता ॥

इति क—पुस्तकेऽधिकम् ।

कहलाता है। नाड़िका के प्रमाणानुसार ही समवकार[1] में अंको का समय निर्धारित किया जाए ॥ ६७ ॥

[1]अङ्कस्तु सप्रहसनः सविद्रवः सकपटः [2]सवीथीकः।
द्वादश [3]नाडीविहितः प्रथमः कार्यः [4]क्रियोपेतः ॥ ६८ ॥

समवकार का प्रथम अंक बारह[2] नाड़िका के प्रमाणवाला होना चाहिए जिसमें परिहास, विद्रव (भगदड़) कपट और वीथी के अंग रहने चाहिए ॥ ६८ ॥

कार्यस्तथा द्वितीयः समाश्रितो नाडिकाचतस्रस्तु।
वस्तु[5] समापनविहितो द्विनाडिकः स्यात् तृतीयस्तु ॥ ६९ ॥

समवकार का दूसरा अंक भी ऐसा ही हो केवल उसका चार नाडिका का समय निश्चित रखा जाता है। तीसरे अंक का समय—केवल दो नाडिका का रखा जाता है जिसमें कथावस्तु पूर्ण हो जाती है ॥ ६९ ॥

---

१. समवकार का सम्प्रति कोई प्राचीन नमूना प्राप्त नहीं होता। समुद्रमथन नामक वत्सराज (६२ वीं शती) कवि की रचना इसका उदाहरण है। भास के 'पंचरात्र' को कीथ ने समवकार माना है पर वह वस्तुतः समवकार नहीं है। (द्रष्टव्य कीथ Skt. Dra. पृ० २६७ तथा Bhāsa by Pusalkar पृ० २०२–२१०) एक ही रचना में तीनों प्रकार के कपट, विद्रव तथा शृंगार के साथ साथ उसका अठारह नाड़िका का समय बहुत लंबा हो जाता है तथा किसी नाट्यरचना में ये सभी बातें मुश्किल से आ सकती है। अंको के स्वरूप को देखने से स्पष्ट है कि 'समवकार' में कथान्विति शिथिल रहती होगी या प्रत्येक पात्र का दूसरे से प्रगाढ़ सम्बन्ध नहीं रह पाता होगा। नाटकीय लक्षणों के अनुसार कवि घनश्याम का 'नवग्रहचरित' भी समवकार है।

२. नाडिका अर्थात् २४ मिनिट का समय। मुहूर्त = ४८ मिनिट का समय। शारदातनय के अनुसार मुहूर्त का चतुर्थांश नाडिका कहलाता है। (दे० भा० प्रका० पृष्ठ २४९)।

१२ नाडिका अर्थात् ४ घंटे ४८ मिनिट का समय।

४ नाडिका = १ घंटा ३६ मिनिट। २ नाडिका = ४८ मिनिट।

---

१. अङ्केस्तु—ग०। २. सवीथ्यङ्गः—ध०।
३. नाडिकयुक्तः—घ०। ४. यथोक्तस्तु—क०, यथाक्षस्तु—ग०।
५. वस्तुप्रमाण—घ०।

[1]अङ्कोऽङ्कस्त्वन्यार्थः कर्तव्यः काव्यबन्धमासाद्य ।
अर्थं हि समवकारे [2]ह्यप्रतिसम्बन्धमिच्छन्ति ॥ ७० ॥

समवकार के विभिन्न अंकों में विभिन्न कथाविषय (काव्यबन्ध) की रचना की जाती है तथा इसमें कथासूत्र एक दूसरे से शिथिलता पूर्वक सम्बद्ध रहा[1] करते हैं ॥ ७० ॥

विद्रव तथा उसके तीन प्रकार—

युद्धजलसम्भवो वा [3]वाय्वग्निगजेन्द्रसम्भ्रमकृतो वा ।
नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः ॥ ७१ ॥

विद्रव तीन प्रकार से होता हैं—युद्ध या जलप्लावन के कारण, वायु व अग्नि के प्रकोप या मत्तहाथी के विगड़ पड़ने के कारण या शत्रुओं के द्वारा नगर के घिर जाने के कारण ॥ ७१ ॥

कपट तथा उसके तीन प्रकार—

[4]वस्तुगतक्रमविहितो दैववशाद्वा परप्रयुक्तो वा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतस्त्रिविधः [5]कपटोऽत्र विज्ञेयः ॥ ७२ ॥

कपट भी तीन प्रकार का होता है—जो किसी वस्तु या कार्य से, आकस्मिक या दैव से तथा किसी शत्रु के द्वारा प्रयोग करने के कारण होता है । यह मनुष्य में हर्ष तथा दुःख की उत्पत्ति करता है ॥ ७२ ॥

शृङ्गार तथा उसके तीन प्रकार—

त्रिविधश्चात्र विधिज्ञैः पृथक्पृथक्कार्य-योगविहितार्थः ।
[6]शृङ्गारः कर्तव्यो धर्मे चार्थे च कामे च ॥ ७३॥

शृङ्गार भी तीन प्रकार से तथा अपने विविध कार्य, भाव तथा

---

१. समवकार के इस नाटचशास्त्रीय विवरण से स्पष्ट है कि यह 'समवकार' प्राचीनतम काल में एक सुव्यवस्थित प्रकार का रूपक नहीं था, जब कि भारतीय नाटच अपनी विकासोन्मुखता की ओर अग्रसर हो रहा था ।

---

१. अङ्कोऽङ्के सम्बन्धः—क० । २. ह्यप्रतिसन्धान—ग० घ० ।
३. जलेन्द्रसम्भवो वापि—ख० ग० घ० ।
४. यस्तु गतिक्रम—ख०, ग०, घ० ।
५. कपटाश्रयो ज्ञेयः—ख०, ग० ।
६. त्रिविधकृतः शृङ्गारो ज्ञेयो धर्मार्थकामेषु—क, त्रिविधाकृतिश्शृङ्गारो ज्ञेयो धर्मार्थकामकृतः—घ० ।

अभिनय से युक्त होकर प्रस्तुत किया जाता है। ये तीन प्रकार हैं—(१) धर्मशृङ्गार (२) अर्थशृङ्गार तथा (३) कामशृङ्गार ॥ ७३ ॥

धर्मशृङ्गार—

[1]यस्मिन् [2]धर्मप्रापकमात्महितं भवति साधनं बहुधा।
[3]व्रतनियमतपोयुक्तो ज्ञेयोऽसौ धर्मशृङ्गारः ॥ ७४ ॥

जब धर्म के उत्पादक और आत्महितकारक साधन अनेक मार्ग से इष्टतम रूप में आ जाए तथा व्रत, नियम, तप आदि का जिसमें आचरण हो तो उसे ''धर्मशृंगार' समझना चाहिए ॥ ७४ ॥

अर्थशृंगार—

अर्थस्येच्छायोगाद्बहुधा चैवार्थतोऽर्थशृङ्गारः।
[4]स्त्रीसम्प्रयोगविषयेष्वर्थार्थो वा रतिर्यत्र ॥ ७५ ॥

जिसमें (किसी) इष्ट अर्थ की अनेक रुपों में उपलब्धि हो या फिर जिसमें अर्थ-हेतु ही स्त्री के साथ विहार किया जाए तो उसे भी 'अर्थ-शृंगार' समझना चाहिए ॥ ७५ ॥

कामशृंगार--

[5]कन्याविलोभनकृतं प्राप्तौ स्त्रीपुंसयोस्तु रम्यं वा।
[6]निभृतं सावेगं वा यस्य भवेत् सः कामशृङ्गारः ॥ ७६ ॥

किसी कन्या के लोभवश या स्त्री और पुरुष के एकान्त विहार में कुछ आवेग और रम्यता लिए हुए रहने वाला आचरण 'कामशृंगार' कहलाता है॥

समवकार में छन्द—

उष्णिग्गायत्र्याद्यादन्यानि[7] च यानि बन्धकुटिलानि।
वृत्तानि समवकारे [8]कविभिस्तानि प्रयोज्यानि ॥ ७७ ॥

---

१. धर्म, अर्थ तथा कामशृंगार के उदाहरण नाटकलक्षणरत्नकोश में सलक्षण दिये हुए हैं (द्र० नाट० र० को० चौख० पृ० २६७–६८)।

---

१. यत्र तु धर्मसमापक—ख०, यत्र तु धर्मे प्रार्थितमात्रं—ग०।
२. धर्मे प्रायिक—क०। ३. प्रतिनियय—ग० घ०।
४. सम्प्रयोगविषयेष्वयथार्थमपीष्यतेऽभिरतिः—ग०, घ०।
५. विलोभनं वा प्राप्ती—ग० घ०।
६. निभृतं वा सावेगं जानीयात्—ग० घ०।
७. द्यान्यन्यानि—क, उष्णिक्गायत्री वा यानि तथान्यानि—ग०।
८. कविभिर्नैव ग०।

समवकार में नाट्यकार को उष्णिक् और गायत्री आदि छन्दों से भिन्न कुटिल बन्धवाले छन्दों का प्रयोग[1] करना चाहिए ॥ ७७ ॥

एवं कार्यस्तज्ज्ञैर्नानारससंश्रयः[1] समवकारः।
[2]वक्ष्याम्यतः परमहं लक्षणमीहामृगस्यापि ॥ ७८ ॥

नाट्यकार इसी विधान के अनुसार अनेक रसों से पूर्ण समवकार की रचना करें। अब मैं आपको 'ईहामृग' नामक रूपक का लक्षण बताता हूँ ॥ ७८ ॥

ईहामृग[2]—

दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्धः[3]।
[4]सुविहितवस्तुनिवद्धो [5]विप्रत्ययकारकश्चैव ॥ ७९ ॥

इस ईहामृग में दिव्य नायक होता है और दिव्य स्त्री के कारण यहाँ युद्ध होता है। इसकी कथावस्तु सुगठित होती है और यह (प्रायः) विश्वसनीय (प्रत्यय) घटनाओं वाली भी होती है ॥ ७९ ॥

[6]उद्धतपुरुषप्रायः स्त्रीरोषग्रथित[7]-काव्यबन्धश्च।
सङ्क्षोभविद्रवकृतः सम्फेटकृतस्तथा चैव ॥ ८० ॥

इसमें उद्धत नायक होते हैं और स्त्री के रोष पर काव्य की कथावस्तु आस्थित होती है; जो संक्षोभ, विद्रव और सम्फेट की उत्पत्ति करते हैं ॥ ८० ॥

---

१. समवकार में उष्णिक् आदि संश्लिष्ट या लम्बे वृत्तों के रखने का नियम है तथा 'उद्भट' सम्मत पाठ यहां लेना उचित है। हमने भी यही उचित समझा। समवकार में स्रग्धरा या शार्दूल-विक्रीडित जैसे लंबे वृत्तों का प्रयोग भी लक्षण के अनुकूल ही होगा। कवि घनश्याम (१७ वीं शती) ने अपनी रचना 'नवग्रहचरित' में इसी कारण इन्हीं छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया भी है।

२. ईहामृग के प्राचीन नमूने प्राप्त नहीं हैं। केवल वत्सराज (१२ वीं शती) कृत रुक्मिणीहरण, कृष्णमिश्र कृत वीर—विजय तथा कृष्ण अवधूत कृत 'सर्वविनोद' इसके उदाहरण प्राप्त हैं।

---

१. सुखदुःखसमाश्रयः—ख०, ग० घ०, नानारससंज्ञकः—क (भ०)।
२. अत ऊर्ध्वं व्याख्यास्ये—क०। ३. युक्तः—क०।
४. निबन्धो—ख० ग०, घ०। ५. विप्रात्यय—ग०।
६. तद्वत्पुरुष—क०। ७. प्रथित—क०।

स्त्रीभेदना [1]पहरणावमर्दन-प्राप्तवस्तु शृङ्गारः ।
ईहामृगस्तु कार्यः [2]सुसमाहित-काव्यबन्धश्च ॥ ८१ ॥

ईहामृग में सुसम्बद्ध काव्य रचना रखनी होती है और कथावस्तु शृंगार–रस में स्त्री के विभेद, अपहरण या इसी कारण शत्रुओं को या दण्ड या अवमर्दन के कारण ग्रथित रखी जाती है ॥ ८१ ॥

यद्व्यायोगे कार्यं ये पुरुषा [3]वृत्तयो रसाश्चैव ।
ईहामृगेऽपि ते[4] स्युः केवलममरस्त्रिया[5] योगः ॥ ८२ ॥

ईहामृग में भी वे नायक, वृत्ति तथा रस होते हैं जो व्यायोग में हो, केवल अन्तर इतना ही है कि इसमें स्त्री पात्रों में प्राप्त होने वाली दिव्य-स्त्री को ही नायिका के रूप में (विशेषतः) रखा जाता है ॥ ८२ ॥

यत्र तु वधोप्सितानां वधो[6] ह्युदग्रो भवेद्धि पुरुषाणाम् ।
किञ्चिद् व्याजं कृत्वा तेषां युद्धं शमयितव्यम् ॥ ८३ ॥

ईहामृग में वध के योग्य पुरूषों के वध की स्थिति आ भी जाए तो किसी वहाने से उनके युद्ध को शान्त कर दिया जाता है ॥ ८३ ॥

ईहामृगस्य [7]लक्षणमुक्तं विप्राः समासयोगेन ।
[8]डिमलक्षणन्तु भूयो लक्षणयुक्त्या प्रवक्ष्यामि ॥ ८४ ॥

मुनिजन, आपको संक्षेप में ईहामृग का लक्षण मैंने बतलाया, अब मैं आपको 'डिम' का लक्षण बतलाता हूँ ॥ ८४ ॥

डिम—

प्रख्यातवस्तुविषयः [9]प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
[10]षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिमः कार्यः ॥ ८५ ॥

---

१. पमर्दन—ख०, पमर्दसम्प्राप्त—ग०; वमर्दसम्प्राप्त—घ० ।

२. चतुरङ्कविभूषितश्चैव—ख०, ससमाहित—ग० ।

३. ये रसाश्च निर्दिष्टा;—ग० । ४. तत्स्यात्—ख० ।

५. स्ममरस्त्रियो ह्यस्मिन्—घ०, मत्र स्त्रिया योगः—क (द०) ।

६. वधोऽप्युदग्रो—ग, घ० ।

७. लक्षणमिदमित्युक्तं मया समासेन—ग०, घ० ।

८. अथ वै डिमस्य लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि—ख० ।

९. नायकोपेतः—ग०, घ० ।

१०. षट्त्रिंशल्लक्षणयुक् चतुरङ्को—० ।

'डिम'[1] की कथावस्तु प्रख्यात होती है तथा इसका नायक भी प्रसिद्ध तथा उदात्त होता है। इसमें छः रस तथा चार अंक होते हैं ॥ ८५ ॥

शृङ्गारहास्यवर्जः [1]शेषैः सर्वैः रसैः समायुक्तः।
दीप्तरसकाव्ययोनिः [2]नानाभावोपसम्पन्नः ॥ ८६ ॥
[3]निर्घातोल्कापातैरुपरागेणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।
युद्धनियुद्धाधर्षण[4] [5]सम्फेटकृतश्च कर्तव्यः ॥ ८७ ॥

डिम में शृंगार तथा हास्य रस के अतिरिक्त शेष सभी रस होते हैं तथा इसकी कथावस्तु (काव्ययोनि) दीप्त-रसों तथा विविध भावों से युक्त होती है। इसमें चोट लगना, बिजली का गिरना, सूर्यचन्द्र के ग्रहण, युद्ध, मल्लयुद्ध, चुनौती, (आधर्षण) और क्रोध पूर्ण झड़पों की घटनाएँ समाविष्ट रहती हैं ॥ ८८–८७ ॥

[6]मायेन्द्रजालबहुलो [7]बहुपुस्तोत्थानयोगयुक्तश्च ।
[8]देवभुजगेन्द्र-राक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च[9] ॥ ८८ ॥

---

१. डिम का प्राचीन नमूना प्राप्य नहीं। वत्सराज कृत 'त्रिपुरदाह' ही सम्प्रति प्राप्य डिम है। आचार्य अभिनवगुप्त पाद के अनुसार डिम, डिम्ब तथा विद्रव शब्द पर्यायवाची है, अतः जिसमें विद्रव आदि का योग रहे उसे 'डिम' समझना चाहिए। अन्य आचार्य डयन्ते इति 'डिमः' के अनुसार उद्धत नायकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन होने से 'डिम' की संगति बैठाते हैं तथा इसे व्युत्पन्न शब्द मानते हैं। दशरूपककार ने 'डिम' शब्द को डिम् संघाते धातु से व्युत्पन्न माना है, जिसका अर्थ है घात प्रतिघात करना। सभी व्युत्पत्तियों से होनेवाली क्रियाएँ मूललक्षण में परिलक्षित होती है जहाँ नायक का संघात व्यापार आदि बतलाया जाए। इसका उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है। डिम का इस रूप में कारण यह भी है कि इसमें प्रधानतया विद्रव को प्रदर्शित किया जाता है अथवा इसमें उद्धत या उन्मत्त नायक के कार्यों को प्रदर्शित करते हैं।

---

१. शेषैरन्यै रसै—ख० ग०। २. नानाभावाचिताश्चैव—ग० घ०।
३. निर्घातचन्द्रसूर्योपरागसोल्कावपातसंयुक्तः—ग० घ०।
४. नियुद्धप्रहरण—ख० ग० घ०। ५. संस्फोटकृतश्च—क०।
६. माहेन्द्रजाल—क०।
७. बहुपुरुषोत्थानभेदसंयुक्तः—ग०, घ०, बहुशस्त्रोत्थानभेदसंयुक्तः।
८. देवासुरराक्षसभूतयक्षनागाश्च पुरुषाः स्युः—ग०, घ०।
९. वतीर्णश्च—क०।

षोडशनायकबहुलः [1]सात्वत्यारभटिवृत्तिसम्पन्नः ।
कार्यो डिमः [2]प्रयत्नान्नानाश्रयभावसम्पन्नः ॥ ८९ ॥

इसमें माया तथा इन्द्रजाल की प्रचुरता होती है, अनेक पात्रों के पलस्तर के नेपथ्य वाले चेहरे और परस्पर प्रगति से युक्त कार्य होते है। इसमें सोलह नायक देव, नाग, राक्षस, यक्ष और पिशाच जाति के होते हैं और सात्वती और आरभटी वृत्तियां रहती हैं तथा अन्य अनेक उक्त स्थिति के पोषक ही भाव भी रखे जाते हैं ॥ ८८–८९ ॥

डिमलक्षणमित्युक्तं मया समासेन लक्षणानुगतम् ।
व्यायोगस्य तु लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ ९० ॥

इस प्रकार मैंने संक्षेप में 'डिम'[1] का लक्षणानुसारी स्वरूप बतलाया। अब मैं 'व्यायोग' का लक्षण बतलाता हूं ॥ ९० ॥

व्यायोग—

व्यायोगस्तु विधिज्ञैः [3]कार्यः प्रख्यातनायकशरीरः ।
अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा[4] चैव ॥ ९१ ॥

---

१. नाटक के सर्वोत्तम रूपक होने से मुनि ने सर्वप्रथम इसी की व्याख्या की। नाटक के समकक्ष रूपक होने से दूसरा स्थान प्रकरण का है। प्रकरण के बाद नाटिका का इसलिये लक्षण बतलाया कि नाटक तथा प्रकरण में अधिकांश रूप में जो बतलाया गया है उसे ही नाटिका के लिये कहना आवश्यक था। यदि नाटिका का अन्यरूपक प्रकारों के उपरान्त स्वरूप बतलाया गया होता तो इन सभी पूर्वकथित सामान्य बातों को फिर से दुहराना पड़ता। नाटिका का प्रधान तत्त्व है शृङ्गाररस की प्रधानता तथा स्त्रीपात्रों का आधिक्य।

नाटिका के पश्चात् ही मुनि द्वारा समवकार का लक्षण बतलाने का कारण है कि इसमें तीन प्रकार के शृङ्गार रस का प्रदर्शन रहना। इसके बाद ईहामृग का क्रम आता है जिसमें समवकार के समान दिव्य पुरुष और स्त्री पात्र रखे जाते हैं। इसके बाद रूपक के किसी प्रभेद में किसी देवता को नायक के रूप में प्रदर्शित किया जा सके ऐसा रूपक डिम आता है। इसी कारण व्यापक कथानक और अनेक रसों के प्रदर्शन के कारण रूपक के अवशिष्ट प्रकार के रूप में 'डिम' का लक्षण भरतमुनि ने निरूपित किया।

---

१. त्यारभटि वृत्तिसंयुक्तः—ग०, घ०।
२. प्रयोगात्तज्ज्ञैर्नानाश्रयविशेषः—क०, तज्ज्ञैर्नानाश्रयविशेषेण—ग०।
३. कर्तव्यः ख्यातनायक—ग०, घ०। ४. स्यादेकाहप्रयोज्यश्च—क०।

'व्यायोग'[1] में नायक एक तथा प्रख्यात होता है। इसमें स्त्री पात्र कम होते हैं और एक दिन में पूर्ण हो जाने वाली घटना कथावस्तु में रखी जाती है ॥ ९१ ॥

बहवश्च[1] तत्र पुरुषा [2]व्यायच्छन्ते यथा समवकारे।
न च तत्प्रमाणयुक्तः[3] कार्यस्त्वेकाङ्क[4] एवायम् ॥ ९२ ॥

इसमें समवकार के समान अनेक पुरूष पात्रों की भूमिका नहीं रखी जाती है क्योंकि इसमें 'एक अंक' होने से इसकी लम्बाई उतनी नहीं हो सकती ॥ ९२ ॥

न[5] च दिव्यनायककृतः कार्यो राजर्षिनायकनिबद्धः।
युद्धनियुद्धाधर्षण-सङ्घर्षकृतश्च[6] कर्तव्यः ॥ ९३ ॥
एवंविधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकाव्यरसयोनिः।
वक्ष्याम्यतः परमहं लक्षणमुत्सृष्टिकाङ्कस्य ॥ ९४ ॥

इसका नायक दिव्य नहीं होता किन्तु राजर्षि होता है, और इसमें युद्ध, मल्लयुद्ध, चुनौती और झड़पें समाविष्ट रहती हैं। अतएव व्यायोग में इसी प्रकार के लक्षण रहने चाहिए जिनमें रस दीप्त होते हों। अब मैं 'अंक' का लक्षण बतलाता हूं ॥ ९३–९४ ॥

अंक या उत्सृष्टिकाङ्क—

प्रख्यात[7]वस्तुविषयस्त्वप्रख्यातः कदाचिदेव स्यात्।
दिव्यपुरुषैर्वियुक्तः [8]शेषैर्युक्तो भवेत् पुंभिः ॥ ९५ ॥

---

१. भास प्रणीत 'मध्यम-व्यायोग' व्यायोग का प्राचीन उदाहरण है। इसके अतिरिक्त प्रह्लादनदेव का पार्थपराक्रमव्यायोग (१२ वीं० शती), वत्सराज कृत किरातार्जुनीय व्यायोग (१२ वीं० शती०) तथा विश्वनाथ का सौगन्धिका हरण भी व्यायोग के रूप में बहुत बाद की कृतियां है।

---

१. बहवस्तत्र तु—क०। २. कविभिः कार्या—ख, ग०।
३. तत्प्रमाणवस्तुस्त्वेकाङ्कः संविधातव्यः—क०, तत्प्रमाणयुक्ताः कार्या एकाङ्क—ख०।
४. तदेकाङ्कः संविधातव्यः—ग०, घ०।
५. स च दिव्यमानुष—क०।
६. घर्षण-सङ्घर्षश्चापि—ग० घ०।
७. स्तेष्वप्रख्यातवस्तुविषयो वा—क०।
८. शेषैरन्यैर्भवेत्—ख० ग० घ०।

'अंक'[1] या 'उत्सृष्टिकांक' की कथावस्तु प्रख्यात और कभी-कभी अप्रख्यात (या उत्पाद्य) भी रखी जाती हैं। दिव्य पात्रों की इसमें स्थिति नहीं होती ॥ ९४ ॥

[1]करुणरसप्रायकृतो [2]निवृत्तयुद्धोद्धतप्रहारश्च[3]।
[4]स्त्रीपरिदेवितबहुलो [5]निर्वेदितभाषितश्चैव ॥ ९६ ॥

'उत्सृष्टिकांक' में (प्रायः) करुण रस होने से इसमें युद्ध और उद्धत-प्रहार आदि के दृश्य नहीं होते और इसमें करुण रस के कारण ही स्त्रियों के विलाप और निर्वेदपूर्ण संभाषण अधिक रहते हैं ॥ ९६ ॥

[6]नानाव्याकुलचेष्टः सात्वत्यारभटि-कैशिकीहीनः।
[7]कार्यः काव्यविधिज्ञैः सततं ह्युत्सृष्टिकाङ्कस्तु ॥ ९७ ॥

इसमें व्याकुल अवस्था में होनेवाली अनेक चेष्टाएं रखी जाती है और सात्वती, आरभटी और कैशिकीवृत्ति नहीं रखी जाती। इसकी कथावस्तु में किसी एक पात्र का पतन (अभ्युदयान्त) रखा जाता है या अन्त में अभ्युदय का किसी पात्र के पतन से सम्बन्ध रहता है ॥ ९७ ॥

दिव्यनायकों का कार्य-प्रदेश—

यद्दिव्यनायककृतं काव्यं सङ्ग्रामबन्धवधयुक्तम्।
तद्भारते तु वर्षे कर्तव्यं काव्यबन्धेषु ॥ ९८ ॥

नाट्य रचनाओं में दिव्यपात्रों[2] के द्वारा किये जाने वाले युद्ध, वध और बन्धन के कार्य भारतवर्ष की भूमि पर घटित बतलाए जाए ॥ ९८ ॥

---

१. भासकृत 'उरुभंग' इसका एक मात्र प्राचीन उदाहरण है। कीथ ने भ्रमवश गर्भाङ्क को उत्सृष्टिकांक मान लिया। परन्तु गर्भाङ्क तथा अंक में पर्याप्त पार्थक्य है।

२. दिव्य नायकों के दृश्य का यह विवरण संभवतः ना० शा० के अध्याय १४।२६ से अधिक सम्बन्ध रखता है जहां दृश्य का विवेचन किया गया है।

---

१. रसार्थप्रायो—क०। २. बद्धोद्धतप्रहारश्च—क (फ०)
३. प्रभावश्च—क। ४. परिदेवन—ग० घ०।
५. निर्वेदिवाक्यभाषाश्च—क, निर्वेदिभाषित—ग० घ०।
६. नातिव्यायत—क (द०)।
७. कर्त्तव्योऽभ्युदयान्तस्तज्ज्ञैरुत्सृष्टिकाङ्कस्तु—ग० घ०।

कस्माद् भारतमिष्टं [1]वर्षेष्वन्येषु देवविहितेषु ।
हृद्या सर्वा भूमिः शुभगन्धा काञ्चनी[2] यस्मात् ॥ ९९ ॥

देवगणों के अन्य प्रदेश होने पर भी भारतवर्ष में ही घटित उनकी (जीवन) घटनाओं को इसलिए बतलाया जाता है क्यों कि यहाँ की भूमि अत्यन्त आकर्षक मधुरगन्धोंवाली और सोने के समान गौर वर्ण वाली होती है ॥ ९९ ॥

उपवनगमनक्रीडाविहारनारीरतिप्रमोदाः[3] स्युः ।
तेषु[4] हि वर्षेषु सदा न[5] तत्र दुःखं न वा [6]शोकः ॥ १०० ॥

अन्य प्रदेशों में (जो देवगण के निवास स्थान या विहार प्रदेश हों) दिव्य पात्रों के उपवन विहार, क्रीडा, समय बिताने के लिए किये जाने वाले मनोविनोद, स्त्रियों के साथ मनाए जाने वाले आनंद बतलाये जा सकते हैं, क्योंकि उन प्रदेशों में न कोई दुःख और न शोक होता है ॥ १०० ॥

ये [7]तेषामधिवासाः पुराणवादेषु[8] पर्वताः प्रोक्ताः[9] ।
सम्भोगस्तेषु भवेत् कर्मारम्भो[10] भवेदस्मिन् ॥ १०१ ॥

दिव्य पात्रों का पुराणों में निर्दिष्ट स्थानों पर विहार, मनोविनोद आदि बतलाया जाए परन्तु (कथावस्तु में) अन्य कार्य की पूर्ति तथा पूर्णतः उपलब्धि आदि भारतभूमि पर ही दिखलानी चाहिए ॥ १०१ ॥

अङ्कस्य [11]लक्षणमिदं व्याख्यातमशेषयोगमात्रगतम् ।
प्रहसनमतः परमहं सलक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ १०२ ॥

इस प्रकार 'उत्सृष्टिकांक' या 'अंक' का मैंने व्यवस्थित स्वरूप बतलाया। अब मैं 'प्रहसन'[1] का लक्षण बतलाता हूँ ॥ १०२ ॥

---

१. प्रहसन—प्रहसन में निन्दित तथा मिथ्याचारी व्यक्ति के चरित्र को प्रस्तुत किया जाता है। इसका नायक बौद्धभिक्षु, शैवसन्यासी, तपस्वी या गृहस्थ

---

१. सर्वेष्वन्येषु नित्यकालं हि—ग० । २ हेमरत्नमयी—क० (प०) ।
३. विहरण—क० । ४. तस्मिन्नित्यं वर्षे—क० ।
५. न भवति—ग, घ० । ६. शोकम्—ग० ।
७. तेषामपि—ख. ग० ।
८. पुराणवादे च पर्वताः गदिताः—ग. घ० ।
९. कथिताः—क० । १०. कर्मारम्भास्तथा ह्यस्मिन्—क० ।
११. लक्षणगतं व्याख्यातं शेषमात्रगतम्—ख़, ग० घ० ।

प्रहसन—

प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथा च सङ्कीर्णम् ।
[1]वक्ष्यामि तयोर्युक्त्या पृथक्पृथग्लक्षणविशेषम् ॥ १०२ ॥

'प्रहसन'[1] के दो भेद होते हैं—एक 'शुद्ध' दूसरा 'संकीर्ण' । अब मैं दोनों के पृथक्-पृथक् विशेष लक्षण बतलाता हूँ ॥ १०२ ॥

हो सकता है । इसमें परिहासपूर्ण संवाद रखे जाते हैं जिससे प्रेक्षको में हास्य उत्पन्न हो जाए ।

प्रहसन में मिथ्याचारी नायक को अत्यन्त सुसंस्कृत भाषा में बोलते हुए रखा जाता हैं तथा धार्मिक कृत्यों को बड़ी सूक्ष्मता एवं विस्तार से प्रदर्शित किया जाता है । इसका उद्देश्य दम्भी नायक के जीवन को प्रस्तुत कर उसकी खिल्ली उड़ाना है । हास्योत्पादक कथोपकथन से युक्त रहने के कारण ही इसकी प्रहसन संज्ञा भी है ।

शुद्ध प्रहसन में एक व्यक्ति के जीवन के हास्यास्पद अंशों को प्रदर्शित किया जाता है तथा सङ्कीर्ण प्रहसन उसे कहते हैं जिसमें एक धार्मिक दम्भी का वेश्याओं से सम्बद्ध चरित्र प्रस्तुत किया जाता है । इसमें आत्मसंयम का ऐसे सुस्पष्ट रूप से अभाव प्रदर्शित करते हैं कि जिससे मिथ्याचारी नायक के सभी साथी हास्यास्पद बन जाएँ ।

कुछ आचार्यों के मतानुसार सङ्कीर्णप्रहसन उसे समझना चाहिए जिसमें ऐसे पात्र को प्रस्तुत किया जाए जिसका जीवन संस्कृति शून्य हो तथा जो सुसंस्कृत समाज के मध्य हास्यास्पद बन जाए । परन्तु जब इसके ऐसे पात्र अपने स्वरूपवश स्वभावतः हास्योत्पादक न होते हुए भी किसी दुष्ट पुरुष के सम्पर्क के कारण हास्यजनक बन जाए तो उसे शुद्धप्रहसन समझना चाहिए ।

कुछ आचार्यों के मत में शुद्ध प्रहसन में एक अङ्क रखा जाता है तथा संकीर्ण प्रहसन में मिथ्याचारी नायक के वेश्या आदि संगियों की संख्या को ध्यान में रखकर अनेक अर्थात् दो अंक रखते हैं । दूसरे विद्वान् प्रहसन में एक एङ्क को ही स्वीकार करते हुए कहते हैं कि प्रहसन का लक्षण जब मुनि ने एकाङ्क रूपकों के प्रसंग में बतलाया तो प्रसंग-विरुद्ध मत को प्रस्तुत कर अधिक अङ्क स्वीकार करना सन्तोषप्रद कारण नहीं हो सकता ।

१. महेन्द्रविक्रम वर्मन का मत्तविलास प्रहसन तथा बोधायन कवि कृत 'भगवदज्जुक' प्रहसन के प्राचीन नमूने हैं । शंखधर कृत 'लटकमेलक'

---

१. तस्य व्याख्यास्येऽहं पृथक् पृथक् लक्षणविशेषान्—ग. घ० ।

शुद्ध प्रहसन—

भगवत्तापसविप्रैरन्यैरपि[1] हास्यवादसम्बद्धम् ।
[2]कापुरुषसम्प्रयुक्तं परिहासाभाषणप्रायम् ॥ १०४ ॥
अविकृतभाषाचारं [3]विशेषभावोपपन्नचरितपदम् ।
नियतगतिवस्तुविषयं शुद्धं[4] ज्ञेयं प्रहसनन्तु ॥ १०५ ॥

शुद्ध प्रहसन में शैव-गुरु[1] (भगवत् तापस) और ब्राह्मणों के परिहास-पूर्ण संवाद होते हैं और साधारण पुरुषों के परिहासपूर्ण अभिप्रायों के सूचक वचन रहते हैं और कथावस्तु में (इन बातों के कारण) यथार्थ भाषा और व्यवहार को उपस्थापित कर अन्त तक इस तत्त्व का निर्वाह करते हैं ॥

मिश्र-प्रहसन—

वेश्या-चेट-नपुंसक-विटधूर्ता[5] बन्धकी च यत्र स्युः ।
अनिभृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणैस्तु[6] सङ्कीर्णम् ॥ १०६ ॥

जिसमें वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त तथा रक्षिता स्त्री की अपने असभ्य वेश तथा चेष्टाओं सहित स्थिति रहे तो उसे 'मिश्र'[2] प्रहसन समझना चाहिए ॥ १०६ ॥

ज्योतिरीश्वरकृत 'धूर्त-समागम' (१५ वीं शती), जगदीश्वर-कृत 'हास्यार्णव' आदि प्रहसन बाद की रचनाएं हैं ।

१. भगवत् शब्द शैवसाधु को निर्दशित करता है । इस अर्थ में इसका व्यवहार भी 'भगवदज्जुक' में मिलता है, जो इसकी प्राचीनता को स्वयं बतलाता है । मत्तविलास, धूर्तनर्तनक तथा हास्य-चूड़ामणि में शैव साधु पात्र है । शैव साधुओं का एक अन्य रूप कर्पूरमंजरी में भैरवाचार्य के रूप में भी परिलक्षित होता है । 'मत्तविलास' शुद्ध प्रहसन का उदाहरण है ।

२. मिश्र प्रहसन के अन्तर्गत 'धूर्तसमागन' तथा हास्यार्णव लिए जा सकते हैं ।

---

१. भिक्षुश्रोत्रिय-विप्रातिहाससंयुक्तम्—ग. घ० ।
२. नीचजन—ग. घ० ।
३. विशेषहासोपहासरचितपदम्—ग. घ० ।
४. शुद्धमिदं प्रहसनं ज्ञेयम्—क० ।
५. नपुंसक-धूर्तविटा—ख. ग. घ० ।
६. चेष्टाकरणात्तु—ग. घ० ।

लोकोपचारयुक्ता या वार्ता यश्च दम्भसंयोगः।
[1]स प्रहसने प्रयोज्यो [2]धूर्तप्रविवादसम्पन्नः ॥ १०७ ॥

जो लोक प्रसिद्ध घटनाएँ हों या ऐसी दम्भपूर्ण घटनाएँ जो संसार में प्रतिदिन देखी जाती हों उन्हें धूर्त्तपात्रों के वादविवाद के साथ 'प्रहसन' में रखा जा सकता है ॥ १०७ ॥

[3]वीथ्यङ्गैः संयुक्तं कर्तव्यं प्रहसनं यथायोगम्।
[4]भाणस्यापि तु लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ १०८ ॥

प्रहसन में उचित रूप में वीथ्यंगों का भी (आवश्यक होने पर) सन्निवेश किया जा सकता है। इसके बाद अब मैं 'भाण का लक्षण बतलाता हूँ ॥ १०८ ॥

भाण—

आत्मानुभूतशंसी [5]परसंश्रयवर्णनाविशेषस्तु।
[6]द्विविधाश्रयो हि भाणो [7]विज्ञेयस्त्वेकहार्यश्च ॥ १०९ ॥

'भाण'[1] एक पात्र के द्वारा अभिनीत रूपक होता है और यह दो प्रकार का होता है—एक तो अपने अनुभवों की बातों को कहने वाला या फिर किसी अन्य व्यक्ति की बातों का वर्णन करनेवाला ॥ १०९ ॥

---

१. भाण—इसमें अङ्क तथा पात्र एक होता है तथा सम्पूर्ण कथानक को एक ही पात्र प्रस्तुत करता है। इस रूपक को शास्त्रीय भाषा में भाण कहने का कारण यह है कि इसमें रंगमञ्च पर स्थित नायक ही कथानक के मध्य आने वाले अन्य पात्रों के भाषणों को (संवादों को) स्वयं ही बोलता है तथा अपने और अन्य व्यक्तियों के अनुभवों को बतलाता है। दर्शक को ये अन्य पात्र न तो दृष्टिगत होते हैं और न उनकी वाणी ही सुनाई देती है जिनके भाषणों को यह दोहराता है या मंच पर स्थित रहकर जिनके अनुभवों का यह वर्णन

---

१. तत् प्रहसने प्रयोज्यं—ख. घ०।
२. धूर्तोक्तविवादसंयुक्तम्—ख, धूर्तविटविवाद-सम्पन्नम्—ग०।
३. उद्घात्यकादिभिरिदं वीथ्यङ्गे मिश्रिते भवेन्मिश्रम्—ग।
४. भाणस्य विधानमतो लक्षणयुक्त्या प्रवक्ष्यामि—क०।
५. परसंश्रितवर्णना—ग० घ०।
६. विविधाश्रयो—क० ग०।
७. स्त्वेकपात्रश्च—क (म०)।

परवचनमात्मसंस्थं [1]प्रतिवचनैरुत्तरोत्तरग्रथितैः[2]।
आकाशपुरुषकथितैरङ्गविकारैरभिनयैश्चैव ॥ ११० ॥

स्वयं को संबोधित करते हुए अन्य व्यक्ति के वचनों को रखते हुए, आकाशभाषित के द्वारा, प्रश्न और उत्तर कर उक्ति प्रत्युक्तिपूर्ण वाक्यावली में उपयुक्त शारीरिक चेष्टाओं को प्रदर्शित करते हुए (इसका) अभिनय करना चाहिए ॥ ११० ॥

धूर्तविटसम्प्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मकश्चैव ।
[3]एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैः भाणः ॥ १११ ॥

भाण[1] में 'धूर्त' या 'विट' पात्र रहता है और इन्हीं जैसे पात्रों की विभिन्न अवस्थाओं का इसमें निदर्शन कराया जाता है । 'भाण' एक अंक का होता है जिसमें विट या धूर्त पात्र के द्वारा अनेक चेष्टाओं का अभिनय किया जाता है ॥ ११२ ॥

करता है । परन्तु रंगमञ्च पर स्थित अभिनेता उन्हीं पात्रों को प्रत्यक्ष देखते हुए और उनके कथनों को सुनते हुए दिखाया जाता है । यह उन अदृश्य पात्रों से बातचीत करता है और उनके प्रतिकथनों को समुचित अंगाभिनय एवं चेष्टाओं के द्वारा दोहराता है । इसके साथ साथ यह उन अदृश्य व्यक्तियों के कार्यों को अभिनय के द्वारा प्रकट भी करता है ।

भाण का नायक दुष्टस्वभाववाला या परस्वजीवी भी होता है, जो अपने पूर्व कार्यों को तदुचित भावों के द्वारा पूर्ण रूप से प्रदर्शित करता है । भाण का उद्देश्य दुष्ट स्वभाव एवं चरित्र हीन पुरुषों के ऐसे कार्यों का व्यङ्ग्य या परिहास पूर्ण पद्धति से प्रदर्शन होता है जिससे सामान्यजन इनके चंगुल में न फँसने की शिक्षा ले सकें ।

१. चतुर्भाणी (५ वीं ६ ठी शती०) में भाण के प्राचीनतम रूप की प्राप्ति होती है । संस्कृत साहित्य में भाणरूपकों का लोकप्रिय रहने से आगे भी पर्याप्त प्रणयन हुआ । इसका विवरण श्री ए० बी० कीथ के ग्रन्थ संस्कृतनाटक तथा अन्य सम्बन्ध इतिहास ग्रन्थों में प्राप्य है । (द्रष्ट० संस्कृत नाटक—कीथ० पृ० २६३–२६४)

---

१. परवचनैरुत्त—ग० ।
२. रुत्तरोत्तरैर्ग्रथितवाक्यम्—घ० ।
३. कार्योऽङ्कवस्तुतुल्यः सततं काव्येषु वै भाणः—क (भ०) ।

भाणस्यापि हि निखिलं लक्षणमुक्तं तथागमानुगतम् ।
वीथ्याः सम्प्रति निखिलं कथयामि यथाक्रमं विप्राः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार परम्परा तथा शास्त्र के अनुसार भाण का स्वरूप मैंने बतलाया। अब मैं क्रम प्राप्त होने से वीथी का लक्षण बतलाता हूँ ॥ ११२ ॥

वीथी—

सर्वरसलक्षणाढ्या युक्ता ह्यङ्गैस्त्रयोदशभिः ।
वीथी स्यादेकाङ्का [1]तथैकहार्या द्विहार्या वा ॥ ११३ ॥
अधमोत्तममध्याभिर्युक्ता स्यात् प्रकृतिभिस्तिसृभिः ।
अङ्गानां वक्ष्येऽहं लक्षणमखिलं यथादेशम् ॥ ११४ ॥

वीथी[1] में एक अंक तथा एक या दो पात्र होते हैं। इसमें उत्तम, मध्यम या अधम तीनों प्रकृति के पात्र रखे जा सकते हैं। इसमें सभी रस और लक्षणों से युक्त वीथ्यंगों का निवेश किया जा सकता है। अब मैं इन वीथ्यंगों का नाम तथा लक्षण बतलाता हूँ ॥ ११३–११४ ॥

तेरह वीथ्यंग—

[2]उद्घात्यकावलगिते त्ववस्पन्दितमेव च ।
असत्प्रलापश्च तथा प्रपञ्चो नालिकापि च ॥ ११५ ॥
वाक्केल्यधिबलश्चैव छलं व्याहारमेव च ।
मृदवं त्रिगतञ्चैव ज्ञेयं गण्डमथापि च ॥ ११६ ॥

वीथी के तेरह[2] अंग हैं—(१) उद्घात्यक, (२) अवलगित,

---

१. वीथी में समाज के उच्च, मध्य या निम्न वर्ग के एक या दो पात्र रहते हैं तथा इसमें प्रत्येक रस को प्रस्तुत किया जा सकता है। नाट्यकृतियों के अन्य विभेदों की अपेक्षा यह सर्वाधिक अल्प आकार की होती है तथा संक्षिप्त रूप में ही दर्शकों को अपना उद्देश्य बतलाते हुए शिक्षा दे देती है।

२. लक्षण तथा अलंकारों से वीथ्यंग भिन्न होते हैं। इसी कारण प्रत्येक रूपक भेद के प्रस्तावना भाग में जिसे पारिभाषिक पदावली में आमुख कहा जाता है, वीथी के अंगों का विनियोजन किया जाता है।

---

१. द्विपात्रहार्या तथैकहार्या वा—घ० ।

२. उद्घात्यकावलगितावस्पन्दितनाल्यसत्प्रलापाश्च । वाक्केल्यथप्रपञ्चो मृदवाधिबले छलं त्रिगतम् ॥ व्याहारो गण्डश्च त्रयोदशाङ्गान्युदाहृतान्यस्याः । अथ वीथी सम्प्रोक्ता लक्षणमेषां प्रवक्ष्यामि—क० ख० ।

(३) अवस्प(स्य)न्दित, (४) असत्प्रलाप, (५) प्रपञ्च, (६) नालिका या नाली, (७) वाक्केलि, (८) अधिबल, (९) छल, (१०) व्याहार, (११) मृदव, (१२) त्रिगत तथा (१३) गण्ड ॥ ११५-११६ ॥

त्रयोदश सदाङ्गानि वीथ्यामेतानि योजयेत् ।
लक्षणं पुनरेतेषां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११७ ॥

वीथी में इन तेरह अंगों की सदैव योजना की जाए । अब क्रमशः मैं इनके लक्षण बतलाता हूँ ॥ ११७ ॥

उद्घात्यक—

पदानि [1]त्वगतार्थानि ये[2] नराः पुनरादरात् ।
[3]योजयन्ति पदैरन्यैस्तदुद्घात्यकमुच्यते ॥ ११८ ॥

जब मनुष्य किसी अज्ञात वस्तु को स्पष्ट करने के लिए—अप्रस्तुत (विषयक) अर्थवाले पदों की प्रस्तुत पदों के साथ संयोजना कर देते हैं तो उसे 'उद्घात्यक' नामक अंग समझो ॥ ११८ ॥

अवलगित—

यत्रान्यस्मिन् समावेश्य [4]कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
[5]तच्चावलगितं नाम विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभिः ॥ ११९ ॥

जब किसी अन्य बात या कार्य का समावेश कर उससे किसी दूसरे कार्य की सिद्धि की जाए तो उसे 'अवलगित' समझना चाहिए ॥ ११९ ॥

अवस्प(स्य)न्दित—

[6]आक्षिप्तेऽर्थे तु कस्मिंश्चिच्छुभाशुभसमुत्थिते ।
[7]कौशलादुच्यतेऽन्योऽर्थस्तवस्पन्दितं भवेत् ॥ १२० ॥

जहाँ कोई व्यक्ति बिना सोचे समझे शुभ या अशुभ अर्थ वाली किसी सूचना को उक्ति कुशलता से कह जाता हो तो उसे 'अवस्पन्दित' समझना चाहिए ॥ १२० ॥

---

१. तु गतार्थानि—क (च), हि गतार्थानि—भ० ।
२. यैर्नराः—ग० घ० । ३. पर्यायैरेव बोध्यन्ते—क० ।
४. कार्यमन्यत् प्रशस्यते—ग० घ० ।
५. परानुरोधात् तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः—क० ।
६. आक्षिप्य कञ्चिदर्थन्तु शुभा-शुभसमुत्थितम्—ग० घ० ।
७. यत् सृजेद्बुद्धिनैपुण्यात्तदव—ग० घ० ।

असत्प्रलाप—

असम्बद्धश्च[1] यद्वाक्यमसम्बद्धं [2]तथोत्तरम् ।
असत्प्रलापस्तच्चैव[3] वीथ्यां सम्यक् प्रयोजयेत् ॥ १२१ ॥

जब किसी असम्बद्ध प्रश्न का असम्बद्ध ही उत्तर दिया जाए तो उसे 'असत्प्रलाप' (का उदाहरण) समझो ॥ १२१ ॥

मूर्खजनसन्निकर्षे [4]हितमपि यत्र प्रभाषते विद्वान् ।
न[5] च गृह्यतेऽस्य वचनं विज्ञेयोऽसत्प्रलापोऽसौ ॥ १२२ ॥

(अन्य लक्षण) जब मूढ़ जन को [कोई] विद्वान् पुरुष हितावह (और उचित) बात कहता हो और वे उसके शब्दों का मूल्य न करें (न सुनें, ध्यान न दें) तो उसे भी 'असत्प्रलाप' समझो ॥ १२२ ॥

प्रपञ्च—

यदसद्भूतं वचनं संस्तवयुक्तं द्वयोः [6]परस्परं यत्तु ।
एकस्य चार्थहेतोः स हास्यजननः प्रपञ्चः[7] स्यात् ॥ १२३ ॥

जब परिहासपूर्ण और असत्य शब्दों से परस्पर दोनो व्यक्तियों की प्रशंसा की जाए और वे किसी एक के प्रयोजन या कार्य के साधक बन जाएं तो उसे 'प्रपञ्च' समझना चाहिए ॥ १२३ ॥

नालिका तथा वाक्केलि—

हास्येनोपगतार्था[8] प्रहेलिका नालिकेति विज्ञेया ।
[9]एकद्विप्रतिवचना वाक्केली स्यात् प्रयोगेऽस्मिन् ॥ १२४ ॥

जब किसी बात को ताड़ कर उसे परिहासपूर्ण वचनावली में कह दिया जाए तो 'नालिका' तथा कई प्रश्नों का एक ही उत्तर हो तो उसे 'वाक्केलि' समझना चाहिए ॥ १२४ ॥

---

१. असम्बद्धन्तु—ग० घ० । २. मथोत्तरम्—ग० घ० ।
३. प्रलापितञ्चैव—ग० घ० ।
४. विद्वानन्यत्र भाषते सम्यक्—ख०, ग०; विद्वान् यत्र प्रभाषते सम्यक्—घ० ।
५. वचनं न गृह्यतेऽस्य स ज्ञेयोऽसत्प्रलापस्तु—घ० ।
६. परस्परतः—ग० घ० । ७. प्रपञ्चस्तु—ग० घ० ।
८. नावगतार्था—ग० घ० ।
९. एकद्विप्रतिवचनात् वाक्केलिकां नाम तामाह—ग० घ० ।

अधिवल—

[1]परवचनमात्मनश्चोत्तरोत्तरसमुद्भवं [2]द्वयोर्यत्तु।
अन्योन्यार्थं[3]विशेषकमधिबलमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम् ॥ १२५ ॥

उत्तरोत्तर एक दूसरे की स्पर्द्धा के कारण अपनी अपनी विशेषताएँ वढ़ा चढ़ाकर वतलाने वाले वाक्य जब संवाद में रखे जाए तो उसे 'अधिबल' समझना चाहिए ॥ १२५ ॥

छल —

[4]यत्रादौ प्रतिवचनैर्विलोभयित्वा परं पराकारैः।
तैरेवार्थविहीनैर्विपरीतः स्याच्छलं नाम ॥ १२६ ॥

जब किसी को आरंभ में प्रत्युत्तर में कहे गए अपने वचनों से लुभाकर फिर अपने ही वचनों से उसी के विरुद्ध आचरण किया जाए तो उसे 'छल' समझना चाहिए ॥ १२६ ॥

व्याहार—

[5]प्रत्यक्षं नायकस्यैव यद्वै दृष्टवदुच्यते।
अशङ्कितं तथा योगाद् व्याहारः सोऽभिधीयते ॥ १२७ ॥

यदि नायक की उपस्थिति में (या उसके समक्ष) बिना किसी आशंका के आगे घटित होनेवाली किसी वस्तु का वर्णन किया जाए तो उसे 'व्याहार' कहते हैं ॥ १२७ ॥

मृदव—

[6]यत्कारणाद्गुणानां दोषीकरणं भवेद्विवादकृतम्।
दोषगुणीकरणं वा तन्मृदवं नाम विज्ञेयम् ॥ १२८ ॥

यदि विवाद में किसी वैकल्पिक प्रकार से किसी के गुणों को (भी) दोष के रूप में तथा दोषों को गुण के रूप में हेतु पुरस्सर वतलाया जाए तो उसे 'मृदव' समझना चाहिए ॥ १२८ ॥

---

१. मात्मसंस्थं चोत्त—ग०। २. द्वयो—यत्र—घ०।

३. विशेषण—घ०।

४. अन्यर्थमेव वाक्यं छलमभिसन्धानहास्यरोषकरम्।—क०, ख०।

५. प्रत्यक्षवृत्तिरुक्तो व्याहारो हास्यलेशार्थः—क०, ख०।

६. यद्गुणदोषीकरणं दोषगुणीकरणमेव वा देहे। हेतुभिरुपपन्नार्थैस्तन्मृदवं नाम विज्ञेयम् ॥—क०।

त्रिगत—

[1]यच्चाप्युदात्तवचनं त्रिधा विभक्तं भवेत् प्रयोगे तु ।
[2]हास्यरससम्प्रयुक्तं तत् त्रिगतं नाम विज्ञेयम् ॥ १२९ ॥

जब हास्य (रस) के साथ तीन व्यक्तियों द्वारा समानतापन्न कुछ शब्द विभाजित कर या विभागपूर्वक भाषणार्थ लिए जाए तो उसे 'त्रिगत' समझना चाहिए ॥ १२९ ॥

गण्ड—

संरम्भसम्भ्रमयुतं [3]विवादयुक्तं तथापवादकृतम् ।
बहुवचनाक्षेपकृतं [4]गण्डमिति वदन्ति तत्त्वज्ञाः ॥ १३० ॥

जब आवेग विभ्रम या संभ्रम के कारण विवाद, अपवाद तथा आक्षेप पूर्ण शब्दों की जिस कथन में प्रतीति हो तो चतुर जन उसे 'गण्ड' कहते हैं ॥ १३० ॥

[5]एतान्यङ्गानि यत्र स्युः स्पष्टार्थानि त्रयोदश ।
तथागमसमुद्दिष्टैर्युक्त प्रकृतिभिस्तथा ॥ १३१ ॥
रसैर्भावैश्च निखिलैर्युक्ता वीथी प्रकीर्तिता ।
एकहार्या द्विहार्या वा कर्तव्या कविभिः सदा ॥ १३२ ॥

जब किसी नाटयकृति में अपने सुस्पष्ट अर्थों के साथ इन तेरह अंगों का प्रयोग होता है और वे सभी रसों तथा भावों के शास्त्रानुमोदित लक्षणों से युक्त होते हों तो उसे 'वीथी' नामक रूपक समझना चाहिए। इसे एक या दो पात्रों के द्वारा अभिनीत किया जा सकता है ॥ १३१–१३२ ॥

लास्याङ्ग—

अन्यान्यपि लास्यविधावङ्गानि तु [6]नाटकोपयोगीनि ।
अस्माद् विनिःसृतानि तु भाण इवैकप्रयोज्यानि ॥ १३३ ॥

---

१. श्रुतिसारूप्याद्यस्मिन् बहवोऽर्था युक्तिभिर्निरूप्यन्ते ।—क०; यत्रानुदात्तवचनं—क (प०); यदुदात्तवचनमिह—घ० ।

२. यद्धास्यमहास्यं वा ।

३. सम्भ्रमकृतं बन्धविवादं—ग०, घ० ।

४. गण्डं प्रवदन्ति—क० ।

५. इदं पद्यद्वयं क०—पुस्तके नास्ति ।

६. नाटके प्रयुक्तानि—ग०, घ० ।

इसी प्रकार अन्य नाटकोपयोगी लास्य[1] के अंग भी इसी वीथी नामक रूपकविधा से निस्सृत या उत्पन्न माने जाते हैं। जिसे भाण के समान एक पात्र के द्वारा अभिनीत किया जाता है ॥ १३३ ॥

भाणाकृतिवल्लास्यं विज्ञेयं त्वेकपात्रहार्यञ्च।
प्रकरणवदूह्यकार्यासंस्तवयुक्तं [1]विविधभावं ज्ञेयम् ॥ १३४ ॥

लास्य का भाण के समान ही स्वरूप होता है और इसे एक व्यक्ति के द्वारा अभिनीत किया जाता है। इसके प्रसंग प्रकरण की अपेक्षा थोड़े हलके होते हैं और वे किसी परिचित की (प्रणय) मैत्री से सम्बद्ध तथा अनेक भावों से पूर्ण होते हैं ॥ १३४ ॥

लास्य के बारह अंग—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदकस्त्रिमूढञ्च[2] सैन्धवाख्यं द्विमूढकम् ॥ १३५ ॥
उत्तमोत्तमकञ्चैव [3]विचित्रपदमेव च।
उक्तप्रत्युक्तभावञ्च लास्याङ्गानि विदुर्बुधाः ॥ १३६ ॥

लास्य[2] के बारह अंग हैं—यथा (१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिमूढ़,

---

१. 'लास्यांग'—एक प्रकार के एकांक रूपक थे जिसमें 'लास्य' नृत्य की प्रमुखता रहती थी तथा लास्य का ही मुख्यतः प्रदर्शन भी रहता था। अतः इसका अर्थ होगा 'लास्यमंगं यस्याः' (अर्थात् जिसमें लास्य अंग होता हो या जिसमें सभी अभिनय लास्य के अंगभूत होकर रहते हों) लास्य के ये अंग भी लास्य के १२ विभेद ही हैं। ये लास्य के तत्व नहीं है जैसा कि कुछ विचारकों ने माना भी है। इसी प्रकार, 'वीथ्यंग' की भी यहाँ व्याख्या करना उचित है क्योंकि वीथी भी एकांक रूपकों का ही एक विशेष विभेद मात्र है। अतएव वीथ्यंग भी इसी प्रकार वीथी की प्रमुखता लिए हुए विभेद थे यह स्पष्टतः प्रतिपन्न होता है। लास्यांगों का निरूपण नाट्यशास्त्र की कुछ प्रतियों में अगले अध्याय में हैं परन्तु हमने काशी संस्करण तथा विषय के अनुरोध इसे यहीं रखा है।

२. लास्य शब्द यहाँ 'लास्यांग के लिये प्रयुक्त है। लास्याङ्गों के सा० दर्प० ने दस प्रकार, भावप्रकाशन ने ग्यारह तथा दशरूपक में दस प्रकार बतलाए गये हैं (द० रूप० में इनके लक्षण नहीं दिये गये, शेष ग्रन्थों में लक्षण भी प्राप्त हैं)।

---

१. विविधभवं—ग०। २. स्त्रिमूढ़ाख्यं सैन्धवञ्च—ख०।

३. चैवमुक्तप्रत्युक्तमेव च। लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशलक्षणम् ॥—ख०।

(७) सैन्धव, (८) द्विमूढ़क, (९) उत्तमोत्तमक, (१०) विचित्रपद, (११) उक्त-प्रयुक्त तथा (१२) भावित ॥ १३५-'३६ ॥

गेयपद—

[1]आसनेषूपविष्टैर्यत् तन्त्रीभाण्डोपबृंहितम् ।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद् गेयपदमुच्यते ॥ १३७ ॥

जब नायिका अपने आसन पर तन्त्री तथा भाण्ड वाद्य से युक्त होकर बैठी हो और गायक बिना इन उपकरणों के इसके पूर्व शुष्कगान गा रहें हों तो उसे 'गेयपद' कहा जाता है ॥ १६७ ॥

या [2]नृत्यत्यासीना नारी गेयं प्रियगुणान्वितम् ।
साङ्गोपाङ्गविधानेन तद् गेयपदमुच्यते ॥ १३८ ॥

यदि कोई महिला बैठकर (स्थित दशा में) अपने प्रिय की प्रशंसा के अभिव्यञ्जक गीत गाती हो और वही भाग यदि नृत्य के साथ अंग मुद्राओं तथा भावभंगियों के अभिनय द्वारा भी प्रदर्शित करती हो तो उसे (भी) 'गेयपद' समझना चाहिए ॥ १३८ ॥

स्थितपाठ्य—

[3]प्राकृतं या वियुक्ता तु [4]पठेदासनसंस्थिता ।
मदनानलतप्ताङ्गी [5]स्थितपाठ्यं तदुच्यते ॥ १३९ ॥

यदि कोई वियोगिनी नायिका अपने प्रिय के बिछुड़ने से वियोगाग्नि में जलते हुए प्राकृत भाषा में किसी पद्य का गान करे तथा अपने स्थान पर बैठी रहे तो उसे 'स्थितपाठ्य' समझना चाहिए ॥ १३९ ॥

आसीन—

[6]आसीनमास्यते यत्र चिन्ताशोकसमन्वितम् ।
[7]अप्रसाधितगात्रञ्च [8]जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ॥ १४० ॥

---

१. आसने चोपविष्टायां—घ० ।
२. नृत्यन्यासना—ग; नृत्यस्यासना—घ० ।
३. बहुचारी-समायुक्तं पञ्चपाणिकलानुगम् । वत्सपुच्छेन वा युक्तं स्थिति-पाठ्यं विधीयते ॥—ख० ।
४. पठेदात्तरसं स्थिता—घ० । ५. स्थितिपाठ्यं—ग० ।
६. आसीनमासनस्थस्य सर्वातोद्यविवर्जितम् ।—ख० ।
७. अप्रसारितगात्रञ्च चिन्ताशोकान्वितञ्च यत्—ख० ।
८. चिन्ताशोकसमन्वितम्—घ० ।

बिना शरीर प्रसाधन के ही जब कोई चिन्ता और शोक से युक्त होकर बैठे और औत्सुक्यवश बार बार टेढ़ी निगाह से देखने लगे तो उसे 'आसीन' समझना चाहिए ॥ १४० ॥

पुष्पगण्डिका—

[1]यत्र स्त्रीनरवेषेण ललितं संस्कृतं पठेत्।
सखीनान्तु विनोदाय सा ज्ञेया [2]पुष्पगण्डिका ॥ १४१ ॥

पुरुष के समान जब स्त्री कुछ मधुर संस्कृत गान अपनी सखियों के मनस्तोष के लिए प्रस्तुत करती हो तो उसे 'पुष्पगण्डिका' समझना चाहिए ॥ १४१ ॥

प्रच्छेदक—

प्रच्छेदकः स विज्ञेयो यत्र चन्द्रातपाहताः।
स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु ॥ १४२ ॥

जब (वियोगिनी) नारियाँ चन्द्रिका के ताप से आहत होकर नायक के अपराधी होने पर भी उससे मिलने को उद्यत हो जाए तो उसे 'प्रच्छेदक'[1] समझना चाहिए ॥ १४२ ॥

त्रिमूढ़क—

अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं[3] समवृत्तैरलङ्कृतम्।
नाट्यं पुरुषभावाढ्यं त्रिमूढ़कमुदाहृतम् ॥ १४३ ॥

जब कोई नाट्यरचना (नाटक प्रभृति) समवृत्तों से तथा अनेक उदात्त मानवी भावनाओं से युक्त हो तथा न अधिक कठोर न दीर्घ समासावली वाली हो तो उसे 'त्रिमूढ़क' समझना चाहिए ॥ १४३ ॥

---

१. सा० द० में इसका दूसरा लक्षण प्राप्त होता है। 'प्रच्छेदक' का लक्षण वहाँ त्रिगूढ़क' के रूप में मिलता है। तु० भा० प्र० पृ० २४६, १–१, २।

---

१. नृत्तञ्च त्रिविधं यत्र गीतमातोद्यमेव च। स्त्रियः पुंवच्च चेष्टन्ते सा ज्ञेया पुष्पगण्डिका।—ख; वृत्तानि विविधानि स्युर्गेयं गानञ्च संसृतम्। चेष्टाभिश्चाश्रयः पुंसां यत्र सा पुष्पगण्डिका—ख. (क०)।

२. पुष्पगन्धिका—ग०।

३. श्लक्षणपदं—ख०, ग०।

सैन्धव—

[1]पात्रं विभ्रष्टसङ्केतं सुव्यक्तकरणान्वितम् ।
प्राकृतैर्वचनैर्युक्तं विदुः सैन्धवकं बुधाः ॥ १४४ ॥

जब कोई प्रेमी अपना संकेत स्थल गुप्त रखने में असफल होकर अपनी वेदना की अभिव्यक्ति करने के लिए प्राकृत भाषा में करणों का प्रदर्शन करते हुए रचना प्रस्तुत करता है तो उसे 'सैन्धव' समझना चाहिए ॥ १४४ ॥

द्विमूढ़क—

[2]शुभार्थगीताभिनयं चतुरस्रपदक्रमम् ।
स्पष्टभावरसोपेतं व्याजचेष्टं द्विमूढ़कम् ॥ १४५ ॥

चतुरस्र (चौताल) प्रकार के गीत को—जिसका मंगलकारी अर्थ व्यक्त होता हो तथा जिसमे सुस्पष्ट रस और भाव स्थित हो—किसी बहानें से जब प्रस्तुत किया जाए तो उसे 'द्विमूढ़क' समझना चाहिए ॥ १४५ ॥

उत्तमोत्तमक—

उत्तमोत्तमकं विद्यादनेकरस[3]संश्रयम् ।
विचित्रैः श्लोकबन्धैश्च हेलाभावविभूषितम्[4] ॥ १४६ ॥

अनेक प्रकार के ऐसे श्लोकों में 'उत्तमोत्तमक' की रचना की जाती है, जिसमें विविध रस और हेला नामक भाव की संयोजना भी समाविष्ट रहती हो ॥ १४३ ॥

विचित्रपद—

यदि प्रतिकृतिं दृष्ट्वा विनोदयति मानसम् ।
[5]मदनानलतप्ताङ्गी [6]विचित्रपदमुच्यते ॥ १४७ ॥

---

१. पात्रं विस्मृतसङ्केतं—ग० घ० । रूपवाद्यादिसंयुक्तमव्यक्तकरणान्वितम् । पाठ्यं तु यत् स्वभावोक्त्या—ख० (मु०) ।

२. मुखप्रतिमुखोपेतं चतुरस्रपदक्रमम् । स्पष्टभावरसोपेतं नानार्थञ्च विमूढ़कम्—(मु०) ख०; । स्पष्टभावरसोपेतं श्लिष्टार्थञ्च द्विमूढ़कम्—ख० (क०) ।

३. दनेककरणान्वितम्—ख (मु०) ।

४. लीलाभावविभूषितम्—ख (मु०); हेलाहावविचित्रितम्—ख (क) ।

५. मदनानलतप्तं तु—घ० ।

६. तच्चित्रपद—क० ।

यदि कोई बाला नायिका कामाग्नि से सन्तप्त होकर प्रिय की प्रतिकृति (चित्र) देखती हुई अपना मन बहलाती हो तो उसे 'विचित्रपद' समझना चाहिए ॥ 147 ॥

उक्तप्रत्युक्त—

कोपप्रसादजनितं साधिक्षेपपदाश्रयम् ।
उक्तप्रत्युक्तमेव स्यात् [1]चित्रगीतार्थयोजितम् ॥ १४८ ॥

विचित्र गीतों में ग्रथित प्रश्न और उत्तर से युक्त जो संवाद (आभाषण) क्रोध या प्रसन्नता के कारण हो रहे हों या कभी कभी कुछ निन्दा या आक्षेपपूर्ण शब्दावली भी उसमें समायोजित रहे तो इसे 'उक्तप्रत्युक्त' नामक लास्यांग जानो ॥ 148 ॥

भावित—

दृष्ट्वा स्वप्ने प्रियं यत्र मदनानलतापिता ।
करोति विविधान् [2]भावान् तद्वै भावितमुच्यते ॥ १४९ ॥

जब कोई नारी मदनाग्नि से सन्तप्त होती हुई अपने प्रिय को स्वप्न में देखने के पश्चात् उस दशा को विविध भावों से प्रकट करती हो तो उसे 'भावित'[1] समझना चाहिए ॥ 149 ॥

एतद्वै [3]लास्यविधौ लक्षणमुक्तं मया तु विस्तरतः ।
तदिहैव तु यन्नोक्तं प्रसङ्गविनिवृत्तिहेतोस्तु ॥ १५० ॥

ये लास्य के विविध प्रभेद हैं, जिन्हें मैंने यहाँ विस्तार से समझाया । यदि इसमें कोई विषय न कहा गया (या छूट गया) होगा तो उसका यहाँ (विशेष विवरण) अपेक्षित न होना ही कारण है ॥ 150 ॥

नाटकभेदानामिह न शक्यते गन्तुमन्तं यत् ।
तस्मात्तज्ज्ञैर्ज्ञेयं दशरूपमिदं हि संक्षिप्तम् ॥ १५१ ॥

---

१. सा० द० में इसका लक्षण नहीं मिलता परन्तु भावप्रकाशन में मिलता है (द्रष्टव्य भा० प्र० पृ० २४६, १-१३, १४)

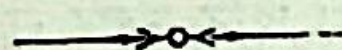
---

१. किन्तु गीतार्थयोजितम्—ख० ।
२. भावांस्तत्कृत् भाविकमुच्यते—ख (क०)
३. लास्यविधावेतेषां—ख (मु०) ।

क्योकि नाट्यप्रकार अनन्त (बन सकते) हैं तथा उनके सभी प्रकार बतलाना संभव भी नहीं है; इसलिये नाट्यवेत्ता जन संक्षेप में रूपकों के (केवल) ये दस प्रकार (ही) जान लें ॥ १५१ ॥

इति दशरूपविधानं सर्वं प्रोक्तं मया हि लक्षणतः ।
[1]पुनरस्य शरीरविधान-सन्धिविधिलक्षणं वक्ष्ये ॥ १५२ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे दशरूपविधानं नाम विंशोऽध्यायः ।



इस प्रकार इस अध्याय में मैंने रूपकों के दस भेदों को उनके लक्षण सहित बतलाया । अब मैं इनमें रहने वाले सन्ध्यंगों का लक्षण सहित निरूपण (अगले अध्याय में) करता हूँ ॥ १५२ ॥

भरतमुनिप्रणीत नाट्यशास्त्र का 'दशरूपविधान' नामक
बीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण ।



१. पुनरस्य शरीरगतं सन्धिविधौ लक्षणं वक्ष्ये—क०, पुनरस्येतिवृत्तपताकास्थानसन्धिलक्षणं वक्ष्ये—क (ट०); इतिवृत्तद्विविधानं सन्धिविधौ—ख० ।

एकविंशोऽध्यायः

सन्ध्यङ्गनिरूपणाध्यायः

इतिवृत्त के पांच विभाग—

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य[1] शरीरं परिकीर्तितम्[2]।
पञ्चभिस्सन्धिभिस्तस्य विभागः[3] परिकल्पितः[4] ॥ १ ॥

[1]इतिवृत्त को नाट्य (रूपक) का शरीर माना जाता है। इसका पांच सन्धियों में विभाग किया गया है ॥ १ ॥

इतिवृत्त (कथावस्तु) के प्रभेद—

इतिवृत्तं द्विधा चैव बुधस्तु परिकल्पयेत्[5]।
आधिकारिकमेकं[6] स्यात् प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ २ ॥

कथावस्तु या इतिवृत्त के दो प्रकार होते हैं। एक आधिकारिक और दूसरा प्रासंगिक[2] ॥ २ ॥

यत् कार्यं हि फलप्राप्त्याः सामर्थ्यात्[7] परिकल्प्यते।
तदाधिकारिकं ज्ञेयमन्यत् प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ३ ॥

जहाँ कार्यों का किसी विशेष फल प्राप्ति तक पहुंचने या उसे पूर्ण करने के उद्देश्य से ग्रथन किया जाए उसे 'आधिकारिक' वस्तु तथा इनके अतिरिक्त शेष 'प्रासंगिक' कथावस्तु समझना चाहिए[3] ॥ ६ ॥

---

१. इतिवृत्त को ही वस्तु या कथावस्तु भी कहते हैं। दशरू० १।११, सा० दर्पण (६। २९४–२९५) तथा ना० ल० रत्न० को० (चौख० पृ० २३) भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है।

२. तुलना—द० रू० १।२, सा० द० (६। ३३०) तथा ना० द० सू०, ना० ल० र० को० भी।

३. तुल० द० रू० १।१२, १३, सा० द० ६। २९५–२९७, तथा ना० ल० र० को० पृ० २३।

---

१. काव्यस्य—ग०। २. मिति कीर्त्यते—क०।
३. विभागाः—ग०।
४. संप्रकल्पितः—क. ख. घः, परिकीर्तिताः—ग०, सम्प्रलक्षितः—क (प)।
५. परिवर्जयेत्—ग०। ६. मेकन्तु—ग०। ७. सामर्थ्यं—क०।

कारणात् फलयोगस्य वृत्तं स्याद् आधिकारिकम्।
[1]तस्योपकरणार्थन्तु कीर्त्यते [2]ह्यानुषङ्गिकम् ॥ ४ ॥
कवेः प्रयत्नान्नेतृणां यक्तानां विध्यपाश्रयात्[3]।
कल्प्यते हि[4] फलप्राप्तिः समुत्कर्षात्[5] फलस्य च[6] ॥ ५ ॥

फल प्राप्ति तथा उसके अतिशय उत्कर्ष तक पहुंचने या पूर्णता प्राप्त करने के लिये नाटककार (कवि या नाटक आदि के लेखक) के द्वारा सुनियोजित उद्योग द्वारा नायकों के कार्यों के निर्द्धारित प्रकार से ग्रथित किये जाने पर जिस फल-प्राप्ति की उपलब्धि या कल्पना की जाती है—उसे प्रधान फलप्राप्ति का प्रयोजन सम्पादन करने के कारण 'आधिकारिक-कथावस्तु' तथा जो घटनाओं की सहायता के लिये (इसमें) रखी जाती हों उसे 'प्रासंगिक कथावस्तु' समझना [1]चाहिए[2] ॥ ४–५ ॥

कार्य की पाँच अवस्थाएँ—

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः कारणस्य[7] यः।
तस्यानुपूर्व्या[8] विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः ॥ ६ ॥

फल प्राप्ति के लिये नायक द्वारा किया जाने वाला उद्योग—जो पूर्णता तक पहुंचता हो—उस (कार्य) की क्रमशः पांच अवस्थाएं होती हैं[3] ॥ ९ ॥

[नाट्यप्रकरणोद्भूताः[9] ह्यवस्थास्ता मता इह।
धर्मकामार्थसम्बन्धः फलयोगस्तु कथ्यते ॥]

१., २. द्रष्ट—ना० ल० र० को० (चौख० पृ० ८)।

३. इस पद्य के आगे (एक) प्रक्षिप्त श्लोक प्राप्त होता है। यहां उसका भी अर्थ दे दिया गया है।

---

१. परोपकरणार्थन्तु—ग०, घ०।

२. प्यानु—क०। ३ विध्युपा—क०।

४. यत्—ग०, घ०। ५. समुत्कर्षः—क०।

६. फलाय—क०।

अस्मादनन्तरम्—लौकिकी सुखदुःखाख्या यथावस्था रसोद्भवा।
दशधा मन्मथावस्था व्यवस्था त्रिविधा मता ॥—क०
इति पद्यं समुपलभ्यते प्रक्षिप्तञ्च।

७. साधकस्य—ग० घ०। ८. पूर्व्यात्—क०।

९. प्रकरणभवा अवस्था—क.।

[प्रक्षिप्तः—ये अवस्थाएं नाटक तथा प्रकरण में संयोजित या उत्पन्न की जाती हैं और इनका फल-योग धर्म, काम या अर्थ सम्बन्धी होता है ।]

प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च सम्भवः ।
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः ॥ ७ ॥

ये अवस्थाएं हैं—(१) प्रारंभ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्ति-सम्भव, (४) नियतफलप्राप्ति तथा (५) फलयोग[1] या फलप्राप्ति ॥ ७ ॥

प्रारम्भ (आरम्भ)—

औत्सुक्यमात्रबन्धस्तु[1] यद् बीजस्य निबध्यते ।
महतः फलयोगस्य स स खल्वारम्भ[2] इष्यते ॥ ८ ॥

नाटक का वह भाग जो 'बीज' से सम्बन्धित होकर फलयोग या फल प्राप्ति के सम्पादनार्थ औत्सुक्यमात्र का प्रारम्भ या प्रथन करे 'आरम्भ'[2] कहलाता है ।

---

१. तु० द० रू० १।१९, सा० द० ६।३२४ ना० ल० र० को० पृ० ८ ।

२. आरम्भ—रूपकों में आरम्भ को दो प्रकार की दशा या स्थिति में रखा जाता है । एक तो ऐसी परिस्थिति में जब किन्हीं दैवी या पारलौकिक शक्तियों के अनुग्रह या निजीचेष्टाओं के द्वारा नायक को उद्देश्यसिद्धि के लिये साधन प्राप्त किये जाए या दूसरे वह परिस्थिति जिसमें परम लक्ष्य या उद्देश्य की सिद्धि के साधनों को प्राप्त न किया गया हो ।

प्रथम प्रकार में नाटकीय कार्य का प्रारम्भ साधनों के संगठित करने, उन्हें स्मरणकरने या इष्टप्राप्ति में इन साधनों को सफलता का विनिश्चय कर प्रयुक्त करने के संकल्प से होता है । दूसरे प्रकार में अप्राप्त साधनों को जानने की ऊहापोहात्मक मानसिकचेष्टा प्रदर्शित करते हुए साध्य-प्राप्ति की शक्ति के विनिश्चय के पश्चात् उनको प्राप्त करने की चिन्ता प्रकट की जाती है।

परिस्थिति के अनुसार रूपक का आरम्भ नायक, राजमन्त्री या नायिका या किसी दिव्यपात्र आदि से किया जा सकता है । जैसे रत्नावली में इष्ट प्राप्ति तथा उसकी पूर्ति के साधनों के स्मरण एवं लक्ष्यसिद्धि में उन साधनों की शक्ति तथा पर्याप्तता के ज्ञान से उत्पन्न राजमन्त्री के सन्तोष द्वारा 'आरम्भ' को दिखलाया गया है ।

---

१. बन्धमात्रस्तु—क०; औत्सुक्यमात्रं बन्धस्य—ख० ।

२. फलारम्भ—क०; सोऽत्र प्रारम्भ—ख० ।

यत्न—

अपश्यतः फलप्राप्तिं व्यापारो यः फलं प्रति ।

[1]परश्चौत्सुक्यगमनं प्रयत्नः परिकीर्तितः ॥ ९ ॥

नायक का फलप्राप्ति की ओर ध्यान न देते हुए भी फल प्राप्ति के प्रति किये जाने वाले अत्यन्त उत्सुकता पूर्ण प्रदर्शन या व्यापार को 'यत्न'[1] समझना चाहिए ॥ ९ ॥

प्राप्त्याशा—

ईषत्प्राप्तिर्यदा[2] काचित् फलस्य[3] परिकल्प्यते ।

भावमात्रेण [4]तं प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्तिसम्भवम् ॥ १० ॥

जब किसी विचार या भाव के द्वारा उद्दिष्ट अर्थ या फल (थोड़ी) पूर्णता तक पहुँचने लगे तो उसे विशेषज्ञ जन 'प्राप्तिसम्भव' या प्राप्त्याशा[2] कहते हैं ॥ १० ॥

---

१. यत्न—कार्य की दूसरी अवस्था यत्न कहलाता है। अत्यन्त शीघ्र इष्टसिद्धि के एकमात्र उपाय को जानने, उसे स्मरण करने या इच्छा करने के बाद सम्पूर्ण शक्ति से उसी के लिये अनुसरण करने का नाम 'यत्न' है। जैसे रत्नावली में सागरिका का चित्र आलेखन के लिये कदलीगृह में जाकर बैठ जाना 'यत्न' है।

२. प्राप्त्याशा—तीसरी अवस्था है प्राप्त्याशा। उपाय के द्वारा सफलता प्राप्त करते हुए जब उद्देश्य सिद्धि की किञ्चित् पूर्ति या संभावना दिखलाई दे तो इसका नाम प्राप्त्याशा है। इसमें लक्ष्यसिद्धि की आशा का संचार नायक या नायिका के अन्तःकरण में होता है जिसका कारण है इष्टसिद्धि के साधन या उपाय का परिज्ञान हो जाना। परन्तु इस आशा के साथ उद्देश्य प्राप्ति में विफलता का भी भय बना रहता है। इसलिये प्राप्त्याशा को दो दृष्टिकोण से लिया जाता है—एक कार्य और दूसरा भाव। कार्य के दृष्टिकोण यह अवस्था दो विरोधियों का संघर्ष है जिसमें एक की विजय और दूसरे की पराजय होना है। भाव के दृष्टिकोण से यह लक्ष्यसिद्धि में आशा का संचार करती है, क्योंकि इष्टसिद्धि का उपाय ज्ञात रहता है; इसलिए इसमें लक्ष्यसिद्धि निकट आती है और दूर चली जाती है।

---

१. पदं—घ०। २. प्राप्तिश्च या—ग, घ०।

३. अर्थस्य—ग०, घ०।

४. स ज्ञेयो विधिज्ञैः प्राप्तिसम्भवः—ग०, घ०।

नियतफल-प्राप्ति—

नियतान्तु फलप्राप्तिं यदा[1] भावेन पश्यति ।
नियतां तां फलप्राप्तिं सगुणाः[2] परिचक्षते ॥ ११ ॥

जब किसी विषय, अभीष्ट-वस्तु या भाव की निश्चित फल-प्राप्ति पूर्णरूप से दिखती तो उसे 'नियतफल-प्राप्ति'[1] जानो ॥ ११ ॥

फलयोग—

अभिप्रेतं समग्रञ्च प्रतिरूपं क्रियाफलम् ।
[3]इतिवृत्ते भवेद्यस्मिन् फलयोगः प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥

(नाटक में) होने वाले समस्त कार्यों की उनके अनुरूप पूर्ण फल की उपलब्धि जब रूपक के इतिवृत्त (या कथावस्तु) में सम्पन्न हो जाए तो उसे 'फलयोग' (या फलागम) समझो[2] ॥ १२ ॥

सर्वस्यैव[4] हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
एतास्त्वनुक्रमेणैव[5] पञ्चावस्था भवन्ति हि ॥ १३ ॥

प्रत्येक कार्य की—जो कि फल को दृष्टिगत रखते हुए प्रारंभ किया जाता हो—उपर्युक्त ये ही पांच अवस्थाएँ क्रमशः होती हैं ॥ १३ ॥

---

१. नियताप्ति या नियतफलप्राप्ति—चौथी अवस्था है नियताप्ति । इसमें उद्देश्य सिद्धि या लक्ष्यप्राप्ति में बाधक बाधाओं का हट जाना 'नियताप्ति' है । यह दो प्रकार से प्रदर्शित हो सकता है । एक बाधा का पूर्णरूप से नाश करते हुए तथा दूसरा वियोधियों को या बाधकतत्त्व की अनुकूलता प्राप्त कर । प्रथम स्थिति में नाटचरचना वीररस की होगी—जैसे वेणीसंहार तथा दूसरी में उससे भिन्न शृङ्गाररस की जैसे रत्नावली आदि ।

२. फलयोग या फलागम—जब नाटकीय कथा में लक्ष्यसिद्धि या उसमें आने वाले अवरोधों का नाश हो जाए तो नायक को अपने उद्योगों के फल स्वरूप इष्टफल का प्राप्त होना अन्तिम या पांचवी अवस्था है 'फलागम' । जैसे रत्नावली में उदयन का रत्नावली की प्राप्ति तथा चकवर्ति सम्राट् बनना । यहाँ कार्य की अन्तिम स्थिति प्रदर्शित की जाती है तथा कथानक के सभी रहस्य खुल जाते हैं ।

---

१. यत्र—ग., घ० । २. सगुणां—क; सगुणस्तुविनिर्दिशेत्—ग० ।

३. यद् दृश्यते निवृत्ते तु फलयोगः स उच्यते—ग०, घ० ।

४. इतिवृत्तादिकाव्यस्य—क० ।

५. यथानुक्रमशो ह्येताः—ग०, घ० ।

आसां स्वभावभिन्नानां परस्परसमागमात् ।
विन्यास एकभावेन[1] फलहेतुः प्रकीर्तितः ॥ १४ ॥

स्वभाव से ही भिन्नता लिए हुए इन अवस्थाओं को नाट्यरचना में एक साथ स्थापित या विन्यस्त करना 'फलप्राप्ति' (का उपपादक होता) है ॥ १४ ॥

आधिकारिक कथावस्तु द्वारा नाटक का आरम्भ—

इतिवृत्तं समाख्यातं प्रत्यगेवाधिकारिकम्[2] ।
[3]तदारम्भादि कर्तव्यं फलान्तश्च[4] यथा भवेत् ॥ १५ ॥

आधिकारिक कथावस्तु का पहिले वर्णन किया जा चुका है। तदनुसार आरम्भ आदि होना चाहिए जिससे फलप्राप्ति हो सके ॥ १५ ॥

पूर्णसन्धि च[5] कर्तव्यं[6] हीनसन्ध्यपि वा पुनः ।
नियमात् पूर्णसन्धि स्याद्धीनसन्ध्यथ[7] कारणात् ॥ १६ ॥

यह अधिकारिक कथावस्तु सभी सन्धियों से पूर्ण होती है या इसमें कुछ सन्धियां कम भी रहती हैं। सामान्य नियम के अनुसार सभी सन्धियां होनी चाहिए तथा किसी विशेष कारणवश कुछ का परित्याग भी किया जा सकता है ॥ १६ ॥

सन्धि परित्याग-विधान—

[8]एकलोपे चतुर्थस्य द्विलोपे त्रिचतुर्थयोः ।
[9]द्वितीय-त्रि-चतुर्थानां त्रिलोपे लोप इष्यते ॥ १७ ॥

यदि एक सन्धि का परित्याग करना हो तो 'चतुर्थ' सन्धि का, दो सन्धियों को कम करना हो तो तृतीय और चतुर्थ सन्धि का और तीन सन्धियों को कम करना हो तो दूसरी, तीसरी और चौथी सन्धि को कम करना चाहिए ॥ १७ ॥

---

१. विन्यासः फलभावेन फलाय परिकल्प्यते—ग०, घ० ।

२. पुरस्तादाधि—ग०, घ० ।

३. कविना तत्र कर्त्तव्यं फलान्तञ्च यथा भवेत्—क० ।

४. फलन्ति च—ग० ।

५. पूर्णसन्ध्यपि यत् कार्यं—ग० ।

६. तत् कार्यं—घ० । ७. सन्धिस्तु—घ० ।

८. चतुर्थस्यैक लोपे तु—ख० । ९. द्वितृतीय-चतुर्थानां—क० ।

प्रासङ्गिके परार्थत्वान्न ह्येष नियमो भवेत्।
यद् वृत्तं [1]सम्भवेत्तत्र तद् योज्यमविरोधतः ॥ १८ ॥

प्रासंगिक कथावस्तु में यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि मुख्य कथावस्तु के उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही उसकी योजना रहती है। अतएव उसमें जो भी योजना करनी हो बिना किसी विरोध (या विचार के) करना चाहिए ॥ १८ ॥

पांच अर्थ प्रकृति—

इतिवृत्ते यथावस्थाः[2] पञ्चारम्भादिकाः स्मृताः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च[3] तथा बीजादिका अपि ॥ १९ ॥

कथावस्तु में जैसे आरम्भ आदि पांच अवस्थाएं क्रमशः होती हैं, वैसे ही बीजादि पांच [1]अर्थप्रकृति (१) भी होती हैं ॥ १९ ॥

बीजं[4] बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा[5] योज्या यथाविधि ॥ २० ॥

रूपकों में (इन) पांच अर्थप्रकृतियों की योजना यथाविधि जानकर करना चाहिए। यह अर्थ प्रकृति हैं :—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य ॥ २० ॥

---

१. अर्थप्रकृति की अभिनवगुप्त ने व्याख्या करते हुए बतलाया कि—'अर्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतवः।' अर्थात् जो अंश फल या लक्ष्यप्राप्ति के उपाय या साधन है उन्हें अर्थप्रकृति कहते हैं। ये अर्थप्रकृतियां नायक की इष्ट या लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होती हैं अथवा कथानक को नाटकीय रूप देने में नाटयकार के लिये साधनस्वरूप हो जाती हैं। इसकी कुछ अन्य आचार्यों की व्याख्या है 'अर्थस्य समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतयः प्रकरणान्यवयवार्थखण्डा अर्थप्रकृतयः' अर्थात् रूपक के वे अवयव जो प्रकरण रूप हैं अर्थप्रकृति हैं अर्थात् इतिवृत्त के अवयव ही अर्थप्रकृति कहलाते हैं। यह व्याख्यान ठीक नही क्योंकि ऐसा मानने पर पञ्च सन्ध्यादि भी अर्थप्रकृति हो जाएगी।

---

१. तु भवेत्तत्र संयोज्य—ग०, घ०।
२. यदा—ग., घ०।
३. चासां पञ्च—क०।
४. बीजबिन्दुपताकाश्च ग०।
५. विनियोज्या—क०।

बीज—

स्वल्पमात्रं[1] समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति[2]।
फलावसानं यच्चैव[3] बीजं[4] तत् परिकीर्तितम् ॥ २१ ॥

जो छोटे रूप में उपक्षिप्त (स्थापित) होने पर अनेक रूपों और मार्गों से उत्तरोत्तर विकास करता हो तथा 'फल' को मुख्य रूप में उपलब्ध करवाते हुए समाप्त होता हो उसे 'बीज'[1] समझना चाहिए ॥ २१ ॥

बिन्दु—

प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्[5]।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य[6] स बिन्दुः परिकीर्तितः[7] ॥ २२ ॥

अवान्तर विच्छेद होने पर भी जो रूपक में समाप्ति तक अविच्छिन्नता का कारण होकर (कथाबन्ध में) स्थित रहता हो उसे 'बिन्दु'[2] समझना चाहिए ॥ २२ ॥

---

१. बीज—कथावस्तु के आरम्भ में प्रथम प्रक्षिप्त या स्थापित होने मात्र से जिसका अनेक रूपों में विकास होता हो तो अनेक उपाय परम्परा का कार्य जिस पर निर्भर रहता हो उसे 'बीज' समझना चाहिए। यह कहीं उपायमात्र होकर, कहीं फल तथा उपादान दोनों या उपाय होकर, कहीं अवाञ्छित कष्ट का निर्वतक बन कर तथा कहीं सभी रूप में तथा कहीं नायक के उद्देश्य से और कहीं प्रतिनायक के आश्रय जैसे स्वरूप में आने से अनेक भेद या स्वरूप वाला होता है। फलस्वभाव या फलमात्र होकर आने वाले बीज का उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल के आरम्भ में मुनिजन द्वारा दुष्यन्त को चक्रवर्ति पुत्र लाभ को आशीर्वाद देना है।

२. बिन्दु—प्रधान उद्देश्य या कार्य के अवरुद्ध प्रवाह को पुनः सञ्चालित करने के लिये प्रयोजक शक्ति के अनुसन्धान या स्मरण को 'बिन्दु' समझना चाहिए। जो जल की सतह पर गिराये गये तैल के बिन्दु की तरह प्रसारी होता

---

१. अल्पमात्रं समुद्दिष्टं—क (ट,) अल्पमात्रमुपक्षिप्तं—क (प०)।
२. प्रसर्पति—क।
३. तच्चैव—ख०।
४. बीजं तदिह कीर्तितम्‌ - ख., बीजं तदभिधीयते—ग०, घ०।
५. कारकम्—क०।
६. कार्यस्य—क; समाप्तिमद्बन्धः (क—न)।
७. इति संज्ञितः—क०

पताका—

यद्वृत्तन्तु[1] परार्थं[2] स्यात् प्रधानस्योपकारकम् ।
[3]प्रधानवच्च कल्प्येत सा पताकेति कीर्तिता ॥ २३ ॥

जब मुख्य या आधिकारिक कथा के मध्य में कोई 'घटना' उसका उपकार या पुष्टि करने के लिये ही रखी जाए और उसकी भी मुख्य कथा जैसी ही व्यापक उपयोगिता रखी जाए तो उसे 'पताका'[1] समझना चाहिए ॥ २३ ॥

प्रकरी—

फलं [4]प्रकल्प्यते यस्याः [5]परार्थायैव केवलम् ।
[6]अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत् ॥ २४ ॥

जब (किसी पात्र का) आधिकारिक इतिवृत्त के लिए ही जिसका निवेश हो तथा जिसमें स्वार्थ निरपेक्षता[2] (अनुबन्ध विहीनत्व) रही हो तो उस इतिवृत्त विशेष को 'प्रकरी'[3] कहा जाता है ॥ २४ ॥

है । जैसे पानी की सतह पर गिराया गया तैल पूरी सतह पर फैल जाता है, इसी प्रकार कार्य की प्रयोजक शक्ति का अनुसन्धान या स्मरण पूरे नाटक पर फैला होता है ।

१. पताका—नाटक का वह उपकथानक जिसका नायक मूल कथानक के नायक को सहयोग प्रदान करता हो और स्वयं के लक्ष्य की सिद्धि भी प्रधान नायक के सहयोग से प्राप्त करे तो उसे 'पताका' कहते हैं । जैसे राम के मूल कथानक के साथ सुग्रीव, विभीषण के कथानक 'पताका' हैं । ना० ल० र० को० में पताका का विवरण इससे थोड़ा भिन्न प्राप्त होता है ।

२. अनुबन्ध का अर्थ है निरन्तर चलने वाला इतिवृत्त । पताका में अनुबन्ध इतिवृत्त नहीं रहता ।

३. प्रकरी—प्रकरी की व्याख्या है—'प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी ।' अर्थात् जिसमें किसी लक्ष्य की सिद्धि को मूलकथानक के प्रधान नायक

---

१. यस्या वृत्तं—क० । २. परार्थस्य—क० ।

३. तत्सम्बन्धाच्च फलवत्—क० ।

४. सङ्कल्प्यते सद्भिः—ग०, घ० ।

५. परार्थं केवलं बुधैः—ख०; परार्थं यस्य केवलम्—ग०; घ० ।

६. अनुबन्धेन हीनस्य प्रकरीं तां विनिर्दिशेत्—ग०, घ० ।

कार्य—

यदाधिकारिकं वस्तु[1] सम्यक्प्राज्ञैः प्रयुज्यते ।
[2]तदर्थं यस्समारम्भस्तत् कार्यं परिकीर्तितम्[3] ॥ २५ ॥

आधिकारिक कथावस्तु में जिन उद्योगों को लक्ष्यप्राप्ति (फल) के लिये प्रारम्भ या समाविष्ट किया जाता हो तथा उनके लिये जो आवश्यक साधन समुदाय होता है उसे कार्य[1] समझना चाहिए ॥ २५ ॥

एतेषां यस्य येनार्थो यतश्च गुण इष्यते ।
तत्प्रधानन्तु[4] कर्तव्यं गुणभूतान्यतः परम् ॥ २६ ॥

इस अर्थप्रकृतिपञ्चक में जिसका जिससे उचित सम्बन्ध या कार्य (पूर्णतया) सिद्ध होता हो तो उसे मुख्यता और जिससे कार्य में सहायता मात्र मिले उसे गौण स्थान दिया जाए (इसके अतिरिक्त अन्य शेष गौण ही रहेंगे) ॥ २६ ॥

की विना अपेक्षा या सहयोग लिये ही जव उपकथानक का नायक सम्पन्न करता हो तो प्रकरी होती है। प्रकरी रूप उपकथानक नाटक में एक ही स्थान पर रखा जाता है और उसकी वहीं समाप्ति या पूर्ति भी हो जाती है। यही पताका से प्रकरी का विभेद भी है कि पताका के रूप में रहने वाला उपकथानक है वह मूलकथानक के आरम्भ से चौथी अवस्था तक विस्तारित रहता है परन्तु प्रकरी का रूप संक्षिप्त रहने से वह किसी सन्धि में समाविष्ट रहते हुए विस्तारित नहीं होता।

१. कार्य—प्रधान नायक जिन साधनों का उपयोग कर या जिनकी सहायता से लक्ष्य सिद्धि प्राप्त करता है उन विविध साधनों का उल्लेख कर नायक के जीवन के विशिष्टांश को प्रस्तुत करना 'कार्य' कहलाता है। कार्य अर्थात् जिसे किया जाय वह समग्र सहायक तथा साधनसामग्री जिसमें नायक की शारीरिक एवं मानसिक क्षमता भी समाविष्ट हो।

प्रत्येकरूपक में पांचों अर्थप्रकृतियों का रहना आवश्यक नहीं है तथापि बीज, बिन्दु तथा कार्य का वर्तमान रहना अनिवार्य सा है।

---

१. वृत्तं—ख; कार्यं पूर्वमेव प्रकल्पितम्—क० (य)।
२. तदर्थो—ख०, ग०, घ०।
३. इति कीर्तितम्—क; समुदाहृतम्—घ०।
४. प्रधानं तत् प्रकर्तव्यं—ग० घ०।

अनुबन्ध-पताका—

एकोऽनेकोऽपि वा सन्धिः पताकायान्तु यो भवेत् ।
प्रधानार्थानुयायित्वादनुबन्धः[1] स कीर्त्यते ॥ २७ ॥

जब पताका में एक या एकाधिक सन्धियां समाविष्ट हो जाएं और वे मुख्य कथावस्तु के प्रयोजन या कार्य की सहायक या उपपादक हो तो वे 'अनुबन्ध-पताका' कहलाती हैं[1] ॥ २७ ॥

अनुबन्ध-पताका की अवधि—

आगर्भादाविमर्शाद्वा पताका विनिवर्तते ।
[2]कस्माद् यस्मान्निबन्धोऽस्याः परार्थः परिकीर्त्यते ॥ २८ ॥

गर्भ या विमर्श सन्धि के पूर्ण होने तक 'पताका' रहती है। इसके उपरान्त यह भी समाप्त हो जाती है। क्योंकि इसकी विनियोजना मुख्य कथा या कार्य की कुछ विशेष सहायता मात्र ही होती है ॥ २८ ॥

पताकास्थान लक्षण—

[3]यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ २९ ॥

जब किसी एक प्रयोजन के विचार के साथ तत्काल अकस्मात् वैसे ही स्वरूप के अन्य प्रयोजन की अतर्कित रूप में प्राप्ति हो जाए (या उसकी सूचना या अभिव्यक्ति हो) तो उसे 'पताका-स्थान' समझना चाहिए[2] ॥२९॥

प्रथम पताका स्थान—

सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपकारतः[4] ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ३० ॥

---

१. अनुबन्ध को 'अनुसन्धि' भी कुछ आचार्य कहते हैं। तु०—द० रू० ३।२६, २७ ।

२. यहां सा० द० नाट्यशास्त्र का अनुसरण करता है परन्तु द० रू० में पताका स्थानक के विभेद छोड़ दिये गए हैं। सागरनन्दी के अनुसार पताका स्थानों की सन्धियों में योजना की जाए पर इनका (अन्तिम या) निर्वहणसन्धि में निवेश नहीं किया जाना चाहिए (द्र० ना० ल० र० को० पृ० १००) ।

---

१. दनुसन्धिः प्रकीर्त्यते—क०, ख० ।

२. कस्माद्यस्मात्तु बन्धोऽस्याः परार्थायोपकल्प्यते—ग०, घ० ।

३. यत्रान्यस्मिन् युज्यमाने—ख०, यत्रार्थे चिन्त्यमानेऽपि—ग०, घ० ।

४. गुणवत्युपचारतः—ग०, घ० ।

जहां सामाजिकों को किसी गौण या अप्रत्यक्ष प्रकार से सहसा किसी अभीष्ट प्रयोजन या कार्य का (परिचय या) ज्ञान हो जाए तो उसे प्रथम 'पताका-स्थान' समझना चाहिए[1] ॥ ३० ॥

द्वितीय पताकास्थान—

वचः[1] सातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम्[2] ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ३१ ॥

जहां प्रकृत विषय के वर्णन में प्रयुक्त श्लिष्टवचनों का रचनागत विन्यास किसी अप्रकृत अर्थ के भी उपयुक्त हो जाता हो उसे 'द्वितीय पताका स्थानक' समझना चाहिए[2] ॥ ३१ ॥

तृतीय पताकास्थान—

अर्थोपक्षेपणं यत्र[3] लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ ३२ ॥

जहां नाटक में प्रस्तुत श्लिष्ट संवादों की प्रश्नोत्तर-प्रणाली द्वारा अस्फुट और अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति होती हो तो उसे 'तृतीयपताका-स्थानक' समझना चाहिए[3] ॥ ३२ ॥

चतुर्थ-पताकास्थान—

[4]द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः[5] काव्ययोजितः[6] ।
[7]उपन्याससुयुक्तश्च [8]तच्चतुर्थमुदाहृतम्[9] ॥ ३३ ॥

---

१. द्रष्टव्य सा० द० ६। ३०१ तथा ना० ल० र० को० पृ० १०१ ।
२. द्रष्टव्य—सा० द० ६।३०१ तथा ना० ल० र० को० पृ० १०२ ।
३. द्र० सा० द० ६।३०२ ना० ल० र० को० पृ० १०३ भी ।

---

१. वचसाऽतिशयं श्लिष्टं—ग०, घ० ।　　२. रसाश्रयम्—क० ।
३. यत्तु—ग०, घ० ।　　४. व्यर्थो—क० ।
५. यत्र स्यात्—क (भ०) ।　　६. कार्ययोजितः—क (प०) ।
७. उपपत्या संयुतश्च—क; उपन्यासः संयुक्तश्च—ख०, ग० ।
८ चतुर्थमितिकीर्तितम्—क० ।
९ अस्मादनन्तरं बड़ौदा संस्करणे—

"यत्र सातिशयं वाक्यमर्थोपक्षेपणं भवेत् ।
विनाशि दृष्टमन्ते च पताकार्धन्तु तद् भवेत् ॥'

इत्यधिकं पताकार्धं लक्षणपरं लभ्यते पद्यं प्रक्षिप्तञ्च ।

जिसमें द्व्यर्थ वचनों की योजना काव्य-प्रबन्ध के इतिवृत्त को उपयुक्त बनाते हुए की जाए जिससे कि वे मुख्य अभिप्राय के साथ साथ भिन्न अर्थ को भी प्रतीत करवाए तो उसे चतुर्थ पताकास्थानक होता है[1] ॥ ३३ ॥

[1]चतुष्पताकापरमं नाटके कार्यमिष्यते ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं तांश्च[2] वक्ष्याम्यतः परम् ॥ ३४ ॥

नाटक में कार्य चार पताकास्थानकों तक ही रहना चाहिए । यह (कार्य) पाँचसन्धियों से युक्त रहता है, जिनका अब मैं वर्णन करूँगा[2] ॥ ३५ ॥

पांच सन्धियां—

मुखं प्रतिमुखं चैव[3] गर्भो विमर्श एव च ।
तथा निर्वहणञ्चेति नाटके[4] पञ्च सन्धयः ॥ ३५ ॥

नाटक में पांच [3]सन्धियाँ होती हैं—जिनके नाम हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श तथा (५) निर्वहण ॥ ५२ ॥

---

१. द्रष्टव्य सा० द० ६।३०३, ना० ल० र० को० पृ० १०४ ।

२. द्रष्टव्य० सा० द० ६।३३१, ३३२, द० रू० १।२३, २४, दर्पण तथा ना० ल० रत्न कोष पृ० १०४ ।

३. सन्धियाँ—रूपकों के स्वरूप को एक शरीर की कल्पना में रखते हुए उसके विधायक अंगों के रूप में सन्धियों को रखा गया है तथा यथासंभव उनके मानवशरीर के अंगों के नामानुसार ही नाम भी दिये गये हैं, जैसे मुख, प्रतिमुख, गर्भ । परन्तु किसी विशेष कारण वश विमर्श तथा उपसंहृति को वैसा नाम नहीं दिया जा सका क्योंकि वैसा करना कल्पना प्रसूत नाटक के इन अंगों से मेल नहीं खा सकता था । जैसे शरीर के विधायक विभिन्न अंग परस्पर सम्बद्ध रहते हैं यही प्रक्रिया नाटक के विविध विधायक अंगों के परस्पर सम्बद्ध रहने में भी समझी जा सकती है । नाटक में इतिवृत्त को व्यक्त करने वाली भाषा को यदि शरीर मान लें तो इसी के विविध अंगों को सन्धियाँ समझना चाहिए क्योंकि ये भी उसके नाटकीय अर्थ की द्योतक होती ही हैं । (विस्तार के लिये प्रस्तावना द्रष्टव्य) ।

---

१ चतुष्पताकमेवं हि—क० ।

२ तान् प्रवक्ष्याम्यतः—क० ।

३. गर्भो विमर्शश्च तथैव हि—घ० ।

४. सन्धयो नाटके स्मृताः—ग० घ० ।

पञ्चभिस्सन्धिभिर्युक्तं प्रधानमनु कीर्त्यते।
शेषाः प्रधानसन्धीनामनुग्राह्यनुसन्धयः[1] ॥ ३६ ॥

प्रधान कथा (अधिकारिक कथा) को वस्तु की पांच सन्धियों में विभक्त कर संयोजना की जाती है तथा शेष अनुसन्धियां[1] प्रधान कथावस्तु तथा सन्धियों की सहायता करती हैं ॥ ३६ ॥

मुख सन्धि—

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा[2]।
[3]काव्यं शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥ ३७ ॥

रूपक के उस भाग को जिसमें 'बीज' रूप अर्थ प्रकृति की उद्भावना अनेक रस तथा भावों की अभिव्यक्ति के साथ की जाए और नायक की प्रारम्भावस्था से जो सम्बद्ध हो (शरीरानुगता) तो उसे 'मुखसन्धि'[2] समझना चाहिए ॥ ३७ ॥

प्रतिमुख-सन्धि—

बीजस्योद्घाटनं यत्तु[4] दृष्टनष्टमिव क्वचित्।
[5]मुखे न्यस्तस्य सर्वत्र[6] तद्वै प्रमुखं भवेत्[7] ॥ ३८ ॥

---

१. अनुसन्धि—यह सन्धियाँ गौण कथावस्तु से सम्बद्ध पताका आदि को कथावस्तु से संहित होने पर मानी जाती हैं। भट्ट लोल्लट के मत में पताका नायक का इतिवृत्त अनुसन्धि कहलाता है। अनुसन्धियाँ भी मुखादि निर्वहणान्त अनुगमन कर सकतीं हैं।

२. मुख-सन्धि—नाटकीय कथावस्तु का वह भाग मुखसन्धि कहलाता है जिसमें बीज तथा कार्य के आरम्भ भाग को विशिष्टता से युक्त स्पष्टतः प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार कार्य के आरम्भ तथा बीज से साक्षात् या परम्परया सम्बद्ध होकर स्थायीभावों को सीमित एवं विभिन्न परिणामों में उद्बुद्ध करने में हेतुभूत होकर यह सन्धि रहती है।

---

१. मनुग्राह्यास्तु सन्धयः—ख, ग०, घ०।
२. बीजसमाप्तिस्तु—क०।
३. शरीरकाव्यानुगमात्—क०, काव्ये शरीरानुगतं—ग०, घ०।
४. यत्र—क०।
५. मुखन्यस्तस्य—क; उपक्षेपार्थसंयुक्तं (क० भ)
६. दृश्येत—क (प०)। ७. स्मृतम्—क०, ख०।

मुखसन्धि में स्थापित 'बीज' का जो कभी लक्ष्य रूप तथा अलक्ष्य रूप से था—जहां विकास या उद्भेद होता हो तो उसे 'प्रतिमुख'[1] सन्धि समझना चाहिए ॥ ३८ ॥

गर्भ-सन्धि—

उद्भेदस्तस्य[1] बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव च ।
[2]पुनश्चान्वेषणं यत्र[3] स गर्भ इति संज्ञितः ॥ ३९ ॥

प्रतिमुख सन्धि में 'बीज' का प्रकाशित होकर बार-बार प्रकट और तिरोहित हो जाता हो तथा साथ ही साथ (उसके लिये) अन्वेषण होकर जिसका विकास (होता) हो वह 'गर्भ सन्धि'[2] कहलाती है ॥ ३९ ॥

---

१. प्रतिमुख सन्धि आचार्य अभिनवगुप्त के मत में बीज का आंशिक रूप में प्रत्यक्ष रहना और आंशिकरूप में अप्रत्यक्ष रहने का जो क्रम मुख सन्धि में प्रदर्शित किय गया उसी का विकसित एवं स्फुट दर्शों में आना प्रतिमुख सन्धि है। इसका काम बीज को पूर्ण स्फुट करना है जो मुखसन्धि में अप्रत्यक्ष के समान पृष्ठभूमि में रखा गया था।

इसे प्रतिमुखसन्धि कहने का कारण यह है कि इसमें मुखसन्धि के प्रतिकूल चेष्टा रहती है। जैसे मुखसन्धि में बीज को प्रच्छन्न करने की चेष्टा की जाती है परन्तु प्रतिमुखसन्धि में उसी बीज को प्रत्यक्ष प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति होती है।

२. गर्भसन्धि—बीज की अङ्कुरित अवस्था को प्रतिमुखसन्धि में बतलाने के उपरान्त उसकी क्रमिक विकास को प्राप्त दशा का प्रदर्शन गर्भसन्धि में रखा जाता है। जिसमें फल को उत्पन्न करने की उन्मुखता विद्यमान रहती है। इसका विधायक वह इतिवृत्त का अंश है जिसमें नायक को लक्ष्य प्राप्त करते हुए और खोते हुए अनेक बार दिखलाया जाता है। इसमें प्राप्त इष्ट का खोना और उसे प्राप्त करने के लिये नवीन उपायों का आरम्भ या संयोजित करना विशेषतः दिखलाने की नाट्यकार की प्रवृत्ति होती है। क्योंकि यदि इसमें प्राप्त इष्ट का खोना प्रदर्शित न किया जाए तो गर्भ और अवमर्श–सन्धि में कोई विभेद ही नहीं होगा।

---

१. उद्भेदो यत्र—क० ।

२. अतश्चान्वे—क (ट) ।

३. तस्य—क० ।

विमर्श-सन्धि—

गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो[१] [२]विलोभनकृतोऽपिवा[३]।

[४]क्रोधव्यसनजो वापि विमर्शः[५] स इति स्मृतः ॥ ४० ॥

जिसमें गर्भ-सन्धि में विकसित बीज का और अधिक विस्तार से विकास प्रतीत हो और जो प्रलोभन (विलोभन), क्रोध तथा दुर्गति (व्यसन) के द्वारा और (अधिक) जमावट लिये हो तो उसे [१]'विमर्श-सन्धि, समझना चाहिए ॥ ४० ॥

निर्वहणसन्धि—

समानयनमर्थानां[६] मुखार्थानां स बीजिनाम् ।

[७]फलोपसङ्गतानाञ्च ज्ञेयं निर्वहणं तु तत् ॥ ४१ ॥

मुखादि सन्धियों में कथित 'अर्थ' बीज सहित प्रधान प्रयोजन के साथ मिलकर 'फल-प्राप्ति' को यदि सम्पादित कर दें तो उसे 'निर्वहण[२] सन्धि' समझना चाहिए ॥ ४१ ॥

---

१. अवमर्श या विमर्श सन्धि—अवमर्श सन्धि का प्रमुख रूप सन्देह रहता है। यह इष्टप्राप्ति की आशा के बाद उपस्थित बाधा से उत्पन्न होता है। नाटक के नायक के सर्वोत्तम गुणों को प्रकट करने के लिये इस सन्धि में शक्तिशाली अवरोधों को दिखलाया जाता है और जब इष्टप्राप्ति की सफलता के विषय में आशंकित होकर वह उसे प्राप्त करने के लिये सर्वोत्कृष्ट उपायों-सामर्थ्यों आदि का प्रयोग करता है तो ऐसी क्रियाशीलता एवं अध्यवसाय के कारण नायक के सर्वोत्तम गुण प्रकट हो जाते हैं। अवमर्श का प्रयोजन कार्य के चरमोत्कर्ष को प्रकट करना है।

२. निर्वहण सन्धि—निर्वहणसन्धि का अन्य अभिधान है उपसंहृति। इसमें नाटकीय कार्य तथा प्रथम चार अवस्थाओं एवं पूर्व प्रयुक्त चारों सन्धियों में प्रयुक्त सभी साधनों को एक फल या चरम उद्देश्य की उत्पत्ति में सहयोगी के रूप में दिखलाया जाता है जिसकी प्राप्ति नायक को करवाना नाट्यकार को इष्ट है।

---

१. गर्भान्निर्भिन्न—ख०। २. विप्रलम्भकृतो पि वा—क (प)।
३. कृतोऽथवा—क०। ४. किञ्चिदाश्लेषसंयुक्तो—ग०।
५. विमर्श इति कीर्तितः—क०।
६. समानञ्च समर्थानां मुख्यार्थानां—ख०, ग०।
७. नानाभावोत्तराणां—क०; नानाभावोऽन्तराणां यद्भवेन्निर्वहणं—ख०; फलोपबृंहितानां स्याज्ज्ञेयं—क (प०)।

एते हि सन्धयो ज्ञेया नाटकस्य[1] प्रयोक्तृभिः ।
तथा प्रकरणस्यापि शेषाणाञ्च निबोधत ॥ ४२ ॥

नाटक के निर्माता या निर्देशक (प्रयोक्ता) को इन सन्धियों को अवश्य जानना चाहिए । ये सभी सन्धियां नाटक और प्रकरण में होती हैं । अब शेष रूपकों में इनकी स्थिति (भी) बतलाता हूँ ॥ ४२ ॥

(डिम आदि) रूपकों में सन्धियों की स्थिति—

डिमः समवकारश्च चतुःसन्धी प्रकीर्तितौ ।
[2]न तयोरवमर्शस्तु कर्तव्यः कविभिः सदा ॥ ४३ ॥

डिम और समवकार में चार सन्धियाँ होती है । नाट्यकार इनमें विमर्श (अवमर्श) सन्धि की योजना न करें ॥ ४३ ॥

व्यायोगेहामृगौ चापि [3]त्रिसन्धी परिकीर्तितौ ।
[4]न तयोरवमर्शस्तु कर्तव्यः कविभिः सदा ॥ ४४ ॥

व्यायोग और ईहामृग में भी तीन सन्धियाँ रखी जाती हैं । इनमें भी विमर्श सन्धि नहीं रहती हैं[1] ॥ ४४ ॥

द्विसन्धि तु प्रहसनं वीथ्यङ्को भाण एव च ।
मुखनिर्वहणे स्यातां[1] तेषां वृत्तिश्च भारती ॥ ४५ ॥

प्रहसन, वीथी, अंक और भाण में दो सन्धियां रहती हैं जो मुख और निर्वहण सन्धियां होती हैं और इनमें 'वृत्तिभारती' होती[2] है ॥ ४५ ॥

एवञ्च सन्धयः कार्या दशरूपे प्रयोक्तृभिः ।
[6]पुनरेषान्तु सन्धीनामङ्गकल्पं निबोधत ॥ ४६ ॥

---

१. दे ना० शा० २०।८४, वही—२०।६४।
२. दे० ना० शा० २०।१०२, वही ११२, २०।९४, २०।१०७ ।

---

१. नाटकेषु—क० ।
२. गर्भावमर्शौ न स्यातां न च वृत्तिस्तु कैशिकी—ख०, ग०, घ० ।
३. सदा कार्यौ त्रिसन्धिकौ—क० ।
४. गर्भावमर्शौ न स्यातां तयोर्वृत्तिश्च कैशिकी—क०; न च गर्भो विमर्शश्च न च वृत्तिश्च कैशिकी—क (प०), गर्भञ्चैवावमर्शञ्च त्यक्त्वा वृत्तिञ्च कैशिकीम्—क (ङ) ।
५. तत्र कर्तव्ये कविभिः सदा—क० ।
६. पुनः सन्ध्यन्तरं तेषा—ग०, घ० ।

ये सन्धियां हैं जिनका दश-रूपकों में नाट्य निर्देशकों द्वारा विधिवत् व्यवहार किया जाता है। अब मैं इन सन्धियों की अंग भूत अन्य (अन्तर) सन्धियाँ बतलाता हूँ ॥ ४६ ॥

अंग-सन्धियां अथवा सन्ध्यन्तर—

साम भेदः[1] प्रदानञ्च दण्डश्च वध एव च।
प्रत्युत्पन्नमतित्वञ्च गोत्रस्खलितमेव च ॥ ४७ ॥
साहसञ्च भयञ्चैव[2] धीर्माया[3] क्रोध एव च।
ओजः संवरणं भ्रान्तिस्तथा हेत्ववधारणम्[4] ॥ ४८ ॥
दूतो लेखस्तथा[5] स्वप्नश्चित्रं मद इति[6] द्विजाः।
सन्ध्यन्तराणि सन्धीनां [7]विशेषस्त्वेकविंशतिः[8] ॥ ४९ ॥

सन्धियों में विशेष रूप से रहने वाली ये अंग-सन्धियाँ या सन्ध्यन्तर इक्कीस होती हैं—(१) साम, (२) भेद, (३) प्रदान, (४) दण्ड, (५) वध, (६) प्रत्युत्पन्नमतित्व, (७) गोत्र-स्खलित्त, (८) साहस, (९) भय, (१०) धी, (११) माया, (१२) क्रोध, (१३) ओज, (१४) संवरण, (१५) भ्रान्ति, (१६) हेत्ववधारण (हेत्वपधारण), (१७) दूत, (१८) लेख, (१९) स्वप्न, (२०) चित्र तथा (२१) मद ॥ ४७–४९ ॥

सन्धीनां यानि वृत्तानि [9]प्रदेशेष्वनुपूर्वशः।
[10]स्वसम्पद्गुणयुक्तानि तान्यङ्गान्युपधारयेत् ॥ ५० ॥

सन्धियों में जो घटनाएं क्रमशः अपने-अपने स्थान (प्रदेश[1]) पर मुख्य प्रयोजन के सम्पादनार्थ स्थापित की जाती हैं वे अपनी विशेषता

---

१. 'प्रदेश' का आशय है कि साम आदि को स्थानों की उचित स्थिति में संयोजित किया जाए।

---

१. भेदस्तथा दण्डः प्रदानं—क०।

२. वधश्चैव—ग०। ३. ह्री—क०।

४. हेत्वप—क०; हि त्वव—ग०। ५. लेखास्तथा—ग०।

६. इति स्मृतम्—क०। ७. विशेषा—क०।

८. सामादीनामुदाहरणानि सन्ध्यङ्गानामुदाहरणानि च ग्रन्थान्तेऽनुबन्धरूपेण दर्शयिष्यते।

९. प्रदेशश्च तु पूर्वतः—क (च०)। १०. सम्पद्गुणप्रयुक्तानि—ख।

तथा गुणों से युक्त इन उपसन्धियों या अंगों का सहकार या समर्थन प्राप्त किये हुए होती हैं (और उनमें इन उपसन्धियों का भी गौण रूप से हाथ रहता है) ॥ ५० ॥

सन्ध्यगों के (छः) प्रयोजन—

इष्टस्यार्थस्य रचना[1] वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गुह्यानाञ्चैव गूहनम् ॥ ५१ ॥
आश्चर्यवदभिख्यानं[2] प्रकाश्यानां प्रकाशनम् ।
अङ्गानां षड्विधं[3] ह्येतदुक्तं शास्त्रे प्रयोजनम् ॥ ५२ ॥

शास्त्रों में इन सन्ध्यगों के छः [1]उद्देश्य बतलाए हैं—(१) इष्टार्थ की अभिव्यक्ति या रचना (अर्थात् उद्दिष्ट अर्थ का निर्वाह करना), (२) कथा-वस्तु के आवश्यक वृत्तान्त का ग्रहण (वृतान्तस्य अनुपक्षयः) (अर्थात् कथा की इस प्रकार विस्तार देना जिससे दर्शकों की रुचि में व्यक्तिक्रम न होने पाए और वह बराबर बनी रहे ।), (३) प्रयोग को मनोरञ्जक एवं आकर्षक बनाकर भावों का संचार, (४) जिस बात को छिपाना अभीष्ट हो उसका प्रकट न होने देना (५) आश्चर्यकारी घटनाओं का चमत्कार उत्पन्न करने हेतु कथन (आश्चर्यवदभिख्यानम्) तथा (६) प्रकट करने योग्य तत्व की अभिव्यक्ति ॥ ५१–५२ ॥

सन्ध्यंगों का उपयोग—

अङ्गहीनो नरो[4] यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगक्षमं भवेत् ॥ ५३ ॥

जैसे अवयवों से हीन पुरुष में युद्ध या कार्य आरम्भ करने की सामर्थ्य नहीं होती वैसे ही अंगहीन नाट्यरचना भी प्रयोग में सफलता प्राप्त नहीं कर सकती ॥ ५३ ॥

काव्यं यदपि[5] हीनार्थं सम्यगङ्गैः समन्वितम् ।
दीप्ताङ्गत्वात्[6] प्रयोगस्य शोभामेति न संशयः ॥ ५४ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।४०७ तथा द० रू० १।५५ ।

---

१. वचनं—घ० । २. वदभिख्यातं—ख०, ग०, घ० ।

३. ह्येतद् दृष्टं—क० ।

४ यद्वद्युद्धारम्भेऽक्षमो भवेत्—ख०, ग०, घ० ।

५. पदविहीनार्थं—क (न०) ।

६. दीप्तत्वात्तु—क०; दीप्ति गत्वा प्रयोगश्च—क (ब०) ।

जो नाट्यरचना अपने विषय या कथावस्तु से घटिया भी हो किन्तु जिसमें अंगों का व्यवस्थित सन्निवेश हो तो वह प्रयोग की दीप्ति के कारण ही शोभाशालिनी हो जाती है यह तथ्य है ॥ ५४ ॥

उदात्तमपि यत्काव्यं स्यादङ्गैः[1] परिवर्जितम्।
[2]हीनत्वात्तु प्रयोगस्य न सतां[3] रञ्जयेन्मनः ॥ ५५ ॥

और नाट्यरचना का विषय या कथा-वस्तु यदि उत्कृष्ट (उदात्त) हो और उसमें यथोचित सन्ध्यंगों का सन्निवेश न किया जाए तो वह प्रयोग हीनता के कारण संहृदयों का मनोरञ्जन करने में असमर्थ होती है ॥ ५५ ॥

तस्मात् सन्धिप्रयोगेषु यथादेशं[4] यथारसम्।
कविनाङ्गानि कार्याणि सम्यक्तानि निबोधत[5] ॥ ५६ ॥

अतएव कविजन देश, काल और रस के अनुकूल सन्धियों के प्रयोगों में (या उनके अवसर पर) इन अंगों की भी उचित रूप में (अवश्य) विनियोजना करें। अब मैं सन्ध्यंगों को बतलाता हूँ जिन्हें आप जान लीजिए ॥ ५६ ॥

सन्ध्यङ्ग—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम्।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ॥ ५७ ॥
उद्भेदः करणं भेदो ह्येतान्यङ्गानि[6] वै मुखे।
तथा प्रतिमुखे चैव शृणुताङ्गान्यतः[7] परम्[8] ॥ ५८ ॥

मुखसन्धि के अंग हैं—(१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) विलोभन, (५) युक्ति, (६) प्राप्ति, (७) समाधान,

---

१. तदङ्गैः—क० ।
२. हीनत्वाद्धिप्रयोगस्य—ख०, हीनत्वाद्धि—क० (८)।
३. सतो—क० । ४. यथायोगं—क० ।
५. एतदनु—एते विशेषाः सन्धीनां स्यु सन्धिष्वर्थयोगतः। एभ्योऽङ्गान्यर्थयोगेन सन्धितानि निबोधत॥ इति श्लोकोऽधिकः समुपलभ्यते केषुचिदादर्शपुस्तकेषु ।
६. द्वादशाङ्गानि—क (म०)।
७. वक्ष्याम्यङ्गानि नामतः—क० ।
८. वक्ष्याम्यङ्गान्यन्तः परम्—क (ड)।

(८) विधान, (९) परिभावना, (१०) उद्भेद, (११) कारण तथा (१२) भेद । अब मैं प्रतिमुख–सन्धि के अंग बतलाता हूं ॥ ५७–५८ ॥

विलासः परिसर्पश्च विधूतं तापनं[1] तथा ।
[2]नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं[3] पुनः ॥ ५९ ॥
निरोधश्चैव विज्ञेयः पर्युपासनमेव च ।
[4]पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार एव च ॥ ६० ॥
एतानि[5] वै प्रतिमुखे

प्रतिमुखसन्धि के अंग हैं—(१) विलास, (२) परिसर्प, (३) विधूत, (४) तापन, (५) नर्म, (६) नर्मद्युति, (७) प्रगमन (प्रगयण), (८) निरोध, (९) पर्युपासन, (१०) पुष्प, (११) वज्र, (१२) उपन्यास तथा (१३) वर्ण-संहार[1] ॥ ५९–६० ॥

गर्भाङ्गानि[6] निबोधत ।
अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे[7] क्रमः ॥ ६१ ॥
सङ्ग्रहश्चानुमानश्च प्रार्थनाक्षिप्तमेव[8] च ।
तोटकाधिबले चैव चोद्वेगो[9] विद्रवस्तथा ॥ ६२ ॥
अङ्गान्येतानि वै गर्भे

गर्भसन्धि के अंग हैं—(१) अभूताहरण, (२) मार्ग, (३) रूप, (४) उदाहरण, (५) क्रम, (६) संग्रह, (७) अनुमान, (८) प्रार्थना,

---

१. द० रू० में तपन के स्थान पर 'शमन' मिलता है । इस सन्दर्भ में सा० द० ६।३६१ तथा ना० ल० र० को (पृ०) भी द्रष्टव्य हैं ।

---

१. शमनं—क० ।
२. नर्मद्युतिः प्रगमनं विरोधः पर्युपासनम्—क (ट) ।
३. प्रगयणं—क०; प्रसवणं—क (ढ), प्रशमनं—ख०, ग० ।
४. वज्रं पुष्पमुप—ग०, घ० ।
५. एतदनु—एवमङ्गानि बीजस्य सम्प्रसिद्धिकराणि च ।' इत्यधिकमर्धमुपलभ्यते ख पुस्तकटिप्पण्याम् ।
६. गर्भेऽङ्गानि—क० ।
७. रूपमाहरणे क्रमः—क (भ०) ।
८. क्षिप्तिरेव च—ख० ।
९. चोद्वेदो—ग० ।

(९) आक्षिप्त (क्षिप्र ?), (१०) तोटक, (११) अधिबल, (१२) उद्वेग तथा (१३) विद्रव[1] ॥ ६१–६२ ॥

ह्यवमर्शे[1] निबोधत ।
अपवादोऽथ[2] सम्फेटो[3] विद्रवः शक्तिरेव च ॥ ६३ ॥
[4]व्यवसायः प्रसङ्गश्च द्युतिः[5] खेदो निषेधनम् ।
[6]विरोधनमथादानं छादनञ्च प्ररोचना ॥ ६४ ॥
[7]एतान्यवमृशेऽङ्गानि

अवमर्श या विमर्श–सन्धि के अंग हैं:—(१) अपवाद, (२) सम्फेट, (३) विद्रव, (४) शक्ति, (५) व्यवसाय, (६) प्रसंग, (७) द्युति, (८) खेद,[2] (९) निषेधन, (१०) विरोधन, (११) आदान, (१२) छादन तथा (१३) प्ररोचना ॥ ६४ ॥

भूयो निर्वहणे शृणु ।
सन्धिर्विबोधो[8] ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ६५ ॥
धृतिः[9] प्रसादश्चानन्दः समयो ह्युपगूहनम्[10] ।
भाषणं पूर्ववाक्यश्च[11] काव्यसंहार[12] एव च ॥ ६६ ॥

---

१. द० रू० में (१।३६, ३८) प्रार्थना तथा विद्रव नहीं हैं तथा इसके स्थान पर सम्भ्रम नामक एक दूसरा ही अंग मिलता है। द्रष्टव्यः—सा० द० ६।३६५ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८० ।

२. दशरूपक में खेद, निषेध तथा छादन नहीं मिलते पर उसमें विद्रव, द्रव, चालन तथा विचालन मिलते हैं। सा० द० में भरत का अनुसरण मिलता है पर वहां विद्रव के स्थान पर द्रव तथा छादन के स्थान पर सादन मिलता है। इस विषय में ना० ल० रत्न को० भी तुलनार्थ द्रष्टव्य पृ० ८० ।

---

१. विमर्शे च निबो—ख०, ग० । २. अवपातोऽथ—क० ।
३. भिद्रवः घ० ।
४. प्रसङ्गो व्यवसायश्च विरोधश्च प्रकीर्तितः—क (न०), ख० ।
५. द्रुतिः—घ० ।
६. प्ररोचनातिवलनमादानं छादनं तथा—क (न०) ।
७. व्यवहारश्च युक्तिश्च विमर्शाङ्गान्यमूनि च—क ।
८. निरोधो—क०, विरोधः—ग० । ९. द्युतिः—क०, ग०; कृतिः—घ० ।
१०. श्चोपगूह—ख० । ११. पूर्वभावश्च—क (य०) ।
१२. कार्यसंहार—ख; ग० ।

प्रशस्तिरिति चाङ्गानि[1] कुर्यान्निर्वहणे बुधः[2] ।
चतुष्षष्टिर्बुधैर्ज्ञेयान्येतान्यङ्गानि सन्धिषु ॥ ६७ ॥

अब निर्वहण सन्धि के अंगों को सुनिये—(१) सन्धि, (२) विबोध, (३) ग्रथन, (४) निर्णय, (५) परिभाषण, (६) धृति, (७) प्रसाद, (८) आनन्द, (९) समय, (१०) अगूहन, (११) भाषण, (१२) पूर्ववाक्य (पूर्वभाव), (१३) काव्य-संहार तथा (१४) प्रशस्ति,[1] सन्धियों के इन चौसठ अंगों का बुधजन अवश्य ज्ञान रखें ॥ ६५–६७ ॥

सम्पादनार्थं बीजस्य सम्यक् सिद्धिकराणि[3] तु ।
कार्याण्येतानि कविभिः विभज्यार्थानि[4] नाटके ॥ ६८ ॥

ये सध्यंग 'बीज' के सम्पूर्ण रूप से विकास तथा मुख्य फल की सिद्धि के आपादक होते हैं । अतः प्रयोजन का विभाग करते हुए कविजन को नाट्यरचना में अवश्य ही इन अंगों का सन्निवेश करना चाहिए ॥ ६८ ॥

पुनरेषां[5] प्रवक्ष्यामि लक्षणानि यथाक्रमम् ।
काव्यार्थस्य[6] समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ॥ ६९ ॥

अब मैं क्रमशः इनके लक्षण बतलाता हूँ ।

उपक्षेप—नाट्यरचना के प्रस्तुत (विषय या) इतिवृत्त का संक्षेप में सूचना आदि के द्वारा निर्देश करना 'उपक्षेप' कहलाता है[2] ॥ ६९ ॥

---

१. सा० द० में धृति' के स्थान पर कृति पढ़ा जाता है । द० रू० में भी कृति के स्थान पर 'धृति' मिलता है । वहीं पूर्ववाक्य तथा काव्य-संहार को उपसंहार लिखा गया है । ना० ल० रत्नकोष में सन्धि तथा विबोध अंग नहीं मिलते, धृति के स्थान पर 'द्युति' मिलता है तथा प्रथम दो अंगों के स्थान पर अर्थ तथा अनुयोग दिये गए है ।

२. द्र० सा० द० ६।३३८, द० रू० १।२७ ।

देखिये ना० ल० र० को० पृ० ५६ सा० द० ६।३३८ तथा द० रू० १।२७ ।

---

१. संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः—क० ।

२. अतः परं खपुस्तके टिप्पण्यां—सन्धौ निर्वहणाख्ये तु कर्तव्यानि प्रयोक्तृभिः । एतेषामर्थसम्बद्धं (न्धं—क० पु०) पुनर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ इति कपुस्तकेऽधिकं प्रक्षिप्तञ्च ।

३. सन्धिकराणि—क (ड) । ४. विस्पष्टार्थानि—क० (ड) ।

५. एतेषान्तु पुनर्वक्ष्ये—ख० । ६. काव्यस्यार्थसमुत्पत्ति—ख० ।

समुत्पन्नार्थबाहुल्यं[1] ज्ञेयः परिकरस्तु सः ।

परिकर—प्रस्तुत काव्यार्थ अथवा संक्षिप्त इतिवृत्त का आगे और विषय विस्तार हो जाना 'परिकर' कहलाता है ।

[2]तन्निष्पत्त्या तु कथनं परिन्यासः प्रकीर्तितः ॥ ७० ॥

परिन्यास—बीजार्थ या उद्दिष्ट कार्य का निश्चयपूर्वक (सिद्धि आदि का) उल्लेख करना परिन्यास[1] कहलाता है ॥ ७० ॥

गुणनिर्वर्णनं यत्तु[3] विलोभनमिति स्मृतम् ।

विलोभन—(नायक या नायिका आदि के) गुणों अभिधान या उनमें गुणों का सन्निवेश वर्णन करना 'विलोभन'[2] कहलाता है ।

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते ॥ ७१ ॥

युक्ति—नाटकीय अर्थों या कर्तव्य का निश्चय कर लेना युक्ति[3] कहलाता है ॥ ७१ ॥

सुखार्थस्योपगमनं[4] प्राप्तिरित्यभिसंज्ञितम्[5] ।

प्राप्ति—सुख या सुख-हेतु की उपलब्धि को[4] 'प्राप्ति' समझना चाहिए ।

---

१. तु० सा० द० ६।३४०, द० रू० १।२७ ।

२. तु० सा० द० ६।३४१, द० रू० १।२७ ।

३. तु० सा० द० ६।३४२, द० रू० १।२७ (२) तु० सा० द० ६।३४३ द० रू० १।२८ संभवतः इस लक्षण के निरूपण में सा० द० तथा ना० ल० र० को० में थोड़ी भ्रान्ति है ।

४. द्रष्टव्यः—सा० द० ६।३४४, द० रू० १।२८ तथा ना० ल० रत्नकोष जिसमें लक्षण का नाट्यशास्त्रीय अनुसरण हुआ पर वह तत्कालीन अशुद्ध परम्परा से गृहीत पाठ के कारण भ्रान्त प्रतीत होता है ।

---

१. यदुत्पन्नार्थ—क० ।

२. तन्निष्पत्तिः परिन्यासो विज्ञेयः कविभिः सदा—क०, तन्निवृत्तिः परिन्यासो—ख० ।

३. चैव—क०, ख० ।

४. स्याभिगमनं—क०, मुखार्थस्योपगमनं—घ० ।

५. संज्ञिता—क० ।

बीजार्थस्योपगमनं[1] समाधानमपीष्यते[2] ॥ ७२ ॥

समाधान—'बीज' के प्रयोजन को प्राप्त करना या उसका समीचीन रूप में आधान करना 'समाधान' कहलाता है ॥ ७२ ॥

सुखदुःखकृतो[3] योऽर्थस्तद्विधानमिति[4] स्मृतम् ।

विधान—जहां सुख और दुःख से मिश्रित अवस्था का या अर्थ का कथन या घटना रहती हो उसे 'विधान'[1] जानो ।

कौतूहलोत्तरावेगो[5] भवेत्तु परिभावना ॥ ७३ ॥

परिभावना—कौतूहल के उपरान्त या अतिशय जिज्ञासा से मिश्रित आवेशपूर्ण वचन विन्यास को 'परिभावना'[2] समझना चाहिए ॥ ७३ ॥

बीजार्थस्य प्ररोहो य[6] उद्भेदः स तु कीर्तितः ।

उद्भेद—'बीज' के अर्थ या कार्य का अंकुर रूप में फूट पड़ना (या प्रकट होना) 'उद्भेद'[3] कहलाता है ।

प्रकृतार्थसमारम्भः करणं[7] परिचक्षते ॥ ७४ ॥

करण—प्रस्तुत विषय या कार्य का प्रारम्भ कर देना 'करण'[4] कहलाता है ॥ ७४ ॥

सङ्घातभेदनार्थो यः स भेद इति संज्ञितः[8] ।
एतानि तु मुखाङ्गानि— ॥ ७५ ॥

---

१ द्रष्टव्यः—द० रू० १।२८, सा० द० ६।३४६, ना० ल० र० को० पृ० ६१ ।

२. सा० द० ६।३४७, द० रू० १।२९ ।

३ सा० द० ६।३४८, द० रू० १।२९, ना० ल० र० को० पृ० ६३ ।

४. सा० द० ६।३४९, द० रू० १।२९ (तुलना) ।

---

१. बीजस्यागमनं यत्तु—क० ।

२. समाधानमिति स्मृतम्—क०, तत्समाधानमुच्यते—ख० ।

३. सुखतो दुःखतो योऽर्थः—क० (भ०) ।

४ तद्विधानमिहोच्यते—ग०, घ० । ५. रावेशो—ख, ग० ।

६ यः स उद्भेद इति स्मृतः—क० ।

७. करणं नाम तद्भवेत्—क० ।

८. कीर्तितः—क०; ख०; उत्साहजननं भेदो विज्ञेयस्तु प्रयोक्तृभिः—क (भ०) ।

भेद—मिले हुए (पात्रों के) समूह के विभेदन को 'भेद'[1] समझना चाहिए। ये मुख-सन्धि के अंग हैं ॥ ७५ ॥

प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग—

वक्ष्ये प्रतिमुखं[1] पुनः ।
समीहा रतिभोगार्थो[2] विलास इति कीर्तितः[3] ॥ ७६ ॥

अब मैं प्रतिमुख सन्धि के अंगों का वर्णन करता हूँ।

विलास—'रतिभाव' के विषयभूत व्यक्ति या पदार्थ की अभिलाषा करना 'विलास'[2] कहलाता है ॥ ७६ ॥

दृष्टनष्टानुसरणं परिसर्पस्तु[4] वर्ण्यते ।

परिसर्प—एक बार देखी या लुप्तप्राय अभीष्ट वस्तु का अन्वेषण करना 'परिसर्प'[3] कहलाता है।

[5]कृतस्यानुनयस्यादौ विधूतमपरिग्रहः ॥ ७७ ॥

विधुत—किसी के पूर्वकृत अनुनय या सान्त्वना के वचनों का स्वीकार न करना, 'विधुत,'[4] कहलाता है ॥ ७७ ॥

[6]अपायदर्शनं यत्तु[7] तापनं नाम तद्भवेत् ।

---

१. सा० द० ६।३५०, द० रू० १।२९ (तुलना) ना० ल० र० को० पृ० ६३।

२. द्रष्टव्यः—सा० द० ६।३५२, ना० ल० र० को० चौख० पृ० ६५। द० रू० १। १३२ (तुलना)।

३. द्र० सा० द० ६।३५३, द० रू० १।३२, ३३, ना० ल० र० को० चौख० पृ० ६६।

४. तुलना ना० ल० र० को० पृ० ६७३, द० रू० १।३३। सा० द० में विधुत के स्थान पर 'विधूत' मिलता है।

---

१. प्रतिमुखे—क०, ग०, घ०।

२. सम्भोगरतिसम्पन्नो—क० ख० (मु०)।

३. संज्ञितः—क०।

४. परिसर्प इति स्मृतः—क०; श्च कथ्यते—क (प०)।

५. विधूतमरतिं प्राहुस्तथा च द्विजसत्तमाः।—क (भ०)।

६. विलापवचनं यत्तु—क (भ०); तस्यापनयनं यत्र शमनं—क (म)।

७. यत्तत्तापनं—ख०।

तापन—किसी अनिष्ट के विषय में सोचना या उसका दिखाई देना 'तापन'[1] कहलाता है।

[1]क्रीडार्थं विहितं यत्तु हास्यं नर्म[2] तु संज्ञितम् ॥ ७८ ॥

नर्म—क्रीड़ार्थ अभिहितपरिहासपूर्ण वचनों को 'नर्म' कहा जाता है ॥ ७८ ॥

[3]दोषप्रच्छादनार्थं तु हास्यं नर्मद्युति स्मृतम्।

नर्मद्युति—अपने दोष को छुपाने के लिए जो परिहास किया जाए उसे 'नर्मद्युति' कहते हैं।

[4]उत्तरोत्तरवाक्यन्तु भवेत् प्रगमनं[5] पुनः ॥ ७९ ॥

प्रगमन—उत्तर प्रत्युत्तर में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट वचनों का प्रयोग करना [2]'प्रगमन' (या प्रगयण) समझना चाहिए ॥ ७९ ॥

या तु व्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः[6] स प्रकीर्तितः।

निरोध—विपत्ति का आगमन या प्राप्ति 'निरोध'[3] कहलाता है।

क्रुद्धस्यानुनयो यत्तु[7] तद्भवेत्पर्युपासनम् ॥ ८० ॥

---

१. द्रष्टव्यः— ना० ल० र० को० पृ० ६७। सा० द० ६।३५५ में इसका लक्षण उपाय—दर्शन के रूप में किया है, द० रू० में तापन के स्थान पर 'साम' मिलता है। (दे० द० रू० १।३३)।

२. तु० द० रू० १।३३, सा० द० ६।३५६, ना० ल० र० को० पृ० ६८।

३. सा० द० ६।३५९ में निरोध' के स्थान पर विरोध पाठ मिलता है।

---

१. क्रीडाविलोभनार्थं तु—क० (थ), हास्यप्रायं तु यद्वाक्यं तन्नर्म परिकीर्तितम्—क० (भ०)।

२. नर्मेति तत्स्मृतम्—क०।

३. रतिर्नर्मकृता चैव द्युतिरित्यभिसंज्ञिता—क (भ०)।

४. विज्ञेयं तु प्रशमनं विषादशमनोद्भवम्—क० (भ०)।

५. प्रगयणं—क०, प्रगमणं क० (भ)।

६. स निरोधः—क०, विरोधः स तु संज्ञितः—क (ढ़), मुखानां सन्निवेशो यः स निरोध इति स्मृतः—क (भ०)।

७. यस्तु—क०, यश्च तद्भवेत्—क० (भ०)।

पर्युपासन—क्रोधी पुरुष के क्रोध की शान्ति के लिए विहित अनुनय को 'पर्युपासन'[1] कहते हैं ॥ ८० ॥

विशेषवचनं यत्तु तत् पुष्पमिति संज्ञितम् ।

पुष्प—चित्ताकर्षक विशेष वचन विन्यास को[2] 'पुष्प' कहते हैं ।

[1]प्रत्यक्षरूक्षं यद्वाक्यं तद्[2] वज्रमिति संज्ञितम् ॥ ८१ ॥

वज्र—मुंह पर ही कठोर वचनों को सुना देना 'वज्र'[3] कहलाता है ॥ ८१ ॥

[3]उपपत्तिकृतो योऽर्थं उपन्यासस्तु स [4]स्मृतः ।

उपन्यास—युक्तियुक्त अर्थ का उपस्थापन [4]'उपन्यास' कहलाता है ।

[5]चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥ ८२ ॥
[6]एतानि तु प्रतिमुखे

वर्णसंहार—चारों वर्णों के एकत्र समागम को [5]'वर्णसंहार' कहते हैं । ये प्रतिमुख सन्धि के अंग हैं ॥ ८२ ॥

---

१. दृष्ट—ना० ल० र० को० पृ० ६९ ।

२. तुलना:—सा० द० ६।३६० । द० रू० १।३४ ।

३. तु० सा० द० ६।३६१; द० रू० १।३४ । तु० सा० द० ६।३६२, द० रू० १।३५, ना० ल० र० को० पृष्ठ ७० ।

४. तुलना सा० द० ६।३६३, द० रू० १।३५, ना० ल० र० को पृष्ठ ७१ ।

५. सा० द० ६।३६४ तथा द० रू० १।३५ । ना० ल० र० को० (पृष्ठ ७१) में—'वर्णितस्यार्थस्य तिरस्कारो' लक्षण करते हुए नाट्यशास्त्रकार का विवरण अन्य आचार्यों के मत में रखा गया है । (यथाः—'चतुर्णानां सम्मेलनमपि केचित् वर्णयन्ति') ।

---

१. प्रत्यक्षरूपं—ग०, रूक्षप्रायं तु—क (भ०) ।

२. वज्रं तदभिधीयते—क० ।

३. सोपायवचनं यत्तु स उपन्यास उच्यते—क (भ०) ।

४. संस्मृतः क० (न०) ।

५. चातुर्वर्ण्याभिगमनं—ख० ।

६. एतत्प्रतिमुखेऽङ्गानि—ख० (मु०) ।

गर्भसन्धि के अंग—

[1]गर्भ चापि निबोधत ।
[2]कपटापाश्रयं यत्तदभूताहरणं विदुः ॥ ८३ ॥

अब मैं गर्भसन्धि के अंगों के लक्षण कहता हूँ ।

अभूताहरण—कपटाश्रित—(या व्याजपूर्ण) वचन वाले वाक्यों को' 'अभूताहरण' कहते हैं ॥ ८३ ॥

[3]तत्वार्थकथनञ्चैव मार्ग इत्यभिधीयते ।

मार्ग—यथार्थ बात को (प्रकृत विषय से सम्बद्ध कर) कह देना 'मार्ग'[2] कहलाता है ।

[4]चित्रार्थसमवाये तु वितर्को रूपमिष्यते ॥ ८४ ॥

रूप—(आश्चर्योत्पादक घटना में) वितर्कयुक्त, विचित्र या अनूठे अर्थ से मिश्रित वाक्यों का प्रयोग करना 'रूप'[3] कहलाता है ॥ ८४ ॥

[5]यत्तु सातिशयं वाक्यं तदुदाहरणं स्मृतम् ।

उदाहरण—लोक प्रसिद्धि की अपेक्षा स्व-पर-विषयक उत्कर्ष-युक्त वाक्य-विन्यास को [4]'उदाहरण' कहते हैं ।

[6]भावतत्वोपलब्धिस्तु क्रम इत्यभिधीयते ॥ ८५ ॥

क्रम—भावी अर्थ घटना अथवा पराभिप्राय का उन्नयन 'क्रम'[5] कहलाता है ॥ ८५ ॥

---

१. तु० द० रू० १।३८, सा० द० ६।३६५, ना० ल० र० को० पृ० ७३ ।
२. तु० सा० द० ६।३६६, द० रू० १।३८, ना० ल० र० को० पृ० ७४ ।
३. तु० द० रू० १।३९, सा० द० ६।३६७ ।
४. तु० द० रू० १।३९, सा० द० ६।३६८ ।
५. तु० सा० द० ६।३६९, द० रू० १।३९, ना० ल० र० को० पृ० ७५ ।

१. अथ गर्भस्थलक्षणम्—ख० (मु०) ।
२. कपटाद्याश्रयं वाक्य—ख० ।
३. सत्वार्थवचनं—क (च), तत्वार्थवचनं—क० ।
४. चित्रार्थसमवायो यस्तद्रूपमिति कीर्तितम्—क (ढ़) ।
५. यत्सातिशयवद्वाक्यं—क०; यत्र सातिशयं वाक्यमुदाहरणमिष्यते—क० (य०) ।
६. भावकत्वोप—ग०, भाव तत्वोपलब्धिर्वाक्यस्य—क (भ०) ।

[1]सामदानादिसम्पन्नः सङ्ग्रहः स[2] तु कीर्तितः ।

संग्रह—(कथन में) साम (प्रियवचन) तथा दान आदि का प्रयोग करना 'संग्रह'[1] कहलाता है ।

[3]रूपानुरूपगमनमनुमानमिति स्मृतम् ॥ ८६ ॥

अनुमान—किसी वस्तु के नाम को प्रत्यक्ष सुनकर या उपलब्ध कर उसके स्वरूप की (समानता आदि के चिह्नों के द्वारा) कल्पना कर लेना 'अनुमान'[2] कहलाता है ॥ ८६ ॥

[4]रतिहर्षोत्सवाद्यर्थप्रार्थना प्रार्थना भवेत् ।

प्रार्थना—(अपने कथन में) रति, हर्ष और प्रमोद की याचना को 'प्रार्थना'[3] कहते हैं ।

[5]गर्भस्योद्भेदनं यत्तु[6] तदाक्षिप्तमिति स्मृतम् ॥ ८७ ॥

आक्षिप्ति (आक्षिप्त)—बीज के गर्भ का प्रकटीकरण या विकास 'आक्षिप्ति'[4] (या आक्षिप्त) कहलाता है ॥ ८७ ॥

---

१. तु० सा० द० ६।३७०, ना० ल० र० को० पृ० ७५ तथा द० रू० १।४० ।

२. तु० ना० ल० र० को० पृ० ७५ दशरू० १।४० तथा सा० द० ६।३७१ ।

३. तु० सा० द० ६।३७२, द० रू० १।४० तथा ना० ल० र० को पृ० ७५-७६ ।

४. दशरूपक में इसे 'आक्षेप', साहित्यदर्पण ६।३७३ में 'क्षिप्ति' या 'आक्षिप्ति' तथा ना० ल० र० को० में 'उत्क्षिप्त' बतलाया गया है । द्र० ना० ल० र० को० पृ० ७६ ।

---

१. सामदानार्थसंयोगः—ग० घ० । २. परिकीर्तितः—क० ।

३. रूपन्तु गमनं लिङ्गादनुमान इति स्मृतः—क (भ०) ।

४. रतिहर्षोत्सवानां तु—क०; कार्यानुनयपूर्वस्तु नियोगः—ख० (मु०), अतिहर्षोत्सवार्थानां—क (ट); अभ्यर्थनापरं वाक्यं प्रार्थनेत्यभिधीयते—क (भ०) ।

५. गर्भस्योद्भेदनं यत् स्यात् क्षिप्तिरित्यभिधीयते—ख०; गर्भस्योच्छेदनं यत्तु—क (द) ।

६. यत् सा क्षिप्तिरित्यभिधीयते—क०, उद्भेदनं यत्तु तदुपक्षिप्तमुच्यते—क (म०) ।

संरम्भवचनं चैव[1] तोटकं नाम संज्ञितम्।

तोटक—आवेग या क्रोधयुक्त वचनावली को 'तोटक'[1] कहते हैं।

[2]कपटेनातिसन्धानं ज्ञेयन्त्वधिबलं बुधैः॥ ८८॥

अधिवल—किसी व्याज या छल से अन्य व्यक्ति के अभिप्राय का पता लगाना 'अधिबल'[2] कहलाता है॥ ८८॥

भयं [3]नृपारिदस्यूत्थमुद्वेगः परिकीर्तितः।

उद्वेग—राजा, शत्रु या दस्यु के द्वारा उत्पन्न होने वाले भय को 'उद्वेग'[3] कहते हैं।

[4]शङ्काभयत्रासकृतो विद्रवः समुदाहृतः॥ ८९॥

[5]एतान्यङ्गानि गर्भे स्युः

विद्रव—शंका, भय या त्रास से सम्भूत सम्भ्रम को 'विद्रव'[4] कहते हैं। ये गर्भ सन्धि के अंग बतलाये हैं॥ ८९॥

अवमर्श या विमर्शसन्धि के अंग—

अवमर्शो निबोधत।

दोषप्रख्यापनं [6]यत् स्यात् सोऽपवादः प्रकीर्तितः॥ ९०॥

---

१. २. तु० सा० द० ६।३७४ तथा ६।३७५, द० रू० १।४० तथा ना० ल० र० को० पृ०७६।

३. तुलना सा० द० ६।३७६, द० रू० १।४२ तथा ना० ल० र० को० पृ० ७७।

४. तुलना—सा० द० ६।३७७, द० रू० १।४२ तथा ना० ल० र० को० पृ० ७७।

---

१. प्रायः तोटकं त्विह क० (ढ); यच्च तोटकं नाम तद्भवेत्—क (भ०)।

२ कपटेनाभिसन्धानं—ख०; कपटस्याथाभाववं—क (प); अनुमानानां संयुक्तं विद्यादधिबलं तथा—क (य०)।

३ नृपारिसंपुक्तमुद्वेग इति कीर्त्यते—क (भ०); पृपादिसंयु—क (ट०); नृपारिजनित—क (प०)।

४. नृपाग्निभयसंयुक्तः सम्भ्रमो विद्रवः स्मृतः—ख, ग० घ०।

५ गर्भाङ्गलक्षणं प्रोक्तं विमर्शं च निबोधत—क (न०)।

६. यत् स्यादपवादस्तु स स्मृतः—क० (न०)।

अब मैं अवमर्श या विमर्श सन्धि के अंगों को बतलाता हूँ।

अपवाद—किसी पात्र के दोषों का वर्णन करना 'अपवाद'[1] कहलाता है।

[1]रोषग्रथितवाक्यन्तु [2]सम्फेटः स उदाहृतः।

सम्फेट—क्रोध भरे वचनों का अभिधान 'सम्फेट'[2] कहलाता है।

[3]गुरुव्यतिक्रमो यस्तु [4]विज्ञेयोऽभिद्रवस्तु सः॥ ९१॥

अभिद्रव—(या द्रव)—गुरुजन की मर्यादा के उल्लंघन करने को 'अभिद्रव'[3] या 'द्रव' कहते हैं।

[5]विरोधिप्रशमो यस्तु[6] सा शक्तिः परिकीर्तिता[7]।

शक्ति—विरोधी का शान्त हो जाना 'शक्ति'[4] कहलाती है।

[8]व्यवसायस्तु विज्ञेयः [9]प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः॥ ९२॥

व्यवसाय—किसी हेतु या प्रतिज्ञा से किया जाने वाला कार्य का निर्देश 'व्यवसाय'[5] कहलाता है॥ ९२॥

---

१. तुलना० सा० द० ६।३७८, द० रू० १।४५ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८० ।

२. तुलना० सा० द० ६।३७९, द० रू० १।४५ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८१ ।

३. तुलना० सा० ६।३८१ तथा ना० ल० र० को पृ० ८१ । दशरूपक में अभिद्रव के स्थान पर 'द्रव' पाठ मिलता हैं ।

४. तुलना० सा० द० ६।३८३, द० रू० १।४९ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८२ ।

५. तुलना० सा० द० ६।३८, द० रू० १।४० तथा ना० ल० र० को० पृ० ८२ ।

---

१. दोषग्रथित—क (ट)।   २. संस्फोटः—क (प०)।

३. ताडनं वधबन्धो वा विद्रवः समुदाहृतः—क (भ०); द्रवस्तत्रावबोद्धव्यो गुरूणां च व्यतिक्रमः—क (म०)।

४. विज्ञेयोऽविभिद्रवस्तु—क० ।

५. विरोधप्रशमो—ख०, विरोधोपशमो—ग० घ० ।   ६. यश्च—क० ।

७. निरोधशमनं युक्तिस्तर्जनाघर्षणं द्युतिः—क (नो) ।

८ व्यवसायश्च—क० ।

९. प्रतिज्ञा दोषसम्भवः—ग०; दोषसंश्रयः—क (य०)।

प्रसङ्गश्चैव विज्ञेयो [1]गुरूणां परिकीर्तनम् ।

प्रसंग—पूज्य या गुरुजन का नाम कथन 'प्रसंग'[1] कहलाता है ।

[2]वाक्यमाधर्षसंयुक्तं द्युतिस्तज्ज्ञैरुदाहृता ॥ ९३ ॥

द्युति—डांट या धिक्कार भरे वचनों का कहना 'द्युति'[2] समझो ।

मनश्चेष्टाविनिष्पन्नः[3] श्रमः खेद उदाहृतः ।

खेद—मानसिक या शारीरिक व्यापार से उत्पन्न श्रम या थकावट को 'खेद'[3] कहते हैं ।

ईप्सितार्थप्रतीघातो निषेधः[4] स तु कीर्तितः ॥ ९४ ॥

निषेध—(या प्रतिषेध) अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति में विघ्न-बाधा का आ जाना 'निषेध'[4] या 'प्रतिषेध' कहलाता है ॥ ९४ ॥

[5]विरोधनन्तु संरम्भादुत्तरोत्तरभाषणम् ।

विरोधन—क्रोध युक्त उत्तरोत्तर संभाषण (या कार्य में विघ्न की प्राप्ति सूचना (पाठान्तर से अर्थ) को 'विरोधन'[5] कहते हैं ।

---

१. तुलना—सा० द० ६।३८४, द० रू० १।४६ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८३ ।

२. तुलना—सा० द० ६।३८५, द० रू० १।४६ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८३ ।

३. तुलना—सा० द० ६।३८५, द० रू० १।४७ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८३ ।

४. तुलना—सा० द० ६।३८६, द० रू० १।४७ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८४ ।

५. तुलना—सा० द० ६।३८७, द० रू० १।४७ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८४ ।

---

१. वाक्यैरामर्षयोजितैः— ख (मु०); नित्यं परिभवात्मकः क—(ट); अप्रस्तुतार्थवचनं प्रसङ्गः परिकीर्तितः— क (प); गुणागुणविवृद्धिस्तु प्रसङ्ग इति कीर्तितः—क (भ०) ।

२. माधर्षणयुतं—क; माधर्षणकृतं— ख०, ग० ।

३. समुत्पन्नः—क० (ब०) । ४. प्रतिषेधः प्रकीर्तितः—क० ।

५. कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम्—क०; उत्तरोत्तरवाक्यं तु विरोध इति संज्ञितः—क (भ०) ।

[1]बीजकार्योपगमनमादानमिति[2] संज्ञितम् ॥ ९५ ॥

आदान—वीज भूत कार्य का संग्रह अर्थात् साधनों की प्राप्ति हो जाना 'आदान'[1] कहलाता है ॥ ९५ ॥

[3]कार्यार्थमपमानादेः सहनं छादनं[4] भवेत् ।

छादन—किसी कार्य या प्रयोजन वश अपमान पूर्ण शब्दों का सहन कर लेना 'छादन'[2] कहलाता है ।

प्ररोचना च विज्ञेया [5]संहारार्थप्रदर्शिनी[6] ॥ ९६ ॥

[7]एतान्यवमृशाऽङ्गानि—

प्ररोचना—निर्वाह किये जाने वाले कार्य को सम्पन्न दिखलाने वाली 'प्ररोचना'[3] कहलाती है (अथवा भावी अर्थ के उपसंहार की प्रदर्शिका 'प्ररोचना' पाठा० से अर्थ)। ये सभी विमर्श सन्धि के अंग हैं ॥ ९६ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।३८९, द० रू० १।४८ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८४।

२. तुलना—ना० ल० र० को० पृ० ८५। दशरूपक में 'छालन' तथा अन्य पाठ में 'सादन' दिया है। सा० द० ६।३९० में 'छादन' पाठ है। ना० ल० र० को सादन पाठ है।

३. देखिये सा० द० ६।३९०, द० रू० १।४७ तथा ना० ल० र० को पृ० ८५ भी।

---

१. पनयन—क (भ०); पशमन—क (य०)।

२. मातानमिति—क० ।

३. अपमानकृतं वाक्यं कार्यार्थं छादनं—क०; अवमानार्थजनिता छलना परिकीर्तिता—क (भ०); अवमानात् कृतं वाक्यं कार्यार्थं—ख०, ग० ।

४. सादनं – घ० ।

५. सम्भारार्थ—प्रकाशिनी—ख०, ग०, कार्यार्थप्रदर्शिनी—क (भ०)।

६. अतः परं—कपुस्तके—प्रत्यक्षवचनं यत्तु स व्याहार इति स्मृतः ।
सविच्छेदं वचो यत्र सा युक्तिरिति संज्ञिता ।
ज्ञेया विचलना तज्ज्ञैरवमानार्थसंयुता ॥
इति सार्धश्लोकोऽधिकः ।

७. एतान्यवमृशाङ्गानि—ख०, ग० ।

निर्वहण-सन्धि के अंग—

संहारे तु निबोधत।

[1]मुखबीजोपगमनं[2] सन्धिरित्यभिधीयते[3] ॥ ९७ ॥

अब मैं 'निर्वहण' सन्धि के अंगों को बतलाता हूं।

सन्धि—मुख सन्धि में निक्षिप्त बीज की पुनः प्राप्ति या सन्धान को 'सन्धि'[1] कहते हैं ॥ ९७ ॥

[4]कार्यस्यान्वेषणं युक्त्या निरोध[5] इति कीर्तितः।

निरोध—युक्तिपूर्वक कार्य का अनुसन्धान करना 'निरोध'[2] कहलाता है।

[6]उपक्षेपस्तु कार्याणां [7]ग्रथनं परिकीर्तितम् ॥ ९८ ॥

ग्रथन—विभिन्न कार्यों की चर्चा या उपस्थापन को 'ग्रथन'[3] कहते हैं ॥ ९८ ॥

[8]अनुभूतार्थकथनं निर्णयः समुदाहृतः।

निर्णय—अपने अनुभूत तथ्यों या अर्थों का कहना 'निर्णय'[4] कहलाता है।

[9]परिवादकृतं यत्स्यात्तदाहुः परिभाषणम् ॥ ९९ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।३९२, द० रू० १।५७ तथा ना० ल० र० को० (पृष्ठ ८६) में इसे 'अर्थ' कहा गया है।

२. तुलना—द० ६।३९३, द० रू० १।५१।

३. तुलना—सा० द० ६।३९४, द० रू० १।५१ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८६।

४. तुलना—सा० द० ६।३७५, द० रू० १।५१ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८७।

---

१. मुखबीजो—ग०। २. पनयनं—क (भ०)।

३. त्यभिसंज्ञितः—क (भ०)।

४. अन्वेषणं तु कार्याणां निरोधः समुदाहृतः—(भ०)।

५. विरोध—ग०, विबोध – घ०। ६. अपक्षेपस्तु—क (ट०)।

७. प्रसवं नाम तद्भवेत्—क (भ०)।

८. अनुभूतस्य कथनं—क०, घ०।

९. परिवादात्मकं यत्तु—क (ट०)।

परिभाषण—निन्दा या आरोप युक्त कथन को 'परिभाषण'[१] समझना चाहिए ॥ ९९ ॥

[१]लब्धस्यार्थस्य शमनं[२] द्युतिमाचक्षते पुनः ।

द्युति—स्वभाव या शक्ति से उत्पन्न होने वाले आवेग (या अर्थों) का शान्त हो जाना 'द्युति'[२] (या द्रुति, क्रति-पाठान्तर) कहलाता है ।

शुश्रूषाद्युपसम्पन्नः प्रसादः[३] प्रीतिरुच्यते ॥ १०० ॥

प्रसाद—शुश्रूषा आदि करते हुए प्रसन्न करना 'प्रसाद'[३] कहलाता है ॥ १०० ॥

[४]समागमस्तथार्थानामानन्दः परिकीर्तितः ।

आनन्द—अपने अभीष्ट अर्थ की उपलब्धि हो जाना 'आनन्द'[४] कहलाता है ।

[५]दुःखस्यापगमो यस्तु [६]समयः स निगद्यते ॥ १०१ ॥

समय—दुःख की समाप्ति हो जाना 'समय'[५] कहलाता है ॥ १०१ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।३९६ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८७। दशरूपक में इसका अन्य लक्षण है ।

२. तुलना—सा० द० ६।३९८ तथा द० रू० १।५२ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८७ ।

३. तुलना—सा० द० ६।३९९, द० रू० १।५२ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८८ ।

४. तुलना—सा० द० ६।३९९, द० रू० १।५२ तथा० ना० ल० र० को० पृ० ८८ ।

५. तुलना—सा० द० ६।४००, द० रू० १।५२ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८९ ।

---

१. ईर्ष्याकोपोपशमनं—क (प०) ।

२. गमनं क्रुरित्यभिधीयते—घ०; द्युतिरित्यभिधीयते—क (ड) ।

३. प्रसादः इति भण्यते—ग०, घ० ।

४. समागमस्तु योऽर्थानामानन्दः स तु कीर्तितः—ग०, घ० ।

५. दुःखस्यापगमश्चैव—ख०, दुःखापनयनञ्चैव समयः परिकीर्तितः—क (भ०), दुःखस्योपशमो—क (प) ।

६. स शमः सन्निगद्यते—ग० ।

अद्भुतस्य च[1] सम्प्राप्तिर्भवेत्तदुपगूहनम् ॥ १०२ ॥

उपगूहन—अद्‌भुत पदार्थ की या अतिशय अलभ्य मनोरथ की प्राप्ति हो जाना 'उपगूहन'[1] कहलाता है ॥ १०२ ॥

[2]सामदानादिसम्पन्नं भाषणं समुदाहृतम् ।

भाषण—साम तथा दान आदि से पूर्ण वचनों का अभिधान 'भाषण'[2] कहलाता है ।

[3]पूर्ववाक्यन्तु विज्ञेयं यथोक्तार्थप्रदर्शकम्[4] ॥ १०३ ॥

पूर्ववाक्य (या–पूर्वभाव) पूर्व कथित वचनों का पुनः कथन करना 'पूर्ववाक्य'[3] कहलाता है ।

[5]वरप्रदानसम्प्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते ।

काव्यसंहार—नायक आदि को वर (या इष्टार्थ) की प्राप्ति होना 'काव्यसंहार'[4] कहलाता है ।

[6]नृपदेशप्रशान्तिश्च प्रशस्तिरभिधीयते ॥ १०४ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।४०१, द० रू० १।५३ तथा ना० ल० र० को० पृ० ८९ ।

२. तुलना—सा० द० ६।४०२, द० रू० १।५३ तथा ना० ल० र० को० पृ० ९० ।

३. तुलना—सा० द० ६।४०३, द० रू० १।५४-५५ तथा ना० ल० र० को० पृ० ९१ ।

४. देखिये—सा० द० ६।४०४ । तुलना—दश० रू० १।५४ तथा ना० ल० र० को० पृ० ३८ ।

---

१. तु सम्प्राप्तिरूपगूहनमिष्यते—क०; अत्यद्भुतस्य सम्प्राप्ति—क (य) ।

२ दानमानविनिष्पन्नमाभाषणमुदाहृतम्—क (म); सामदानादिसंयुक्तं भाषणं तूच्यते बुधैः—ग० घ० ।

३. पूर्वभावश्च विज्ञेयः कार्योपक्षेपदर्शकः—क (भ) ।

४. यथार्थोक्तार्थदर्शनम्—ख०; यथोक्तार्थप्रदर्शनम्—क (उ); सद्भिः कार्योपदर्शकः—क (न) ।

५. वरप्रदानं—ग० ।

६. नृपराष्ट्रप्रशान्तिश्च प्रशस्तिरिति संज्ञिता—क (भ०); नृपदेवप्रशस्तिश्च—ख०; नृपदेवप्रशान्तिश्च—ग०; देवद्विजनृपादीनां प्रशस्तिः स्यात् प्रशंसनम्—क (ङ) ।

प्रशस्ति—राजा तथा देश की मंगल (या शान्तिपूर्ण दशा की) कामना करना 'प्रशस्ति'[1] कहलाता है ॥ १०४ ॥

[1]यथासन्धि तु कर्तव्यान्यङ्गान्येतानि नाटके ।
कविभिः [2]काव्यकुशलैः रसभावमपेक्ष्य[3] तु ॥ १०५ ॥

रस और भावों की स्थिति देखकर [2]कुशल नाट्यकार इन सन्ध्यंगों की—रूपकों में योजना करे, जो सन्धि की अनुकूलता एवं औचित्य को लिए हों ॥ १०५ ॥

[4]सम्मिश्राणि कदाचित्तु द्वित्रियोगेन वा पुनः ।
[5]ज्ञात्वा कार्यमवस्थाञ्च कार्याण्यङ्गानि सन्धिषु[6] ॥ १०६ ॥

अभिनय का अवसर, कार्य और अवस्था का विचार करते हुए इन सभी सन्ध्यंगों की पृथक्-पृथक् या दो और तीन अंगों का मिश्रण करते हुए भी योजना की जा सकती है ॥ १०६ ॥

अर्थोपक्षेपक[7]—

विष्कम्भश्चूलिका चैव तथा चैव प्रवेशकः ।
अङ्कावतारोऽङ्कमुखमर्थोपक्षेपपञ्चकम् ॥ १०७ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।४०५, द० रू० १।५४ तथा ना० ल० र० को० पृ० ३० तथा ३८ ।

२. तुलना—सा० द० ६।४०६ तथा० ना० ल० र० को० पृष्ठ ३८ ।

---

१. इत्येतानि यथासन्धि कार्याण्यङ्गानि रूपके—ग०, घ० ।

२. कार्यकुशलैः—क (ङ) । ३ रसभावानवेक्ष्य तु—ग०, घ० ।

४. सर्वाङ्गानि—ग , घ० ।

५. कार्यं कालमवस्थाञ्च ज्ञात्वा कार्याणि सन्धिषु—क (न०) ।

६. एतेषामेव चाङ्गानां सम्बद्धान्यर्थयुक्तितः । सन्ध्यन्तराणि वक्ष्यामि त्वर्थोपक्षेपकाणि च ॥ इति खपुस्तकेऽस्मादन्तरं समुपलभ्यते पद्यम् । इतः प्रभृति सन्ध्यन्तराणि क—पुस्तके पठितानि तानि चतुषष्ठ्यङ्गोद्देश-ग्रन्थे पूर्वमेव पठितत्वादत्र नोल्लिखितानि ।

७. अर्थोपक्षेपकपञ्चकलक्षणविधायिनः श्लोकाः पूर्वाध्यायेऽङ्कलक्षणावसरे सलक्षणं कथिता एव मुनिना परमत्र कोहलसङ्ग्रहकारादिमतनिदर्शक-पाठनिवेशनादत्रापि मूले पुनः पठितास्तथैवानूदिताश्च— ।

विष्कम्भक, चूलिका, प्रवेशक, अंकावतार तथा अंकमुख ये पांच अर्थोपक्षेपक कहलाते (होते) हैं ॥ १०७ ॥

विष्कम्भक—

मध्यमपुरुषनियोज्यो नाटकमुखसन्धिमात्रसञ्चारः ।
विष्कम्भकस्तु कार्यः पुरोहितामात्यकञ्चुकिभिः ॥ १०८ ॥

नाटक की मुखसन्धि में मध्यम पात्रों से प्रयोज्य 'विष्कम्भक' होता है। जिसे पुरोहित, मन्त्री या कञ्चुकी के द्वारा सम्पन्न किया जाए ॥ १०८ ॥

शुद्धः सङ्कीर्णो वा द्विविधो विष्कम्भकस्तु विज्ञेयः ।
मध्यमपात्रैः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यकृतः ॥ १०९ ॥

यह शुद्ध और संकीर्ण दो प्रकार का होता है। मध्यम पात्रों के द्वारा सम्पन्न होने वाला 'शुद्ध' और नीच तथा मध्यम पात्रों द्वारा सम्पन्न होने वाला 'संकीर्ण' विष्कम्भक[1] कहलाता है ॥ १०९ ॥

चूलिका—

अन्तर्यवनिकासंस्थैः [1]सूतादिभिरनेकधा ।
अर्थोपक्षेपणं यत्तु क्रियते सा हि चूलिका ॥ ११० ॥

नेपथ्य या यवनिका के पीछे से सूत आदि पात्रों के द्वारा (रहस्यपूर्ण) किसी अर्थ या घटना की सूचना देना 'चूलिका' कहलाती है ॥ ११० ॥

प्रवेशक—

[2]अङ्कान्तरानुसारी सङ्क्षेपार्थमधिकृत्य बिन्दूनाम्[3] ।
प्रकरणनाटकविषये प्रवेशको नाम विज्ञेयः ॥ १११ ॥

---

१. तु० सा० द० ६।३०८, द० रू० १।५९। ना० ल० र० को० ने यहाँ चारायण का मत उद्धृत करते हुए 'प्रकरणनाटकविषयो विष्कम्भक' इति—' (ना० ल० र० को० पृ० ३८) ऐसा दिया है। यह नियम नाटकीय विकास के बाद निर्मित हुआ होगा। पहिले यह केवल नाटक में ही संयोजित किया जाता था। जैसा कि आचार्य भरत ने बतलाया भी है। मध्यमपात्रों आदि का विवरण ना० शा० अध्याय ३४ में हैं। भास कृत पांचरात्र के प्रारंभ में दिया गया 'विष्कभक' भरत के नियम का आदर्श नमूना है।

---

१. शून्यादिभि—ख०; रुतमाधममध्यमैः—ग०, घ०।
२. अङ्कान्तराधिकारी—ग०, घ०। ३. बिन्दूनाम्—ग० घ०।

प्रकरण और नाटक में स्थित रहनेवाला 'प्रवेशक' दो अंङ्कों के बीच में रहता है और बिन्दु के संक्षिप्तार्थ का प्रदर्शक होता है ॥ १११ ॥

नोत्तममध्यमपुरुषैराचरितो नाप्युदात्तवचनकृतः ।
प्राकृतभाषाचारः प्रवेशको नाम विज्ञेयः[1] ॥ ११२ ॥

प्रवेशक में उत्तम और मध्यम पात्र नहीं होते, उनकी उदात्तवचनावली नहीं रहती है और इनकी प्रयुज्यमान भाषा 'प्राकृत' होती है ॥ ११२ ॥

अंकावतार—

[2]अङ्कान्त एव चाङ्को निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य ।
बीजार्थयुक्तियुक्तो ज्ञेयो[3] ह्यङ्कावतारोऽसौ ॥ ११३ ॥

दो अंकों के बीच या एक अंक में प्रविष्ट होने वाले बीज के कार्य या प्रयोजन के उपपादक को 'अंकावतार'[1] कहते हैं ॥ ११३ ॥

अंकमुख—

विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा ।
[4]यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमुच्यते[5] ॥ ११४ ॥

जिसमें स्त्री या पुरुष पात्र के द्वारा अंक के प्रारम्भ में ही होने वाली

---

१. तु० सा० द० ६।३११, द० रू० १।६२, ६३, ना० ल० र० को० पृ० ४१ अंकावतार अगले अंक की सूचना-विधा प्रतीत होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वप्नवासवदत्त के द्वितीय अंक के अन्त में दिया गया वासवदता और चेटी का संवाद अंकावतार है, जिसमें अगले अंक की घटनाओं का संकेत किया गया था।

---

१. अतोऽनन्तरं ग—पुस्तके—
प्राकृतभाषाग्रथितः संस्कृते प्राकृतस्य लोकस्य ।
नीचस्याचरणकृतः प्रवेशको नाम विज्ञेयः ॥ इति पद्यमधिकम् ।

२. अङ्कान्तरेऽथवाऽङ्के—ख, ग० घ० ।

३. विज्ञेयोऽङ्कावतारोऽसौ—ग०, घ० ।

४. यत्र संक्षिप्यते—ख०, ग०, घ० ।

५. अस्मात् परं क—पुस्तके लास्याङ्गलक्षणानि तानि च अष्टादशाध्यायपठितानि लक्षणपाठोऽपि बहुभेदतया पाठान्तरादिभिस्तत्रैव समुल्लिखितश्च ।

घटनाओं का संक्षेप में कथन कर दिया जाए। उसे 'अंकमुख'[1] समझना चाहिए ॥ ११४ ॥

आदर्शनाटक—

[1]वृत्तिवृत्त्यङ्गसम्पन्नं [2]पताकार्थप्रतिक्रियम् ।
[3]पञ्चावस्थाविनिष्पन्नं पञ्चभिस्सन्धिभिर्युतम् ॥ ११५ ॥
[4]सन्ध्यन्तरैकविंशत्या चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम् ।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतं गुणालङ्कारभूषितम् ॥ ११६ ॥
महारसं [5]महाभोगमुदात्तवचनान्वितम् ।
महापुरुषसञ्चारं [6]साध्वाचारजनप्रियम् ॥ ११७ ॥
सुश्लिष्टसन्धि[7] संयोगं सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानञ्च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥ ११८ ॥

नाट्यकार ऐसे नाटक का लेखन (या निर्माण) करे जो (भारती आदि विविध) वृत्तियों से तथा प्रत्यंगों[2] और उनके अंगों (के अभिनय) से युक्त हो, पताका स्थान तथा अर्थप्रकृतियों (अर्थप्रतिक्रियम्) से युक्त हो, जिसमें आरम्भ आदि पांच अवस्थाओं से प्रारम्भ होता हो, जिसमें पांचों सन्धियों का औचित्यपूर्ण विनियोजन हो, जो इक्कीस उपसन्धियों (या सन्ध्यन्तरों)

---

१. 'अंकमुख' का नाटक तथा प्रकरण के अतिरिक्त शेष रूपकों में प्रयोग होता था। इसका प्रमाण है विष्कम्भक का केवल नाटक में तथा प्रवेशक का नाटक और प्रकरण दोनों में प्रयोग करने का नियम (द्र० ना० शा० २१।१०९, ११२)।

तुलना—सा० द० ६।३१२, ३१३, द० रू० १।६२, ना० ल० र० को० पृ० ४२।

२. प्रत्यंगोंका वर्णन ना० शा० में नहीं मिलता, संभवतः शरीर के उपांगाभिनय को प्रत्यंग कहा गया प्रतीत होता है। पताका स्थानक आदि के लक्षण (पहिले ही) दिये जा चुके हैं।

---

१. वृत्तिप्रत्यङ्ग—ग०। २. पदार्थ—प्रकृतिक्षमम्—घ०।
३. पञ्चावस्थाभिनिष्पन्नैः—ख०; पञ्चावस्थासमुत्पन्नं—ग०, घ०।
४. पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति—क०।
५. महायोगमुदात्तवचनोद्भवम्—क (भ०)।
६. साध्वाचारं—क०। ७. सन्धियोगञ्च—ग०, घ०।

से तथा चौसठ सन्ध्यंगों से पूर्ण हो, जिसमें (भूषण, अक्षरसंघात आदि) छत्तीस लक्षण विद्यमान हों, गुण तथा अलंकारों से जो सुशोभित हो, जिसमें अनेक रस हों (महारसम्), अनेक मनोरंजक प्रकरण हों, जिसमें उदात्त कथोपकथन हों, महान् व्यक्तियों के चरित्र हों, जिसमें सदाचार का वर्णन हो, लोकप्रिय स्वरूप हो, जिसमें सन्धियों की ठीक से नियोजना की हुई हो, (मंच पर) खेलने में सुविधाजनक हों तथा जिसका सुकोमल शब्दों वाला नामकरण हो ॥ ११५-११८ ॥

अवस्था [1]या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा ।
नानापुरुषसञ्चारा [2]नाटकेऽसौ विधीयते ॥ ११९ ॥

नाटक में सारे संसार की सुख और दुःख से होने वाली दशाओं का—जो कि विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों के कार्यों से सम्बद्ध होती हैं—निवेश किया जाता है ॥ ११९ ॥

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न तत्कर्म न[3] वा योगो [4]नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ १२० ॥

ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला. कार्य तथा क्रियाएँ नहीं जिनकी नाटक में उपलब्धि न हो ॥ १२० ॥

[5]योऽयं स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः ।
[6]सोऽङ्गाद्यभिनयैर्युक्तो [7]नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १२१ ॥

जो मानवी प्रकृति सुख और दुःख की दशा से पूर्ण रहती है वही आंगिक आदि अभिनय से युक्त होकर (मंच पर) प्रस्तुत की जाने पर 'नाट्य'[1] कहलाती है ॥ १२१ ॥

---

१. नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में दर्शित यही श्लोक यहाँ पुनः सन्दर्भ एवं विषय के अनुरोध पर दिया गया है। (द्र० ना० शा० १।११६, ११७ खण्ड १ पृ० २८ तथा टिप्पणी पृ० ४५५—) ।

---

१. याहि—ख० ।
२. नाटके सम्भवेदिह—ख, ग०, घ०; नाटकेषु क्रिया भवेत्—क (भ०) ।
३ योगोऽसौ—ग०, घ० । ४. नाटके यन्न दृश्यते—ख०, ग०, घ ।
५, यो यः—ग०; घ० । ६. सोऽङ्गाभिनय—ग०, घ० ।
७. नाटकं त्वभिधीयते—क (न०); नाटके संविधीयते—क (य०) ।

देवतानामृषीणाञ्च राज्ञां [1]चोत्कृष्टमेधसाम् ।
[2]पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद् भवेत् ॥ १२२ ॥

देवता, मुनि, राजा तथा उत्कृष्ट व्यक्ति की जीवनगत पिछली घटनाओं का अभिनयात्मक प्रदर्शन 'नाटक' कहलाता है ॥ १२२ ॥

यस्मात् स्वभावं [3]संत्यज्य [4]साङ्गोपाङ्गगतिक्रमैः ।
[5]प्रयुज्यते ज्ञायते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम् ॥ १२३ ॥

क्योंकि यह अभिनेताओं के द्वारा प्रस्तुत और प्रतीत करवाई जाती है—जिसे वे अपने अंगों तथा उपांगों के अभिनय तथा गति आदि को क्रमशः प्रस्तुत करते हुए प्रदर्शित करते हैं—अतएव यह सारी वस्तु 'नाटक' कहलाती है ॥ १२३ ॥

सर्वभावैः सर्वरसैः [6]सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः ।
नानावस्थान्तरोपेतं[7] नाटकं संविधीयते ॥ १२४ ॥

नाटक ऐसा होना चाहिए जिसमें सभी भाव, सभी रस, सभी कार्य तथा क्रियाएं और पुरुष तथा उसकी प्रकृतिगत सभी अवस्थाएं समाविष्ट हों ॥ १२४ ॥

[8]अनेकशिल्पजातानि [9]नैककर्मक्रियाणि च ।
[10]तान्यशेषाणि रूपाणि कर्तव्यानि प्रयोक्तृभिः ॥ १२५ ॥

अतएव नाट्यप्रयोक्ताजन द्वारा अनेक शिल्पों का, अनेक कार्यों तथा कलाओं का नाटक में निवेश करते रहना चाहिए जो कि मनुष्यों द्वारा सदा नवीन एवं अनन्त रूपों में निर्मित की जाती हैं—॥ १२५ ॥

१. लोकस्य चैव हि ग०, घ; मथ कुटुम्बिनाम्—क (द०) ।
२. वृत्तानुकरणं नाट्यमेतल्लोकस्य चैव यत्—क (द०), कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते—क (भ०) ।
३. संहृत्य—ख, ग०, घ ।
४. साङ्गोपाङ्गमतिक्रमैः ख (मु०) ।
५. अभिनीयते गम्यते च—ख, ग , घ ।
६. कर्मक्रियासु च—क (भ०) ।
७. न्तरोपेतैः—क० (ड) ।
८. यान्येक—ख०, यान्येव—ग०, घ० ।
९ ह्येककर्मकृतानि च—ग०, घ० ।
१०. तानि शेषाणि—ग० ।

[1]लोकस्वभावं सम्प्रेक्ष्य नराणाञ्च बलाबलम्।
सम्भोगञ्चैव युक्तिञ्च ततः [2]कार्यन्तु नाटकम् ॥ १२६ ॥

मानव चरित्रों, मनुष्य की शक्ति और उसकी कमजोरियां एवं उनके आनन्द तथा योजनाओं को ठीक तरह से देखकर ही 'नाटक' की रचना की जाए ॥ १२६ ॥

भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नराः।
ये चापि हि भविष्यन्ति ते[3] यत्नश्रुतबुद्धयः ॥ १२७ ॥

प्रायः आगामी युग में उत्पन्न होने वाली मनुष्य की पीढ़ियाँ कम बुद्धि की होंगी और जो होंगी भी वे अत्यन्त अल्प शास्त्रज्ञान तथा बुद्धि वाली होंगी ॥ १२७ ॥

[4]कर्मशिल्पानि शास्त्राणि विचक्षणबलानि च।
[5]सर्वाण्येतानि नश्यन्ति तदा[6] लोकः प्रणश्यति ॥ १२८ ॥

जब संसार के मनुष्यों की बुद्धि, कार्य, शिल्प, विचक्षणता और कलाओं का नाश होगा तब संसार का भी नाश हो जाएगा ॥ १२८ ॥

[7]तदेवं [8]लोकभाषाणां प्रसमीक्ष्य [9]बलाबलम्।
मृदुशब्दं सुखार्थञ्च[10] कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥ १२९ ॥

अतएव मानवीय भावों के सामर्थ्य और अभावों को सूक्ष्मतापूर्वक देखकर कोमल पदावली तथा यथार्थ अवस्थाओं से युक्त 'नाटक' की रचना करनी चाहिए ॥ १२९ ॥

---

१. लोकस्य भावं—ख० (मु०)।
२. कार्यञ्च—क०।
३. तेऽत्यल्पश्रुतबुद्धयः—ग०, घ०।
४. बुद्धयः कर्म शिल्पानि वैचक्षण्यं कलासु च—ख०, ग०, घ०।
५. सर्वाणि पुंसां नश्यन्ति—ग०, घ०।
६. सदा—क (न०); यथा—क (भ०)।
७. एवं लोकस्य वै भावमभावं प्रसमीक्ष्य च—क० (भ०)।
८. लोकभावानां—ख०, ग०, घ०।
९. यथाक्रमम्—क० (य०)।
१०. यथार्थञ्च तज्ज्ञैः कार्यं तु लक्षणम्—ख० (मु०)।

चेक्रीडिताद्यैः शब्दैस्तु काव्यबन्धा भवन्ति ये।
वेश्या [1]इव न शोभन्ते कमण्डलुधरैर्द्विजैः॥ १३०॥

जिन नाट्य रचनाओं में 'चेक्रीडित'[1] जैसे क्लिष्ट शब्द प्रयुक्त रहते हैं वे कमण्डलुधारी ब्राह्मणों के बीच स्थित वेश्या के समान उपयुक्त नहीं होते॥ १३०॥

[2]इतिवृत्तं ससन्ध्यङ्गं मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
[3]अतःपरं प्रवक्ष्यामि वृत्तीनामिह लक्षणम्॥ १३१॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे [4]सन्ध्यङ्गविकल्पो नाम एकविंशोऽध्यायः।

हे मुनियों, मैंने आपको कथावस्तु, सन्धियां तथा उनके अंगों को इस प्रकार, बतलाया। अब मैं (अगले अध्याय में) वृत्तियों के लक्षण बतलाता हूँ॥ १३१॥

भरतनाट्यशास्त्र का सन्ध्यंग निरूपण नामक इक्कीसवां अध्याय सम्पूर्ण॥

---

१. भरत ने 'चेक्रीडित' जैसे क्लिष्ट व्याकरण सम्मत शब्दप्रयोग का नाट्य रचना में निषेध किया था परन्तु ऐसे प्रयोग नाट्यरचनाओं में विरल नहीं। 'चेक्रीडित' शब्द का प्रयोग भास के ही 'अविमारक' (अ० ३।१८) में मिलता है।

---

१. न ते भान्ति—क०।
२. दशरूपविधानञ्च—क०, अङ्गलक्षणमेतत्तु—क० (भ०)।
३. अत ऊर्ध्वं—ग०, ब०।
४. सन्धिनिरूपणं नाम—क०।

द्वाविंशोऽध्यायः

वृत्तियों का उद्गम—

समुत्थानन्तु वृत्तीनां व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः।
यथावस्तूद्भवञ्चैव [1]काव्यानाञ्च विकल्पनम्॥ १॥

अब मैं वृत्तियों[1] की उत्पत्ति का विस्तारपूर्वक व्याख्यान करता हूँ। जिनसे नाटक का स्वरूप तथा कथावस्तु विधान आदि सम्बद्ध हैं॥ १॥

एकार्णवं जगत् कृत्वा भगवानच्युतो यदा।
शेते स्म नागपर्यङ्के लोकान्[2] सङ्क्षिप्य मायया॥ २॥
अथ [3]वीर्यबलोन्मत्तावसुरौ मधुकैटभौ।
[4]तर्जयामासतुर्देवं तरसा युद्धकाङ्क्षया[5]॥ ३॥

जब भगवान् विष्णु अपनी योग माया से सम्पूर्ण जगत् एवं प्रजाओं को आत्मसात् कर शेष शैय्या पर समुद्र में सो रहे थे। तब अपने बल से

---

१. 'वृत्ति' का अर्थ है नटों की क्रिया या व्यापार जिसका रूपक में प्रदर्शन होता है। वृत्ति केवल वही नहीं है जिसका शरीर के विभिन्न अंगों से प्रदर्शन किया जाए, अपि तु मन तथा वागिन्द्रिय का व्यापार भी 'वृत्ति' के अर्न्गत ही कहलाता है, सभी प्रकार के काव्य के अस्तित्व का कारण वृत्तियाँ होने से माता और उसकी सन्तति में जो सम्बन्ध रहता है वही वृत्ति तथा काव्य का सम्बन्ध रहने से वृत्तियाँ 'नाट्य-माता' कहलाती हैं। रूपकों के पारस्परिक भेद का कारण उनके द्वारा प्रदर्शनीय वृत्तियों की विभिन्नता है। अतएव शरीर-अङ्गों, वागिन्द्रिय एवं मन के व्यापार के अतिरिक्त 'वृत्ति' और कुछ भी नहीं हैं। वृत्तियाँ दर्शक के अन्तःकरण में प्रतिविम्बित होती हैं तथा इसी रूप में रसानुभव के विषय का अंश बन जाती हैं। इसके अतिरिक्त वृत्ति वह नट-व्यापार भी है, जिसका कर्त्ता के स्वयं के हित (साधन) से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार के व्यापार को सर्वप्रथम उन भगवान् श्रीविष्णु ने किया था जिनमें निजी लक्ष्य को साधने की कामना का रहना असंभव ही था।

---

१. काम्यानां—(मु०)। २. लोकं—ग०।
३. वीर्यमदो—ग०; घ०। ४. तर्कयामासतुः—क०।
५. युद्धकाङ्क्षिणौ—ख०, ग०, घ०।

मदोन्मत्त मधु कैटभ नामक (दो) दैत्य युद्ध की इच्छा से अतिशय वेग से आए और युद्ध के लिए उन्हें चुनौती देने[1] लगे ॥ २–३ ॥

[1]निज्ञबाहू विमृद्नन्तौ भूतभावनमक्षयम् ।
[2]जानुभिर्मुष्टिभिश्चैव योधयामासतुः[3] प्रभुम् ॥ ४ ॥
[4]बहुभिः परुषैर्वाक्यैरन्योन्यसमभिद्रवम् ।
[5]नानाधिक्षेपवचनैः कम्पयन्ताविवोदधिम् ॥ ५ ॥

अपनी भुजाओं को ठोकते हुए दोनों दैत्यों ने चुनौती देने के उपरांत भूतभावन भगवान् विष्णु से जंघा तथा मुष्टि से मल्ल युद्ध प्रारम्भ कर दिया। इस युद्ध के बीच वे भगवान की अनेक निन्दाभिव्यंजक शब्दों से भर्त्सना करने लगे जिनकी प्रतिध्वनि से समुद्र कंपित हो रहा था—॥ ४–५ ॥

भारतीवृत्ति की उत्पत्ति—

[6]तयोर्नानाप्रहाराणि वचांसि[6] वदतोस्तदा ।
[7]श्रुत्वा त्वभिहतमना द्रुहिणो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
[8]किमयं भारतीवृत्तिर्वाग्भिरेव [10]प्रवर्तते ।
उत्तरोत्तरसम्वृद्धा[11] नन्विमौ निधनं नय ॥ ७ ॥

---

१. भरतमुनि ने वृत्तियों की उत्पत्ति की पौराणिक कथा यहाँ प्रस्तुत की तथा उसमें स्वहित साधना से शून्य श्रीविष्णु के प्रथम कार्य का वर्णन किया जिसने 'वृत्ति' के स्वरूपगत प्रथम परमाणु की रचना की थी। सम्पूर्णजगत् को लीन कर भगवान् विष्णु के द्वारा योगनिद्रा में अवस्थित रहने का यह उपाख्यान वाल्मीकिरामायण के सप्तमकाण्ड तथा मार्कण्डेय पुराण में भी मिलता है।

---

१. बाहू विमर्दकानौ तौवक्षयं भूतभावनम्—ग०, घ० ।
२. मुष्टिभिर्जानुभि—ग०, घ ।
३. योजयामासतुः—क; ताडयामासतुः—क (भ०)।
४. अभिद्रवन्तावन्योन्य वाक्यैश्च परुषैस्तदा—ख०; ग०, घ० ।
५. नानाविक्षेप—ख०, ग० । ६. नैकप्रकाराणि—ग० ।
७ श्रुत्वा वाक्यानि गर्जतोः—ख०, ग०, घ० ।
८. किञ्चिदाकम्पितमना—ख०, ग०, घ० ।
९. किमिदं—ख० । १०. प्रवर्तिता—क० ।
११. सम्बद्धा—क, सम्बन्धा—क (न०)।

(इस प्रकार) उनके अनेक प्रहारों के साथ कहे गये कठोर वचनों को सुनकर ब्रह्माजी के चित्त में चोट पहुँची। वे विष्णु से खिन्न होकर कहने लगे—क्या यही मात्र [1]भारती-वृत्ति है जो इन योद्धाओं के उत्तरोत्तर वचनों से समृद्ध हो रही है। अरे, इन दुष्टों का अब आप शीघ्र संहार कीजिए ॥ ६–७ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा प्रोवाच मधुसूदनः।
[1]कार्यहेतोर्मया ब्रह्मन् भारतीयं विनिर्मिता ॥ ८ ॥
[2]वदतां वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति।
[3]अहमेतौ निहन्म्यद्येत्युवाच वचनं हरिः ॥ ९ ॥

पितामह ब्रह्मा के शब्दों को सुन श्री विष्णु बोले—हे ब्रह्मन्, इस भारतीवृत्ति की मैंने अपने (भावी) कार्य के लिए ही सृष्टि की है। यह वृत्ति भाषण करने वाले पात्रों के मुंह से निकले शब्दों से विकास तथा संवर्द्धन को प्राप्त करेगी और इन असुरों को तो मैं अभी नष्ट किये देता हूँ ॥ ८–९ ॥

शुद्धैरविकृतैरङ्गैः साङ्गहारैस्तथा[4] भृशम्।
[5]योधयामासतुर्दैत्यौ युद्धमार्गविशारदौ ॥ १० ॥

---

१. वागिन्द्रिय की क्रिया को यहाँ भारतीवृत्ति बतलाया गया है। इसके श्री विष्णु के द्वारा सर्वप्रथम प्रयोग किये जाने पर भूमिका का भार बढ़ गया। इसका आशय है शारीरिक कार्य की ऐसी अवस्था में भारतीवृत्ति मानते हैं जब उसके साथ विचार भी साथ-साथ लगा रहता हो। यह वाणी के रूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यहाँ भारती शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी कारण भरत से न देकर 'भार' शब्द से की गयी है जिसका अर्थ सन्दर्भानुसार वाणी नहीं होता।

इन वृत्तियों की उत्पत्ति राक्षसों की क्रिया से न होकर श्रीविष्णु की क्रिया से ही मानी गयी है क्योंकि नाट्यगत क्रिया के द्वारा अभिनेता निजी स्वार्थ की सिद्धि नहीं करता तथा उस प्रदर्शन के समय वह व्यक्तित्व-विधायक तत्त्वों से विमुख रहता है। विष्णु ने क्रिया के जिन जिन स्वरूपों का यहाँ प्रयोग किया ब्रह्मा ने उसका तदनुसारी वैसा ही नामकरण कर दिया।

---

१. बाढं कार्यक्रियाहेतोः—ग० घ०; बाढं नाट्यक्रियाहेतोः—क (भ०)।
२. भाषतो—ग०, घ०। ३. तस्मादेतौ निह—क०।
४. तदा—ग०।
५. योधयामास तौ दैत्यौ—ख, ग०, घ०।

फिर युद्ध करने में चतुर उन दैत्यों से भगवान् विष्णु ने उपर्युक्त आंगिक चेष्टाओं तथा अंगहारों[1] के साथ युद्ध किया ॥ १० ॥

[1]भूमिसंस्थानसंयोगैः [2]पदन्यासैर्हरेस्तदा ।
अतिभारोऽभवद् भूमेर्भारती तत्र[3] निर्मिता ॥ ११ ॥

इस युद्ध में भगवान् विष्णु के भूमि पर पैर रखने (संस्थान) के कारण पृथ्वी पर जो अतिशय भार बढ़ गया उस भार से 'भारती वृत्ति[2]' का निर्माण हुआ ॥ ११ ॥

सात्वतीवृत्ति का उद्गम—

वल्गितैः [4]शार्ङ्गधनुषस्तीव्रैर्दीप्ततरैरथ[5] ।
[6]सत्वाधिकैरसम्भ्रान्तैः सात्वती तत्र[7] निर्मिता ॥ १२ ॥

इसी समय भगवान के श्रृंग निर्मित धनुष—जो तीव्र दीप्त तथा सत्व से (शक्ति, कड़ेपन) युक्त था—की टंकार से सात्वतीवृत्ति का निर्माण किया गया ॥ १२ ॥

कैशिकीवृत्ति का उद्गम—

[8]विचित्रैरङ्गहारैस्तु देवो [9]लीलासमन्वितैः ।
बबन्ध यच्छिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता ॥ १३ ॥

---

१. अंगहार तथा आंगिक अभिनय का क्रमशः ना० शा० अध्याय ४ तथा अध्याय ९ में वर्णन किया जा चुका है ।

२. यहाँ भारती आदि वृत्तियों के पौराणिक उद्गम का भरत ने निदर्शन किया है । वैसे भरतों की वृत्ति को भारतीवृत्ति कहा जाता है । 'भरतेन प्रणीतत्वात् भारतीवृत्तिरुच्यते' । भरत जाति की जीविका नाट्यप्रदर्शन रही थी । सात्वत-जाति भी ऐतिहासिक है । कैशिक जाति सम्भवतः कास्पियन के तटवर्ती प्रदेशों में रहने वाली जाति थी । 'आरभट' जाति संभवतः Arbitus होगी जिसका ग्रीक लेखकों के द्वारा सिन्धुघाटी में स्थित होने का उल्लेख प्राप्त होता है ।

---

१. भूमिसंयोगसंस्थानैः—क०, भूसंस्थानैः प्रयोगैश्च—क (भ०) ।
२. न्यासैस्तदा—ख० । ३. तेन—क (न०) ।
४. शार्ङ्गपाणेस्तु—क (भ०) । ५. तीव्रैर्दीप्तिकरै—ख०, ग० ।
६. सत्वाधिकाततभ्रान्तैः—क (भ०) ।
७. च विनिर्मिता—ख (मु०) । ८. विविधै—क० ।
९. लीलासमुद्भवैः—ख०, ग०, घ० ।

और उस युद्ध के समय भगवान् ने लीला से (अनायास ही) विभिन्न अंगहारों के साथ (अपने) शिखा-केशों को बांधा, उसी से 'कैशिकी' वृत्ति का निर्माण हो गया ॥ १३ ॥

आरभटीवृत्ति का उद्गम—

संरम्भावेगबहुलैर्नानाचारी[1] समुत्थितैः ।
[2]नियुद्धकरणैश्चित्रैरुत्पन्नारभटी ततः ॥ १४ ॥

और युद्ध के समय आवेग (संरम्भ) तथा शक्ति एवं अनेक चारियों तथा बाहुयुद्धों के द्वारा चकित कर देने वाले भगवान् विष्णु के कार्यों से 'आरभटी' वृत्ति का निर्माण हुआ ॥ १४ ॥

यां यां देवः समाचष्टे क्रियां वृत्तिषु[3] संस्थिताम् ।
तां तदर्थानुगैर्वाक्यैर्द्रुहिणः[4] प्रत्यपूजयत् ॥ १५ ॥

भगवान् विष्णु द्वारा विभिन्न क्रियाओं में उत्पन्न होने वाली जिन २ 'वृत्तियों' का जब-जब प्रदर्शन किया गया ब्रह्मा ने उनका तत्कालीन उचित शब्दों के द्वारा (जो उन अर्थों को प्रदर्शित करती थीं) अभिनन्दन किया ॥ १५ ॥

यदा हतौ तावसुरौ हरिणा मधुकैटभौ ।
[5]ततोऽब्रवीत् पद्मयोनिर्नारायणमरिंदमम् ॥ १६ ॥

जब भगवान विष्णु द्वारा मधु तथा कैटभ नामक दोनों असुरों का वध कर दिया गया तो शत्रु के नाशक हरि से ब्रह्माजी बोले ॥ १६ ॥

न्यायों की उत्पत्ति—

अहो विचित्रैर्विषमैः[6] स्फुटैः सललितैरपि ।
अङ्गहारैः कृतं देव [7]त्वया दानवनाशनम् ॥ १७ ॥
तस्मादयं हि[8] लोकस्य नियुद्धसमयक्रमः[9] ।
सर्वशस्त्रविमोक्षेषु[10] न्यायसंज्ञो भविष्यति ॥ १८ ॥

---

१. नानाधार—क (भ०) ।
२. रङ्गैर्निमितारभटी ततः— ख०, ग०; स्पष्टैर्निमितारभटी—क (भ०) ।
३. वृत्तिसमुत्थिताम्—ख०, ग०, घ० ।
४. जप्यै—क ; जल्पै—ख (मु) ।
५. उक्तवांस्तु तदा ब्रह्मा—ख०, ग०, घ० ।
६. विशदै—ग० ।
७. दानवानां विनाशनम्—क० (भ०) ।
८. सर्वलोके—ख० ग० घ० ।
९. समयः शुभः—क (भ०) ।
१०. विमोक्षश्च—क (भ०) ।

हे देव, आपने विभिन्न सुस्पष्ट, प्रभावशाली, आश्चर्योत्पादक तथा सुकुमार अंगहारों के द्वारा इन असुरों का संहार किया, इसलिये यही युद्ध में चलाये जाने वाले (प्रयुक्त किये जाने वाले) सभी शस्त्रों का आदर्श होकर संसार में 'न्याय'[1] नाम से विख्यात होगा ॥ १७-१८ ॥

[1]न्यायाश्रितैरङ्गहारैर्न्यायाच्चैव समुत्थितैः ।
[2]यस्माद्युद्धानि वर्तन्ते तस्मान्न्यायाः[3] प्रकीर्तिताः[4] ॥ १९ ॥

जब से यह (युद्ध में) अंगहारों का प्रयोग किया गया—जो अंगहार[2] 'न्यायों' से उत्पन्न हुए थे और न्यायपूर्वक देखे गये थे। इसलिए (तभी से) व्यवहार में ये 'न्याय' के नाम से प्रसिद्ध हो गये ॥ १९ ॥

ततो देवेषु[5] निक्षिप्ता द्रुहिणेन महात्मना[6] ।
पुनर्नाट्यप्रयोगे च [7]नानाभावरसान्विता ॥ २० ॥

तब महात्मा ब्रह्माजी ने इस 'वृत्ति' को देवगण को प्रदान कर दिया—जो नाट्यप्रदर्शनों के उपयोगार्थ अनेक भावों तथा रसों से पूर्ण थी ॥ २० ॥

वृत्तिसंज्ञाः कृता ह्येताः[8] काव्यबन्धसमाश्रयाः[9] ।
[10]चरितैर्यस्य देवस्य [11]द्रव्यं यद्यादृशं कृतम् ॥ २१ ॥
ऋषिभिस्तादृशी वृत्तिः कृता [12]पाठ्यादिसंयुता ।

---

१. न्यायों का विवरण ना० शा० अ० ११ में दिया जा चुका है ।
२ अगहारों का स्वरूप ना० शा० अ० ४।१७० में द्रष्टव्य ।

---

१. न्यायात्समुत्थितैश्चित्रैरङ्गहारैर्विभूषितम्—ख (मु०) ।
२. यस्माद्युद्धं कृतं ह्येतत्—ख०, ग०, घ० ।
३. न्यायः प्रकीर्तितः—ख, ग०, घ० ।
४. एतदनन्तरं—चारीषु च समुत्पन्नो नानाचारीसमाश्रयः । न्यायसंज्ञो कृतो ह्येष द्रुहिणेन महात्मना ॥ इति कपु० अधिकम् ।
५. वेदेषु—क० ।
६. एतदनन्तरं—पुनरिष्वस्त्र जाते च नानाचारीसमाकुले । इति कपुस्तके ऽधिकम् ।
७. नानाभावसमन्विताः—क०, समाश्रया—क (प) रसाश्रया—क (ढ) ।
८. ह्येषा—ग० । ९. रसाश्रया—ग० ।
१० वलितै—क० । ११. जप्यं—क० ।
१२. वाक्याङ्गसम्भवा—ख०, पाठ्याङ्गसंभवा घ० ।

विभिन्न रसों और भावों को स्थिरता प्रदान करने के कारण इसका नाम भी 'वृत्ति' रखा गया। भगवान् विष्णु ने जिस प्रकार तथा जो-जो कार्य मधु-कैटभ वध के अवसर पर प्रदर्शित किये उन सारे वाचिक आदि कार्य-कलापों को लेकर ऋषिगण ने वैसी ही अर्थानुरूप वृत्तियों का सृजन किया तथा उन्हें पाठ्यादि से युक्त[1] कर दिया ॥ २१–२२ ॥

नाट्यवेदसमुत्पन्ना वागङ्गाभिनयात्मिका।
[1]पुनरिष्वसृजाते च नानाचारीसमाकुले[2] ॥
मया काव्यक्रियाहेतोः प्रक्षिप्ता द्रुहिणाज्ञया ॥ २३ ॥

ये वृत्तियाँ नाट्यवेद से उत्पन्न थीं तथा आंगिक, वाचिक आदि अभिनय तथा विभिन्न चारियों से पूर्ण थीं। मैंने भगवान् ब्रह्मा की आज्ञा से नाटकों के लिए इन वृत्तियों को ग्रहण किया ॥ २२–२३ ॥

ऋग्वेदाद्भारती वृत्तिर्यजुर्वेदाच्च सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा[3] ॥ २४ ॥

ऋग्वेद से 'भारती' वृत्ति, यजुर्वेद से सात्वती वृत्ति, सामवेद से 'कैशिकी' वृत्ति तथा अथर्ववेद से शेषवृत्ति[2] (आरभटी) का ग्रहण किया ॥ २४ ॥

भारतीवृत्ति-लक्षण—

या वाक्प्रधाना [4]पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठ्ययुक्ता[5]।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा[6] भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥२५॥

---

१. ऋषिगण ने पाठ्यप्रधान भारतीवृत्ति, अभिनयप्रधान सात्वतीवृत्ति आवेश तथा अनुभावप्रधान आरभटी तथा गीतवाद्य आदि मनोरंजक उपकरण सम्पन्न कैशिकीवृत्तियों की अर्थानुकूलता हेतु सृष्टि की (आचार्य अभि० गु० अ० भा० भा० ३ पृ० ९०) क्योंकि (ऐसा करने से) अभिनयगत विलक्षणता आ जाने से नाट्यप्रयोग का विलक्षण तथा नवीनरूप लेना निश्चित सफलता की उपलब्धि करवाने वाला हो जाता है।

२. वृत्तियों के मूल की यह दूसरी ही कथा है ऐसा प्रतीत होता है। (पहिले एक कथा (२–१४) इसी अध्याय में दी ही जा चुका है।)

---

१. रिष्टसुजातेन—ख०, ग०। २. समाश्रये—क (ज)।
३. चाथर्वणादपि—क०। ४. नृवरप्रयोज्या—क (भ०)।
५. वाक्ययुक्ता—ख०, ग०।
६. तां भारतीं वृत्तिमुदाहरन्ति—ख (मु०)।

जो पुरुष पात्रों के द्वारा व्यवहार की जाती हो, स्त्रियों के द्वारा जिसका प्रयोग नहीं किया जाता हो, जो संस्कृत के संवादों में (पाठ्य में) प्रमुखता लिए हो तथा जिसका भरतों द्वारा अपने नाम के अनुरूप नामकरण किया गया हो—उसे भारती[1] वृत्ति जानो ॥ २५ ॥

भारतीवृत्ति के चार भेद—

भेदास्तस्यास्तु विज्ञेयाश्चत्वारोऽङ्गत्वमागताः ।
प्ररोचनामुखञ्चैव वीथी प्रहसनन्तथा ॥ २६ ॥

इस भारती वृत्ति के चार भेद (होते) हैं—जो इसके अवयवभूत हैं। वे हैं—(१) प्ररोचना, (२) आमुख, (३) वीथी तथा (४) प्रहसन ॥ २६ ॥

प्ररोचना—

उपक्षेपेण काव्यस्य हेतुयुक्तिसमाश्रया ।
सिद्धेनामन्त्रणा या तु विज्ञेया सा प्ररोचना ॥ २७ ॥

नाटयप्रयोग के आरम्भ के द्वारा जो उसकी प्रशंसा या महिमा का संकीर्तन करे और सामाजिकों को उस प्रयोग को सिद्धवत् बतलाने का उद्योग करते हुए जो आकृष्ट करती हो उसे 'प्ररोचना' समझना चाहिए ॥ २७ ॥

[1]जयाभ्युदयिनी चैव मङ्गल्या विजयावहा ।
सर्वपापप्रशमनी पूर्वरङ्गे[2] प्ररोचना[3] ॥ २७ ॥ (क)

पूर्वरङ्ग में की जाने वाली यह प्ररोचना[1] विजय, विकास, मंगल एवं सिद्धि को देनेवाली तथा पापों को धोनेवाली कही गई है ॥ २७ ॥ (क)

प्रस्तावना (आमुख)

नटी विदूषको वापि[4] पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र[5] कुर्वते ॥ २८ ॥

---

१. द्रष्ट० सा० द० ६।२७४, द० रू० ३।५ तथा ना० ल० र० को० (चौख०) पृ० १०६ ।

---

१. जयन्युदयिनी—ख०, घ०, घ० ।
२. पूर्वरङ्गप्ररोचिनी—ख (मु०) ।
३. अतोऽनन्तरं—उपक्षेपेणेत्यादि पद्यं क—पुस्तके समुपलभ्यते ।
४. चापि—क० ।
५. यत्तु—क० ।

चित्रैर्वाक्यैः[1] स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैरन्यथापि वा।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं [2]बुधैः प्रस्तावनापि वा ॥ २९ ॥

नाटक के जिस भाग में नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक का सूत्रधार के साथ किसी सम्बद्ध विषय पर रोचक या विचित्र वचनावली में या वीथी का कोई प्रकार प्रदर्शित करते हुए या किसी दूसरे प्रकार से संवाद रखा जाए तो उसे 'आमुख' जानों जिसका दूसरा नाम प्रस्तावना भी है ॥ २८-२९ ॥

प्रस्तावना के पांच प्रकार—

लक्षणं पूर्वमुक्तन्तु वोथ्याः प्रहसनस्य च।
आमुखाङ्गान्यतो वक्ष्ये यथावदनुपूर्वशः ॥ ३० ॥

वीथी और प्रहसन के लक्षण पहिले बतलाए जा चुके हैं; इसलिए मैं अब आमुख के अंगों को बतलाता हूँ ॥ ३० ॥

उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवृत्तकावलगिते पञ्चाङ्गान्यामुखस्य[3] तु ॥ ३१ ॥

प्रस्तावना के पांच[1] भेद हैं—(१) उद्घात्यक, (२) कथोद्घात, (३) प्रयोगातिशय, (४) प्रवृत्तक तथा (५) अवलगित ॥ ३१ ॥

[4]उद्घात्यकावलगितलक्षणं कथितं मया।
शेषाणां लक्षणं[5] विप्रा व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३२ ॥

इनमें उद्घात्मक तथा अवलगित के लक्षण (वीथी के लक्षण प्रसंग में पहिले) बतलाए जा चुके हैं। (दे० नाटयशास्त्र २०।११७, ११८)। अतएव यहाँ शेष प्रभेदों का स्वरूप (क्रमशः) बतलाता हूँ ॥ ३२ ॥

कथोद्घात—

सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स[6] कीर्तितः ॥ ३३ ॥

---

१. तुलना सा० द० ६।२८७, दशरू० ३।८ तथा ना० ल० र० को० पृ० १२०।

---

१. वाक्यैश्च काव्योत्थैः—क (न); वाक्यैश्च कार्योत्थैः—क (ट)।
२. तज्ज्ञैः—क (न)। ३. आमुखाङ्गानि पञ्च वै—ख०, ग० घ०।
४. उद्घात्यकावलगिते वीथ्यां सम्परिभाषिते—क (भ०)।
५. लक्षणमहं—ग०, घ०। ६. प्रकीर्तितः—क (भ०)।

सूत्रधार के किसी वाक्य या उसके तात्पर्य को लेकर यदि किसी पात्र का रंगमञ्च पर प्रवेश हो तो उसे 'कथोद्घात'[1] जानों ॥ ३३ ॥

प्रयोगातिशय—

प्रयोगेऽत्र प्रयोगन्तु सूत्रधारः[1] प्रयोजयेत् ।
ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ॥ ३४ ॥

जब प्रस्तावना के एक प्रयोग के अन्दर ही सूत्रधार दूसरे प्रयोग का गठन करता है और तभी उसी योजना के अनुसार पात्र का मंच पर प्रवेश हो तो उसे 'प्रयोगातिशय'[2] जानों ॥ ३४ ॥

प्रवृत्तक—

प्रवृत्तं[2] कार्यमाश्रित्य सूत्रभृद्यत्र[3] वर्णयेत् ।
तदाश्रयाच्च[4] पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ॥ ३५ ॥

यदि सूत्रधार अपने हाथ में लिए हुए किसी कार्य का वर्णन करें और उसके उन्हीं शब्दों को लेते हुए जब पात्र का मंच पर प्रवेश हो तो उसे 'प्रवृत्तक'[3] जानों ॥ ३५ ॥

एषामन्यतमं[5] श्लिष्टं[6] योजयित्वार्थयुक्तिभिः[7] ।
पात्रग्रन्थैरसंबाधं[8] प्रकुर्यादामुखं ततः[9] ॥ ३६ ॥

---

१. तुलना० सा० द० ६।२८९, द० रू० ३।९ तथा ना० ल० र० को० पृ० १२१ ।

२. तुलना० सा० द० ६।२९०, द० रू० ३।११ तथा ना० ल० र० को० पृ० १२२ ।

३. तुलना० सा० द० ६।२९१, द० रू० ३।१० तथा ना० ल० र० को० पृ० १२३ ।

---

१. सूत्रभृद्यत्र योजयेत् – क० (प) ।

२. कालप्रवृत्तिमाश्रित्य वर्णना या प्रयुज्यते—क० ।

३. यत्र चैवोपवर्णयेत्—क (ढ़) ।

४. तदाश्रयस्य—ख (मु), तदाश्रयश्च—क (भ०) ।

५. कालमेषामन्यतमं—क (भ०) ।

६. द्वेधा—क (न०); वेधाः—क (न) ।

७. अतोऽनन्तरं कपुस्तके—'तस्मादङ्गद्वयस्यापि सम्भवो न निवार्यते ।' इतिश्लोकार्धमधिकं समुपलभ्यते ।

८. अल्पग्रन्थै—क (न) । ९. बुधः—क (च) ।

इन प्रस्तावना के भेदों में से किसी एक विभेद की श्लेषार्थ के साथ अर्थानुसार युक्तियों की योजना इस प्रकार करनी चाहिए कि पात्रों को प्रवेश करने में न तो बाधा हो और न शास्त्रीय लक्षण का नीरस प्रदर्शन हो या उल्लंघन ही ॥ ३६ ॥

एवमेतद्बुधैर्ज्ञेयमामुखं विविधाश्रयम् ।
लक्षणं पूर्वमुक्तन्तु वीथ्याः प्रहसनस्य च ॥ ३७ ॥

चतुरजन इस आमुख के विविध स्वरूपों के ये ही प्रकार समझें । वीथी और प्रहसन का लक्षण पहिले ही बतलाया जा चुका[१] है ॥ ३७ ॥

इत्यष्टार्धविकल्पा[१] वृत्तिरियं भारती मयाभिहिता[२] ।
सात्वत्यास्तु[३] विधानं लक्षणयुक्त्या प्रवक्ष्यामि ॥ ३८ ॥

इस प्रकार मैंने चार भेदों (अष्टार्ध = चार) वाली भारतीवृत्ति को बतलाया । अब मैं 'सात्वती' वृत्ति को बतलाता हूं ॥ ३८ ॥

सात्वतीवृत्ति—

या सात्वतेनेह[४] गुणेन युक्ता न्यायेन[५] वृत्तेन समन्विता च[६] ।
हर्षोत्कटा[७] संहृतशोकभावा[८] सा सात्वती नाम भवेत्तु[९] वृत्तिः ॥ ३९ ॥

जो वृत्ति, 'सात्वत' गुण, न्याय तथा छन्द (वृत्त) से युक्त हो, जिसमें हर्ष अधिक तथा शोक का अत्यन्त अभाव हो तो वह 'सात्वती'[२] वृत्ति होती है ॥ ३९ ॥

---

१. वीथी का लक्षण ना० शा० अ० २०।१११ तथा प्रहसन का ना० शा० २०।११ पर देखिये ।

२. सात्वती-वृत्ति में शोक विषयक वार्ताओं का समावेश नहीं होता था यह उक्त विवरण से यह स्पष्ट ही परिज्ञात हो जाता है । सात्वती के विषय में द० रू० २।५३, सा० द० ६।४१६ तथा ना० ल० र० को० पृ० १२७–२८ भी द्रष्टव्य है ।

---

१. इत्यष्टार्थ—क० । २. माया प्रोक्ता—ख०, ग० ।
३. सात्वत्या अपि लक्षणमतः परं संप्रवक्ष्यामि—क० (भ०) ।
४. सात्विकेनेह— (भ०) ।
५. त्यागेन शौर्येण—(न०); त्यागेन वृत्तेन च सन्धिता या—क (भ०) ।
६. या—क० (भ०) । ७. हर्षोत्तरा—क (भ०) ।
८. संभृत—क (ढ) । ९. सत्ववतीह वृत्तिः—क० (प) ।

वागङ्गाभिनयवती [1]सत्वोत्थानवचनप्रकरणेषु ।
सत्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्वती वृत्तिः[2] ॥ ४० ॥

जो वृत्ति शब्द या वाचिक तथा आंगिक अभिनय से युक्त हैं, जिसमें वचनावली की शक्ति का आत्मिक उन्नति के कार्य को प्रदर्शित करने में क्रमशः उत्थान बतलाया जाए तो वह सत्व सम्पन्न होने से 'सात्वती' वृत्ति के रूप में जानी जाती है ॥ ४० ॥

वीराद्भुतरौद्ररसा[3] निरस्तश्रृङ्गारकरुणनिर्वेदा[4] ।
उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणकृता च ॥ ४१ ॥

इस वृत्ति में वीर, अद्भुत तथा रौद्र रस होते हैं। यह करुण, श्रृङ्गार रस तथा निर्वेद भाव से हीन होती है। इसमें उद्धत वृत्ति के पुरुषों की प्रायः बहुलता रहती है जो एक दूसरे को शब्दों से तिरस्कृत करते (आघर्षण) हों[1] ॥ ४१ ॥

सात्वती के चार प्रकार—

उत्थापकश्च[5] परिवर्तकश्च सल्लापकश्च संघात्यः[6] ।
चत्वारोऽस्या भेदा विज्ञेया नाट्यतत्वज्ञैः ॥ ४२ ॥

इस वृत्ति के चार[2] भेद हैं—(१) उत्थापक, (२) परिवर्तक, (३) सल्लापक तथा (४) संघात ॥ ४२ ॥

---

१. ना० ल० र० को० में करुण तथा श्रृंगार रस की अल्पता का सात्वती में रहना प्रतिपादित किया है। द्रष्टव्य ना० ल० र० को० (८० ४२) तु० द० रू० २।५३ सा० द० ६।४०६ (द्र० ना० ल० र० को० चौख० पृष्ठ १२७–२८)।

२. तुलना—सा० द० ६।४१६, द० रू० २।५३ तथा ना० ल० र० को० पृ० १२८।

---

१. विविधवाक्यकरणेषु—क (भ०)।
२. नाम—क (न०)।
३. वीराद्भुतप्रायरसा—क (ज)।
४. विज्ञेया—क (भ०)।
५. उत्थापनञ्च—क० (म)।
६. ससङ्घातः—ग०, घ०।

उत्थापक—

अहमत्युत्थास्यामि त्वं तावद्दर्शयात्मनः शक्तिम् ।
इति[1] सङ्घर्षसमुत्थस्तज्ज्ञैरुत्थापको ज्ञेयः ॥ ४३ ॥

संघर्ष के (समय उत्पन्न) वचनों से उत्पन्न होनेवाली चुनौती को 'उत्थापक'[1] जानों। जैसे :—'मैं युद्ध के लिए उठता हूं तू अपनी ताकत आजमा ले' आदि वाक्य (जिनसे बाद में सघंर्ष हो जाए) उत्थापक है ॥ ४३ ॥

परिवर्तक—

उत्थानसमारब्धानर्थानुत्सृज्य योऽर्थयोगवशात्[2] ।
अन्यानर्थान् भजते स चापि परिवर्तको ज्ञेयः[3] ॥ ४४ ॥

यदि उत्थान को करने वाली किसी वस्तु का परित्याग कर किसी दूसरी आवश्यक वस्तु का ग्रहण किया जाए तो उसे 'परिवर्तक'[2] जानो ॥ ४४ ॥

सल्लापक—

साधर्षजो [4]निराधर्षजोऽपि वा रागवचनसंयुक्तः[5] ।
[6]साधिक्षेपालापो ज्ञेयः सल्लापकः सोऽपि ॥ ४५ ॥

यदि कोई दुर्वचन या अपमानित करने वाली वचनावली का—जो चुनौती

१. तुलना—सा० द० ६।४१६, द० रू० २।५४ तथा० ना० ल० र० को० पृ० १२८, १२९ ।

२. तुलना—सा० द० ६।४१९, द० रू० २।५५ तथा० ना० ल० र० को० पृ० १२९ ।

१. सङ्घर्षसमाश्रयमुत्थितमुत्थापको— ख०, ग०, घ०; संहरणसमुत्थस्तज्ज्ञैरुत्थापनं ज्ञेयम्—क (भ०) ।

२. योऽर्थसंयोगात्—क (भ०) ।

३. अतः परं—'निर्दिष्ट वस्तुविषयः प्रपञ्चवद्धस्त्रिहास्यसंयुक्तः । सङ्घर्षविशेषकृतस्त्रिविधः परिवर्तको ज्ञेयः ॥' इतिपद्यं क—पुस्तकेऽधिकं समुपलभ्यते । (एतस्य व्याख्यानं परिशिष्टेऽवलोकनीयम्—सम्पा०)

४. सामर्षजो निरमर्षजोऽपि वा विविधवचनसंयुक्तः—क (ढ) ।

५. विविधवचन—ख०, ग०, घ० ।

६. साविच्छेदालापो—क० (ढ़) ।

देने से या किसी और प्रकार के वचनों द्वारा उत्पन्न हुई हो—प्रयोग करता हो तो उसे 'सल्लापक'[१] जानो ॥ ४५ ॥

संघातक—

[१]मन्त्रार्थवाक्यशक्त्या[१] दैववशादात्मदोषयोगाद्वा[३] ।
सङ्घातभेदजननस्तज्ज्ञैः सङ्घात्यको[४] ज्ञेयः[५] ॥ ४६ ॥

जो वचनावली रहस्य (मन्त्र) धन या किसी दैवी दुर्घटना (शक्ति) के कारण समूह में भेद उत्पन्न करने वाली हो तो उसे 'संघातक'[२] समझना चाहिए ॥ ४७ ॥

इत्यष्टार्धविकल्पा वृत्तिरियं सात्वती मयाभिहिता ।
कैशिक्यास्त्वथ[६] लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ ४७ ॥

इस प्रकार मैंने सात्वतीवृत्ति का स्वरूप बतलाया जो अपने चार भेदों से युक्त (अष्टार्ध) है। अब मैं कैशिकीवृत्ति का लक्षण बतलाता हूं ॥ ४७ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।४१८, द० रू० २।५४ तथा० ना० ल० र० को० पृ० १३० ।

२. तुलना—सा० द० ६।४११, द० रू० २।५५ तथा ना० ल० र० को० पृ० १३० ।

---

१. सल्लापकस्यापरं लक्षणं क पुस्तकेऽपि समुपलभ्यते । तद्यथा—
धर्माधर्मसमुत्थं यत्र भवेद्रागदोषसंयुक्तम् ।
साधिक्षेपञ्च वचो ज्ञेयः संलापको नाम ॥

२ मित्रार्थवाक्ययुक्त्या—ख०, ग०; मित्रार्थकार्ययुक्त्या—घ० ।

३. योगदोषाद्वा—क० (ढ़) ।

४. संघातको—ख० ।

५. अत परं क—पुस्तके—
बहुकपटसंश्रयाणां परोपघाताशयप्रयुक्तानाम् ।
कूटानां संघातो विज्ञेयः कूटसंघात्यः ॥
इति पद्यमधिकम् ।

६. कैशिक्यास्त्विह—ख०, ग०, घ० ।

कैशिकीवृत्ति—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा[1] स्त्रीसंयुता[2] या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं [3]वृत्तिमुदाहरन्ति[4] ॥ ४८ ॥

जो आकर्षक वेष के कारण विशेष सुरुचिपूर्ण हो, जिसमें स्त्रीपात्र तथा अनेक प्रकार के नृत्तों तथा गीतों (तथा वाद्यों) का समावेश हो तथा जिसमें प्रणय व्यापार तथा विलास आमोद बहुल प्रसंगों का प्रदर्शन हो तो उसे 'कैशिकीवृत्ति'[1] समझना चाहिए ॥ ४८ ॥

कैशिकीवृत्ति के चार विभेद—

नर्म[5] च नर्मस्फूर्जो[6] नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च।
कैशिक्याश्चत्वारो भेदा ह्येते समाख्याताः[7] ॥ ४९ ॥

कैशिकी-वृत्ति के चार[2] प्रकार होते हैं—नर्म, नर्म-स्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ ॥ ४९ ॥

त्रिविधनर्म निरूपण—

आस्थापितशृङ्गारं[8] विशुद्धकरणं निवृत्तवीररसम्।
हास्यप्रवचनबहुलं[9] नर्म त्रिविधं विजानीयात् ॥ ५० ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।४११, द० रू० २।४७ तथा ना० ल० र० को० पृ० १३१।

२. तुलना—सा० द० ६।४११, द० रू० २।४८ तथा ना० ल० र० को० पृ० १३१।

---

१. विचित्रवेशा—क० (ढ़०)। २. स्त्रीपुंसयुक्ता—ख (मु०)।
३. नाम वदन्ति वृत्तिम्—क (भ०)।
४ कैशिक्यालक्षणमपरमपि क—पुस्तके लभ्यते पद्यद्वयेन—तद्यथा-बहुवाद्यनृत्तगीता शृङ्गाराभिनयचित्रनेपथ्या। माल्यालङ्कारयुता प्रशस्तवेषा च कान्ता च ॥ क ॥ चित्रपदवाक्यबन्धैरलङ्कृता हसितरुदितरोषाद्यैः। स्त्रीपुरुषकामयुक्ता विज्ञेया कैशिकी वृत्तिः ॥ ख ॥—इति।
५ नर्मो—क०।
६. नर्मस्फुज्जो—क (ढ);[1] नर्मस्पन्दो—क० (भ०)।
७. मयाऽऽख्याताः—क (भ०)।
८. स्थापितशृङ्गाररसं—क (ढ़)।
९. हास्यप्रपञ्च—क (ढ़)।

विशुद्ध करणों से युक्त, शृङ्गार के स्थापक वीर रस के अतिरिक्त रसों वाली तथा शुद्ध हास्य से आपूरित नर्म के तीन[1] प्रकार हैं ॥ ५० ॥

ईर्ष्याक्रोधप्रायं[1] सोपालम्भकरणानुविद्धश्च[2] ।
आत्मोपक्षेपकृतं सविप्रलम्भं स्मृतं नर्म ॥ ५१ ॥

विप्रलम्भ से युक्त नर्म ईर्ष्या और क्रोध, उपालम्भ एवं आत्मोपक्षेप को प्रकट करने वाले वचनों से आपूरित रहता है ॥ ५१ ॥

नर्मस्फूर्ज—

नवसङ्गमसम्भोगो रतिसमुदयवेषवाक्यसंयुक्तः[3] ।
ज्ञेयो नर्मस्फञ्जो[4] ह्यवसानभयानकश्चैव[5] ॥ ५२ ॥

जिसमें प्रेमियों के प्रथम मिलन के समय शब्द तथा वस्त्रादि आदि में प्रणय के संवर्धक हों पर अन्त में जिसका भयानक परिणाम उत्पन्न हो जाए तो उसे 'नर्मस्फूर्ज'[2] समझना चाहिए ॥ ५२ ॥

नर्मस्फोट—

विविधानां भावानां लवैर्लवैर्भूषितो बहुविशेषैः[6] ।
[7]असमग्र-क्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥ ५३ ॥

जो अनेक विशेषताओं वाले विविध भावों के छोटे छोटे अंशों से युक्त हो तथा जिसमें कोई एक भाव या रस पूर्ण न हो तो उसे 'नर्मस्फोट'[3] समझना चाहिए ॥ ५३ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।४१२, द० रू० २।४८-५० तथा० ना० ल० र० को० पृ० १३१ ।

२. तुलना—सा० द० ६।४१३, द० रू० २।५१ तथा ना० ल० र० को० पृ० १३४ ।

३. तुलना—सा० द० ६।४१४, द० रू० २।५१ तथा ना० ल० र० को० पृ० १३३ ।

---

१. ईर्ष्याक्रोधप्रयासोपालम्भवचनानु—ख०; ईर्ष्योक्तोद्धृतप्रायं—ख० (मु०)।
२. लम्भञ्च करुणविद्धं च—क (भ०)।
३. समुदयवाक्यवेषसंयुक्तैः—ग०, घ०।
४. स्फुञ्जो—क (ढ)। ५. भयात्मकश्चैव—क०।
६. बहुविशेषः ग० घ०। ७. असमस्ता—क (ब)।

नर्मगर्भ—

[1]विज्ञानरूप-शोभाधनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र ।
प्रच्छन्नं[2] व्यवहरते [3]कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ[4] ॥ ५४ ॥

जब नायक अपने विज्ञान, रूप, शोभा, धन आदि गुणों के द्वारा कार्यवश विशेष रूप में प्रच्छन्न व्यवहार करता हो तो उसे 'नर्मगर्भ' समझना चाहिए ॥ ५४ ॥

इत्यष्टार्धविकल्पा वृत्तिरियं कैशिकी मयाभिहिता[5] ।
अत ऊर्ध्वमुद्धतरसामारभटीं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ ५५ ॥

यह मैंने ४ भेदों वाली (अष्टार्ध-विकल्पा) कैशिकी वृत्ति बतलाई । अब मैं उद्धत रसों वाली आरभटी-वृत्ति को बतलाता हूँ ॥ ५५ ॥

आरभटीवृत्ति—

[6]आरभटप्रायगुणा तथैव [7]बहुकपटवञ्चनोपेता ।
दम्भानृतवचनवती त्वारभटी नाम विज्ञेया[8] ॥ ५६ ॥

वह वृत्ति जिसमें उद्धत पुरुषों के गुणों का अधिक समावेश हो तथा जो उनके विविध सम्भाषण शब्दों, कपटवञ्चनाओं तथा दम्भ और असत्य व्यवहारों से युक्त हों तो उसे 'आरभटी वृत्ति'[2] समझना चाहिए ॥ ५६ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।४१५ तथा द० रू० २।५२ । ना० ल० र० को० पृ० १३४ ।

२ तुलना—सा० द० ६।४२०, द० रू० २।५६–५७ तथा ना० ल० र० को० पृ० १३५ ।

---

१. रूपसम्भावनादिभि—क (च); ससम्भावितादिभिः—क (भ०) ।

२. प्रच्छन्नैः—क (च) । ३. नर्मगर्भः सः—क (भ) ।

४. अतः परं क—पुस्तके – पूर्वस्थितौ विपद्येत नायको यत्र चापरस्तिष्ठेत् । तमपीह नर्मगर्भं विद्यान्नाट्यप्रयोगेषु ॥ इति पद्यमधिकम् । । पूर्वस्थितोऽभिभूतो यत्र भवेन्नायको विषण्णः । तमपीह नर्मगर्भं विद्यान्नाट्य प्रयोगज्ञः । इति क (भ) पाठः च । ङ—पाठस्तु—पूर्वस्थितौ विपद्येत यत्र चान्यतमनायकस्तिष्ठेत् । तमपीह नर्मगर्भं वदन्ति नाट्यप्रयोगेऽस्मिन् ॥ इति ।

५. मया प्रोक्ता—ग० घ० । ६. आरभटी—क (भ) ।

७. बहुवचनकपटा च —ग०, बहुवञ्चनकपटोपेता च—घ० ।

८. सा ज्ञेया – क (भ०) ।

पुस्तावपातप्लुतलङ्घितानि[1] च्छेद्यानि[2] मायाकृतमिन्द्रजालम् ।
चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्यं तां तादृशीमारभटीं वदन्ति[4] ॥ ५७ ॥

जिसमें अनेक प्रकार की (वास्तविक) नीचे गिरने, कूदने, फांदने की क्रियाएं हो, माया तथा इन्द्रजाल के कार्य हों और अनेक प्रकार के युद्धों का अभिनय प्रस्तुत किया जाए तो उसे भी 'आरभटी-वृत्ति'[1] समझना चाहिए ॥ ५७ ॥

आरभटी के चार प्रकार—

सङ्क्षिप्तकावपातौ वस्तूत्थापनमथापि[5] सम्फेटः ।
एते ह्यस्या भेदा लक्षणमेषां प्रवक्ष्यामि ॥ ५८ ॥

इस वृत्ति के चार विभेद हैं—(१) संक्षिप्तक, (२) अवपातक (३) वस्तूत्थापन तथा (४) सम्फेट । अब मैं क्रमशः इनका स्वरूप बतलाता हूं ॥ ५८ ॥

संक्षिप्तक

अन्वर्थशिल्पयुक्तो बहुपुस्तोत्थानचित्रनेपथ्यः[6] ।
सङ्क्षिप्तवस्तुविषयो[7] ज्ञेयः सङ्क्षिप्तको नाम ॥ ५९ ॥

जिसमें शब्दों का (सही अर्थ में) शिल्प रहे (अर्थात् वह सार्थकता लिये हो) और अनेक प्रकार के पलस्तर (पुस्त) से विचित्रवेशों का

---

१. आरभी का एक अतिरिक्त लक्षण भी (क॰ ग॰ प्रति में) है । इसका अर्थ है कि जिसमें किसी षाड्गुण्य नीति के कारण उत्तेजना या आरम्भ होना दिखलाया जाता हो, शत्रु का छल किया गया हो तथा जो किसी प्राप्ति या हानि से सम्बद्ध कार्य हो तो ये भी 'आरभटी' वृत्ति कहलाते हैं ।

---

१. प्रस्तावपात्—ख॰, ग॰ ।
२. क्रमलङ्घितानि—क (भ॰) ।
३. चान्यानि—ग॰ घ॰ ।
४. अतः परं क—ग॰पुस्तकयोः—षाड्गुण्यसमारब्धा हठातिसन्धानविद्रवोपेता । [षड्गुणसंरब्धा परातिसन्धान—] लाभालाभार्थकृता विज्ञेया वृत्तिरारभटी ॥ इति पद्यमपि समुपलभ्यते अधिकम् ।
५. मपीह—क (भ॰) ।
६. पुस्तोत्थापनचित्र—ख (मु॰) ।
७. वस्तुविज्ञो—ख (मु॰) ।

निर्माण किया जाए और जो किसी वस्तु के विषय संक्षेप से युक्त (सम्बद्ध) हो तो उसे 'संक्षिप्तक' समझना चाहिए ॥ ५९ ॥

अवपात—

भयहर्षसमुत्थानं विद्रवविनिपातसम्भ्रमाचरणम्[1] ।
क्षिप्रप्रवेशनिर्गममवपातमिमं विजानीयात्[2] ॥ ६० ॥

जिसमें भय या हर्ष से उत्पन्न होनेवाली घटनाएँ हों, दूर भागने और भ्रान्ति में प्रवृत्त करने वाले अनेक प्रकार के कथन हों और प्रवेश और निर्गम में शीघ्रता रखी जाए तो उसे 'अवपात'[1] समझना चाहिए ॥ ६० ॥

वस्तूत्थापन—

सर्वरससमासकृतं सविद्रवाविद्रवाश्रयं वापि[3] ।
नाट्यं[4] विभाव्यते यत्तद्वस्तूत्थापनं ज्ञेयम् ॥ ६१ ॥

जिसमें भागने या न भागने की प्रवृत्ति का आश्रय लेकर 'नाट्य' का सम्बन्ध या प्रतीक प्रस्तुत करते हों तथा जहाँ सभी रसों का संक्षेप में मिश्रण हो तो उसे 'वस्तूत्थापन'[2] समझना चाहिए ॥ ६१ ॥

सम्फेट—

संरम्भसम्प्रयुक्तो[5] बहुयुद्धनियुद्धकपटनिर्भेदः ।
शस्त्रप्रहारबहुलः सम्फेटो[6] नाम विज्ञेयः ॥ ६२ ॥

जिसमें उत्तेजन के कारण शीघ्रता से किये जाने वाले कार्य रहें, अनेक युद्ध तथा बाहुयुद्ध हो, कपट तथा अंगों का चीरना-फाड़ना (निर्भेद) रहे

---

१. तुलना—सा० द० ६।४२३, द० रू० २।५९ तथा० ना० ल० र० को० पृ० १३७।

२. तुलना—सा० द० ६।४२०, द० रू० २।५९ तथा ना० ल० र० को० पृ० १३७।

---

१. विद्रुतसम्भ्रान्तविविधवचनञ्च—ख०, ग०, घ०; विद्रुतविभ्रान्तविविध विषयं च—क (भ०)।

२. विजानन्ति—ग०, घ० ।

३. नैकरसलेशयुक्तं सविद्रवं वाप्यविद्रवं वापि—क (य०)।

४. कार्यं—घ०, पश्चाद् क (य०)।

५. समायुक्तो—ख०, ग०, घ० । ६. संस्फोटो—क (च०)।

तथा (परस्पर) शस्त्रों का अतिशय प्रहार प्रदर्शित किया जाए तो उसे 'सम्फेट' समझना चाहिए ॥ ६२ ॥

एवमेता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यसंश्रयाः[1]।
रसप्रयोगमासाद्य कीर्त्यमानं[2] निबोधत ॥ ६३ ॥

नाटकों में होने वाली यही वृत्तियाँ हैं; जिन्हें बुधजन उपर्युक्त लक्षणों से जानें। अब मैं इनका रस प्रयोग बतलाता हूँ। जिसे आप समझ लीजिये ॥ ६३ ॥

वृत्तियों की रस में विनियोजना—

[3]शृङ्गारहास्यबहुला कैशिकी परिचक्षिता।
[4]सात्वती चापि विज्ञेया वीररौद्राद्भुताश्रया[5] ॥ ६४ ॥
[6]भयानके च बीभत्से रौद्रे चारभटी भवेत्।
[7]भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया[8] ॥ ६५ ॥

शृङ्गार तथा हास्य रस में कैशिकीवृत्ति, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस में सात्वतीवृत्ति, भयानक, बीभत्स तथा रौद्र में आरभटीवृत्ति तथा करुण और अद्भुत रस में भारतीवृत्ति का प्रयोग करना चाहिए[2] ॥ ६४-६५ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ६।४२१, द० रू० २।५० तथा ना० ल० र० को० पृ० १३८।

२. तुलना—सा० द० ६।४१०, द० रू० २।६२ तथा ना० ल० र० को० पृ० १०६,१०७।

---

१. नाट्यमातरः—क (ट); काव्यहेतवे—क (चि)।

२. गदतो मे—क (च०)।

३. शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्यात् कैशिकीति सा—ख०, ग०, घ०।

४. सात्वती नाम सा ज्ञेया—ग०, घ०।

५. वीराद्भुतशमाश्रया—क०।

६. रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधैः—क०, रौद्रे भयरसे चापि वृत्तिरारभटी स्मृता—क (ट)।

७. बीभत्से करुणे चैव भारती सम्प्रकीर्तिता—क; भारती चापि विज्ञेया वीरहास्याद्भुताश्रया—क (भ), सर्वेषु रसभावेषु भारती सम्प्रकीर्तिता—क (ट)।

८. क० ग० पुस्तकयो—नह्येकरसजम् (अ० ७।११८) सर्वेषा समवेतानां रूपं (ना० शा० अ० ७।११९) इतिपद्यद्वयं पुनरप्यत्रोद्धृतं समुपलभ्यते।

वृत्यन्त एषोऽभिनयो मयोक्तो वागङ्गसत्वप्रभवो[1] यथावत् ।
आहार्यमेवाभिनयं प्रयोगे[2] वक्ष्यामि नेपथ्यकृतन्तु भूयः[3] ॥ ६६ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वृत्तिविकल्पो नाम द्वाविंशोऽध्यायः ।



इस प्रकार मैंने वाणी या शब्द, शरीर के विविध अंग, सत्व और वृत्तियों पर निर्भर रहने वाले अभिनय का उचित प्रकार से यहाँ तक निरूपण किया। अब मैं रूपकों के प्रयोग में उपयोगी 'नेपथ्य-विधान' (आहार्याभिनय) को अगले अध्याय में बतला रहा हूँ ॥ ६६ ॥

भरत नाट्यशास्त्र का वृत्तिविधान (वृत्तिविकल्पन) नामक बाईसवाँ अध्याय सम्पूर्ण ।



१. प्रभवः समासात्—क (च०) ।

२. तथैव—क (भ०) ।

३. पुनश्च—ग०, घ० ।

त्रयोविंशोऽध्यायः

आहार्याभिनयाध्याय

आहार्य (नेपथ्य) अभिनय की उपयोगिता—

आहार्याभिनयं विप्रा [1]व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
[2]यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये[3] स्थितः ॥ १ ॥

हे मुनिजन, अव मैं आपको [1]आहार्य-अभिनय का स्वरूप बतलाता हूँ । क्योंकि समग्र नाठ्य-प्रयोग आहार्य अभिनय पर निर्भर करता है ॥ १ ॥

आहार्याभिनय—

आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नैपथ्यजो विधिः ।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु [4]नाट्यस्य शुभमिच्छता ॥ २ ॥

---

१. आहार्याभिनय नेपथ्यजविधान को कहते हैं । आहार्याभिनय का महत्त्व असाधारण है । आहार्य को सभी वागादि अभिनय के वाद मुनि द्वारा प्रतिपादित करने से कुछ आचार्यों ने इस अभिनय की बहिरंगता दिखलाई किन्तु अभिनव-गुप्त पाद के अनुसार सभी अभिनयों के उपजीव्य होने के कारण इस आहार्य का वाद में निरूपण किया गया है । इसी तथ्य को मुनि ने 'अनुपूर्वशः' शब्द से संकेतित किया है । जैसे भित्ति का आधार चित्ररचना के लिये अपेक्षित है उसी तरह अभिनय के प्रयोगरूपी चित्र का आधार आहार्य अभिनय होता है, जो समस्त अभिनय व्यापारों के उपशमन के उपरान्त भी अपनी नेपथ्यविधि द्वारा प्रस्तुत पात्रों के रूपरंग का आलोक प्रेक्षक के हृदयाकाश में विशेषरूप से प्रतिभासित होता रहता है । शोक में मलिनवेष और शृङ्गार में उज्ज्वलवेष से विभूषित पात्र जब रङ्गभूमि पर अवतरित होते हैं तो आङ्गिक और वाचिक अभिनय के योग से रसोदय होता है । इसलिये नेपथ्यविधि के रूप में पात्रों के अवस्थानुरूप वेशविन्यास, अलंकार-परिधान, अंगरचना, निर्जीव लौकिकपदार्थ तथा सजीव प्राणियों के नाटय धर्मी प्रयोग का नाम 'आहार्यअभिनय' है, यह स्पष्ट ही है ।

---

१. प्रवक्ष्याम्यनु—ख०, ग०, घ० ।
२. सर्व एव प्रयोगोऽयं—(न०); एवमेव प्रयोगोऽयं—ग० ।
३. यतस्तस्मिन् प्रतिष्ठितः—ख०, ग०, घ० ।
४. नाटयशोभामिहेच्छता—क (न०) ।

नेपथ्य रचना का विधान 'आहार्याभिनय' कहलाता है। जो नाट्यप्रयोग में सफलता के (सिद्ध के) आंकाक्षी हैं, उन्हें इस पर अधिक ध्यान देना चाहिए ॥ २ ॥

नानावस्थाः प्रकृतयः [1]पूर्वंनेपथ्यसाधिताः।
अङ्गादिभिरभिव्यक्तिमुपगच्छन्त्ययत्नतः[2] ॥ ३ ॥

नाटक में पात्रों की विविध अवस्था तथा प्रकृति रहती हैं अतः पात्रों को (पहिले) नेपथ्य विधान से पूर्ण करने पर ये अपनी सहज शरीर रचना तथा चेष्टाओं द्वारा (बिना अधिक प्रयास के) सरलता से भावों को अभिव्यक्त कर देते हैं ॥ ३ ॥

तस्मिन् यत्नस्तु कर्तव्यो नैपथ्ये सिद्धिमिच्छता।
नाट्यस्येह त्वलङ्कारो नैपथ्यं यत्[3] प्रकीर्तितम् ॥ ४ ॥

अतएव सिद्धि की इच्छा रखने वाले निर्देशकों को नेपथ्य विधि का सम्पादन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। क्योंकि जो (यह) नेपथ्य विधान है इसे नाट्यप्रदर्शन का अलंकार (भूत) समझें ॥ ४ ॥

नेपथ्य विधान के चार विभेद—

चतुर्विधन्तु नेपथ्यं[4] पुस्तोऽलङ्कार एव च।
तथाङ्गरचना चैव ज्ञेयः[5] सज्जीव एव च ॥ ५ ॥

नेपथ्य की चार विधाएँ होती है :—पुस्तरचना (नमूने की वस्तु का निर्माण), अलंकरण (सजावट), अंगरचना (शरीर को चित्रित करना), तथा सज्जीव (जीवितप्राणिवर्ग) ॥ ५ ॥

पुस्तनेपथ्य के तीन प्रकार—

पुस्तस्तु त्रिविधो ज्ञेयो नानारूपप्रमाणतः।
सन्धिमो व्याजिमश्चैव [6]वेष्टिमश्च प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥

विविधरूप तथा प्रमाणों के अनुसार रहने पर भी पुस्त के तीन प्रकार माने गये हैं। ये हैं :—(१) सन्धिम, (२) व्याजिम तथा (३) वेष्टिम ॥ ६ ॥

१. पूर्वंनेपथ्य—क०, पूर्वंनेपथ्यसूचिकाः—ख०।
२. मन्ते गच्छन्त्ययत्नतः—ख०। ३. सम्प्रकीर्तितम्—ख०, ग०।
४. मुक्तालङ्कार एव—ख०। ५. ज्ञेयं सज्जीवमेव च—क०।
६. चेष्टिमश्च—ख०, ग०, घ०।

किलिञ्चचर्मवस्त्राद्यैर्यद्रूपं[1] क्रियते बुधैः।
सन्धिमो नाम विज्ञेयः पुस्तो नाटकसंश्रयः॥ ७॥

सन्धिमपुस्त—नाटक के उपयोगार्थ जिस वस्तु का निर्माण चटाई, बाँस, चमड़ा या वस्त्र से किया जाता हो तो उसे 'सन्धिम'[1] नेपथ्य समझना चाहिए॥ ७॥

व्याजिमो नाम विज्ञेयो यन्त्रेण क्रियते तु यः।
वेष्ट्यते[2] चैव यद्रूपं वेष्टिमः[3] स तु संज्ञितः॥ ८॥

व्याजिम तथा वेष्टिम—जो किन्ही यन्त्रों के द्वारा बनाया जाए उसे 'व्याजिम[2]' पुस्त तथा जिसका स्वरूप किसी वस्तु से आवेष्टित किये जाने पर होता हो उसे 'वेष्टिम[3]' पुस्त जानना चाहिए॥ ८॥

शैलयानविमानानि चर्मवर्मध्वजा[4] नगाः।
यानि[5] क्रियन्ते नाट्ये हि स पुस्त इति संज्ञितः॥ ९॥

उपयोगार्थ नाट्यप्रयोगों में जिन पर्वत, यान (रथ, पालकी आदि) विमान, ढाल, कवच, ध्वज, तथा हाथी (नग) आदि का निर्माण किया जाता है, उन्हें 'पुस्त' रचना (कार्य) समझना चाहिए॥ ९॥

---

१. सन्धिम—सन्धानं सन्धा, तया निर्वृत्तः, सदलादिरूपं क्रियते इति सन्धिमः (अभि० भा० Vol. III., पृ० १०९) अर्थात् जो दो भागों को जोड़ कर बनायी जाए ऐसी वस्तुओं को 'सन्धिम' समझना चाहिए।

२. व्याजिम का अभिनव गुप्त ने आशय बतलाया है—'व्याजः सूत्रस्याकर्षादिरूपः आक्षेपः तेन निर्वृत्तः व्याजिमः—अर्थात् रस्सी को खींच कर उससे प्रस्तुत किये जाने वाले कार्य या निर्माण व्याजिम।

३. वेष्टिम—"उपरि जतुसिक्थकादिना वेष्टस्तेन निर्वृतः वेष्टिमः—अर्थात् वेष्टिम उसे कहेगें जिसका लकड़ी या लाख की परत चढ़ाकर निर्माण किया गया हो।

---

१. किलिञ्च—ख०, ग०, घ०।
२. चेष्ट्यते—ख०, ग०।
३. चेष्टिमः—ख०, ग०, घ०।
४ चर्मवस्त्रध्वजाश्च ये—क (म०)।
५. ये क्रियन्ते हि नाट्ये तु—क०।

अलंकार—

अलङ्कारस्तु[1] विज्ञेयो माल्याभरणवाससाम्[2]।
[3]नानाविधः समायोगो ऽप्यङ्गोपाङ्गविधिः स्मृतः ॥ १० ॥

शरीर के विभिन्न अवयवों पर धारण किये जाने वाली पुष्पमालाएँ, गहने तथा वस्त्रों का प्रयोग अङ्ग तथा उपाङ्ग विधान में 'अलंकार' कहलाता है ॥ १० ॥

मालाएं (माल्य)—

वेष्टिमं[4] विततञ्चैव सङ्घात्यं ग्रन्थिमन्तथा।
प्रालम्बितं[5] तथा चैव माल्यं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ११ ॥

मालाएं पांच प्रकार की होती हैं—(१) वेष्टिम, (२) वितत, (३) संघात्य, (४) ग्रन्थिम तथा (५) प्रालम्बित ॥ ११ ॥

अलंकार—

चतुर्विधन्तु विज्ञेयं नाट्ये[6] ह्याभरणं बुधैः।
आवेध्यं बन्धनीयञ्च क्षेप्यमारोप्यमेव[7] च ॥ १२ ॥

शरीर पर धारण किये जाने वाले आभूषण नाट्यप्रयोग में चार प्रकार के होते हैं—(१) आवेध्य (जो शरीर को बींध कर पहनाए जाएँ), (२) बन्धनीय (जो शरीर पर ऊपर से बांधे जाए), (३) प्रक्षेप्य (जो पहने जाए), तथा (४) आरोप्य (जो शरीर पर चढ़ाए जाएं) ॥ १२ ॥

आवेध्यं कुण्डलादीह [8]यत्स्याच्छ्रवण-भूषणम्।
[9]आरोप्यं हेमसूत्रादि हाराश्च विविधाश्रयाः ॥ १३ ॥

इन अलंकारों में कुण्डल आदि कानों में धारण किये जाने वाले आवेध्य (भूषण) होते हैं—जो शरीर को बींध कर धारण किये जाते है।

---

१. अलङ्कारास्तु विज्ञेया मालाभरणसंज्ञकाः।
नानावस्त्रकृताश्चैव नानावस्थान्तरात्मकाः ॥—क (न०)।

२. माल्याभरणवासा—ख०, मालाभरणवाससा—ग०।

३. नानाविधसमायोगात्—ख०; समयोगोऽङ्गोपाङ्ग—ग०।

४. चेष्टितं—ख०, ग०। ५. प्रलम्बितं—ख०, ग०, घ०।

६. देहस्याभरणं—ख०, ग०, घ०।

७. प्रक्षेप्यारोप्यके तथा—ख०, ग०, घ०।

८. तथा श्रवण—ख०, ग०।

९. श्लोकार्धमिदं—ख० ग० घ०—पुस्तकेषु नास्ति।

तथा करधनी तथा भुजबन्ध आदि बांधे जाने वाले भूषण बन्धनीय कहलाते हैं ॥ १३ ॥

श्रोणीसूत्राङ्गदे[1] मुक्ताबन्धनीयानि सर्वदा।
प्रक्षेप्यं नूपुरं विद्याद्वस्त्राभरणमेव च ॥ १४ ॥

'प्रक्षेप्य' भूषण में पैजंन (नूपुर) तथा पहने जाने वाले वस्त्रादि—जो ऊपर से शरीर पर स्थापित (प्रक्षेप्य) किये जाए—तथा 'आरोप्य' अलंकारों में सोने के सूत्र तथा विभिन्न हार—जिन्हें ऊपर से पहना जा सकता हो—आते हैं ॥ १४ ॥

प्रकृति तथा जातियों के अनुसार अलंकार—

भूषणानां विकल्पं हि[2] [3]पुरुषस्त्रीसमाश्रयम्।
नानाविधं प्रवक्ष्यामि [4]देशजातिसमुद्भवम् ॥ १५ ॥

अब मैं अलंकारों के अनेक प्रकारों को—जो पुरुष तथा स्त्रियों के द्वारा रुचि, स्थिति तथा जाति के अनुसार धारण किये जाते हैं, बतलाता हूँ ॥ १५ ॥

मनुष्यों द्वारा धारण किये जाने वाले अलंकार—

चूडामणि—(मुकुट आदि मस्तक के) अलंकार

चूडामणिः समुकुटः[5] शिरसो भूषणं स्मृतम्।

[1]चूड़ामणि तथा मुकुट मस्तक पर धारण करने के भूषण हैं।

---

१. चूड़ामणिः शिरोमध्ये—अभि० भा० के अनुसार चूडामणि को बीच मस्तक पर धारण किया जाता था तथा 'मुकुटो ललाटोर्ध्वे' (अभि० भा०) मुकुट ललाट के उपर वाले प्रदेश में धारण किया जाता था। 'कुण्डलमधरपाल्याम्—अर्थात् कुण्डल को कान के नीचे के कोने में धारण किया जाता था। "मोचकं कर्णशष्कुल्या मध्यच्छिद्रे कृतम्—कानों के बीच वाले भाग में छिद्र करके पहिनाया जाने वाला भूषण 'मोचक' कहलाता था। कीला—ऊर्ध्वच्छिद्रे, उत्तर-कर्णिकेति प्रसिद्धा—" अर्थात् कान के ऊपरी भाग में छिद्र कर उसमें पहिना जाने वाला भूषण 'कीला' या कील कहलाता था।

(द्र० अ० भा० पृ० १११, भा० ३)

---

१. श्रोणिसूत्राङ्गदैर्मुक्ताबन्धनीयानि निर्दिशेत्—ख०, श्रोणिसूत्राङ्गदैस्तया—घ०।

२. च—ख०। ३. पुरुषस्य स्त्रियोऽथवा—क (भ०)।

४. संज्ञान्तरसमाश्रयम्—क० (भ)। ५. सुमुकुटं—क (ङ)।

कर्णाभरण—

कुण्डलं मोचकं कीला[1] कर्णाभरणमिष्यते ॥ १६ ॥

तथा कुण्डल, मोचक, (कान के बीच के छिद्र में धारण करने का भूषण) तथा कीला (कर्णफूल ?) कान में धारण करने के भूषण हैं॥ १६ ॥

ग्रीवालंकार—

मुक्तावली हर्षकश्च[2] सूत्रकं[3] कण्ठभूषणम् ।

मौक्तिकमाला, हर्षक[1], (सांप की शकल का गहना) तथा सर[2] सूत्रक ग्रीवा के भूषण होते हैं ।

अंगुली के भूषण—

वेतिकाङ्गुलिमुद्रा[4] च स्यादङ्गुलिविभूषणम् ॥ १७ ॥

कटक ([3]वेतिक) और अंगूठी अंगुलियों पर धारण करने के भूषण है ॥ १७ ॥

भुजाओं के आभूषण—

हस्तली[5] वलयश्चैव बाहुनालीविभूषणम् ।

हस्तली तथा वलय बाहुओं के अलंकार (होते) हैं ।

---

१. हर्षकं—समुद्गकं सर्पादिरूपतया प्रसिद्धम् । (अ० भा० पृ० १११, भा० ३)

२. सूत्रकम्—गुच्छग्रीवा—सूत्रादितया प्रसिद्धम् । (अ० भा० ३, पृ० १११)

३. कटक (या) वेतिक—'सूक्ष्म—कटकरूपा अङ्गुलिमुद्रा पक्षिपद्माद्याकारेणोपेता'—छोटे कड़े की शकल में निर्मित-कलात्मक अंगूठी 'कटक' तथा 'अंगुलि मुद्रा' अंगूठी उसे कहते हैं जो पक्षी तथा कमल आदि के आकार में बनी हो । कटक और अंगलीयक का यही अंतर था । पर कालान्तर में इस आभूषण के दोनों शब्द (अंगुलीयक तथा मुद्रा शब्द) पृथक् रूप में विकसित हो गये । देखिये—मुद्राराक्षस नाटक में 'मुद्रा' प्रदान तथा मुद्राधारण का विवरण ।

---

१. कोलः—ख; मोचकः कीलं—क (भ०) ।

२. परिसरं—क (भ०) । ३. ससूत्रं—ख ।

४. कटकोऽङ्गुलि—ख० ग०; केटकोऽङ्गुलि—क (भ०); वेटिका—क (प०), वटिका—क (च) ।

५. हस्तवी—ख, ग०; हस्तपी—घ०; हस्तती—क (ज०) ।

कलाई के आभूषण—

रुचकश्चूलिका[1] कार्या[2] मणिबन्धविभूषणम् ॥ १८ ॥

रुचक[1], उच्चितक या चूलिका को कलाई के आभूषण रखे जाए ॥ १८ ॥

केहुनी के आभूषण—

केयूरे[3] अङ्गदे चैव कूर्परोपरि भूषणे।

केयूर[2] तथा अंगद केहुनी के ऊपर धारण करने के अलंकार होते हैं।

वक्षः के आभूषण—

[4]त्रिसरश्चैव हारश्च तथा[5] वक्षो विभूषणम् ॥ १९ ॥

त्रिसर[3] तथा हार वक्षःस्थल के आभूषण होते हैं ॥ १९ ॥

व्यालम्बमौक्तिको[6] हारो माला चैवाङ्गभूषणम्।

मोतियों की लम्बी सर तथा पुष्पों की माला सम्पूर्ण शरीर का आभूषण होती हैं।

---

१. रुचक—पहुंची या कलाई पर धारण करने का सुवर्ण निर्मित अंगूठी के गोल आकार का आभूषण। चूलिका—यह कलाई के ऊपरी भाग में धारण की जाती थी जो आजकल पहुंची कहलाती हैं।

२. अनेक संस्कृत रचनाओं में पुरुष के अतिरिक्त स्त्रियों द्वारा भी केयूर के धारण करने का उल्लेख मिलता है। यथा—'केयूरे नैव जानामि नैव जानामि कुण्डले। नुपुरे चाभि जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् (वा० रा०)। इसी प्रकार उत्तररामचरित में सीताहरण के बाद मार्ग में गिरे हुए अलंकारों में केयूर का निर्देश मिलता है। केयूर की व्याख्या अमरकोष टीका में भानुजी ने इस प्रकार की है। 'के बाहुशीर्षं याति इति केयूरम्' (अ० को २।६।१०७) केयूर के ऊपर अंगद धारण किये जाते थे [कुछ अलंकारों के रेखा चित्र दिये जा रहे हैं। जिससे विषय रोचक तथा सुबोध हो जाए]

३. त्रिसर—मोतियों का तीन लड़ियों से निर्मित हार 'त्रिसर' कहलाता है "त्रिसरः मुक्तालताश्रयेण—" (अ० भा० पृ० ११२ भा० ३)

---

१. रुचकोच्चितकैश्चैव—ख०; ग० रुचिकोच्चितिके कार्ये—क (ढ़)।

२. चैव—क (ङ)। ३. केयूरमङ्गदञ्चैव—ख, ग०, घ०।

४. त्रिसरंचैव—ग०। ५. भवेद्वक्षो—ख०।

६. व्यालम्बिमौक्तिका हारा माल्याद्या देहभूषणम्—ख०, ग०, व्यलम्बि-मौक्ति—घ०; व्यालम्बमुक्ताहारादिमालादेहविभूषणम्—क (ढ़)।

[1]तरलं सूत्रकञ्चैव भवेत् कटिविभूषणम् ॥ २० ॥

[1]तरल तथा [2]सूत्र कटि के आभूषण होते हैं ॥ २० ॥

अयं पुरुषनियोगः कार्यस्त्वाभरणाश्रयः ।

देवानां पार्थिवानाञ्च पुनर्वक्ष्यामि[2] योषिताम् ॥ २१ ॥

पुरुषपात्रों में देवता तथा राजाओं के लिये ये अलंकार बतलाए गए हैं। अब मैं स्त्रियों के द्वारा धारण किये जाने वाले अलंकार बतलाता हूँ ॥ २१ ॥

स्त्रियों के (धारण करने योग्य) अलंकार—

[3]शिखापाशं शिखाव्यालः[4] पिण्डीपत्रं[5] तथैव च ।

चूडामणिर्मकरिका[6] [7]मुक्ताजालं गवाक्षिकम् ॥ २२ ॥

शिरसो भूषणञ्चैव[8] विचित्रं शीर्षजालकम् ।

[3]शिखा-पाश, शिखापत्र, पिण्डी (पिण्ड) पत्र, (खण्ड यन्त्र, खण्डपत्र),

---

१. तरल—नाभि के नीचे तक लम्बा हार के बीच धारण किया जाने वाला अलंकार (तरलं नाभेरधः—अभि० भा०) तथा 'तरलो हारमध्यगः— (अम० कोष) भी द्रष्टव्य हैं।

२. सूत्र—तरल के नीचे पहिनी जाने वाली 'सर' या माला को सूत्र कहते थे।

३. शिखापाश या चूड़ापाश—मस्तक के ऊपर बालों में धारण किया जाता था। मेघदूत (उत्तर २) में चूड़ापाश' का उल्लेख मिलता है जो यही शिखापाश (प्रतीत होता) है। शिखाव्याल—नागों के जोड़ो से बनाया गया अलंकार गया जिसके बीच में नागफन रहता है। 'नागगन्थिभिरुपनिबद्धो मध्ये कणिकास्थानीयम्'—(अभि० भा० पृ० ११२, भा० ३)। पिण्डीपत्र—इसी शिखाव्याल में जब नागफनों के साथ उनके मध्यवर्ती स्थान में विचित्र प्रकार से गोल आकार

---

१. तलकं—क; तदलं—क (घ०)। २. वक्ष्याम्यहं त्रयम्—क (भ०)।
३. शिखापाशः शिखाजालं—ख०, ग०। ४. शिरोव्यालं—क (भ०)।
५. पिण्डपात्रं—ख० ग०; पिण्डपत्रं—क (प०); पिण्डयन्त्रं—क (भ); खण्डपात्रं—क (ढ़)।
६. मंकरको—क (भ०)।
७. मुक्ताजालगवाक्षिकम्—क०; गवाक्षिका—क (न०) गवाक्षिकः क (म०)।
८. वापि चित्रकं शीर्षजालकम्—क (भ०)।

चूड़ामणि, मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्ष तथा विविध प्रकार के शीर्षजाल (Hair net) मस्तक पर धारण करने के आभूषण होते हैं ॥ २२-२३ ॥

ललाटतिलकश्चैव[1] [2]नानाशिल्पप्रयोजितम् ॥ २३ ॥
भ्रुवोश्चोपरि[3] गुच्छश्च कुसुमानुकृतिस्तथा[4] ।

ललाट पर धारण किये जाने वाले तिलक नामक भूषण अनेक प्रकार की कारीगरी से निर्मित तथा विविध स्वरूप वाले होने चाहिए। भौंहो पर रहने वाले 'गुच्छ' को पुष्पों के आकार में बनाया जाए ॥ २३-२४ ॥

कर्णाभरण—

कुण्डलं[5] शिखिपत्रञ्च वेणीगुच्छः[6] सदोरकः[7] ॥ २४ ॥
कर्णिका कर्णवलयं तथा स्यात् पत्रकर्णिका ।
कुण्डलं[8] कर्णमुद्रा च कर्णोत्कीलकमेव च ॥ २५ ॥
नाना[9] रत्नविचित्राणि दन्तपत्राणि[10] चैव हि ।
कर्णयोर्भूषणं ह्येतत्[11] कर्णपूरस्तथैव च ॥ २६ ॥

में पत्ते बने हों या इनके बीच जोड़ दिये जाये तो पिण्डीपत्र अलंकार कहलाता था (देखिये—तस्यैव दलसन्धानतया चित्ररचनानि वर्तुलानि पत्राणि पिण्डीपत्राणि अभि० भारती० पृ० ११२, भा० ३) मकरिका—मकरपत्र नामक अलंकार। मुक्ताजाल—मोतियों की जाली। गवाक्ष—सभवतः तिरछी बनावट में बालों पर धारण किया जाने वाला जाल जैसा अलंकार। इसका वर्णन कम मिलता है। विविधशीर्षजालों का आज भी स्वरूप देखा जा सकता है।

१. तिलकश्चैव—ग० ।
२. प्रयोजितः—ग०, थ० ।
३. भ्रूकक्ष्यो—ख०, भ्रूगुच्छो परि—क० ।
४. कृतिर्भवेत्—ख० ।
५. कुण्डलं-शिखिपात्रञ्च—ग० ।
६. वेणीपुच्छः—क, वेणीकञ्जं—घ, वेणीकुञ्जः सरोचकः—क (ढ़) ।
७. सदारकः—ख०, सदोरकम्—घ० ।
८. आवेष्टितः कर्णमुद्रा—ख०, ग०; आवेष्टकं कर्णमुद्रा—क (न०) ।
९. नानाचित्रविचित्राणि रत्नपात्राणि चैव हि—ग०, रत्नपत्राणि—घ० ।
१०. तथा संस्कारकाणि च—क (भ०) ।
११. कार्यं—ख०, ग० ।

कानों में धारण किये जाने वाले अलंकार ये हैं—कुण्डक, शिखिपत्र[1] (खंगपत्र), वेणीगुच्छ, मोचक, कर्णिका, कर्णवलय, पत्रकर्णिका, कुंडल, कर्णमुद्रा, कर्ण-भूषण, कर्णोत्कीलक तथा अनेकरत्नों से जटित एवं विविध स्वरूपों में निर्मित दन्तपत्र ॥ २५-२६ ॥

गण्डविभूषण—

तिलकाः पत्रलेखाश्च[1] भवेद् गण्डविभूषणम् ।

तिलक[2] तथा पत्रलेखा कपोल (पर धारण करने) के भूषण होते हैं ।

वक्षोभूषण—

त्रिवेणी[2] चैव विज्ञेयं भवेद्वक्षो विभूषणम् ॥ २७ ॥

'त्रिवेणी' वक्षस्थल का भूषण होता है ॥ २७ ॥

नेत्र व ओष्ठ के विभूषण—

नेत्रयोरञ्जनं ज्ञेयमधरस्य[3] च रञ्जनम् ।

नेत्रों का अंजन तथा ओष्ठों का रंजन (रंगना) भूषण होता है ।

दन्ताभूषण—

दन्तानां विविधो रागश्चतुर्णो[4] शुक्लतापि वा ॥ २८ ॥

---

१. शिखिपत्र—मोर की पूंछ की शकल में विचित्र (अनेक रंग की) मणियों को गूंथ कर बनाया हुआ आभूषण विशेष । (देखिये–शिखिपत्रं मयूरपिच्छाकारो विचित्रवर्णरचितः कर्णावतंसकः—(अभि० भा० पृ० ११३ भाग तृतीय) । कर्णों के अलंकार भी रचना वैशिष्ट्य से पृथक् पृथक् आकार बनाने वाले होते हैं जैसा कि उनका नाम है वैसा ही स्वरूप भी रहा होगा । इनके उल्लेख तथा स्वरूप की सम्प्रति उपलब्धि नहीं होती है ।

२. 'तिलक'—सोने का अलंकार जिसका आज भी प्रचलन है । यही चाँदी का बना कर गरीब तबके की जातियों में भी पहिना जाता है परन्तु सोने का टीका राजस्थान में कुलीन महिलाएँ धारण करती हैं । दन्तपत्र—यह रत्नों का या हाथी दाँत का बनाया जाता था । देखिये—शिशुपालवध—'विलासलीलोचितदन्तपत्रविधित्सया नूनमनेन मानिना (सर्ग १)' । कर्णपूर = कर्णफूल नामक अलंकार ।

---

१. तिलकः पत्ररेखा च—ख०, ग० ।

२. त्रिवणी—क० । ३. कार्य—ख०, ग० ।

४. विविधा रागश्चतुर्णां शुक्लता तथा—ख०, ग०, घ० ।

रागान्तरविकल्पोऽथ[1] शोभनेनाधिकोज्ज्वलः।
मुग्धानां[2] सुन्दराणाञ्च [3]मुक्ताभासितशोभनाः॥ २९॥
सुरक्ता[4] वापि दन्ताः स्युः पद्मपल्लवरञ्जनाः।
अब्जरागोद्योतितः स्यादधरः पल्लवप्रभः॥ ३०॥
विलासश्च भवेत्तासां सविभ्रान्तनिरीक्षितम्[5]।

चार सामने के दाँतों का (अर्थात् दो ऊपर वाले और दो नीचे वाले दाँतों की पंक्ति का) विविध रंगों में रंगना या उनका शुभ्र बने रहना भूषण स्वरूप ही है। पर जब इनको रंग दिया जाता है तो ये शुभ्रवर्ण की अपेक्षा अधिक शोभाशाली हो जाते हैं।

मुग्धा युवतियों के मोती जैसे सुन्दर दांत जब स्मित की दीप्ति से भासित होते हों—तथा वे (उस समय) कमल के समान रक्तवर्ण में रंगे हुए तथा ओठ भी रंगने के कारण पल्लव जैसे लाल वर्ण के हो तो उन ललनाओं का विलास एवं रागपूर्ण (सविभ्रान्त) अवलोकन बड़ा ही प्रिय लगता है तथा सौन्दर्य को (और) भी यह निखार देता है॥ २८–३१॥

कण्ठाभरण—

मुक्तावली व्यालपङ्क्तिर्मंजरी रत्नमालिका॥ ३१॥
रत्नावलीसूत्रकञ्च[6] ज्ञेयं कण्ठविभूषणम्।
द्विसरस्त्रिसरश्चैव [7]चतुस्सरकमेव च॥ ३२॥
तथा शृङ्खलिका चैव भवेत् कण्ठविभषणम्।

मुक्तामाला (मुक्तावलि), व्यालपंक्ति,[1] मंजरी,[2] रत्नमाला,[3] रत्नसर, रत्नावलि[4] तथा दो तीन या चार सुवर्ण सरों के या सांकलें (शृंखलिका) जैसे भूषण गले में धारण किये जाते हैं॥ ३१–३३॥

व्यालपंक्ति—साँप की शक्ल का एक गले का आभूषण।

---

१. रागान्तरविकल्पार्थशोभने—ख०, ग०।
२. मुख्यानां—क (भ०)।
३. मुक्ताभाः सितशोभनाः—ख०; मुक्ताभाः स्मितशोभनाः—घ०।
४. आरक्ता एव दन्ताः स्युस्तथा मालि च रज्जनम्। स्वरागोज्ज्योतितश्च स्यात्—क (प०)।
५. विभ्रान्तञ्च विलक्षितम्—क (भ०)।
६. च सूत्रञ्च—ग०, घ०।
७. चतूरसक (?) मेव—ग०।

बाहुभूषण—

अङ्गदं वलयञ्चैव बाहुमूलविभूषणम् ॥ ३३ ॥

अंगद[1] तथा 'वलय'[1] बाहु के (ऊपरी भाग के) भूषण हैं।

वक्षोविभूषण—

[1]नानाशिल्पकृताश्चैव हारा [2]वक्षोविभूषणम्।
[3]मणिजालावनद्धश्च भवेत् स्तनविभूषणम् ॥ ३४ ॥

अनेक विध कारीगरी से निर्मित रत्नों के हार वक्षःस्थल के आभूषण होते हैं। इसी प्रकार मणियों की जाली उरोजों का आभूषण होता है (या उरोज से पीठ तक भाग का आभूषण होता है) ॥ ३४ ॥

[4]खर्जूरकं [5]सोच्छितिकं बाहुनालीविभूषणम्।

[2]सोच्छितिका (बाजुबन्द) बाहु में तथा खर्जुर नामक भूषण बाहु के सीधे भाग पर धारण किये जाते हैं ॥ ३५ ॥

मंजरी—गले का हार जिसकी मंजरी जैसी बनावट हो। अक्सर यही सोने तथा रत्नों के द्वारा प्राचीन काल में बनती थी। रत्नमालिका—रत्नों की छोटी माला। रत्नावली—रत्नों की लम्बी माला। रत्नमालिका तथा रत्नावली में आकारगत विभेद केवल इतना ही है।

सूत्र—सोने की पतली सर (सुवर्णसूत्र का उल्लेख संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है)

१. अंगद या वलय को आजकल अनन्त और बाजूबन्द कहते हैं। आज भी इसका उपयोग होता (आ रहा) है।

२. स्तेच्छितिका और खर्जूर—इनका कहीं स्पष्टीकरण नहीं मिलता है कि इनका आकार कैसा होता था। केवल स्थान के कारण थोड़ी स्वरूप की कल्पना की जा सकती है कि ये बाजूबन्द की तरह के कोई बाहु के आभूषण होते थे।

---

१. नानारत्नकृता—ख०; नानाशिल्पीकृता—क (भ)।
२. वक्षोजभूषणम्—क (प०)।
३. मणिजालानुबन्धञ्च—क (च०)।
४. खर्जुरकं—घ०।
५. स्वेच्छितीकश्च—ख०; स्वेच्छितीकंच—क (ङ)।

अंगुलि-विभूषण—

कटकं[१] कलशाखा च हस्तपत्रं [२]सपूरकम् ॥ ३५ ॥
मुद्राङ्गुलीयकञ्चैव[३] ह्यङ्गुलीनां विभूषणम् ।

कटक, कलशाखा,[१] हस्तपत्र, सुपूरक तथा मुद्रा, अंगुलीयक (अंगूठी) अंगुलियों के आभूषण होते हैं ॥ ३५–३६ ॥

कटि-विभूषण—

काञ्ची[४] मौक्तिकजालाढ्या तलकं[५] मेखलं तथा ॥ ३६ ॥
रशना च कलापश्च [६]भवेच्छ्रोणी-विभूषणम् ।

मौतिक जालों से युक्त कांची, मेखला तथा रसना तथा तलक कटि[२] पर धारण करने के अंलकार होते हैं ॥ ३६–३७ ॥

एकयष्टिर्भवेत् काञ्ची मेखला त्वष्टयष्टिका ॥ ३७ ॥
[७]द्विरष्टयष्टी रशना कलापः पञ्चविंशकः[८] ।
[९]द्वात्रिंशच्च चतुःषष्टिः शतमष्टोत्तरन्तथा ॥ ३८ ॥
मुक्ताहारा भवन्त्येते देवपार्थिवयोषिताम् ।

इनमें कांची एक सर की, मेखला, रसना आठ सरों की, रसना सोलह सरों की तथा कलाप पच्चीस सरों की बनाई जाती है । देवपत्नी, महादेवी तथा महारानियों की मोती मालाएँ बत्तीस, चौसठ तथा एक सौ आठ सरों की होती है ॥ ३७–३९ ॥

---

१. कलशाखा, हस्तपत्र तथा सुपूरक अप्रसिद्ध अलंकार हैं । 'हस्तसूत्र' का जरूर श्री आप्टे ने अर्थ किया है । (देखिये—आप्टे कोश–धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौन्तुकहस्तसूत्रम् कलाई पर बांधा जाने वाला भूषण या रक्षासूत्र (कु० मा० सं० ७।२५)

२. तलक—एक विशेष प्रकार की करधनी । इसके अतिरिक्त शेष अलंकारों का मूल में स्वरूप तथा विवरण दिया जा रहा है ।

---

१. कलापी कटकं शङ्खो—क०, घ० । २. सुपूरकं—ख०, ग० ।
३. ङ्गुलीयकं च स्याद—ख०; च स्यादङ्गुल्याभरणं भवेत् ।
४. मुक्ताजालाढ्यतलकं मेखला काञ्चिकापि वा—क० ।
५. कुलकं मेखलं तथा—ग० । ६. ज्ञेयं श्रोणी—क (च०) ।
७. रशना षोडश ज्ञेया—ख०, ग०, घ० । ८. विंशतिः—ख० ।
९. द्वात्रिंशत् षोडशाष्टौ च चतुःषष्टिः शतं तथा—ख; क (च०) ।

गुल्फ (पैर की घुट्टी के ऊपर धारण करने के) आभूषण—

[1]नूपुरः किङ्किणीकाश्च घण्टिका[2] रत्नजालकम् ॥ ३९ ॥
सघोषे[3] कटके चैव गुल्फोपरि-विभूषणम् ।

नूपुर, किंकिणी, रत्नजाल तथा घण्टिका नामक भूषण गुल्फ के (पैर की घुट्टी) ऊपर धारण किये जाने वाले अलकार होते हैं ॥ ३९–४० ॥

गुल्फ भूषण—

जङ्घयोः[4] पादपत्रं [5]स्यादङ्गुलीष्वङ्गुलीयकम् ॥ ४० ॥
अङ्गुष्ठे तिलकञ्चैव[6] पादयोश्च विभूषणम् ।
तथालक्तकरागश्च[7] नानाभक्तिनिवेशितः[8] ॥ ४१ ॥
अशोकपल्लवच्छायः स्यात् स्वाभाविक एव[9] च ।

जंघा (या ऊरू) का 'पादपत्र' आभूषण होता है, अंगुलियों का (पैरों की) अंगुलीयक तथा अंगूठे का 'तिलक'[1]। ये पैरों के अलंकार (होते) हैं।

इसी प्रकार (पैरों का अतिरिक्त भूषणहोता है) महावर—जो अनेक रचनाओं से चित्रित किया जाता है तथा जिसका अशोक के पल्लव के समान स्वाभाविक रक्तवर्ण होता है ॥ ४०–४२ ॥

एतद्विभूषणं नार्या आकेशादानखादपि ॥ ४२ ॥
यथाभावरसावस्थं[10] विज्ञेयं द्विजसत्तमाः ।

---

१. तिलक का "तलक" भी पाठ मिलता है। अभिनवगुप्त ने (अंगुष्ठ) तिलका इति विचित्र-रचना कृताः—अर्थात् अनेक रूपों में बनायी गयी अगूंठे की बिछिया को "तिलक" आभूषए कहा है।

---

१. नूपुरः किङ्किणीकञ्च रत्नजालकमेव च—ख०, ग० ।
२. घण्टिकाजालमेव च—घ० ।
३. सङ्घोषकटकं—ख० ग० घ०; सघोषकटकं—क (न०) ।
४. पदयोःपाद—ख०; सरलं कर्णिकोद्योतमङ्गु—क (भ०) ।
५. दङ्गुलाव—क (ज०) ।
६. अङ्गुष्ठतिलकाश्चैव—क० ।
७. तथैवालक्तरागश्च—ख०, ग०, घ० ।
८. विभूषितः—क (भ०) । ९. एव वा—ख० ।
१०. रसावस्थां विज्ञायैव प्रयोजयेत्—ख०, ग०, घ० ।

ये स्त्रियों के [1]नख-शिख भूषण है जिन्हें रस तथा भावों की स्थिति को देखते हुये तदनुसार प्रयुक्त किया जाय ॥ ४२ ॥

आगमश्च प्रमाणञ्च रूपनिर्वर्णनं तथा ॥ ४३ ॥
[1]विश्वकर्ममतात् कार्यं सुबुद्ध्यापि प्रयोक्तृभिः ।

इन अलङ्कारों का मूल उत्स विश्वकर्मा प्रणीत शास्त्र[2] है, उसी के अनुसार इन अलङ्कारों को शरीर का प्रमाण तथा स्वरूप देखते हुये निर्माण करना चाहिये या फिर समयानुकूल अपनी बुद्धि से भी इनकी योजना की जा सकती है ॥ ४३ ॥

नहि शक्यं सुवर्णेन मुक्ताभिर्मणिभिस्तथा ॥ ४४ ॥
स्वाधीनमिति[2] रुच्यैव कर्तुमङ्गस्य भूषणम् ।

(नाट्यप्रयोग में) किसी एक विशेष व्यक्ति की रुचि के अनुसार सुवर्ण, मोती तथा रत्नों से निर्मित अलंकार नहीं बनते, नहीं स्वेच्छापूर्वक चाहे जितने अलंकारों का धारण होता है ॥ ४४ ॥

[3]विभागतोऽभिप्रयुक्तमङ्गशोभाकरं भवेत् ॥ ४५ ॥
यथा स्थानान्तरगतं भूषणं रत्नसंयुतम् ।

(किन्तु) रत्नों से जटित ये भूषण शरीर के उपयुक्त स्थानों पर विभागपूर्वक धारण (स्थापित) किये जाने पर ही अंगों की शोभा बढ़ाते हैं ॥ ४५ ॥

न तु नाट्यप्रयोगेषु[4] कर्तव्यं भूषणं गुरु ॥ ४६ ॥
खेदं जनयते तद्धि सव्यायतविचेष्टनात् ।
गुरु-भावावसन्नस्य स्वेदो मूर्च्छा च[5] जायते ॥ ४७ ॥

---

१. नखशिख पद से आशय है पैर की महावर तक का भाग जो कि पैरों की शोभा को बढ़ाता है। (अलक्तकरागपर्यन्तमितियावत्—अभि० भारती० पृ० ११६, Vol. III)

२. कला और शिल्प शास्त्र पर विश्वकर्मा प्रणीत प्रामाणिक आगमग्रन्थ माना जाता था जिसका भरत ने (यहाँ) उल्लेख किया है। परन्तु इन विषयों पर विश्वकर्मा प्रणीत (शास्त्र) ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य है।

---

१. कर्ममते—क० (भ०); कर्मोद्भवं कार्यं बुद्ध्या चापि प्रयोजयेत्—ख० ।

२. स्वाधीनं चेच्छया—ख, ग०; चेप्सया चैव—घ० ।

३. विभावतो—ख० । ४. प्रयोगे तु—क० ।

५. प्रजायते—ख०, ग०, घ० ।

६. ना० शा० तृ०

गुर्वाभरणसन्नो हि चेष्टां न कुरुते पुनः।
[1]तस्मात्तनु त्वचकृतं सौवर्णं भूषणं भवेत्॥ ४८॥
[2]रत्नवज्जतुबद्धं वा न खेदजननं भवेत्।

(नाट्य प्रदर्शन की) विविध दशाओं में अधिक या भारी अलंकारों का उपयोग[1] नहीं किया जाए क्योंकि वैसा करने पर अभिनेता या अभिनेत्री द्वारा की जाने वाली आंगिकचेष्टाओं तथा अभिनयादि कार्यों के प्रदर्शन में थकावट (खेद) आ जाती है और (जल्दी से इस थकावट के आने के कारण) भारी भूषणों के धारण करने के कारण शरीर से पसीना निकलने लगता है जिससे कभी कभी पात्र मूर्च्छित भी हो सकते हैं। और भारी अलंकारों को पहिन पर समुचित चेष्टाओं का ठीक से प्रदर्शन भी नहीं हो पाता। अतएव सोने के पतले पतरों से निर्मित भूषणों का नाट्यप्रयोग में उपयोग करना चाहिए। परन्तु 'लाख' से—निर्मित हलके भूषणों को डोरी में बांधकर उन पर रत्नों को जड़ना चाहिए। ऐसे भूषणों के धारण करने पर (नाट्यप्रदर्शन में) अभिनेताओं को अधिक थकावट नहीं आएगी॥ ४६–४८॥

स्वेच्छया भूषणविधिर्दिव्यानामुपदिश्यते॥ ४९॥
[3]यत्न-भाव-विनिष्पन्नं मानुषाणां विभूषणम्।

दिव्य पात्रों के लिए यह भूषणविधान ऐच्छिक है किन्तु मानवों के भूषणों को प्रयत्न–पूर्वक तथा भावानुसार धारण करवाना चाहिए॥ ४९॥

दिव्यानां भूषणविधिर्य एष परिकीर्तितः।
मानुषाणाञ्च कर्त्तव्यो नानादेशसमाश्रयः॥ ५०॥ क॥

इस प्रकार दिव्यपात्रों के अलङ्कारों के धारण करने की मैंने विधि या नियम बतलाये। पर मनुष्य पात्रों के अलङ्कार विभिन्न देशों के आधार पर तदनुसारी रखने चाहिए।

---

१. भरतमुनि ने यहाँ नाट्यनिर्देशक तथा नेपथ्य विभाग के व्यवस्थापक को आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण चेतावनी के रूप में अपने अनुभवपूर्ण सिद्धान्त का संकेत किया है।

---

१. तस्मान्न सम्यक् च कृतं सौवर्णं—ख० ग० घ०।
२. जतुपूर्णल्पिरत्नं तु—ख०।
३. यत्नभावाद्विनिष्पन्ना—घ०; यदभावाद्विनिष्पन्नं—क (ङ)।

भूषणैश्चापि[1] वेषैश्च नानावस्थासमाश्रयैः ॥ ५० ॥
दिव्याङ्गनानां कर्तव्या विभक्तिः [2]स्वस्वभूमिजा ।

अनेक अवस्थाओं में होने वाले वेष तथा भूषणों की विशेषता से मण्डित दिव्य नारियों (की भूमिका) के विभाग करने चाहिए ॥ ५० ॥

विद्याधरीणां यक्षीणामप्सरो नागयोषिताम् ॥ ५१ ॥
ऋषिदैवतकन्यानां वेषैर्नानात्वमिष्यते ।

विद्याधर, यक्षी, नाग, अप्सराएँ, ऋषि तथा देवकन्याओं की वेष-गत विविध विशेषताएँ रखनी चाहिए ॥ ५१-५२ ॥

तथा च सिद्धगन्धर्वराक्षसासुरयोषिताम् ॥ ५२ ॥
दिव्यानां नरनारीणां मानुषीणाम्तथैव[3] च ।

इसी प्रकार सिद्ध, गन्धर्व, राक्षस, असुर, वानर तथा मानव स्त्रियों की भी वेषगत विशेषता रहनी चाहिए ॥ ५२-५३ ॥

शिखापुटशिखण्डं तु मुक्ता भूयिष्ठभूषणम् ॥ ५३ ॥
विद्याधरीणां [4]कर्त्तव्यः शुद्धो वेषपरिच्छदः ।

विद्याधर स्त्रियों का वेष शुभ्रवस्त्रों का हो, वे अनेक मौक्तिक मालाओं को धारण करने वाली हो तथा उनके बालों का जूड़ा (शिखा) बंधा हुआ तथा नोकदार हो [पाठान्तर-उनकी शिखा पर मोतियों की माला लपेटी हुई रहनी चाहिए और बालों का जूड़ा ऊपर बंधा हुआ रहे] ॥ ५३-५४ ॥

[5]यक्षिण्योऽप्सरसश्चैव कार्या रत्नविभूषणाः ॥ ५४ ॥
[6]समस्तासां भवेद्वेषो यक्षीणां केवलं शिखा ।

यक्ष स्त्री तथा अप्सराओं के अलंकार रत्न जटित रहने चाहिए तथा इनके भी विद्याधर स्त्रियों जैसे वस्त्र हों, केवल इनकी शिखा सादी होती है (अर्थात् उनपर मोतियों की माला नहीं बाधी जाती) ॥ ५४-५५ ॥

---

१. भूषणैरपवेष्टैश्च—क (प०) ।
२. स्वनिकायजा—क (भ०) ।
३. तथैव च शिखण्डकम्—क० ।
४. कर्त्तव्यं चित्रवेषपरिच्छदम्—क (च०) ।
५. यक्षिण्यप्सरसाञ्चैव कार्यं रत्नैर्विभूषणम्—ख, ग०, घ० ।
६. यस्त्वासां तु—ख०, ग०; समस्तानां—क (न०) ।

[1]दिव्यानामिव कर्तव्यं नागस्त्रीणां विभूषणम् ॥ ५५ ॥
मुक्तामणिलताप्रायाः[2] फणास्तासान्तु [3]केवलम् ।

नाग स्त्रियों के भूषण भी दिव्यस्त्रियों के समान मोती तथा रत्न जटित रहते हैं परन्तु इन आभूषणों पर 'फण' बना रहता है ॥ ५५–५६ ॥

कार्यन्तु मुनिकन्यानामेकवेणीधरं शिरः ॥ ५६ ॥
न चापि [4]भूषणविधिस्तासां वेषो वनोचितः ।

ऋषि कन्याओं को एक वेणी धारण करना चाहिए । इनको अलंकार नहीं पहनाए जाते तथा वेष भी वन के निवास के अनुरूप अधिक सजावट भरा नहीं होता ॥ ५६–५७ ॥

मुक्ता मरकतप्रायं मण्डनं सिद्धयोषिताम् ॥ ५७ ॥
तासाञ्चैव तु कर्त्तव्यं पीतवस्त्रपरिच्छदम् ।

सिद्ध स्त्रियों के भूषण मोती तथा मरकत मणियों से जटित होते हैं, इनके वस्त्र पीले रंग के होने चाहिए ॥ ५७–५८ ॥

पद्मरागमणिप्रायं गन्धर्वीणां विभूषणम् ॥ ५८ ॥
[5]वीणाहस्ताश्च कर्तव्याः कौसुम्भवसनास्तथा ।

गन्धर्व स्त्रियों के भूषण पद्मराग (लाल) मणि से जटित होते हैं । इनके वस्त्र केशरिया वर्ण के (कौसुम्भवर्ण—) हो तथा ये अपने हाथ में वीणा लिए हों ॥ ५८–५९ ॥

इन्द्रनीलैस्तु कर्तव्यं राक्षसीनां विभूषणम् ॥ ५९ ॥
[6]सितदंष्ट्रा च कर्तव्या [7]कृष्णवस्त्रपरिच्छदम् ।

राक्षस स्त्रियों के आभूषण नीलम के होते हैं । इनके दाँत सफेद तथा वस्त्र नीले रंग के रहने चाहिए ॥ ५९–६० ॥

वैडूर्यमुक्ताभरणाः कर्तव्या [8]सुरयोषितः ॥ ६० ॥
शुकपिञ्छनिभैर्वस्त्रैः कार्यस्तासाम्परिच्छदः ।

---

१. दिव्यवत् सम्प्रकर्तव्यं नागीनां तु विभूषणम्—ख०, ग०, घ० ।
२. मणिलता—प्रायं फलं—ख० ग०; मुक्तामणिगणप्रायं—क (न०) ।
३. केवलाः—क० ।   ४. भूषणं कार्यं तासामत्यर्थतो भवेत्—ख० ।
५. वीणाहस्तश्च कर्तव्यः कौसुम्भवसनस्तथा—क० ।
६. सिता दंष्ट्—ख० ग०, घ० ।   ७. कृष्णवस्त्रपरिच्छदः—ग० ।
८. सुरयोषिताम्—क० ।

देवियों के आभूषण मोती तथा लहसुनिया-(वैदूर्य) मणि जटित होते हैं। इनके वस्त्र तोते की दुम जैसे हरे रंग के होने चाहिए ॥ ६० ॥

पुष्परागैस्तु मणिभिः कचिद्वैडूर्यभूषितैः[1] ॥ ६१ ॥
दिव्यवानरनारीणां कार्यो[2] नीलपरिच्छदः।

दिव्य तथा वानर स्त्रियों के अलंकार कभी पुखराज के और कभी वैदूर्य (लहसुनिया) मणि के होते हैं। इनके वस्त्र नीलेरंग के होने चाहिए ॥ ६१ ॥

एवं श्रृङ्गारिणः कार्या वेषा [3]दिव्याङ्गनाश्रयाः ॥ ६२ ॥
अवस्थान्तरमासाद्य शुद्धाः कार्याः [4]पुनस्तथा।

दिव्य स्त्रियों के इसी प्रकार के वेष रागात्मक दशा में रहते हैं परन्तु अन्य अवस्थाओं में इनके वेष श्वेतवर्ण के ही रखे जाते हैं ॥ ६२ ॥

नारियों के देशानुसारी वेष—

मानुषीणान्तु कर्तव्या नानादेशसमुद्भवाः ॥ ६३ ॥
[5]वेषाभरणसंयोगान् गदस्तान्निबोधत।

किन्तु मानवी नारियों के उनके देश के अनुसार भूषण तथा वेष रखे जाते हूं। अव में उन्हें बतलाया हूं ॥ ६३ ॥

अवन्ती[1] तथा गौड देश की महिलाओं के वेष—

[6]आवन्त्ययुवतीनान्तु शिरस्सालककुन्तलम् ॥ ६४ ॥
गौडीनामलकप्रायं [7]सशिखापाशवेणिकम्।

अवन्ती देश की युवती के सिर लहरदार वालों वाले तथा गौड़ देश की युवती के कभी घुंघराले तथा कभी 'शिखापाश' और 'वेणी' वाले रहने चाहिए ॥ ६४ ॥

---

१. इनमें आए हुए प्रदेशो में अवन्तीदेश से आशय है मध्यप्रदेश में विद्यमान वर्तमान मालव प्रदेश तथा गौड देश उत्तर बंगाल का पडोसी क्षेत्र वाला मालदा प्रदेश है।

---

१. भूषितः—ग०, घ०। २. कार्या नीलपरिच्छदाः—ख०।
३. दिव्याङ्गनासु वा—क (च०), दिव्याङ्गनाश्रियः—ख०।
४. तथैव च—क (म०)।
५. वेषास्त्वाभरणोपेतास्तांश्च सम्यङ् निबोधत—ख०।
६. अवन्तियुवतीनां—ख०। ७. शिखखाप्रायैकवेणिकम्—क (प०)।

आभीर नारी का वेष—

आभीरयुवतीनान्तु द्विवेणिधर[1] एव तु ॥ ६५ ॥
शिरःपरिगमः[2] कार्यो नीलप्रायमथाम्बरम् ।

आभीर जाति की नारी दो वेणियों को धारण करे तथा अपने सर पर नील वर्ण का एक दुपट्टा रखे ॥ ६५-६६ ॥

पूर्वोत्तर प्रदेश की महिलाओं के वेष—

तथा पूर्वोत्तरस्त्रीणां [3]समुन्नद्धशिखण्डकम् ॥ ६६ ॥
[4]आकेशाच्छादनं तासां [5]वेषकर्मणि कीर्तितम् ।

पूर्वोत्तर प्रदेश की नारी अपनी केश-शिखाएँ ऊपर की ओर (समुन्नद्ध) रखे तथा वस्त्र से अपने शरीर को केश तक ढँका रखे ॥ ६७-६७ ॥

दक्षिण प्रदेश की नारी का वेष—

तथैव[6] दक्षिणस्त्रीणां कार्यमुल्लेख्यसंश्रयम् ॥ ६७ ॥
[7]कुम्भीबन्धकसंयुक्तं तथावर्तललाटिकम्[8] ।

दक्षिणदेश की नारी का वेष 'उल्लेख्य' युक्त शरीर [1]'कुम्भी-बन्धक' को सिरे के ऊपर तथा 'आवर्त्त' को ललाट पर रखे हुए रहता है ॥ ६७-६८ ॥

गणिकानान्तु कर्तव्यमिच्छाविच्छित्तिमण्डनम् ॥ ६८ ॥
देशजातिविधानेन[9] शेषाणामपि[10] कारयेत् ।
वेषं तथा चाभरणं [11]क्षुरकर्म परिच्छदम्[12] ॥ ६९ ॥

---

१. कुम्भीबन्धक=एक प्रकार का गोल जूड़ा । उल्लेख=एक विशेष प्रकार से शरीर का गुदना ।

---

१. धरमेव च—ख, ग०, घ ।
२. परिगमप्रायो – ग०, परिगतं कार्यं—क (ढ़) ।
३. समुद्धृत—ग०; समुद्धत—क (च); समुद्बद्ध—क (प०) ।
४. आकेशं छादनं—ख०, ग० घ०; आकेशधारणं—क (प०) देश कर्मणि—क० ।
५. तथा च—क (च) । ६. संज्ञितम्—ख, ग, घ० ।
७. पदक—ख० ग० घ०; पथक—क (च०) ।
८. ललाटकम्—क (न) । ९. विशेषेण—घ० ।
१०. देशानाम्—ग० । ११. नानावस्थान्तराश्रयम् क (भ०) ।
१२. अतः परं—'आगमञ्चापि नेपथ्ये नाट्यस्यैवं प्रयोजयेत् ।' इति क—पुस्तकेऽधिकम् ।

गणिकाओं का अपनी रुचि के अनुसार अलंकारों से अलंकृत स्वरूप रखा जाए। इसी प्रकार शेष पात्रों का अपनी जाति तथा देश की विशेषता से युक्त वेश, अलंकार, बालों का रखना या उन्हें काटना आदि रहना चाहिए ॥ ६८-६९ ॥

अलंकारों का उचित स्थान पर धारण शोभावह हो—

[1]अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
[2]मेखलोरसि बद्धा तु हास्यं समुपपादयेत् ॥ ७० ॥

अलंकारों को अपने उचित स्थानों पर धारण न करने से शोभा नहीं होती, जैसे मेखला को छाती पर रखने से वह 'हास्य' की सृष्टि ही करेगी ॥ ७० ॥

अवस्था के अनुरूप नारियों के वेष—

तथा [3]प्रोषितकान्तासु व्यसनाभिहतासु च।
[4]वेषो वै मलिनः कार्य एकवेणीधरं शिरः[5] ॥ ७१ ॥

जो स्त्रियाँ प्रोषितभर्तृका या दुःख से आक्रान्त दशा में हों उनका वेष मलिन तथा मस्तक पर एक वेणी रहनी चाहिए ॥ ७१ ॥

विप्रलम्भे तु[6] नार्यास्तु शुद्धो वेषो भवेदिह।
[7]नात्याभरणसंयुक्तो न चापि [8]मृजयान्वितः ॥ ७२ ॥

'विप्रलम्भ' दशा में स्त्रियों का शुभ्रवेष हो तथा इनके शरीर पर अधिक आभूषण न पहनाए जाएं और इनका शरीर साफ-सुथरा न रहे ॥ ७२ ॥

एवं स्त्रीणां भवेद्वेषो[9] देशावस्थासमुद्भवः।
पुरुषाणां पुनश्चैव वेषान् वक्ष्यामि[10] तत्वतः ॥ ७३ ॥

स्त्रियों के अवस्था तथा प्रकृति के अनुसार इसी प्रकार वेष रखने चाहिए। अब मैं पुरुषों के (उचित) वेषों को बतलाता हूँ ॥ ७३ ॥

१. अदेशयुक्तो वेषो हि—क०।
२. मेखलोरसिबन्धे च हास्यायैवोपजायते—ख०, ग०, घ०।
३. कान्ता या व्यसनाभिहताश्च याः—ख, ग०, घ०।
४. वेषः स्यान्मलिनस्तासामेक—ख०, ग०, घ०।
५. शिरश्चाप्येकवेणिकम्—क (च०)। ६. हि—ग०।
७. नानाभरण—ग०। ८. हि मृदायुतः—क (न०)।
९. प्रयोक्तव्या—ग०; प्रयोक्तव्या वेषा देशसमुद्भवाः—क (च)।
१०. वक्ष्याम्यतः परम्—परम्—क (भ०)।

अंगरचना—

तत्राङ्गरचना पूर्वं कर्तव्या नाट्ययोक्तृभिः ।
ततः[1] परं प्रयोक्तव्या वेषा देशसमुद्भवाः ॥ ७४ ॥

पुरुषों के वेष में सर्व प्रथम नाट्यनिदेशक द्वारा उनके अंगों को वर्णों—(उचित रंगों) से रंगना चाहिए (और) फिर उन्हें अपनी प्रकृति तथा कार्य के अनुसार वेष धारण करवाना चाहिए ॥ ७४ ॥

वर्णों के (कार्य तथा) स्वरूप—

सितो नीलश्च पीतश्च चतुर्थो रक्त एव च ।
एते स्वभावजा वर्णा यैः कार्यन्त्वङ्गवर्तनम् ॥ ७५ ॥

चार स्वाभाविक (तथा मुख्य) रंग होते हैं—सफेद, नीला (काला), पीला तथा लाल । इन्हीं रंगों से पात्रों के शरीरों को रंगा जाता है ॥ ७५ ॥

संयोगजाः [2]पुनश्चान्ये उपवर्णा भवन्ति हि ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा [3]कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ ७६ ॥

इसके अतिरिक्त कुछ मिश्रण से बनने वाले और रंग भी हैं जो संयोगज वर्ण (मिश्रितरंग) कहलाते हैं । मैं उन्हें भी बतलाता हूँ क्योंकि नाटक में इनका भी प्रयोग किया जाता है ॥ ७६ ॥

[4]सितपीतसमायोगात् पाण्डुवर्णः प्रकीर्तितः ।
सितनीलसमायोगे[5] [6]कारण्डव इति स्मृतः ॥ ७७ ॥

सफेद तथा पीले रंग के मिश्रण से 'पाण्डु' रंग तथा सफेद और नीले-रंग के मिश्रण से घटेरिया (कपोत) रंग बनता है ॥ ७७ ॥

सितरक्तसमायोगे[7] पद्मवर्णः प्रकीर्तितः ।
पीतनीलसमायोगाद्धरितो नाम जायते ॥ ७८ ॥

सफेद तथा लाल रंग के मिश्रण से गुलाबी (पद्म) रंग तथा नीले और पीले रंग के मिश्रण से हरा (हरित या सुआपंखी) रंग बन जाता है ॥ ७८ ॥

---

१. अतः परं—क (भ०), घ० । २. स्त्वन्ये—ख (मू०) ।
३. कार्याः—ख० । ४. नील समा—ख०, ग० ।
५. समायोगात्—घ० ।
६. कापोत इति संज्ञितः—क (न); कापोतक इति—क (ग०) ।
७. योगात् पद्मवर्ण इति स्मृतः—ख०, घ० ।

नीलरक्तसमायोगात् कषायो नाम जायते।
रक्तपीतसमायोगाद् [1]गौरवर्ण इति स्मृतः ॥ ७९ ॥

नीले और लाल रंग के मिश्रण से कत्थई (गहरा लाल, कषाय) तथा लाल और पीले रंग के मिश्रण से गौर रंग बनाया जाता है ॥ ७९ ॥

एते संयोगजा वर्णा ह्युपवर्णास्तथा[2] परे।
त्रिचतुर्वर्णसंयुक्ता बहवः सम्प्रकीर्तिताः[3] ॥ ८० ॥

ये रंग दो रंगों के मिश्रण से होने वाले रंग हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वर्ण [1]'उपवर्ण' कहलाते हैं, जो इन स्वाभाविक या मिश्रित रंगों में दो, तीन, चार या अनेक रंगों की मिलावट से बनते हैं ॥ ८० ॥

बलस्थो यो भवेद्वर्णस्तस्य [4]भागो भवेत्ततः।
दुर्बलस्य च द्वौ भागौ [5]नीलं मुक्त्वा प्रदापयेत् ॥ ८१ ॥
नीलस्यैको [6]भवेद्भागश्चत्वारोऽन्ये तु वर्णके।
[7]बलवान् सर्ववर्णानां नील एव प्रकीर्तितः ॥ ८२ ॥

इन रंगों में जो गहरा रंग हो उसका एक भाग तथा जो हलके रंग हो उनके दो भाग लिए जाएं। परन्तु 'नीले रंग का एक भाग रहने पर शेष वर्णों के तीन या चार भाग लेना चाहिए; क्योंकि रंगों में नीला रंग सब रंगों से अधिक गहरा (बलवान्) होता है ॥ ८१-८२ ॥

---

१. संयोग या मिश्रण से बनने वाले रंगों का यहाँ उपयोगी विवरण दिया गया है। जिसके अनुसार दो रंगों से मिलकर बनने वाले संयोगजवर्ण या मिश्ररंग कहलाते हैं किन्तु यदि अनेक रंगों को मिलाकर एक विशिष्ट रंग बनाया जाए तो वह 'उपवर्ण' कहलाएगा।

---

१. गौर इत्यभिधीयते—ख०, ग० घ०।
२. स्तथैव च—क (न०)।
३. परिकीर्तिताः—ख०, ग०, घ०।
४. भावो—क (न०); भावस्तस्य विधीयते—क (भ०)।
५. नीलमुक्तं—ख०, ग०; नीलयुक्त्या—क (न०), नीलवर्णाद् ऋते भवेत्—क (ज)।
६. अन्यस्त्वेकश्च निश्चितः—क (भ)।
७. वर्णस्य तु बलीयस्त्वं नीलस्यैवं हि कीर्त्यते—ख (क)।

एवं वर्णविधिं ज्ञात्वा नानासंयोगसंश्रयम्[1] ।
[2]ततः कुर्याद् यथायोगमङ्गानां वर्तनं बुधः ॥ ८३ ॥

रंगों की इस विधि को जानते हुए (जो मिश्रण तथा स्वाभाविक रंगों की वर्णित है) फिर पात्रों के शरीर को उनकी भूमिका के अनुसार रंगना चाहिए ॥ ८३ ॥

वर्तनाच्छादनं[3] रूपं स्ववेषपरिवर्जितम्[4] ।
[5]नाट्यधर्मप्रवृत्तन्तु ज्ञेयं तत् प्रकृतिस्थितम् ॥ ८४ ॥
[6]स्ववर्णमात्मनश्छाद्यं [7]वर्णकैर्वेषसंश्रयैः ।
[8]आकृतिस्तस्य[9] कर्त्तव्या यस्य[10] [11]प्रकृतिरास्थिता ॥ ८५ ॥
यथा जन्तुः[12] स्वभावं स्वं परित्यज्यान्यदैहिकम्[13] ।
[14]तत्स्वभावं हि भजते देहान्तरमुपाश्रितः ॥ ८६ ॥
वेषेण [15]वर्णकैश्चैव च्छादितः पुरुषस्तथा ।
परभावं[16] प्रकुरुते यस्य वेषं समाश्रितः[17] ॥ ८७ ॥

शरीर को रंगकर उसके स्वाभाविक रूप को ढंकना नाट्यधर्म की परम्परा के अनुसार नाटकीय पात्रों पर लागू होती है। क्योंकि ये जिस भूमिका को धारण करते हैं उसी के अनुसार इनके शरीर को रखा जाता है। यह वैसा ही है जैसे आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करती है

---

१. सम्भवम्—ख०, ग०, घ० ।
२. ततस्तु वर्तना कार्या नानारूपसमाश्रया—ख०, ग०, घ० ।
३. च्छादितं रूपं—ख०, ग० । ४. परिवर्तितम्—ख० ।
५. नाट्यधर्मप्रवृत्तेन—ख, ग०, नाट्यधर्मीप्रवृत्तेन—घ० ।
६. सवर्णमात्मनश्चान्यं—ख०, ग० ।
७. वर्णजैः—ग; वर्णज्ञैः—क (ज०) । ८. प्रकृतिर्वाऽस्य—ग० ।
९. यस्य—क (ज) । १०. तस्य—क (ज) ।
११. प्रकृतिमास्थिता—ख० ।
१२. नरः—ख०; जीवः—क (न) ।
१३. ज्यान्यदेहजम्—ख०, ग०, घ० ।
१४. परभावं प्रकुरुते भूतदेहसमाश्रयम्—ख०, ग०, घ० ।
१५. वर्णकैश्चैव वेषैश्च—ग०, घ० ।
१६. परप्रभावं कुरुते—ग०; पराभवं (भावं)—ख० ।
१७. वेषमुपाश्रितः—क (ज) ।

तब जैसे वह दूसरी अवस्था[1] में हो ऐसी बन जाती है। इसी प्रकार रंग तथा वस्त्रों से आच्छादित शरीर-वाला यह पात्र भी जिसकी भूमिका धारण करता है उसी के भावों, आचारों तथा चेष्टाओं का अनुसरण करता है तथा वही बन जाता है ॥ ८४-८७ ॥

प्राणिसमुदाय—

देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः ।
[1]प्राणिसंज्ञाः स्मृता ह्येते जीवबन्धाश्च येऽपरे ॥ ८८ ॥

नाटक में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा सर्पों को प्राणी कहा जाता है क्योंकि ये सांस लेते हैं ॥ ८८ ॥

[[2]स्त्री-भावाः पर्वताः नद्यः समुद्रा वाहनानि च ।
नानाशस्त्राण्यपि तथा विज्ञेया प्राणिसंज्ञया[3] ॥]

प्रक्षिप्तः—इसी प्रकार स्त्री वेश धारिणी नदी, पर्वत, समुद्र, वाहन तथा अनेक शस्त्र भी (कथावस्तु या नाटक की आवश्यकतानुसार) प्राणि-वर्ग में समाविष्ट किये जाते हैं ॥ ८८-क ॥

अजीव (जड़) पदार्थ—

शैलप्रासादयन्त्राणि चर्मवर्मध्वजास्तथा ।
नानाप्रहरणाद्याश्च तेऽप्राणिन इति स्मृताः ॥ ८९ ॥

पर्वत, महल, यन्त्र (फव्वारे आदि), ढाल, ध्वज तथा अन्य विविध शस्त्रादि 'अजीव' पदार्थ माने जाते हैं ॥ ८९ ॥

अथवा कारणोपेता भवन्त्येते शरीरिणः ।
[4]वेषभाषाश्रयोपेता नाट्यधर्ममवेक्ष्य तु ॥ ९० ॥

---

१. अभिनेता अपनी भूमिका को जब अतिशय तादात्म्य भाव से प्रस्तुत करता है तो वह अपने विषय तथा स्वरूप से विस्मृत हो जाता है। यही अभिनय-कला की उत्तम परिणति भी है कि वह पात्र अपनी भूमिका को निष्ठा-पूर्वक निर्वाह करें।

---

१. ते प्राणिन इति प्रोक्तो जीवबन्धाश्च येत्विह—ख० ।

२. पद्यमेतत्—ख. घ० पुस्तकयोः नास्ति ।

३. संश्रयाः—ग० ।

४. देशमाश्रयोपेतं—क (भ०) ।

या फिर आवश्यकतानुसार ये भी नाट्यधर्मी विधान के अनुसार उचित वेष, रंग तथा संभाषण द्वारा मानवीय[1] रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं ॥ ९० ॥

वर्णानान्तु विधिं ज्ञात्वा वयः[1] प्रकृतिमेव च ।
कुर्यादङ्गस्य रचनां देशजातिवयःश्रिताम्[2] ॥ ९१ ॥

रंगों के नियम तथा मिश्रण आदि को समझते हुए पात्रों के अंगों को प्रकृति, वय, (अवस्था) देश तथा जाति के अनुरूप रंगना चाहिए ॥ ९१ ॥

दिव्यपात्रों के नियत वर्ण—

देवा गौरास्तु विज्ञेया[3] यक्षाश्चाप्सरसस्तथा ।
[4]रुद्रार्कद्रुहिणस्कन्दास्तपनीयप्रभाः[5] स्मृताः ॥ ९२ ॥

देवता, यक्ष और अप्सराओं को गौर वर्ण में रखना चाहिए तथा रुद्र, अर्क (सूर्य), द्रुहिण (ब्रह्मा) और स्कन्द जैसे देव-पात्रों के शरीरों का सुनहरी रंग रखा जाए ॥ ९२ ॥

सोमो बृहस्पतिः शुक्रो [6]वरुणस्तारका गणाः ।
समुद्रहिमवद्गङ्गाः [7]श्वेता हि स्युर्बलस्तथा ॥ ९३ ॥

सोम (चन्द्र) बृहस्पति, शुक्र, वरुण, नक्षत्र, सागर, हिमालय, गंगा तथा बलराम का वर्ण श्वेत रखा जाए ॥ ९३ ॥

रक्तमङ्गारकं विद्यात् पीतौ बुधहुताशनौ ।
नारायणो नरश्चैव [8]श्यामो नागश्च वासुकिः ॥ ९४ ॥

मंगल ग्रह (अंगारक) को लाल, बुध और अग्नि को पीला तथा

---

१. शैल प्रासाद आदि को किन्हीं विशेषकारण अर्थात् कथावस्तु में विचित्रता से ग्रथित परिस्थिति के परिणाम-स्वरूप मानवीय आकार देकर नाट्यधर्मी परम्परा के आधारपर पात्रों को मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है परन्तु यह सामान्य नियम नहीं है ।

---

१. तथा—ख० । २. समाश्रिताम्—क (न०)
३. कर्तव्या—ख० । ४. रुद्राः सद्रुहिणस्कन्दाः—ख० ।
५. तपनीयसमप्रभाः—ख, ग०, घ० ।
६. वरुणोऽथ शिवस्तथा—क (ज) ।
७. समुद्रो हिमवान् गङ्गा श्वेता कार्यास्तु वर्णतः—ख०, ग० ।
८. श्यामवर्णोऽथ—ख० ।

नारायण, नर को श्याम वर्ण और वासुकी (आदि नागों) को काला रंग देना चाहिए ॥ ९४ ॥

यक्ष आदि के वर्ण—

दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसा गुह्यका नगाः ।
पिशाचा [1]जलमाकाशमसितानि[2] तु वर्णतः ॥ ९५ ॥

दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक (यक्ष), पिशाच, पर्वत के अधिदेवता (नग), जल-तथा आकाश नामधारी पात्रों को नीले रंग में रखा जाए ॥ ९५ ॥

नानावर्णा स्मृता यक्षा गन्धर्वा भूतपन्नगाः ।
विद्याधराः सपितरो वानराश्च[3] तथैव हि[4] ॥ ९६ ॥

तथा यक्ष, गन्धर्व, भूत, पन्नग (सर्प), विद्याधर, पितर तथा वानरों को विभिन्न रंगों में (भी) रखा जा सकता है ॥ ९६ ॥

मानव वर्ण—

भवन्ति[5] षट्सु द्वीपेषु पुरुषाश्चैव वर्णतः ।
कर्त्तव्या [6]नाट्ययोगेन निष्टप्त-कनकप्रभाः ॥ ९७ ॥

सातों द्वीपों में रहने वाले मनुष्यों के रंग तपे हुए सोने के समान गौर वर्ण के—उनकी (नाट्य) भूमिका तथा प्रकृति के अनुकूल—रखे जाए ॥ ९७ ॥

जम्बुद्वीपस्य वर्षे[7] तु नानावर्णाश्रया नराः ।
[8]उत्तरांस्तु कुरूँस्त्यक्त्वा[9] ते चापि कनकप्रभाः ॥ ९८ ॥

पर इनमें [1]जम्बू-द्वीप में रहने वाले मनुष्यों के अनेक वर्ण रहें जहाँ अनेक वर्णों के मनुष्य विद्यमान हैं—इनमें भी जो कुरू देश के निवासी हैं उनको छोड़कर शेष सभी व्यक्तियों का सुनहरी रंग रखा जाए ॥ ९८ ॥

---

१. जम्बुद्वीप का विस्तार वर्तमान 'एशिया' समझना चाहिए । इसका 'वर्ष' या एक भाग वह देश है जिसे वर्तमान में संभवतः 'ईरान' कहते हैं ।

---

१. यम आकाशं—ख, ग०, घ० ।
२. श्यामवर्णास्तु वर्णतः—ख० घ० । ३. मानवाश्च—ख० ।
४. पद्यमेतत् क०पुस्तके नास्ति ।
५. वसन्ति सप्तद्वीपेषु ये नरा वर्णतस्तु ते—ख०, ग०, घ० ।
६. नाट्यतत्वज्ञैः—ख०, ग०, घ० । ७. वर्षे ये—ख०; वर्षेषु—घ० ।
८. उत्तराः कुरवो ये च—क (भ०) । ९. मुक्त्वा—क (म०) ।

[1]भद्राश्वपुरुषाः [2]श्वेताः कर्त्तव्या वर्णतस्तथा ।
केतुमाले[3] नरा नीला गौराः[4] शेषेषु कीर्तिताः ॥ ९९ ॥

[1]भद्राश्व देश के निवासी श्वेतवर्ण के रखे जाएँ। इसी प्रकार केतुमाल देश के निवासी नीले रंग (पाठान्तर-केतुमाल देश के निवासी श्वेत) के (और) शेष देशों के मनुष्यों को गौर (गुलाबी) वर्ण के रखे जाएं ॥ ९९ ॥

नानावर्णाः स्मृता भूता [5]वामना विकृताननाः ।
[6]वराहमेषमहिषमृगवक्त्रास्तथैव च ॥ १०० ॥

भूतों तथा वामन बौने) मनुष्य के अनेक रंग रहते हैं। इनमें भूतों के चेहरे विकृत या वराह, बकरा, भैंसा, हरिण के चेहरों जैसे रहने चाहिए। (या इन्हें ये चेहरे लगाने चाहिए) ॥ १०० ॥

भारतीय मानवों के रंगः—

पुनश्च भारते वर्षे[7] तांस्तान् वर्णान् निबोधत ।
राजानः [8]पद्मवर्णास्तु गौराः श्यामास्तथैव च ॥ १०१ ॥
ये चापि सुखिनो मर्त्या गौराः कार्यास्तु वै बुधैः ।
कुकर्मिणो ग्रहग्रस्ताः व्याधितास्तपसि स्थिताः ॥ १०२ ॥
[9]आयस्तकर्मिणश्चैव [10]ह्यसिताश्च कुजातयः ।

---

१. भद्राश्व आदि देश इसी जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती एशियाई देश हैं।

---

१. भद्राश्च—ख०; भद्राश्वे—क (न०)।
२. ज्ञेया श्वेतास्ते वर्णतो बुधैः—क (भ०)।
३. केतुमालास्तथा श्वेता—क (ड); केतुमालाः पुनर्नीलाः—क (भ)।
४. श्वेता गौरा भवन्ति हि—क (प०)।
५. गन्धर्वा यक्षपन्नगाः—क०।
६. विद्याधरास्तथा चैव पितरस्तु समा नराः—क०।
७. सम्यक्—क (भ०)।
८. वर्णाः स्युः—थ०, पञ्चवर्णाः स्युः—ग०।
९. अयज्ञकर्मिणश्चैव—ख०।
१०. कुजाताश्चासिताः स्मृताः—क (ढ)।

[1]ऋषयश्चैव कर्तव्या [2]नित्यन्तु बदरप्रभाः ।
[3]तपःस्थिताश्च ऋषयो [4]नित्यमेवासिता बुधैः ॥ १०३ ॥

अब भारतवर्ष के निवासी मनुष्यों के रंग बतलाता हूँ। राजाओं का रंग गुलाबी, श्याम या गौर रखें जाए। इसी प्रकार जो सुखी मनुष्य हों उनका वर्ण गौर रखा जाए। जो मनुष्य कदाचारी, भूत-प्रेत की बाधा वाले, बीमार, तपस्या में लीन, मशक्कत के काम करने वाले (श्रमिक, [1]आयस्त-कर्मी), काले-कलूटे, नीच जाति के हों उन्हें भूरे (मटमैला-असित) रंग का रखा जाए। ऋषियों का रंग केशरिया (बदरप्रभ) रखा जाए परन्तु तपस्वी मुनिजन या ऋषियों का रंग घटेरी (कपोत वर्ण = असित) रखना चाहिए ॥ १०१–१०३ ॥

कारणव्यपदेशेन [5]तथा चात्मेच्छया पुनः ।
[6]वर्णस्तत्र प्रकर्तव्यो देशजातिवयानुगः ॥ १०४ ॥
देशं [7]कर्म च जातिश्च [8]पृथिव्युद्देशसंश्रयम् ।
विज्ञाय [9]वर्तना कार्या पुरुषाणां प्रयोगतः ॥ १०५ ॥

परन्तु (किसी) कारण या अपेक्षावश या किसी की इच्छा होने पर उनके देश, जाति तथा स्वभाव के अनुकूल उनके रंग रखना चाहिए। नाट्य-निर्देशक पात्रों के देश, कर्म, जाति तथा पृथिवी के प्रदेश आदि का ज्ञान रखते हुए उनके शरीर को रंगवाए ॥ १०४–१०५ ॥

---

१. आयस्त शब्द का अर्थ है ऐसे कार्य जिसमें शरीर तथा मन को अधिक आयास करना पड़े। कुजाति का अर्थ है डोम्ब, धीवर आदि छोटी जातियाँ।

---

१. औषध्यश्चापि—क (भ०)।
२. नित्यं बदरवर्णिनः—क (न०)।
३. तपस्विनश्च कर्तव्या—क (भ०)।
४. नित्यमेतावता—ख०।
५. न तथात्मेच्छया—ख०; तथाध्यात्मेच्छयाऽपि च—क (भ०)।
६. स्त्वन्योऽपि कर्तव्यो देशजातितपोऽनुगः—ख; त्वन्यः प्रयोक्तव्यो देशजातिवयःश्रितः—घ०।
७. कालञ्च—ख०।
८. पृथिव्युद्देशमेव च—ख०, घ०।
९. वर्तनां कुर्यात् पुरुषाणां प्रयोगवित्—ग०।

विभिन्न जनजाति तथा अनुसूचित जनजाति के वर्णः—

किरातबर्बरान्ध्राश्च [1]द्रविडाः [2]काशिकोसलाः ।
पुलिन्दा दाक्षिणात्याश्च [3]प्रायेण त्वसिताः स्मृताः ॥ १०६ ॥
शकाश्च यवनाश्चैव [4]पह्लवा वाह्लिकाश्च ये ।
प्रायेण गौराः [5]कर्त्तव्या उत्तरां ये श्रिता दिशम् ॥ १०७ ॥
पाञ्चालाः [6]शौरसेनाश्च [7]माहिषाश्चौढ्रमागधाः ।
अङ्गा बङ्गाः कलिङ्गाश्च श्यामाः कार्यास्तु वर्णतः ॥ १०८ ॥

[1]किरात, बर्बर, आन्ध्र, द्रमिल, काशी, कोशल, पुलिन्ध्र[1] तथा दाक्षिणात्य मनुष्यों का रंग अधिकांश में काला रखा जाए (असित-सफेद गौर नहीं) शक, यवन, पहलव (पल्हव), वाह्लिक (वाहीक, वाल्हीक) तथा उत्तर दिशा के अन्य निवासी जन का रंग गौर रखना

---

१. किरात = एक पहाड़ी जनजाति जो हिमालय के संभाग में रहती है। बर्बर = सम्भवतः म्लेच्छ जाति के समकक्ष एक जाति। अन्ध्र = आन्ध्र देश के निवासी। द्रमिल—आधुनिक तामिल के निवासी जन। काशी = वाराणसी राज्य के निवासी। कोसल = प्राचीन कोसलराज्य के निवासी। पुलिन्ध्र = विन्ध्य के पहाड़ी क्षेत्र में रहने वाली जाति। (शबर भील, आदि)। शक = मध्य एशिया की एक पहाड़ी यायावर (विचरणशील) जाति जिसने भारतीय सीमा पर अपने राज्य स्थापन का उद्योग ई० पू० २०० में कर दिया था। मनुस्मृति में (१०।४४) शकों का उल्लेख मिलता है। यवन = यूनान के निवासी। पहलव = पार्थियन जाति जो पश्चिमी पंजाब में ई० पू० १४० के लगभग मिलकर बसी थी। वाल्हीक = वल्ख संभाग के निवासी। पंचाल = मध्यवर्तीदेश। द्रुपद का राज्य यमुना और गंगा का मध्यवर्ती देश। शौरसेन = मथुरा के निवासी। उढ्र = (औढ्र) = एक जनजाति जो वर्तमान उड़ीसा में रहतीं थी। अंग = बिहार में आधुनिक भागलपुर के समीप प्राचीन राज्य। वंग = पूर्वी बंगाल प्रदेश।

---

१. द्रमिलाः—घ०। २. काञ्चि—क (भ०)।
३. प्रायशो वर्णतोऽसिताः—क (भ)।
४. पह्लवा वह्लिकादय—ग०, घ०।
५. विज्ञेया उत्तरान्चाश्रिता—क (भ०)।
६. शूरसेनाश्च—ख०, ग०।
७. तथा चैवोढ्र—ग०, घ०; महिषाश्चौढ्र—क (न०)।

चाहिए। पांचाल, शौरसेन, माहिष, मगध, अंग, वंग, तथा कलिंग देश के निवासी को श्याम वर्ण के रखना चाहिए[1] ॥ १०६-१०८ ॥

विभिन्न वर्णों के रंगः—

ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव [1]गौराः [2]कार्यास्तथैव हि।
वैश्याः शूद्रास्तथा चैव श्यामाः कार्यास्तु वर्णतः ॥ १०९ ॥

[1]ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के वर्ण गौर और वैश्य तथा शूद्रों के श्याम वर्ण रखे जाएं ॥ १०९ ॥

श्मश्रु-कर्मः—

एवं कृत्वा यथान्यायं [3]मुखाङ्गोपाङ्गवर्तनाम्[4]।
श्मश्रुकर्म प्रयुञ्जीत [5]देशकालवयोऽनुगम् ॥ ११० ॥

पात्रों के (इस प्रकार) विधिवत् मुख तथा शरीर के विभिन्न प्रदेशों को रंगने के पश्चात् स्थान, अवस्था तथा समय के अनुरूप उन्हें दाढ़ी मूंछ लगाना चाहिए ॥ ११० ॥

श्मश्रु-(मूंछ) के रूपः

[6]शुक्लं विचित्रं श्यामञ्च तथा रोमशमेव च।
भवेच्चतुर्विधं श्मश्रु [7]नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ १११ ॥

मनुष्यों के अवस्था के परिवर्तनवश मूंछों के चार भेद होते हैं-शुक्ल,[2] श्याम, विचित्र तथा रोमश ॥ १११ ॥

---

१. ब्राह्मण और क्षत्रिय के गौरवर्ण तत्कालीन जातियों की शारीरिक वर्णस्थिति या उनके चमड़े के रंग की भी निर्देशिका है। यहां वैश्य जाति को परिश्रमी जाति होने के कारण तथा दोनों वर्णों से हीन होने के कारण ही कालावर्ण दिया गया है जो वैश्य जाति की तत्कालीन स्थिति का निदर्शक है।

२. शुक्ल (शुद्ध) = मूंछों को सफाचट रखना। श्याम = काली मूंछे। विचित्र = काटकर या और किसी प्रकार की विशेषता से पूर्ण रूप में रखना। रोमश = स्वाभाविकरूप में बढ़ी और फैली हुई रखना।

---

१. रक्ताः—ग०। २. सदैव हि—ख०।
३. अङ्गोपाङ्गेषु वर्तनाम्—क (च); मुखाङ्गोपाङ्गवर्णनम्—ख, ग०।
४. वर्तनम्—घ०। ५. देशकर्मक्रियानुगम्—क (ङ)।
६. शुद्धं—क०। ७. नानावस्थान्तराश्रयम्—ख०, ग०, घ०।

१० ना० शा० तृ०

[1]शुक्लन्तु लिङ्गिनां कार्यं तथामात्यपुरोधसाम् ।
मध्यस्था ये[2] च पुरुषा ये च दीक्षां समाश्रिताः ॥ ११२ ॥
दिव्या ये पुरुषाः केचित् सिद्धविद्याधरादयः ।
[3]पार्थिवाश्च कुमाराश्च ये च राजोपजीविनः[4] ॥ ११३ ॥
शृङ्गारिणश्च ये मर्त्या [5]यौवनोन्मादिनश्च ये ।
तेषां विचित्रं कर्त्तव्यं [6]श्मश्रु नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ ११४ ॥

-'शुक्ल-श्मश्रु'-संन्यासी, मंत्री, पुरोहित, मध्यस्थ[1] तथा दीक्षित (किसी दीक्षा ग्रहण करनेवाले) व्यक्ति की मूंछे शुद्ध (शुक्ल = साफ) रखी जाए। नाट्य निर्देशक को सिद्ध, विधाधर, राजा, राजकुमार, युवराज, राजसेवक, छली (शृंगारी) और [2]यौवन के अभिमानी पात्रों की मूंछे 'विचित्र' स्वरूप में रखना चाहिए ॥ ११२-११४ ॥

अनिस्तीर्णप्रतिज्ञानां दुःखितानां तपस्विनाम् ।
व्यसनाभिहताश्च श्यामं श्मश्रु [7]प्रयोजयेत् ॥ ११५ ॥

प्रतिज्ञा को (परिस्थितिवश या समय के विपरीत होने के कारण) पूर्ण न करने वाले, दुःखी, तपस्वी तथा किसी आपत्ति के मारे पात्र की मूंछें श्याम (बढ़ी हुई) रखनी चाहिए ॥ ११५ ॥

[8]ऋषीणां तापसानाञ्च ये च दीर्घव्रता नराः ।
[9]तथा च चीरबद्धानां रोमशं श्मश्रु कीर्तितम् ॥ ११६ ॥

---

१. मध्यस्थ = अर्थात् जो न ब्रह्मचारी हो न वानप्रस्थी किन्तु इनके बीच की दशा के भिक्षुक हों (गृहस्थ-साधु) और जो सर मुड़ा कर भीख मांगते हों।

२. यौवन के अभिमानी अर्थात् युवावस्था में विद्यमान अमात्य तथा पुरोहित की भी वैसी ही अर्थात् विचित्र रूपवाली मूंछे रखी जाएं— (अभि० भा०)।

---

१. शुद्धन्तु—क०।
२. चैव पुरुषाः स्थानीयाश्चैव ये पुनः—क (न.)।
३. नृपतीनां कुमाराणां—ग०। ४. राजोपसेविनः—क (न)।
५. नोन्मादिताश्च ये—क (भ०)।
६. श्मश्रुकर्मप्रयोक्तृभिः—क (भ०)।
७. भवेदथ—क (न०); भवेत्तदा—ग०, घ०।
८. मुनीनां—क (भ०)।
९. सिद्धविद्याधराणाञ्च रोमशस्तुविधीयते—ख०। तथा च वैरबद्धानां-घ०।

जो ऋषि, तपस्वी, दीर्घकालीन व्रत को लिए हुए तथा वल्कल चीरधारी (मुनि) हो उनकी 'रोमश' मूंछे रखनी चाहिए ॥ ११६ ॥

एवं नानाप्रकारन्तु [1]श्मश्रु कार्यं प्रयोक्तृभिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेषान् [2]नानाप्रयोगजान्[3] ॥ ११७ ॥

इस प्रकार नाटक में अनेक प्रकार की मूंछे पात्रों को लगानी चाहिए । अब मैं अनेक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले (पात्रों के) वेषों को बतलाता हूँ ॥ ११७ ॥

विभिन्न वेष के प्रभेदः—

शुद्धो विचित्रो मलिनस्त्रिविधो वेष उच्यते ।
तेषां [4]नियोगं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ११८ ॥

(यद्यपि पात्रों का शरीर अनेक रंगों से रंगा जाता है परन्तु) वेष के तीन भेद माने जाते हैं । शुद्ध, विचित्र, तथा मलिन (शुद्ध = सफेद, विचित्र = लाल, मलिन) अब मैं इनका विभाग पूर्वक कार्यविधान बतलाता हूं, जो नाट्यनिर्देशकों को व्यवहार में लाना चाहिए ॥ ११८ ॥

देवाभिगमने चैव [5]मङ्गले नियमस्थिते ।
तिथिनक्षत्रयोगे च विवाहकरणे तथा ॥ ११९ ॥
धर्मप्रवृत्तं यत्[6] कर्म स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ।
[7]वेषस्तेषां भवेच्छुद्धो ये च [8]प्रायत्निका नराः ॥ १२० ॥

देवमन्दिर में जाने तथा मांगलिकविधि के अनुष्ठान के समय या तिथिनक्षत्र के योग पूछने या विवाह के अवसर पर तथा किसी धार्मिक

---

१. श्मश्रुकर्म प्रयोजयेत्—ख०, ग०, घ० ।
२. नानाश्रयोद्भवान् - क (भ०) ।
३. अतः परं म-घ—पुस्तकयोः—आच्छादनं बहुविधं नानापत्तन (नानावर्तन—ग०) सम्भवम् । ज्ञेयं तत् त्रिप्रकारं तु शुद्धं रक्तं विचित्रकम् ॥ —इतिपद्यमधिकम् ।
४. विभागं व्याख्यास्ये यथा कार्यं प्रयोक्तृभिः—ख ग०; विशेषान् व्याख्यास्ये—क (ङ) ।
५. माङ्गल्ये—ग०, घ० ।
६. यत्कार्यं स्त्रीणाञ्च पुरुषस्य वा—ख, ग०, घ० ।
७. स्तत्र—ग० ।
८. प्रापत्निका—ग०; उदासीनाश्च ये नराः—क (भ०) ।

विधि के समय पुरुषों तथा स्त्रियों का वेष 'शुद्ध'[1] रहता है। यही वेष व्यापारार्थप्रवासी या विनीत (प्रापणिक[2], प्रायत्निक) पात्र का भी होता है ॥ ११९–१२० ॥

देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
नृपाणां [1]कर्कशानाञ्च चित्रो वेष उदाहृतः ॥ १२१ ॥

देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, नृप तथा उच्चपदस्थ अधिकारी या उत्तम-प्रकृति (कर्कश)[3] का 'चित्र' वेष रखा जाता है ॥ १२१ ॥

वृद्धानां ब्राह्मणानाञ्च श्रेष्ठ्यमात्यपुरोधसाम्।
वणिजां [2]काञ्चुकीयायान्तथा चैव तपस्विनाम् ॥ १२२ ॥
विप्रक्षत्रियवैश्यानां स्थानीया ये च मानवाः।
शुद्धो वस्त्रविधिस्तेषां कर्त्तव्यो नाटकाश्रयः ॥ १२३ ॥

कंचुकी, अमात्य, श्रेष्ठी, पुरोहित, सिद्ध, विद्याधर, शास्त्रवेत्ता विद्वान्, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा राजाधिकारी (स्थानीय) का वेष 'शुद्ध' होता है, जिसे नाट्याश्रित विधि के अनुसार किया जाए ॥ १२२–१२३ ॥

[3]उन्मत्तानां प्रमत्तानामध्वगानान्तथैव च।
[4]व्यसनोपहतानाञ्च मलिनो वेष उच्यते ॥ १२४ ॥

उन्मत्त, प्रमत्त (नशेबाज), पथिक तथा आपत्ति में डूबे हुए व्यक्ति का 'मलिन' वेष रखा जाए ॥ १२४ ॥

---

१. शुद्ध = शुभ्रवस्त्र या धुले हुए पवित्र वस्त्र वाला।

२. प्रायत्निक का अर्थ है प्रयत्ने भवाः प्रायत्निकाः। अर्थात् विनीत या प्रापणिक अर्थात् वणिक जो अपना माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर विक्रयार्थ पहुँचाते हैं।

३. 'नृपाणां कर्कशानां' के स्थान पर 'कामुकानाम्' पाठ भी मिलता है, जिसके उचित होते हुए भी 'कर्कश' की बहुल उपलब्धि के कारण इसे मूलपाठ मान कर यहाँ अर्थ किया है। कर्कश पद का अर्थ है उत्तमप्रकृति के कठोर आचरण धारी पात्र।

---

१. कामुकानाञ्च—क (प)।

२. कञ्चुकीनाममात्यानां श्रेष्ठिनां सपुरोधसाम्। सिद्धविद्याधराणाञ्च वणिक्शास्त्रविदामपि—ख, ग०।

३. जनानामध्वगामिनाम्—ख० ग०; छन्नानामध्वगामिनाम्—क (भ०)।

४. व्यसनोपगतानाञ्च—ख० ग० घ०।

[शुद्धरक्तविचित्राणि [1]वासांस्यूर्ध्वाम्बराणि च ।
योजयेन्नाट्यतत्त्वज्ञो वेषयोः शुद्धचित्रयोः ।
कुर्याद् वेषे तु मलिने [2]मलिनन्तु विचक्षणः ॥]

[1]शुद्ध तथा चित्र (जैसे) वेषों में विविध प्रकार के शुद्धवर्ण के, रक्तवर्ण के तथा विचित्र वर्णों के वस्त्रों के प्रावारकों की नाट्यविद् को योजना करनी चाहिए और मलिन वेष के पात्रों में विज्ञजन मलिन वस्त्रों को (ही) योजना करें ।

[3]मुनि निर्ग्रन्थशाक्येषु [4]त्रिदण्डिश्रोत्रियेषु च ।
[5]व्रतानुगस्तु कर्त्तव्यो वेषो [6]लोकस्वभावतः ॥ १२५ ॥

मुनि, जैन साधु, बौद्ध भिक्षु, त्रिदण्डी (सन्यासी) तथा श्रोत्रिय (यति) शैवब्राह्मण तथा पाशुपत का वेषधारी व्यक्ति हो तो उनके धार्मिक व्रत तथा आचार के अनुसार वेष रखें जाएं या उनके लोक-प्रसिद्ध स्वरूप के अनुसार ॥ १२५ ॥

चीरवल्कलचर्माणि तापसानां तु योजयेत् ।
[7]परिव्राणमुनिशाक्यानां वासः काषायमिष्यते ॥ १२६ ॥
नानाचित्राणि [8]वासांसि कुर्यात् पाशुपतेष्वथ ।
[9]कुलजाश्चापि ये प्रोक्तास्तेषाञ्चैव [10]यथोचितम् ॥ १२७ ॥

परिव्राजक, महन्त (मुनिमुख्य) तथा तापस का आवश्यकतानुसार काषायवस्त्रों (भगवा रंग) का वेष रहना चाहिए । पाशुपत सम्प्रदाय (के पात्र) का वेष 'विचित्र' रखा जाए तथा जो कुलीन पात्र हों उनके

---

१. ये तीन श्लोक प्रक्षिप्त होने से इनका क्रमांक नहीं दिया गया है । ये ग० पुस्तकादि में (प्राप्त) नहीं हैं ।

---

१. स्युरुच्चावचानि च—ख० । २. मलिनानि—क (च०) ।
३. मुनिनिर्ग्रन्थशाक्यानां—क (भ०) ।
४. यतिपाशुपतेषु च—क०; तथैव च तपस्विनाम्—क (भ०) ।
५. यतिपाशुपतानाञ्च वेषः कार्यो व्रतानुगः—क (भ०) ।
६. लङ्कारभावनः—ग; लोकानुभावतः—क (ड) ।
७. परिव्राणमुनिमुख्येषु तापसेषु तथैव च । काषायवसनो वेषः कार्यस्त्वर्थवशानुगः ॥—ग० ।
८. कार्याणि—ग० । ९. कुजातयश्च—क० ।
१०. यथार्हतः—क० ।

वेष उनकी स्थिति के अनुसार रहने चाहिए। इसके अतिरिक्त तापसों को कभी कभी चीर तथा वल्कल और कभी चर्म धारण करवाया जाता है ॥ १२६-१२७ ॥

[1]अन्तःपुरप्रवेशे च विनियुक्ता हि ये नराः।
काषायकञ्चुकपुटाः [2]कार्यास्तेऽपि यथाविधि ॥
[3]अवस्थान्तरमासाद्य स्त्रीणां वेषो भवेत्तथा ॥ १२८ ॥

अन्तःपुर की रक्षार्थ जिन व्यक्तियों को नियुक्त किया गया है उन कंचुकी आदि का वेष या तो कवच धारण किये हुए या कषाय वस्त्र धारण किये हुए रखा जाए। इसी प्रकार जो अन्तःपुर की रक्षिकाएँ हों उनका भी वेष इसी प्रकार रहना चाहिए ॥ १२८ ॥

[4]वेषः साङ्ग्रामिकश्चैव शूराणां सम्प्रकीर्तितः।
विचित्रशस्त्र-कवचो [5]बद्धतूणो धनुर्द्धरः ॥ १२९ ॥

शूर पात्रों का युद्ध के अनुरूप 'वेष' (सांग्रामिक) रहना चाहिए और ये चमकीले शस्त्र, कवच तथा धनुष और तरकस (दस्ताने आदि भी) धारण किये हों ॥ १२९ ॥

[6]चित्रो वेषस्तु कर्तव्यो नृपाणां नित्यमेव च।
केवलस्तु भवेच्छुद्धो [7]नक्षत्रोत्पातमङ्गले ॥ १३० ॥

राजाओं के 'वेष' 'विचित्र' रखे जाएँ केवल नक्षत्रशान्ति तथा किसी विघ्न की शान्तिहेतु की जानेवाली मंगल-विधि के सम्पादन के अवसर पर इनका शुद्ध वेष रखा जाना चाहिए ॥ १३० ॥

---

१. अन्तःपुरस्य रक्षार्थे—घ०, राजान्तः पुरकक्ष्यासु नियुक्ता ये नरा नृपैः—क (भ०)।
२. तेऽपि कार्या—ख; कार्यास्वेषां—ग०; कर्त्तव्यास्ते प्रयोक्तृभिः—क (भ), कार्याणि कुशचीराणि वल्कलानि तथैव च। व्रतिनां तापसानान्तु ह्यन्यान्येवंविधानि तु।—इति क (भ) पुस्तकेऽधिकम्।
३. अवस्थान्तरतश्चैवं नृणां वेषो भवेदथ—क०।
४. साङ्ग्रामिकश्च शूराणां वेषः सम्परिकीर्तितः—ख०।
५. बद्धतूणधनु—ख०; बद्धत्राणो—ग०।
६. विचित्र वेषः—ग०।
७. त्रोत्पाद—ग०; त्रोत्पातमङ्गलैः—क (न०)।

[1]एवमेष भवेद्वेषो देशजाति-वयोनुगः।
उत्तमाधममध्यानां स्त्रीणां नृणामथापि च ॥ १३१ ॥
एवं वस्त्रविधिः कार्यः प्रयोगे नाटकाश्रये।
नानावस्थां समासाद्य [2]शुभाशुभकृतस्तथा ॥ १३२ ॥

इस प्रकार के उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के व्यक्तियों के वेष उनके देश, जाति, अवस्था आदि के अनुसार रहने चाहिए तथा स्त्री और पुरुषों के नाट्यप्रदर्शन म इसी विधान के अनुसार (जो कि बतलाया जा चुका है) शुभ या अशुभ कार्यों की स्थिति में वस्त्र धारण करवाए जाएं ॥ १३१-१३२ ॥

[1]प्रतिशीर्षकों (चेहरों) का प्रयोग विधानः—

तथा [3]प्रतिशिरश्चापि कर्तव्यं नाटकाश्रयम्।
[4]दिव्यानां पुरुषाणाञ्च [5]देशजातिवयःश्रितम् ॥ १३३ ॥

इसी प्रकार विभिन्न देवता तथा मनुष्यों के देश जाति तथा अवस्था के अनुसार चेहरे भी बनाना चाहिए तथा उनका भी उपयोग करना चाहिए॥१३३॥

त्रिविध मुकुटः—

[6]पार्श्वागता मस्तकिनस्तथा चैव किरीटिनः।
[7]त्रिविधो मुकुटो ज्ञेयो दिव्यपार्थिवसंश्रितः ॥ १३४ ॥

---

१. प्रतिशीर्षक — चेहरे या मुखौटे। प्राचीनकाल में मुखौटों (चेहरों) का उपयोग प्रत्येक पात्र के लिये किया जाता था अथवा कुछ विशेष पात्रों के लिये इसका स्पष्ट निर्देश प्राप्त नहीं होता। सम्भवतः विशिष्ट पात्रों के लिये ही इनका उपयोग किया जाता होगा। जैसा कि आज भी होता है। अभिनव-गुप्तपाद ने प्रदिशीर्षक की व्युत्पत्ति—'प्रकृतिरूपं शिरः प्रतिशीर्षकम्' की है। जिसके अनुसार प्रत्येक दिव्यपुरुषादिपात्र का अपनी प्रकृति के अनुरूप चेहरा होता है। प्राकृत भाषा में भी इस शब्द का व्यवहार मिलता है। कर्पूरमंजरी (जव. १) में पडिसीस्स' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।

---

१. एवं वेषो बुधैः कार्यो वयोजातिगुणान्वितः—ख०।
२. कृतं—क (न०); कृतस्त्वथ - क (ड)।
३, प्रतिशीर्षाणि च पुनर्नानारूपाणि योजयेत्—क (भ)।
४. देवानां मानुषाणाञ्च—ग०, घ०।
५ यथावदनुपूर्वशः—क (भ०)। ६. पार्श्वगता—क (भ०)।
७. त्रिविधा मुकुटा ज्ञेया दिव्याः पार्थिवसंश्रयाः—क (न)।

देवता तथा राजाओं के लिए निर्मित 'मुकुट, तीन प्रकार के होते हैं। (१) [1]पार्श्वगत, (२) मस्तकी तथा (३) किरीटी ॥ १३४ ॥

देवगन्धर्वयक्षाणां पन्नगानां सरक्षसाम्।
[1]कर्तव्या नैकविहिता मुकुटाः [2]पार्श्वमौलयः ॥ १३५ ॥

(सामान्यतः) देव, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसों के मुकुट अनेक प्रकार के आकार में 'पार्श्वगत' रूपवाले रहने चाहिए ॥ १३५ ॥

उत्तमा ये च दिव्यानां [3]ते च कार्याः किरीटिनः।
मध्यमा मौलिनश्चैव कनिष्ठाः पार्श्वमौलिनः[4] ॥ १३६ ॥

देवताओं में जो श्रेष्ठ हों उनके मुकुट 'किरीटी' होना चाहिए तथा मध्यमवृत्ति के देवों के मुकुट 'मस्तकी' (मौली) तथा सामान्य देवों के मुकुट 'पार्श्वमौलि' (पार्श्वगत) होने चाहिए ॥ १३६ ॥

नराधिपानां [5]कर्तव्यास्तथा मस्तकिनो बुधैः।
विद्याधराणां सिद्धानां चारणानान्तथैव च ॥ १३७ ॥
ग्रन्थिमत्केशमुकुटाः[6] कर्तव्यास्तु प्रयोक्तृभिः[7]।

राजाओं का मुकुट 'मस्तकी' होता है। विद्याधर, सिद्ध तथा चारण-गन्धर्व के 'केशों' से 'ग्रथित मुकुट' किये जाए ॥ १३७–१३८ ॥

---

१. पार्श्वागत का अर्थ है पार्श्वमौलि मुकुट। पार्श्वागत मुकुट का स्वरूप वर्तुलाकार होता है। विवेचक विद्वानों का मत है कि यह शब्द पर्शु आगत शब्द से निर्मित है। पर्शु का ऋग्वेद में भी विवरण मिलता है जो पर्शिया के मूल का भी संकेतक है। इसलिये पर्शियावासियों के द्वारा व्यवहृत पार्श्वागत या वर्तुलाकार मुकुट ही पार्श्वगत है ऐसा वे अनुमान लगाते हैं।

---

१. कार्या हि तैस्तु विहिता मुकुटाः—क (न०)।
२. पार्श्वमौलिनः—ख०; घ०। ३. तेषां कार्याः—ख० घ०।
४. शीर्षमौलिनः—क०, ग०। ५. मस्तके मुकुटा बुधैः—क०।
६. ग्रन्थितः केशमुकुटः—ग०; ग्रन्थितं केशमुकुटं कर्त्तव्यं तु—क (ङ)।
७. एतदनन्तरं—उदात्ताश्चापि ये तत्र कार्यास्ते पार्श्वमौलिनः। कस्मात्तु-मुकुटा श्लिष्टा प्रयोगे दिव्यपार्थिवे। केशानां छेदनं दृष्टं वेदवादे यथा श्रुतिः। भद्रीकृतस्य वा यज्ञे शिरसश्छादनेच्छया। केशानामप्यदीर्घत्वात् स्मृतं मुकुटधारणम् ॥—इति क० ग० पुस्तकयोरधिकम्।

[1]अमात्यानां कञ्चुकिनां तथा श्रेष्ठिपुरोधसाम् ॥ १३८ ॥
[2]वेष्टनाबद्धपट्टानि प्रतिशीर्षाणि कारयेत् ।

अमात्य, कंचुकी, श्रेष्ठी तथा पुरोहितों के मस्तक पर 'पगडी' लपेटी हुई रहनी चाहिए ॥ १३८–१३९ ॥

सेनापतेः पुनश्चापि युवराजस्य चैव हि ॥ १३९ ॥
[3]मस्तकेष्वर्धमुकुटं प्रयोगे सम्प्रयोजयेत् ।
शेषाणामर्थयोगेन[4] देश-जातिवयःश्रुतम् ॥ १४० ॥
शिरः प्रयोक्तृभिः कार्यं प्रयोगस्य वशानुगम् ।

सेनापति तथा युवराज के मस्तक पर 'अर्धमुकुट' रहना चाहिए । शेष पात्रों के उनकी प्रकृति, जाति तथा देश आदि के अनुसार पगड़ी मुकुट आदि (अपेक्षानुसार) रहने चाहिए ॥ १३९–१४१ ॥

बालानामपि कर्तव्यं त्रिशिखण्ड[5] विभूषितम् ॥ १४१ ॥
[6]जटामुकुटबद्ध च मुनीनां तु भवेच्छिरः ।

बालकों के मस्तक 'तीन शिखण्ड' (काकपक्ष) धारी तथा साधुओं के मस्तक 'जटामुकुट' धारी होने चाहिए ॥ १४२ ॥

विविध केश-विधानः—

रक्षोदानवदैत्यानां[7] '[8]पिङ्गकेशेक्षणानि हि ॥ १४२ ॥
'[9]हरिच्छ्मश्रूणि च तथा मुकुटास्यानि[10] कारयेत् ।

राक्षस, दानव तथा दैत्यों के पीले (भूरे) बाल तथा हरी मूंछों वाले मुकुटधारी चेहरे रखने चाहिए ॥ १४३ ॥

---

१. अमात्यकञ्चुकिश्रेष्ठिविदूषकपुरोधसाम्—क (न०) ।
२. वेष्टनं बन्धपट्टादि —क (उ); वेष्टनं बन्धपट्टादि—स० ग० ।
३. योजयेदर्धमुकुटं महामात्राश्च ये नराः—क० ।
४. मर्धयोगेन—ख०; ग० ।
५. न शिखण्ड—ख०; शिरःत्रिशिखभूषितम्—क (च०) ।
६. लम्बं च—ख ।
७. देवदानवयक्षाणां—क (भ०) ।
८. पिकंकेशकृतानि तु—ख०; पिङ्गकेशकृतानि हि—क (न०) ।
९. हरिश्मश्रूणि—ख०; यथा श्मश्रूणि—क (भ०) ।
१०. नानारूपाणि—क (प०) ।

पिशाचोन्मत्तभूतानां साधकानां[1] तपस्विनाम् ॥ १४३ ॥
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञानां लम्बकेशं[2] भवेच्छिरः ।

पिशाच, उन्मत्त (पागल), भूत, साधु तथा अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह न करने वाले व्यक्ति के लम्बे बिखरे बालों वाला मस्तक रखा जाए ॥ १४४ ॥

शाक्यश्रोत्रियनिर्ग्रन्थपरिव्राड्दीक्षितेषु च[3] ॥ १४४ ॥
शिरोमुण्डं तु कर्तव्यं यज्ञदीक्षान्वितेषु च ।

बौद्धसाधु (शाक्य), जैन मुनि (निर्ग्रन्थ), श्रोत्रिय ब्राह्मण, परिव्राजक (सन्यासी), यज्ञ में दीक्षित पात्र का मस्तक मुंड़ा हुआ रखना चाहिए ॥ १४५ ॥

तथा [4]वृत्तानुषङ्गेण शेषाणां लिङ्गिनां शिरः ॥ १४५ ॥
मुण्डं वा कुञ्चितं वापि लम्बकेशमथापि वा ।

इसी प्रकार अन्य साधुओं के उनके आचार (वृत) के अनुसार मुण्डित, लुंचित या केशधारी मस्तक—जैसा भी उचित हो—रखे जाने चाहिए ॥ १४६ ॥

वधूनाञ्चापि[5] कर्तव्यं ये च राजोपजीविनः[6] ॥ १४६ ॥
शृङ्गारचित्ताः पुरुषास्तेषां कुञ्चितमूर्धजाः ।

वारवधू, राजाधिकारी तथा शृंगारी प्रकृति वाले पात्रों के मस्तक घुंघराले (कुंचित) बालों के रखे जाए ॥ १४७ ॥

चेटानामपि कर्त्तव्यं त्रिशिखं मुण्डमेव च ॥ १४७ ॥
[7]विदूषकस्य खलतिः स्यात् काकपदमेव च ।

चेटों का मस्तक तीन चोटी वाला या मुंडा हुआ रखा जाए तथा विदूषक का मस्तक या तो गंजा या काकपक्ष युक्त रखा जाए ॥ १४८ ॥

शेषाणामर्थयोगेन देशजातिसमाश्रयम् ॥ १४८ क ॥
शिरः प्रयोक्तृभिः कार्यं नानावस्थान्तराश्रयम् ।

---

१. तापसानां तथैव च—क (भ०) ।
२. लम्बकेशं तु शीर्षकम्—ख०, केशशिरो भवेत्—क (भ०) ।
३. भिक्षितेषु च—क (प०) । ४. व्रतानुगं चैव—क० ।
५. धूर्तानाञ्चैव—क० । ६. रात्र्युपजीविनः—क० ।
७. विदूषकाणां कर्त्तव्यं खल्ली काकपदं तथा—ख० ।

शेष पात्रों के अर्थानुसारी तथा देश, जाति आदि के अनुसार होने वाली विविध अवस्थाओं के प्रदर्शक मस्तकों का नाट्यप्रयोक्ताजन प्रयोग करें ॥ १४८–क ॥

एवं नानाप्रकारेण[1] बुध्या चैषां विभज्य च ॥ १४८ ॥
अतस्तै[2] भूषणैश्चित्रैर्माल्यैरथाति च ।
अवस्थाप्य कृतिः स्थाप्या [3]प्रयोगरससम्भवा ॥ १४९ ॥

इस प्रकार इन पात्रों के विचारपूर्वक विभेद जानते हुए तथा इनकी अवस्था, प्रकृति आदि को उनके वेष, अलंकार, विभिन्न कार्य तथा मालाओं आदि से प्रकट करते हुए नाट्यप्रदर्शन में रसों तथा भावों को अभिव्यक्त करने के लिए रखे जाएं ॥ १४८–१४९ ॥

स्त्रीणां वा पुरुषाणां वा[4] व्यवस्थां प्राप्य तादृशीम्[5] ।
एवं ज्ञेयाङ्गरचना नानाप्रकृतिसम्भवा ॥ १५० ॥

इस प्रकार पुरुष तथा स्त्रियों के वेष रखते हुए उनके शरीर को उचित तथा उपयुक्त भूमिकाओं में रंगना चाहिए ॥ १५० ॥

सञ्जीव नेपथ्य विधान—

[6]सञ्जीव इति यः प्रोक्तस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ।
यः प्राणिनां प्रवेशो वै स [7]सञ्जीव इति स्मृतः ॥ १५१ ॥

अब में 'संजीव' का लक्षण बतलाता हूं। 'संजीव' कहते हैं रंगमंच पर प्रविष्ट होने वाले पशु[1] आदि प्राणि को ॥ १५१ ॥

---

१. पशुओं के इस विवरण से प्रतीत होता है कि आवश्यक होने पर कभी जीवित पक्षी तथा पशुओं को भी रंगमंच पर लाया जाता था परन्तु यह सामान्य-नियम के अन्तर्गत नहीं है ।

---

१. प्रकारैस्तु बुद्ध्यावेषान् प्रकल्पयेत्—क० ।
२. भूषणैर्वर्णकैर्वस्त्रैर्माल्यैश्चैव यथाविधि—क० ।
३. पूर्वं तु प्रकृतिं स्थाप्य प्रयोगगुणसम्भवाम्—क० ।
४. वाप्यवस्थां—क० ।
५. अत ऊर्ध्वं—सर्वे भावाश्च दिव्यानां कार्या मानुषसंश्रयाः । तेषां चानिमिषत्वादि नैव कार्यं प्रयोक्तृभिः । इह भावरसाश्चैव दृष्टिभिः सम्प्रतिष्ठिताः । दृष्ट्येव स्थापितो ह्यर्थः पश्चादङ्गैर्विभाव्यते ॥ इति क० घ० पुस्तकयोरधिकं पद्यद्वयम् ।
६. संजीव—क (ढ) । ७. सञ्जीव इति संज्ञितः—क० ।

चतुष्पदोऽथ द्विपदस्तथा चैवापदः स्मृतः ।
[1]उरगानपदात् विद्याद् द्विपदान् खग-मानुषान् ॥ १५२ ॥
[2]ग्राम्यारण्याश्च पशवो विज्ञेयास्स्युश्चतुष्पदाः ।

ये तीन प्रकार के होते हैं—चतुष्पाद (चौपाये), द्विपात् (दो पाये) तथा अपाद् (बिना पैरों के) । इनमें सांप बिना पैर के, पक्षी तथा मानव दो पैरों के तथा गांव और जंगल में रहने वाले पशु चौपाए या चतुष्पाद कहलाते हैं ॥ १५२–१५३ ॥

शस्त्रों के व्यवहार—

[3]ये ते तु [4]युद्धसम्फेटैरुपरोधैस्तथैव च ॥ १५३ ॥
नानाप्रहरणोपेताः प्रयोज्या नाटके[5] बुधैः ॥

नाट्यप्रदर्शन में प्रस्तुत किये जाने वाले युद्ध, क्रोध की झड़प (संफेट) तथा घेरे की दशाओं में पात्रों को अनेक शस्त्रों के साथ प्रस्तुत किया जाए ॥ १५४ ॥

आयुधानि च [6]कार्याणि [7]पुरुषाणां प्रमाणतः ॥ १५४ ॥
तान्यहं [8]वर्णयिष्यामि [9]यथायुक्ति प्रमाणतः ।

शस्त्रों का पुरुषों के प्रमाणानुसार निर्माण किया जाए । अब मैं इन्हें प्रमाणों (युक्ति) तथा लक्षणों के अनुसार बतालाता हूँ ॥ १५४–१५५ ॥

भिण्डिर्द्वादशतालः स्याद्दश कुन्तो [10]भवेद्थ ॥ १५५ ॥
अष्टौ शतघ्नी [11]शूलश्च तोमरः शक्तिरेव च ।

'भिन्दी' बारहतालों की बनानी चाहिए । भाला दस ताल का, शतघ्नी शूल, तोमर तथा शक्ति को आठ [1]ताल की बनाई जाए ।

---

१. ताल = बाहर अंगुल की दूरी एकताल प्रमाण की मानी जाती है ।

---

१. उरगा ह्यपदो ज्ञेया द्विपदा खगमानुषाः—क (ड) ।
२. ग्राम्या आरण्याः पशवो—क० ।
३. एतेऽपि—ख० ।
४. युद्धे सम्फेटे ह्यवरोधे—क (भ०), युद्धसम्भेदो त्ववरोधे—ग० ।
५. नाटकाश्रये—क (ढ) । ६. वर्माणि—ग० ।
७. तज्ज्ञैः सम्यक्—घ० । ८. सम्प्रवक्ष्यामि—ख०, ग० ।
९. यथा पुस्तप्रमाणतः—क० । १०. विधीयते—क (भ) ।
११. शूलश्च—ख. ।

[1]अष्टौ ताला धनुर्ज्ञेयमायामोऽस्य[2] द्विहस्तकः ॥ १५६ ॥
शरो गदा च [3]वज्रश्च चतुस्तालं विधीयते[4] ।

धनुष की आठ ताल लम्बाई तथा फैलाव दो का रखा जाए। बाण, गदा तथा वज्र चार ताल प्रमाण वाले होने चाहिए ॥ १५७ ॥

अङ्गुलानि त्वसिः कार्यश्चत्वारिंशत्प्रमाणतः ॥ १५७ ॥
[5]द्वादशाङ्गुलकं चक्रं ततोऽर्धं प्रास इष्यते ।

'तलवार' चालिस अंगुल की, 'चक्र' बारह अंगुल का तथा प्रास उससे आधे (छः अंगुल) का रहना चाहिए ॥ १५८ ॥

[6]प्रासवत् पट्टसं विद्यात् [7]दण्डश्चैव तु विंशतिः ॥ १५८ ॥
[8]विंशतिः कणयश्चैव ह्यङ्गुलानि प्रमाणतः ।

पट्टिस भी प्रास जैसा ही तथा यह 'दण्ड' बीस अंगुल प्रमाण का रखा जाए और कणय भी (कणय ?) बीस अंगुल के प्रमाण वाला रहना चाहिए ॥ १५९ ॥

षोडशाङ्गुलिविस्तीर्णं [9]चर्म कार्यं द्विहस्तकम् ॥ १५९ ॥
त्रिंशदङ्गुलिमानेन कर्तव्यं खेटकं बुधैः ।

ढाल (चर्म) को सोलह अंगुल की लंबाई तथा दो हाथ गहराई वाला रखा जाए (इसमें घण्टी तथा कड़े लगे रहना चाहिए) खेटक का प्रमाण तीस अंगुल का (लम्बाई तथा दो हाथ) होना चाहिए ॥ १५९–१६० ॥

जर्जरो दण्डकाष्ठश्च तथैव प्रतिशीर्षकम् ॥ १६० ॥
छत्रञ्च चामरञ्चैव ध्वजो भृङ्गार एव च ।
यत्किञ्चित् मानुषे[10] लोके द्रव्यं पुंसां प्रयोगजम् ।
तत्सर्वं[11] तूपकरणं नाट्येऽस्मिन् संविधीयते ॥ १६१ ॥

---

१. अष्टतालं—ग० घ० । २. आवापोऽस्य—क (न०) ।
३. चक्रञ्च—ख० । ४. भवेदथ—ख० ।
५. चक्रञ्च द्वादश ज्ञेयं—क (भ०) । ६. प्रासार्धं पट्टिसं—क (न०) ।
७. दण्डकश्चैव विंशकः—क (न०), दण्डकस्तस्य विंशकः—क (प) ।
८. कयणञ्च—ग०, कम्पणञ्च भवेद्विंशत्यङ्गुलैः परिमाणतः—घ० ।
९. सबलं सम्प्रघण्टिकम्—क०; सबलं संप्रकीर्तितम्—ख०, सबाल्यं सम्पघण्टिकम्— घ० ।
१०. प्रयोजकम्—क० ।
११. यच्चोपकरणं सर्वं नाट्ये तत् सम्प्रकीर्तितम्—क० ।

नाट्यप्रदर्शन में जर्जर, दण्डकाष्ठ, चेहरे (प्रतिशीर्षक), छत्री, चामर ध्वज, सुराही (भृङ्गार) तथा प्रत्येक वस्तु—जिसका मनुष्य उपयोग कर सकता हो—उपयोग में लायी जाए, उन सभी का नाटक में भी उपयोग किया जाता है ॥ १६०–१६१ ॥

यद्यस्य विषयप्राप्तं [1]तेनोह्यं तस्य लक्षणम् ।
जर्जरे दण्डकाष्ठे च सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १६२ ॥

इस प्रकार नाट्य-प्रदर्शन में जिन वस्तुओं (उपकरण) का सम्बन्ध आता हो (या जिनका उपयोग होता हो) उनके लक्षण समझ लेना चाहिए । अब मैं दण्डकाष्ठ तथा जर्जर के क्रमशः लक्षण बतलाता हूँ ॥१६२॥

इन्द्र ध्वज :—

श्वेतभूम्यान्तु यो[2] जातः पुष्यनक्षजस्तथा,[3]
[4]सङ्ग्राह्यो वै भवेद् वेणुर्जर्जरार्थं प्रयत्नतः ।
[5]माहेन्द्रे तु ध्वजे कार्यं लक्षणं विश्वकर्मणा ॥ १६३ ॥

जो बाँस का वृक्ष सफेद भूमि पर (भूरी जमीन) स्थित हो, उस बांस को प्रयत्न पूर्वक पुष्यनक्षत्र में निकाल कर (उससे) 'इन्द्रध्वज' का निर्माण किया जाए और यह विश्वकर्मा[1] के लक्षणानुसार हो ॥ १६३ ॥

जर्जर :—

[6]एषामन्यतमं कुर्यात्[7] जर्जरं दारुकर्मतः ।
अथवा [8]वृक्षजातस्य प्ररोहो वापि जर्जरः ॥ १६४ ॥

अतएव इन वृक्षों में से एक किसी वृक्ष की (जो उक्त नक्षत्र में रोपा गया हो) लकड़ी लेकर उसका योग्य बढ़ई द्वारा 'जर्जर' बनवाया जाए अथवा किसी वृक्ष की एक-एक टहनी का भी 'जर्जर' बनाया जा सकता है ॥ १६४ ॥

---

१. इन्द्रध्वज के स्वरूप का विश्वकर्मा ने अनेक भेदों को बतलाकर अपने ग्रन्थ में निरूपण किया था । अभिनवगुप्तपाद के इस उल्लेख से इस शास्त्र की प्रामाणिकता का तो पता चलता है किन्तु प्रतिपादक ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य है ।

---

१. तेनोक्तं—ख० ग० । २. ये जाताः—घ० ।
३. नक्षत्रजास्तथा—घ० ।
४. श्लोकार्थमेतत् ख. ग. घ. पुस्तकेषु नास्ति ।
५. माहेन्द्रा वै ध्वजाः प्रोक्ता लक्षणैर्विश्व—क० ।
६. तेषा—घं० । ७. एकतमं कार्यं—क (भ) ।
८. वृक्षयोनिः स्यात् प्ररोहो—क० ।

वेणुरेव भवेच्छ्रेष्ठस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ।
[1]प्रमाणतोऽङ्गुलान्तु शतमष्टोत्तरं भवेत् ॥ १६५ ॥

परन्तु 'जर्जर' के लिये बांस सबसे अधिक उपयुक्त रहता है। इसकी लम्बाई एक सौ आठ अंगुल की रखना चाहिए ॥ १६५ ॥

पञ्चपर्वा[2] चतुर्ग्रन्थिस्तालमात्रस्तथैव च ।
स्थूलग्रन्थिर्न कर्तव्यो न शाखी न च कीटवान् ॥ १६६ ॥

इसमें पाँच पैरे (पर्व) तथा चार जोड़ (ग्रन्थि) होते हैं परन्तु इनकी ग्रन्थियाँ अधिक बड़ी नहीं होनी चाहिए और इसमें से कोई अन्य शाखा निकली हुई न हो और यह घुनों से खाया हुआ नहीं होना चाहिए ॥१६६॥

[3]न कृमिक्षतपर्वा च न [4]हीनश्चान्यवेणुभिः ।
मधु[5] सर्पिस्सर्षपाक्तं माल्यधूपपुरस्कृतम् ॥
उपास्य विधिवद्वेणुं [6]गृण्हीयाज्जर्जरं प्रति ॥ १६७ ॥

जो किसी दूसरे से छोटा न हो, जिसका कोई भाग घुनों से क्षत न हो ऐसा एक बाँस खण्ड जर्जर के लिए चुन कर फिर विधिपूर्वक घी, शहद तथा सरसों लगा कर पुष्पों की माला चढ़ाकर तथा धूप देकर उसकी उपासना करे और फिर उसे ग्रहण करे ॥ १६७ ॥

यो विधिर्यः क्रमश्चैव माहेन्द्रे तु ध्वजे स्मृतः ।
स जर्जरस्य कर्तव्यः [7]पुष्यवेणुसमाश्रयः ॥ १६८ ॥

इन्द्रध्वज की प्रतिष्ठा संस्कार की जो विधि तथा क्रम बतलाया है वही इस पुष्यवेणु (बाँस) को 'जर्जर' के रूप में प्रतिष्ठित करने की दशा में भी रखी जाए ॥ १६८ ॥

भवेद्यो दीर्घपर्वा तु [8]तनुपत्रस्तथैव च ।
[9]पर्वाग्रमण्डलश्चैव पुष्यवेणुः स कीर्तितः ॥ १६९ ॥

जिसके बड़े पैरे और पतले पत्ते हों तथा प्रत्येक पैरे में एक गोल अंगूठी जैसा घेरा (मण्डल) हो उसे 'पुष्यवेणु' नामक बाँस जानो ॥ १६९ ॥

---

१. प्रमाणमङ्गु—क० । २. पञ्चपर्व—ग० ।
३. न क्षतः क्रिमिपार्श्वश्च—क (भ०) । ४. निहतन्त्वन्य—घ० ।
५. अक्तं तु मधुसर्पिर्भ्यां—ग० । ६. प्रकुर्यात्—क (न०) ।
७. पुण्यवेणु—ख०' ग० । ८. तनुपर्वा—घ० ।
९. पर्वाग्रतण्डुल – क.; पर्वाग्रवर्तुल—क (ज) ।

[1]विधिरेष मया प्रोक्तो जर्जरस्य [2]प्रमाणतः ।
[3]अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डकाष्ठस्य लक्षणम् ॥ १७० ॥

जर्जर के लक्षण में यही विधान रहता है। अब मैं 'दण्डकाष्ठ' का लक्षण बतलाता हूँ ॥ १७० ॥

दण्डकाष्ठ :—

[4]कपित्थविल्ववंशेभ्यो दण्डकाष्ठं भवेदथ ।
[5]वक्रञ्चैव हि [6]कर्तव्यं त्रिभागे लक्षणान्वितम् ॥ १७१ ॥

दण्डकाष्ठ बिल्व, कपित्थ या बाँस की लकड़ी का बनाया जाए। यह सुन्दरता से युक्त, तीन स्थान से टेढ़ा तथा लक्षणशाली होना चाहिए ॥ १७१ ॥

कीटैर्नोपहतं यच्च व्याधिना न च पीडितम् ।
मन्दशाखं भवेद्यच्च दण्डकाष्ठन्तु [7]तद्भवेत् ॥ १७२ ॥

जो घुन (कीड़ों) से खाया हुआ न हो और न किसी दूसरे रोग या दोष से हीन हो, जिसमें छोटी-छोटी टहनी निकली हो तो उसे 'दण्डकाष्ठ' कहा जाता है ॥ १७२ ॥

यस्त्वेभिर्लक्षणैर्हीनं दण्डकाष्ठं सजर्जरम् ।
कारयेत् [8]स त्वपचयं महान्तं प्राप्नुयाद् ध्रुवम् ॥ १७३ ॥

जो मनुष्य इन लक्षणों से हीन दण्डकाष्ठ तथा जर्जर का निर्माण करता है, उसे निश्चित ही किसी (बड़ी) हानि की प्राप्ति होगी ॥ १७३ ॥

चेहरों का निर्माण :—

अथ शीर्षविधानार्थं[9] पटी कार्या प्रयत्नतः[10] ।
[11]स्वप्रमाणविनिर्दिष्टा द्वात्रिंशत्यङ्गुलानि वै ॥ १७४ ॥

---

१. रेवं—ख० । २. तु लक्षणे—ख० ।
३. अतः परं—क (भ०) ।
४. कापित्थं विल्वं वंशोवा—ग.; दण्डकाष्ठन्तु बैल्वं स्यात् कापित्थं वांश्यमेव वा—क (भ०) ।
५. चक्रञ्चैव—ग० । ६. तत्कार्यं—ख. । ७. तदुच्यते—ख. ।
८. स तु नानत्दं कदाचित् प्राप्नुयान्नरः—क (भ०) ।
९. विभागार्थं—क । १०. तु मानतः—ख० ।
११. सप्रमाण—ख०, ग० ।

[1]चेहरों के निर्माण के लिए 'पटी' को तैयार करनी चाहिए। इसका विशेष प्रमाण बत्तीस अंगुल है या फिर यह अपने आकार के अनुसार प्रमाणवाली रखी जाए।

बिल्वमध्येन[1] कर्तव्या पटी[2] चीरसमाश्रया।
स्विन्नेन बिल्वकल्केन द्रवेण च समन्विता[3] ॥ १७५ ॥
भस्मना वा तुषैर्वापि [4]कारयेत्प्रतिशीर्षकम्।
संच्छाद्य तु[5] ततो वस्त्रैर्बिल्वदिग्धैर्घनाश्रयैः[6] ॥ १७६ ॥
बिल्वकल्केनचीरन्तु दिग्ध्वा[7] संयोजयेत् [8]पटीम्।
न स्थूलां न[9] तनुञ्चैव न मृद्वीञ्चैव कारयेत् ॥ १७७ ॥

यह 'पटी' बीलों के घोल से कपड़े को पोतकर तैयार की जाती है। बीले के गीले रस या बीले के छिलकों या उसके घोल के साथ राख मिट्टी या धान के भूसे (तुष) को मिला कर 'चेहरे' बनाए जाए और फिर बीले के रस से भिगोये हुए कपड़ों से ढँक दिये जाए। और यह बीलों के छिलकों से बनने वाली 'पटी'-जिस पर कपड़ा लगाया गया हो, न तो बहुत मोटी न बहुत बतली तथा न बहुत नरम ही बनाई जाए ॥ १७५-१७७ ॥

[10]तस्यामातपशुष्कायां सुशुष्कायामथापि वा।
[11]छेद्यं बुधस्तु कुर्वीत विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १७८ ॥

---

१. चेहरों के बनाने का यह विधान प्राचीन-नाट्य के अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिए मननीय है। ऐसा विवरण अन्य किसी नाट्यग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता तथा इसके द्वारा अनेक मस्तक या बाहुओं वाले पात्र का स्वरूप प्रदर्शन भी सहज हो जाता हैं।

---

१. कल्केन—ख०। २. घटी सिरसमाश्रया—क०।
३. समागता—घ०, समाहिता—क (भ)।
४. प्रतिशीर्षाणि कारयेत्—ग०, घ०। ५. कृतको वस्त्रै—ग०।
६. घटाश्रयैः—क०। ७. दिग्धाङ्गं योजयेत् पटीम्—ख०, ग०।
८. घटीम्—क०। ९. नानतां तन्वीं दीर्घां चैव न कारयेत्—क०।
१०. शुष्कायास्तु ततस्तस्यामनिलातपयोगतः—ग०, घ०।
११. छेद्यं बुधाः प्रकुर्वन्ति—क०, छेद्यं बुधः प्रकुर्वीत लक्षणं कृतिनिर्मितम्—क (म०)।

सुतीक्ष्णेन तु शस्त्रेण अर्द्धार्द्धं प्रविभज्य च।
स्वप्रमाणविनिर्दिष्टं [1]ललाटकृतकोणकम् ॥ १७९ ॥

जब यह 'पटी' (आग या) धूप से सूख जाए तो नियमानुसार (लक्षणानुसार) इसमें 'छेद' किए जाएं। ये छेद किसी तीखे औजार से किये जाएं और आधे-आधे भाग का विभाग करते हुए भी रहें। इस प्रकार छः अंगुल लम्बे और एक अंगुल चौड़े भाग को खोलने वाले ललाट के स्वरूप वाले छेद बनाए जाए और इनमें दो कोने भी (या दोनों कोनों पर) भी छेद रहें ॥ १७८-१७९ ॥

अर्धाङ्गुलं[2] ललाटन्तु कार्यं छेद्यं षडङ्गुलम्।
[3]अर्धार्धमङ्गुलं छेद्यं [4]कटयोस्त्र्यङ्गुलं[5] भवेत् ॥ १८० ॥

(तब) इसमें (एक जोड़) छेदों को दो अंगुल लम्बा, डेढ़ अंगुल चौड़ा कपोल के पास काट कर बनाया जाए और 'कपोल' के छिद्र बन जाने पर कानों के लिये तीन अंगुल लम्बे छिद्रों को बनाया जाए ॥ १८० ॥

कटान्ते [6]कर्णनालस्य छेद्यं द्व्यधिकमङ्गुलम्[7]।
त्र्यङ्गुलं कर्णविवरं[8] तथा[9] स्याच्छेद्यमेव हि ॥ १८१ ॥
ततश्चैवावटुः[10] कार्या सुसमा द्वादशाङ्गुला।
पटीच्छेद्यकृतं[11] ह्येतद् विधानं विहितं मया ॥ १८२ ॥
तस्योपरि ततः[12] कार्या मुकुटा बहुशिल्पजाः।
नानारत्नप्रतिच्छन्ना बहुरूपोपशोभिताः ॥ १८३ ॥

कानों के लिए बनाये जाने वाले तीन अंगुल के छेद के समान उतने प्रमाण में ही मुंह के लिये बनाये जाने वाले छेद की भी लम्बाई रखनी

१. ललाटाकृतिकोणजम्—घ०; ललाटाकृतिकोणजम्—क (द)।
२. मर्धाङ्गुलललाटं—ग०। ३. अध्यर्धम—घ०।
४. कटे च—क (न०)। ५. द्व्यङ्गुलं—क०।
६. कर्णतालस्य—ख०।
७. त्वधिक—ख०; च विधिमङ्गुलम्—क (च)।
८. कर्णविस्तारं—घ०। ९. तथास्यं छेद्य—घ०।
१०. तस्य चैवावटः कार्यो समा वै द्वादशा—क (म०)।
११. घट्यां ह्येतत् सदा छेद्ये—क०।
१२. तस्योपरिगताः कार्या मुकुटा विविधाश्रयाः—क०, घ०।

चाहिए। इसमें सुडौल गर्दन (अवटु) को बारह अंगुल लम्बा बनाया जाता है। इस प्रकार चेहरों के लिये बनाई जाने वाली 'पटी' के काटने तथा छेद करने की विधि बतलाई गई। इसके पश्चात् इन पर अनेक कलापूर्ण रत्नजटित मुकुटों को स्थापित करना चाहिए ॥ १८१-१८३ ॥

अन्य नाट्योपकरण—

[1]तथोपकरणानीह [2]नाट्ययोगकृतानि वै।
बहुप्रकारयुक्तानि[3] कुर्वीत प्रकृतिं प्रति ॥ १८४ ॥

नाट्य-प्रदर्शन में पात्रों के प्रयोग में अपेक्षित उपकरणों का नाट्यमंच की आवश्यकता के अनुरूप ही विभिन्न स्वरूपों में निर्माण किया जाए ॥१८४॥

यत्किञ्चिदस्मिन् लोके[4] तु चराचरसमन्विते।
विहितं कर्म शिल्पं वा [5]तत्तूपकरणं स्मृतम् ॥ १८५ ॥

(किसी) नाट्य प्रदर्शन में—वे सभी वस्तुएँ उपकरण होती हैं जो इस जड़चेतनमय संसार में बनने वाले शिल्प या वस्तु हैं ॥ १८५ ॥

यद्यस्य विषयं प्राप्तं [6]तत्तदेवाभिगच्छति।
[7]नास्त्यन्यः पुरुषाणां हि [8]नाट्योपकरणाश्रये ॥ १८६ ॥

इसलिए इन उपकरणों में से जो जहाँ से प्राप्त हो उसके लिए उसी व्यक्ति के पास पहुँचा जाय जिसे इसका विशेष ज्ञान हो, उसी पर निर्भर रहना पड़ेगा। इन उपकरणों को नाट्य-प्रदर्शन के हेतु प्राप्त करने में मनुष्यों को और कोई दूसरा चारा नहीं है ॥ १८६ ॥

यद्येनोत्पादितं कर्म शिल्पयोगः क्रियापि वा।
[9]तस्य तेन कृता सृष्टिः प्रमाणं लक्षणं तथा ॥ १८७ ॥

किसी भी कलाकार ने जिस वस्तु को अपनी विशेष कला या शिल्प द्वारा निर्माण किया है उसने उसके नापतौल का प्रमाण तथा लक्षण भी बना दिया है ॥ १८७ ॥

---

१. तत्रोप—ग०, घ०। २. नाट्ययुक्ति—घ०।
३. नाना विधान—क (म०)।
४. लोकेऽथ सचराचरसंज्ञिते—क (ज०)।
५. तद्रूपकरणं भवेत्—क (प०)।
६. स तस्मिंस्त्वधि—ग०, घ०। ७. नास्यतः—ग०।
८. नान्योपकरणाश्रयम्—ग०, नाट्योपकरणाश्रयम्—घ०।
९. सा तस्यैव क्रिया कार्या—क (म०)।

या [1]काष्ठयन्त्रभूयिष्ठा कृता सृष्टिर्महात्मना[2] ।
न [3]सास्माकं नाट्ययोगे कस्मात् खेदावहा हि सा ॥ १८८ ॥

जो वस्तुएं बड़ी बड़ी तथा लोहे लकड़ी आदि से निर्मित (भारी) हों उन्हें नाट्योपकरण नहीं बनाया जाए, क्योंकि उनका वजनदार होना कलाकारों को बड़ा आयास करवाता है ॥ १८७ ॥

यद्द्रव्यं जीवलोके तु नानालक्षणलक्षितम्[4] ।
तस्यानुकृतिसंस्थानं नाट्योपकरणं भवेत् ॥ १८९ ॥

इस संसार में स्वरूप तथा लक्षण वाले जो भी पदार्थ हो उनकी 'प्रतिकृति' का इस (हमारे) नाठ्यप्रदर्शनों में उपयोग किया जाए ॥१८९॥

[5]प्रासादगृहयानानि नानाप्रहरणानि[6] च ।
न[7] शक्यं तानि वै कर्तुं यथोक्तानीह लक्षणैः ॥ १९० ॥

यद्यपि महल, मकान तथा यान का नाट्यप्रदर्शन में उपयोग होता है, किन्तु इनका मंच पर यथार्थ रूप में निर्माण नहीं किया जा सकता है ॥ १९० ॥

लोक तथा नाट्यधर्मी (उपकरण)

लोकधर्मी भवेत्त्वन्या नाट्यधर्मी तथापरा[8] ।
स्वभावो[9] लोकधर्मी तु [10]विभावो नाट्यमेव हि ॥ १९१ ॥

इनमें कुछ पदार्थ लोकधर्मी होने चाहिए और कुछ नाट्यधर्मी होते हैं। अपने स्वाभाविक स्वरूप में रहने वाली वस्तुएँ लोकधर्मी तथा उन पदार्थों का भावनापूर्ण या परिवर्तित रूप में किया जाने वाला व्यवहार नाट्यधर्मी होता है ॥ १९१ ॥

---

१. काष्णीयस—सः ग० ।
२. ६. महत्तरा—ख० ग०, कृता भूमिर्महत्तरा—क (म०) ।
३. नास्माकं सम्मता नाट्ये गुरुत्वात् खेददा हि सा—ख० ।
४. संयुतम्—क (म०) ।
५. प्रासादकृत्त—क० (ढ़) ।
६. नाट्योपकरणानि च—ख०, ग० ।
७. न शक्यानि तथा कर्तुं—ख०, ग०, घ० ।
८. तथापि वा—क (म) ।
९. प्रभवो—क (प०); प्रभावो—क (ड़) ।
१०. विकारो नाट्यमेव हि—क (प); नाट्यधर्मी विकारतः—ग० ।

[1]आयसन्तु न कर्तव्यं न[2] च सारमयन्तथा ।
नाट्योपकरणं तज्ज्ञैर्गुरुखेदकरं[3] भवेत् ॥ १९२ ॥

(इसलिये) नाट्य मंच पर उपयोगी उपकरण पत्थर, लोहे तथा अन्य धातुओं से बने हुए नहीं होने चाहिए क्योंकि भारी होने से ये कार्यकर्ताओं को श्रम उत्पन्न करवाते हैं ॥ १९२ ॥

[4]काष्ठचर्मसु वस्त्रेषु जतुवेणुदलेषु च ।
नाट्योपकरणानीह लघुकर्माणि[5] कारयेत् ॥ १९३ ॥

(अतएव) ये नाट्योपयोगी वस्तुएँ लाख, लकड़ी, चमड़ा, कपड़ा, भोजपत्र या बांसों की खपच्ची (चिपटियों) के द्वारा हलकी फुलकी स्वरूपवाली बनाई जाएँ ॥ १९३ ॥

[चर्मवर्मध्वजाः शैलाः प्रासादा [6]देवताग्रहाः ।
हय-वारणयानानि विमानानि गृहाणि च ॥ क ॥ १९३ ॥
पूर्वं वेणुदलैः कृत्वा [7]कृतीर्भावरसाश्रया ।
ततः सुरंगैराच्छाद्य वस्त्रैः सारूप्यमानयेत् ॥ ख ॥ १९३ ॥

[प्रक्षिप्त :—१९३ के मध्य १९४]—ढ़ाल, ध्वज, पर्वत, महल, मन्दिर, घोड़ा, हाथी, रथ, विमान तथा मकान का रंगमंचार्थ प्रणयन पहिले बांस से उनकी उचित शकलें बनाकर फिर रंगीन वस्त्रों से ढँककर तथा बाद में उन्हें वैसे रूप में रंगते हुए ले आए । (१९५, १९६) [ये प्राप्य श्लोक यहाँ सम्बद्ध भी हैं—सम्पा० ।]

अथवा यदि [8]वस्त्राणामसान्निध्यं[9] भवेदिह ।
तालीयैर्वा[10] किलिञ्जैर्वा श्लक्ष्णैर्वस्त्रक्रिया[11] भवेत् ॥ १९४ ॥

---

१. लोहादिभिः न—ग० । २. नगसारमयं न च—घ० ।
३. गुरुत्वात् खेदकृद् हि तत्—ग०, घ० ।
४. जतुकाष्ठं चर्मवस्त्रप्रभावेणुदलैस्तथा—ख, ग०, चर्मवस्त्रभाण्डवेणु—घ; जतुकाष्ठमयैर्भाण्डैश्चर्मवेणुदलैस्तथा—क (म०) ।
५. कर्मणि—क (ड़) । ६. शिखरास्तथा—घ० ।
७. कृतभाव—ख० । ८. वर्णानां—क (ज०) ।
९. तद्विधानामसम्भवः ग० घ० ।
१०. तालीयज्ञैः कीलजैर्वा—ग० (ट) ।
११. वस्त्रैः क्रिया—घ० ।

या फिर इन वस्तुओं के निर्माणार्थ उपयुक्त एवं पर्याप्त वस्त्रों की उपलब्धि न हो पाए तो इन्हें ताड़ के पत्तों (तालीयजैः) या चटाइयों (किलिञ्ज) के द्वारा बना लिया जाए ॥ १९४ ॥

[1]तथा प्रहरणानि स्युस्तृणवेणुदलादिभिः ।
जतु-भाण्डक्रियाभिश्च नानारूपाणि नाटके ॥ १९५ ॥

इसी प्रकार शस्त्र भी घास या बांस के खपच्चों (चिपटियों) से बनाना चाहिए तथा लाख और भाण्ड के साथ इन विभिन्न वस्तुओं को बनाकर प्रदर्शित करना चाहिए ॥ १९५ ॥

[2]प्रतिपादं प्रतिशिरः प्रतिहस्तं प्रतित्वचम् ।
तृणैः किलिञ्जैर्भाण्डैर्वा सारूप्याणि तु कारयेत् ॥ १९६ ॥

कई वस्तुओं की प्रतिकृतियां—जैसे पैर, सर या चमड़े की शकलें घास, चटाई या भाण्ड[1] (वर्तन) के द्वारा निर्माण कर लेनी चाहिए ॥ १९६ ॥

[3]यद्यस्य सदृशं रूपं सारूप्यगुणसम्भवम् ।
मृण्मयं तत्तु कृत्स्नं तु [4]नानारूपन्तु कारयेत् ॥ १९७ ॥

और अनेक वस्तुएँ उनके समानता के या नमूने के अनुसार वैसी ही (उचित रूप में) मिट्टी से बना ली जाएँ ॥ १९७ ॥

भाण्डवस्त्रमधूच्छिष्टै र्लाक्षियाभ्रदलेन च ।
[5]नगास्ते विविधाः कार्या ह्यतसीशणबिल्वजैः ॥ १९८ ॥

विभिन्न आकार के पर्वत, ढ़ाल, कवच, ध्वज आदि को बर्तनों (भाण्ड) कपड़े, मोम (मधूच्छिष्ट), लाख तथा भोडल (अभ्रपत्र) के बनाए जायें ॥ १९८ ॥

---

१. भाण्ड = ऐसे वर्तन जो तुम्बी से निर्मित हों क्योंकि ये हलके होते हैं ।

---

१. चर्मकाष्ठकृतैर्वापि तृणवेणुदलैरपि । जतुभाण्डकृतैश्चैव नानारूपाणि कारयेत्—क (म०) ।

२. प्रतिपादो प्रतिशिरः प्रतिहस्तौ प्रतित्वचम् । तृणजैः कीलजैर्भाण्डैः सरूपाणि तु कारयेत्—क (प०) ।

३. यदास्य यादृशं कर्म तद्रूपं गुणसंयुतम् । मृण्मयं तमुपाकृत्य यद्रूपं तत्प्रकारयेत् ॥—क (भ०) ।

४. नानारूपांस्तु—ख०, ग० ।

५. नगास्तु विविधाः कार्याः चर्मवर्मध्वजास्तथा ।—ग०, घ० ।

[1]नानाकुसुमजातीश्च फलानि [2]विविधानि च।
[3]विविधानि च भाण्डानि लक्षया वापि कारयेत्॥ १९९॥

इसी तरह विभिन्न प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले फल, पुष्पों तथा अनेक प्रकार के बर्तनों को लाख से ही बना लेना चाहिए।

अलंकारों की निर्माण विधि—

भाण्डवस्त्रमधूच्छिष्टैस्ताम्रपत्रैस्तथैव[4] च।
सम्यक्च[5] नीलीरागेणाप्यभ्रपत्रेण चैव हि॥ २००॥
रञ्जितेनाभ्रपत्रेण मणीश्चैव[6] प्रकारयेत्।
[7]उपाश्रयमथाप्येषां [8]शुल्वबङ्गेन कारयेत्॥ २०१॥

अलंकारों को बर्तन, वस्त्र, मोम (मधूच्छिष्ट) तांबे के पतरे, नील के रंग तथा भोडल के द्वारा उनके उपयुक्त रंग देते हुए बनाया जाए और फिर इन पर भोडल का पोता (चमक के लिए) लगा देना चाहिए या इनकी ऊपरी चमक (पालिश) ताँबे से की जाए॥ २००–२०१॥

विविधा मुकुटा दिव्या[9] पूर्वं ये गदिता मया।
[10]तेऽभ्रपत्रोज्वलाः कार्या मणिक्यालोकशोभिताः[11]॥ २०२॥

जिन अनेक प्रकार के दिव्य मुकुटों के लक्षण पूर्व में मैंने बतलाये—उनका निर्माण भोडल के चमकीले पट्टों से करने पर वे मणि, माणिक की आलोक से चमकते हुए दिखाई देंगे।

[12]न शास्त्रप्रभवं कर्म [13]तेषां हि समुदाहृतम्।
[14]आचार्यबुद्ध्या कर्त्तव्यमूहापोहप्रयोजितम्[15]॥ २०३॥

---

१. कुसुमजातानि—ग०; नानाप्रदेशजातानि—घ०।
२. कुसुमानि च—घ०।
३. भाण्डवस्त्रमधूच्छिष्टैर्लाक्षया—क०। ४. ताम्रवर्णै—ग०।
५. तत्साम्यं नीलरागेण अभ्रपत्रेण चैव हि—ख०, ग०।
६. भित्तयश्चैव कारयेत्—क (भ०)।
७. अपाश्रयं तथा चैषां शुक्लभेण्डेन (?) चैव हि—क (म०)।
८. शुल्वभ्रष्टै—ग०। ९. दीर्घाः—क (भ०)।
१०. ताम्रपत्रो—क (म०)।
११. मणिव्यालोपशोभिताः—क० मणिप्रद्योतशोभिताः—क (भ०)।
१२. नानाशास्त्रभवं—ख (मु)। १३. प्रोक्तमेषां विधानतः—क (म०)।
१४. विचार्यं—ग०। १५. मन्यापोह—ग०।

यहाँ इन सभी वस्तुओं की शास्त्रों में दी गई निर्माणविधि नहीं दी जा रही है। अतएव इनके निर्माण आचार्य के निर्देशन से या उस विषय के जानकार शिल्पी के साथ विचार-विमर्श के अनुसार किये जाएँ ॥ २०३ ॥

[1]एष मर्त्यक्रियायोगो [2]भविष्यत्कल्पितो मया।
[3]कस्मादल्पबलत्वं हि [4]मनुष्येषु भविष्यति ॥ २०४ ॥

ये नाट्यप्रदर्शन के नियम भावी मानवों की स्थिति को देखते हुए बनाए गए हैं, क्योंकि भविष्य में मानवी पीढ़ियां बलहीन होतीं जाएँगी ॥ २०४ ॥

[5]मर्त्यानामल्पशक्तित्वान्न[6] चातीवाङ्गचेष्टितम्[7]।
नेष्टाः सुवर्णरत्नैस्तु मुकुटाः भूषणानि वा ॥ २०५ ॥

और बलहीन मनुष्यों के द्वारा आंगिक अभिनय का ठीक प्रदर्शन भारी वस्तुओं के धारण करने पर संभव नहीं होगा। इसलिये सोने के रत्नों से जटित मुकुट का धारण नाट्यप्रदर्शन में नहीं करना चाहिए ॥ २०५ ॥

युद्धे नियुद्धे नृत्ते वा [8]दृष्टि-व्यापारकर्मणि।
गुरुभावावसन्नस्य [9]स्वेदो मूर्च्छा च जायते ॥ २०६ ॥
स्वेदमूर्च्छा-क्लमार्त्तस्य[10] प्रयोगस्तु विनश्यति।
प्राणात्ययः कदाचिच्च भवेद्व्यायतचेष्टया[11] ॥ २०७ ॥
[12]तस्मात्ताम्रमयैः पत्रैरभ्रकै रञ्जितैरपि।
[13]भाण्डैरथमधूच्छिष्टैः कार्याण्याभरणानि तु ॥ २०८ ॥

---

१. एवं—ख० ग०। २. भविष्यत् कथितो—ख० ग०।
३. यस्माद—ख०; ग०। ४. मानुषेषु—ग०।
५. मल्पशक्तीनां—ख०।
६. न च वागङ्ग चेष्टितम्—क (भ०); न भवेदङ्गचेष्टितम्—ख०, ग०।
७. मर्त्यानामपि नो शक्या विभावाः सर्वकाञ्चनाः—क।
८. वृष्टि—क। ९. न व्यायत—विचेष्टना—क (ज०)।
१०. श्रमार्तस्य—ख०; मूर्च्छयाभिहते जन्तौ प्रयोगो न भविष्यति—क (च०)।
११. व्यायतचेष्टिते—ख०; व्यायतचेष्टनात्—ग०।
१२. तस्माद्धि ताम्रपत्रेण मुकुटादि प्रकारयेत्। स्वच्छन्दनीलरागेण अभ्रपत्रेण चित्रितम् ॥—क (म०); रक्ताच्छनीलहरिणा अभ्रपत्रेण वेष्टितम्—घ०; रक्तस्थनीलहारेण अभ्रपत्रेण वेदितम्—ग०।
१३. भेण्डैरपि—क०।

युद्ध, बाहुयुद्ध, नृत्य तथा विभिन्न दृष्टियों के प्रदर्शन में शरीर के बहुत से भारी गहनों से लदे रहने पर अभिनेता को पसीना या बेहोशी आ जाती है। और यदि अभिनेता को स्वेद या मूर्च्छा आ जाए तो नाट्य-प्रदर्शन बिगड़ जाता है और कभी-कभी कठोर या श्रमपूर्ण नृत्यों के प्रदर्शन करने में अभिनेता का प्राण तक जाने का खतरा बना रहता है। इसलिये गहने पतले तांबे के पतरों से बनाए जायें और फिर भोडल (भाण्ड) या मोम का उन पर प्लस्तर आदि चढ़ाया जाए ॥ २०६–२०८ ॥

एवं लोकोपचारेण स्वबुद्धिविभवेन च[1]।
नाट्योपकरणानीह बुधः सम्यक्प्रयोजयेत् ॥ २०९ ॥

इस प्रकार लोकव्यवहार को अपनी व्यावहारिक बुद्धि से देखते हुए बुद्धिमान् नाट्यनिर्देशक इन नाटयोपकरणों का आवश्यकतानुसार उपयोग करें ॥ २०९ ॥

रंगमंच पर शस्त्रों का व्यवहार—

[2]मोक्तव्यं नायुधं रंगे न छेद्यं न च ताडनम् ।
प्रादेशमात्रं गृण्हीयात् संज्ञार्थं शस्त्रमेव च ॥ २१० ॥

रंगमंच पर न तो (सचमुच के) शस्त्रों को छोड़ना या चलाना चाहिए और न किसी पात्र का छेदन या ताड़न करना चाहिए। इन्हें केवल दूर से (प्रादेश मात्र) स्पर्श करते हुए इसी प्रकार की मुद्रा (या भाव) का प्रदर्शनमात्र करना चाहिए ॥ २१० ॥

अथवा[3] योगशिक्षाभिर्विद्या[4] मायाकृतेन वा ।
शस्त्रमोक्षः प्रकर्तव्यो रङ्गमध्ये प्रयोक्तृभिः ॥ २११ ॥

अथवा अभिनेता को पूर्ण शिक्षित होकर चतुराई से रंगमंच पर शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए जिससे उसकी दक्षता तथा शौर्य प्रदर्शित हो ॥ २११ ॥

---

१. वा—ग० घ० ।

२. न भेद्यं नैव च छेद्यं न प्रहर्त्तव्यमेव च ।
रङ्गे प्रहरणैः कार्यं संज्ञामात्रं तु कारयेत् ॥ क० ख०

३. शिक्षायोगेन नाट्येऽस्मिन्—क (भ०); ग० घ० ।

४. शिक्षामायाकृतेन वा—ग०, विद्यायोगकृतेन वा—क (भ०)।

[1]एवं नानाप्रकारैस्तु आयुधाभरणानि च ।
नोक्तानि यानि च मया लोकाद्[2] ग्राह्याणि तान्यपि ॥ २१२ ॥

इस प्रकार वे सम्बन्धित सभी बातें जो इन विविध शस्त्रों के चलाने में बरतनी चाहिए तथा मैंने जिन्हें छोड़ दिया हो तो वे लोक व्यवहार को देखकर स्वयं समझते हुए प्रदर्शित की जाए ॥ २१२ ॥

आहार्याभिनयो ह्येष मया प्रोक्तः समासतः ।
[3]अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सामान्याभिनयं प्रति ॥ २१३ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे आहार्याभिनयो नाम
त्रयोविंशोऽध्यायः ।

मैंने आपको संक्षेप में 'आहार्याभिनय' बतलाया है। अब मैं सामान्याभिनय प्रदर्शन को बतलाता हूं।

भरतमुनि प्रणीत नाटयशास्त्र का 'आहार्याभिनय' नामक
तेइसवाँ अध्याय समाप्त ॥

१. आयुधान्येवमेतानि प्रयोज्यानि प्रयोक्तृभिः—क (भ०)।
२. लोकग्राह्याणि—ग०; घ० ।
३. अतः परं—क (भ०) ।

चतुर्विंशोऽध्याय

सामान्याभिनयाध्याय

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्वजः ।
तत्र[1] कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यं सत्वे प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

वाणी (शब्द), अंग तथा सत्व पर निर्भर रहने वाले (या इनसे उत्पन्न होने वाले) अभिनय को 'सामान्याभिनय'[1] समझना चाहिए । इनमें

---

१. भरत के मत में आंगिक, वाचिक एवं सात्विक अभिनयों के समन्वित रूप का नाम है सामान्याभिनय । सामान्यअभिनय के अन्तर्गत विभिन्न अभिनयों के प्रयोग कैसे किये जाए ? इस विषय पर अब विचार किया जाता है क्योंकि इसी कारण इसकी बड़ी व्यापक सीमाएँ हैं । आङ्गिक आदि जितने भी अभिनय प्रकार हैं सभी का सामान्याभिनय की एक विशिष्ट प्रणाली के द्वारा सूचन किया जा सकता है । अतः अङ्गों एवं उपांगों के द्वारा सम्पाद्य अभिनय का समीकरण प्रदेश होता है सामान्याभिनय ही । आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार एक गान्धिक जब किसी किराना की दूकान से विविध गन्ध द्रव्यों को लाकर उनका सन्तुलित प्रयोग करता है तो इनसे जैसे एक सामान्य गन्धद्रव्य या सुगन्धित पदार्थ (इत्र) बनता है, इसी प्रकार विविध अभिनयों का सन्तुलित प्रयोग सामान्याभिनय समझना चाहिए ।

कोहल तथा उनके अनुयायी आचार्यों ने सामान्याभिनय के छः प्रकार माने हैं :—

शिष्टं कामं मिश्रं वक्रं सम्भूतमेकयुक्तत्वम् ।
सामान्याभिनये यत् षोढा विदुरेतदेव बुधाः ॥
(अभि० भा० खण्ड ३, पृ० १४६)

अर्थात् सामान्याभिनय के शिष्ट, काम, मिश्र, वक्र, सम्भूत तथा एकत्वयुक्त नामक छः भेद होते हैं । कोहल के इस उद्धरण से अभिनवगुप्त ने यहाँ सामान्याभिनय के प्राचीन एवं परम्परागत मान्यता के क्रम को दिखलाया है । सामान्याभिनय प्रयोगात्मक है तथा प्रयोगों के समीकृतस्वरूप वाले इस अभिनय-विधान के माध्यम को भरतमुनि ने कवि तथा नाट्यप्रयोग के प्रस्तोता के

---

१. सत्वे कार्यः—ग०, घ० ।

'सत्व' पर अधिक ध्यान देना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण नाट्य-प्रदर्शन में 'सत्व' की मौलिक महत्ता है ॥ १ ॥

सत्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते ।
समसत्वो भवेन्मध्यः सत्वहीनोऽधमः स्मृतः ॥ २ ॥

जिस (अभिनय) में 'सत्व' का अतिशय समावेश हो उसे ज्येष्ठ या 'उत्तम', समान मात्रा में हो तो 'मध्यम' तथा सत्व रहित हो तो उसे 'अधम' प्रकार का अभिनय समझना चाहिए ॥ २ ॥

'सत्व' का लक्षण—

अव्यक्तरूपं सत्वं हि विज्ञेयं[1] भावसंश्रयम् ।
यथा स्थानरसोपेतं रोमाञ्चास्रादिभिर्गुणैः ॥ ३ ॥

'सत्व'[1] अदृश्य रूप वाला होता है, किन्तु रसों (तथा भावों) को

लिये विशेष शिक्षाहेतु प्रस्तुत भी किया है। नाट्यप्रयोग की दृष्टि से इसी कारण इस अभिनय का महत्व है जिसे ध्यान में रख कर ही मुनि ने केवल इसका पृथक् रूप में उल्लेख ही नहीं किया किन्तु प्रतिपादन भी किया है।

१. अभिनयों में सात्विक अभिनय की ही प्रमुखता होती है क्योंकि यह उत्तम कोटि का होता हैं। सत्व या अन्तर्मन का प्रवर्तन वाणी एवं विविध आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा होता है। सात्विकभावों के प्रकाशन का माध्यम होता है देह। इसमें अव्यक्त रहने वाले मानसिक भाव रोमाञ्च, अश्रु आदि के यथोचित रसानुरूप प्रस्तुत किये जाने पर अभिव्यक्ति पाते हैं जिनसे नाट्य-प्रयोग रसमय हो जाता है। इसी कारण सत्व या आन्तर मनोभाव के उपयुक्त प्रदर्शन में अन्य अभिनयों की अपेक्षा अभिनेताओं को अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता होती हैं। इसी प्रयत्नाधिक्य का परिमाण सत्वाभिनय होने से इसे उत्तमता या ज्येष्ठता यहाँ दी गयी है। जिसमें आंगिक, वाचिक तथा सात्त्विक अभिनयों के अनुपात में : दोनों की अपेक्षा सात्विक अभिनय की मात्रा अधिक रहे। दोनों अभिनय के समअनुपात में मध्यमकोटि का अभिनय तथा आंगिक या वाचिक में से एक की ही मात्रा अधिक हो एवं आन्तरिक चित्तवृत्ति (सात्विक भावों) का जिसमें प्रकाशन ही न हो वह अधमकोटि का अभिनय हो जाता है। इसका कारण यह है कि यदि अन्य विधियों के द्वारा आन्तरिक चित्तवृत्तियों का प्रकाशन न हो या नितान्त न्यूनमात्रा में होता हो तो इससे

---

१. ज्ञेयं भावरसाश्रयम्—क (च), ग०;—विज्ञेयं भावनाश्रयम्—क (भ;) ज्ञेयं नव रसाश्रयम्—ख०।

उचित रूप (यथा स्थान) में रोमांच, अश्रु आदि के द्वारा भावाश्रित होकर अभिव्यक्त भी करता है ॥ ३ ॥

(स्त्रियों के द्वारा प्रयोज्य सुकुमार) नाट्यालंकार—

अलङ्कारास्तु [1]नाट्यज्ञैर्ज्ञेया [2]भावरसाश्रयाः ।
[3]यौवनेऽभ्यधिकाः स्त्रीणां विकाराः वक्त्रगात्रजाः ॥ ४ ॥

नाट्यवेत्ताजन युवतियों के सुकुमार भाव को पुष्ट करने वाले रस तथा भावों के आश्रित इन अलंकारों[1] को नाट्य-प्रदर्शन में शरीर तथा उसमें होने वाले अनेक मुखज विकारों तथा परिवर्तनों के द्वारा जान लें—जो यौवनावस्था में इन (स्त्रियों) में बहुतायत से होते हैं ॥ ४ ॥

अभिनय के उद्देश्य में ही बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि नाट्यप्रयोग की उत्तमता सात्विक अभिनय की अतिरिक्तता पर समधिक आधृत है। क्योंकि नाट्य में भी तो मानव के आन्तरिक मनोभावों तथा वृत्तियों के संघर्षों का प्रतिफलन इष्ट होता है। भरतमुनि इन्हीं सात्विकचिह्नों के माध्यम से मानवीय वृत्तियों को अनुभवगम्य बनाना चाहते थे यह इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

१. सामान्याभिनय के तात्विक आकलन के प्रसंग में भरतमुनि ने नारी तथा पुरुषों के अलङ्कारों का यहाँ विवरण दिया है। इनके मत में भाव, हाव हेला या अन्य अयत्नज एवं स्वाभाविक चेष्टालङ्कारों के द्वारा भावप्रेषण संभव होता है, क्योंकि ये अलङ्कार भाव एवं रसों के आधार माने जाते हैं। देहात्मक सात्विक विभूतियाँ देहधर्म के रूप में मनुष्यों में विद्यमान रहती हैं। आङ्गिक विकार रूप ये ही शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार रूप हो जाते हैं जिनका दर्शन उत्तम स्त्री पुरुषों में होता है। स्त्रियों की उत्तमता शृङ्गाररस में एवं पुरुषों की वीररस में होती है। ये सत्वज अलङ्कार उत्तम स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त अन्यत्र भी दृष्टिगत हो सकते हैं, क्योंकि सात्विक भाव राजस एवं तामस देहों में भी रहता ही है। ये आंगिक विकार तीन प्रकार के हैं—अंगज, स्वाभाविक तथा अयत्नज तथा अंगज विकार के अन्तर्गत भाव, हाव तथा हेला होवे हैं।

---

१. सत्वस्था—ख०; वृत्तज्ञैः—क (म०)।

२. समाश्रयाः—कं ।

३. ह्यधिकाः—ग०, प्यधिकाः—घ० ।

आदौ त्रयोऽङ्गजास्तेषां[1] दश स्वाभाविकाः परे[2] ।
अयत्नजाः [3]पुनः सप्त [4]रसभावोपबृंहिताः ॥ ५ ॥

इनमें शरीर के परिवर्तन से होने वाले 'अंगज' अलंकार के तीन प्रकार, स्वाभाविक परिवर्तन जन्य 'सहज' अलंकार के दस प्रकार तथा अनायास रहने वाले 'अयत्नज' अलंकारों के सात प्रकार होते हैं ॥ ५ ॥

स्त्रियों के अंगज अलंकार—

[5]देहात्मकं भवेत्सत्वं सत्वाद्भावः समुत्थितः ।
भावात् समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता ॥ ६ ॥

स्त्रियों की (उत्तम) देहगत स्वाभाविकता को 'सत्व' जानों, सत्व से 'भाव' का, भाव से 'हाव' का और हाव से 'हेला' का उद्‌भव हुआ है ॥ ६ ॥

[6]हेला हावश्च भावश्च परस्परसमुत्थिताः[7] ।
[8]सत्वभेदे भवन्त्येते शरीरे [9]प्रकृतिस्थिताः ॥ ७ ॥

ये हेला, हाव तथा भाव एक दूसरे से उत्पन्न होते हुए भी जो कि सत्व के ही विभिन्न प्रकार हैं—शरीर की प्राकृतिक (सहज) स्थिति से सम्बद्ध रहते हैं ॥ ७ ॥

भाव—

वागङ्गमुखरागैश्च सत्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥ ८ ॥

वाणी, अंग, मुखराग तथा सत्व के अभिनय द्वारा नाटयरचनाकार के अन्तर्गत एवं इष्ट भावों का भावन करवाने के कारण यह 'भाव'[1] कहलाता हैं ॥ ८ ॥

---

१. भाव का यही वर्णन ना० शा० अ ७।२ में भी है । यह भाव वासना-रूप में मनुष्यमात्र में रहता है ।

---

१. प्रोक्ताः—क (भ०) । २. स्तथा—ख ।
३. स्तथा—ख । ४. प्रोक्ता भावोपबृंहिताः—क (न०) ।
५. अतः प्रभृति आदर्श पुस्तकेषु श्लोकपञ्चकस्य पाठक्रमो भिन्नः दृश्यते ।
६. भावो हावश्च हेला च—ख०, ग०, घ० ।
७. समुत्थितः—क (भ०) । ८. सत्वभेदा—ख० ग० ।
९. शरीरप्रकृति—ग०; प्रकृतिर्हि ताः—क (भ०) ।

[1]भावस्यातिकृतं सत्वं व्यतिरिक्तं स्वयोनिषु[2]।
नैकावस्थान्तरकृतं[3] भावं[4] तमिह निर्दिशेत् ॥ ९ ॥

'[1]'भाव' का अतिशय अनुभव (या सत्व) जो किसी सम्मुखस्थ स्त्री या पुरुष (या सम्मुख स्थित विपरीत व्यक्ति—यहाँ पुरुष के सम्मुख स्त्री से तात्पर्य है) में अनेक अवस्थाओं में स्थित हो तो उसे भी 'भाव' जानना चाहिए ॥ ९ ॥

हाव—

तत्राक्षिभ्रूविकाराढ्यः[5] [6]शृङ्गाराकारसूचकः।
[7]सग्रीवारेचको ज्ञेयो हावः[8] [9]स्थितसमुत्थित ॥ १० ॥

भाव की उस अवस्था को जो चित्त वृत्तियों से उद्भूत होकर नेत्र, भौहें, ग्रीवा के रेचक आदि आङ्गिक चेष्टाओं (आदि) के द्वारा शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति करते हों—'हाव' कहलाते हैं ॥ १० ॥

हेला—

यो[10] वै हावः स एवैषा [11]शृङ्गाररससम्भवा।
समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका ॥ ११ ॥

पात्रों का जो 'हाव' शृङ्गार रस के आश्रित होकर ललित शारीरिक चेष्टाओं का अभिव्यंजक ही उसे चतुर जन [2]'हेला' समझें ॥ ११ ॥

---

१. नाट्यदर्पण के अनुसार 'भाव' रागात्मक अनुभूति की प्रथम या प्रारम्भिक अभिव्यक्ति है जो शब्द और आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा होती है, जब कि 'हाव' किसी भी व्यक्ति के भावों का विभिन्न आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा सुस्पष्ट अभिव्यंजन है। भाव और उससे हाव उत्तरोत्तरविकास के कारण होते हैं। ये एक दूसरे से भी विकसित होते हैं। 'हाव' चित्त से उत्पन्न होता है, जिससे शृंगार की अनुभूति होती है।

२. हिल् शब्द का आशय है भावाविष्करण। हेला की स्थिति में मन में

---

१. भावातिरिक्तं सत्वं—ख०, ग० ! २. सयोनिषु—ख० ग०।
३. न्तरगतं—ग० घ०। ४. हावं—ख० ग०।
५. राढ्यशृङ्गार—ख० ग०। ६. शृङ्गाररससूचकः—क (ङ)।
७. स ग्रीवा—ख०। ८. भावः ग०।
९. चित्तसमुत्थितः—ख०, ग०।
१०. य एव भावाः सर्वेषां शृङ्गाररससंश्रयाः—ख०, ग०।
११. संश्रया—घ०।

स्त्रियों के स्वभावज अलंकार—

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः[1] किलकिञ्चितम्[2] ।
मोट्टायितं कुट्टमितं[3] विब्बोको[4] ललितन्तथा ॥ १२ ॥
विहृतञ्चेति विज्ञेया दश स्त्रीणां स्वभावजाः ।
[5]अलङ्कारास्तथैतेषां लक्षणं शृणुत द्विजाः ॥ १३ ॥

स्त्रियों में होने वाले दश स्वभावज[1] अलंकार हैं—(१) लीला, (२) विलास, (३) विच्छति, (४) विभ्रम, (५) किलकिंचित्, (६) मोट्टायित, (७) कुट्टमित, (८) विब्वोक, (९) ललित तथा (१०) विहृत। अब मैं इनके लक्षणों को बतलाता हूँ ॥ ११-१२ ॥

लीला—

वागङ्गालङ्कारैः श्लिष्टैः[6] प्रीतिप्रयोजितैर्मधुरैः ।
इष्टजनस्यानुकृतिर्लीला ज्ञेया प्रयोगज्ञैः ॥ १४ ॥

प्रिय-जन से सम्बद्ध या उच्चारित श्लिष्ट शब्दों, चेष्टाओं तथा

शृङ्गार का अतिशय आवेग होता है तथा भाव का प्रसार तीव्रता लिए हुए रहता है। स्त्रियों के ये भावादि एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। उदा० हाव-भाव। पर तथा 'हेला' हाव पर निर्भर हैं। (देखिये नाट्यदर्पण—पृ० २०४—२०५)।

(१२, १३)—तुलना भाव प्र० प्र० ९।१—५ तथा दशरू० २।३७।

१. स्त्रियों के स्वभावज अलङ्कारों द्वारा उनके मनोभावों का प्रदर्शन इष्ट होता है। इन अलङ्कारों से नारियाँ प्रेम, मिलन, ईर्ष्या आदि दशाओं में होनेवाली मनोदशाओं को सूचित करती हैं। अयत्नज अलङ्कार नारी के सौन्दर्य के प्रतीक होते हैं। इन प्रयत्नज अलङ्कारों की संख्या सात ही हो यह आवश्यक नहीं है। उत्तरकालीन आचार्यों में राहुल, सागरनन्दी आदि ने मौग्ध्य, मद, तपन और विक्षेप को भी अयत्नज अलङ्कार स्वीकार किया है।

---

१. विक्रमः—ग० ।
२. किलिकिञ्चितः—क (न०)।
३. कुट्टिमितं—क (न०)।
४. बिम्बोको—क (ढ़)।
५. पुनरेषां प्रवक्ष्यामि स्वरूपाणि पृथक् पृथक्—क० ।
६. शिष्टैः—क० ।

वेष का प्रीति या मधुरता पूर्वक जो अनुकरण किया जाए उसे 'लीला'[1] जानो ॥ १४ ॥

विलास—

स्थानासनगमनानां हस्तभ्रूनेत्रकर्मणाञ्चैव[1]।
उत्पद्यते विशेषो यः[2] श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् ॥ १५ ॥

(प्रियतम के दर्शन से) खड़े होने (स्थिति), बैठने (आसन) तथा चलने की क्रियाओं तथा हाथ, नेत्र तथा भौंहों की चेष्टाओं में एक विलक्षण परिवर्तन का होना 'विलास'[2] कहलाता है।

विच्छित्ति—

माल्याच्छादन[3]-भूषणविलेपनानामनादरन्यासः ।
स्वल्पोऽपि[4] परां शोभां [5]जनयति यस्मात्तु विच्छित्तिः ॥ १६ ॥

यदि थोड़ी असावधानी से माला, वस्त्र तथा अलंकारों का धारण तथा चन्दन आदि का आलेपन करने पर भी सौन्दर्य वृद्धि ही हो तो उसे 'विच्छित्ति[3] समझो ॥ १६ ॥

विभ्रम—

विविधानामर्थानां [6]वागङ्गाहार्यसत्वयोगानाम् ।
मदरागहर्षजनितो व्यत्यासो[7] विभ्रमो ज्ञेयः[8] ॥ १७ ॥

प्रेम, हर्ष या मद के कारण उतावली में विविध शब्दों, चेष्टाओं, वेष तथा वस्त्रों का अपने उचित स्थान में न रहना 'विभ्रम'[4] कहलाता है ॥१७॥

---

१. तुलना—दशरू० २।३७ तथा साहि० द० ३।१२४।
२. तुलना—दशरू० २।३८ तथा साहि० द० ३।११५।
३. तुलना—दशरू० २।३८ तथा साहि० द० ३।११६।
४. तुलना—दशरू० २।३९ तथा सा० द० ३।१२२।

---

१. नेत्रभ्रूवक्त्र—क (च०)।
२. विश्लिष्टः—क (म०); यः क्लिष्टः—क (म)।
३. च्छादविभूषा—क (ड)।
४. स्वल्पोऽप्यधिकां—ग०, घ०।
५. नयति हि यत् सा तु—क (च०)।
६. सत्वयुक्तानाम्—ख०, ग०, घ०।
७. योऽतिशयो—ख०।
८. नाम—ग०, घ०।

किलकिञ्चित—

स्मितरुदित-हसित-[1]भयहर्षगर्वदुःखश्रमाभिलाषाणाम् ।
[2]सङ्करकरणं हर्षादसकृत् किलकिञ्चितं[3] ज्ञेयम् ॥ १८ ॥

विभिन्न भावों—जैसे—स्मित (मुसकुराहट), रुदित (शुष्क रोदन), हास, भय, हर्ष, गर्व, दुःख, श्रम तथा अभिलाषा—का (प्रियतम के प्राप्त होने के समय) हर्ष के कारण होने वाला मिश्रण—'किलकिञ्चित'—जानो ॥ १८ ॥

मोट्टायित—

इष्टजनस्य कथायां [4]लीलाहेलादिदर्शने वापि ।
[5]तद्भावभावनाकृतमुक्तं मोट्टायितं नाम ॥ १९ ॥

प्रिय के विषय में बातचीत चलने के समय उसका तन्मयता से लीला, हेला आदि चेष्टाओं के साथ श्रवण करना 'मोट्टायित'[2] कहलाता है ॥ १९ ॥

कुट्टमित—

[6]केशस्तनाधरादिग्रहणादतिहर्षसम्भ्रमोत्पन्नम् ।
कुट्टमितं[7] विज्ञेयं सुखमपि दुःखोपचारेण ॥ २० ॥

प्रियतम के द्वारा अति हर्ष या सम्भ्रम (शीघ्रता) में केश, स्तन, अधर आदि का स्पर्श या ग्रहण करने के समय दुःख के साथ होने वाली सुखात्मक क्रियाओं—(जैसे मस्तक हिलाना, हाथ हिलाना आदि) को—'कुट्टमित'[3] जानो ॥ २० ॥

---

१. तुलना—दशरू० २।३९ तथा सा० द० ३।११८ ।

२. तुलना—दशरू० २।४० तथा सा० द० ३।११९ ।

३. तुलना—दश रू० २।४० तथा सा० द० ३।१२० ।

---

१. भयरोगमोह-दुःख-श्रमाभिषङ्गाणाम्—ग०, रोषमोह-दुःख—घ० ।

२. सङ्कट—क (च०) ।

३. किलिकिञ्चितं—क० ।

४. लीलाभिर्दर्शने चापि ख०, हेलालीलादिदर्शनेनापि—ग०, घ०; हेलालीलाभिदर्शने स्याताम्—क (म) ।

५. भावनाकृतं मोट्टायितमित्यभिख्यातम्—ग०, घ० ।

६. रादिग्रहणेऽव्वति—ख०, ग्रहणेव्वतिं—ग० घ; रादिषु ग्रहणेऽद्धति—क (म०) ।

७. कुट्टिमितं—क (ङ) ।

बिब्बोक—

इष्टानां[1] भावानां प्राप्तावभिमानगर्वसम्भूतः[2]।
स्त्रीणामनादरकृतो बिब्बोको[3] नाम विज्ञेयः ॥ २१ ॥

स्त्रियों को (अन्तःकरण में चाहते हुए भी) इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर भी अभिमान (मिथ्याभिमान) या गर्व के कारण (बाहरी रूप में) उसके प्रति अनास्था या तिरस्कार की अभिव्यक्ति करना 'बिब्बोक'[1] समझना चाहिए ॥ २१ ॥

ललित—

[4]हस्तपादाङ्गविन्यासो भ्रूनेत्रोष्ठप्रयोजितः।
सौकुमार्याद्भवेद्यस्तु ललितं तत् प्रकीर्तितम् ॥ २२ ॥ क ॥

यदि सुकुमारता से भौंहें, नेत्र तथा ओठों के साथ-साथ हाथ, पैर और अंगों का विन्यास किया जाए तो उसे 'ललित'[2] समझना चाहिए ॥ २२ ॥

करचरणाङ्गन्यासः [5]सभ्रूनेत्रोष्ठसम्प्रयुक्तस्तु।
सुकुमारविधानेन स्त्रीभिरितीदं[6] स्मृतं ललितम् ॥ २२ ॥

(अन्य लक्षण) स्त्रियों की भौंहें, नेत्र तथा ओठों के साथ हाथ पैरों को सुकुमारतापूर्ण हलन चलन से स्थापन करना 'ललित' कहलाता है ॥ २२ ॥

विहृत—

वाक्यानां प्रीतियुक्तानां प्राप्तानां यदभाषणम्।
व्याजात् स्वभावतो वापि विहृतं नाम तद् भवेत् ॥ २३ ॥

यदि प्रीति पूर्ण वचनों को अवसर आने पर भी किसी बहाने से लज्जा या स्वभाव के कारण न बोल पाना 'विहृत' कहलाता[3] है ॥ २३ ॥

---

१. तुलना—दश० २।४१, सा० द० ३।११७।

२. तुलना—दश० रू० २।४१, सा० द० ३।१२२।

३. तुलना—दश० २।४२ सा० द० में विकृत पाठ है। ३।१२४। विहृत का अन्य पाठान्तर तथा अर्थ इस प्रकार है :—

---

१. ईर्ष्याणां—ख०।

२. गर्भं—क (च); गर्हं—क (ज)। ३. बिम्वोको—क (भ)।

४. श्लोकमिदं ख० ग० घपुस्तकेषु नास्ति।

५. सभ्रूनेत्रैश्च सम्प्रयुक्तस्तु—ख०।

६. स्त्रीभिरिदं—ग०।

अयत्नज-अलंकार—

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च तथा माधुर्यमेव च ।
धैर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यमित्येते स्युरयत्नजाः ॥ २४ ॥

स्त्रियों के अयत्नज अलंकार हैं—(१) शोभा, (२) कान्ति, (३) दीप्ति, (४) माधुर्य, (५) धैर्य, (६) प्रागल्भ्य तथा (७) औदार्य[1] ॥ २४ ॥

शोभा—

रूप-यौवन-लावण्यै-रूपभोगोपबृंहितैः ।
अलङ्करणमङ्गानां [1]शोभेति परिकीर्तिता ॥ २५ ॥

रूप, यौवन तथा लावण्य आदि के उपभोग से विकसित अंगों का सजाना या शारीरिक सौन्दर्य का खिल उठना 'शोभा'[2] कहलाता है ॥ २५ ॥

कान्ति—

विज्ञेया च तथा कान्तिः [2]शोभैवापूर्णमन्मथा ।

कामोन्मेष से बढ़ी हुई शोभा को ही 'कान्ति'[2] समझना चाहिए ।

दीप्ति—

कान्तिरेवाति[3]विस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ २६ ॥

'कान्ति' का अतिशय विस्तार 'दीप्ति'[3] कहलाता है ॥ २६ ॥

माधुर्य—

सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च ।
अनुल्बणत्वं चेष्टाया[4] माधुर्यमिति संज्ञितम्[5] ॥ २७ ॥

प्राप्तानामपि वचसां क्रियते यदभाषणं ह्रिया स्त्रीभिः ।
व्याजात् स्वभावतो वाप्येतत्समुदाहृतं विहृतम् ॥ २३ (क) ॥

(किसी कारण लज्जावश स्त्रियों के द्वारा यदि अवसर आने पर भी किसी बहाने से अथवा प्रकृति वश बोल न पाना होता है तो उसे भी विहृत समझना चाहिए ।)

१. तुलना—दशरू० २।३१ ।
२. तुलना—दश० रू० २।३५ ।
३. तुलना—दश० रू० २।३५, २।३६ ।

---

१. यत् सा शोभेतिभण्यते—ग० घ० ।
२. शोभेवापूर्व—ख; शोभेव पूर्ण—ग । ३. रेवाथ—क (ज़०) ।
४. चेष्टायां—ख, ग० । ५. कीर्तितम्—ग० घ० ।

शरीर की क्रियाओं में—चाहे वह 'दीप्ति' या 'ललित' भाव की हो—रमणीयता (अनुल्बणत्व) रहना 'माधुर्य'[1] कहलाता है ॥ २७ ॥

धैर्य—

चापलेनानुपहता [1]सर्वार्थेष्वविकत्थना।
स्वाभाविकी चित्तवृत्ति-[2]र्धैर्यमित्यभिधीयते ॥ २८ ॥

चंचलता से रहित तथा सभी बातों में आत्मश्लाघा से विमुख रहने वाली स्वाभाविक मनःस्थिति को 'धैर्य'[2] जानों ॥ २८ ॥

प्रागल्भ्य—

प्रयोगनि[3]स्साध्वसता प्रागल्भ्यं समुदाहृतम्।

संभाषण या अन्य कार्यों को निर्भय होकर करना 'प्रागल्भ्य'[3] कहलाता है।

औदार्य—

औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सर्वावस्थानुगो बुधैः ॥ २९ ॥

सभी अवस्था में नम्रतापूर्वक आचरण करना 'औदार्य' जानों[3] ॥ २९ ॥

सुकुमारे[4] भवन्त्येते प्रयोगे ललितात्मके[5]।
विलासललिते हित्वा [6]दीप्तेऽप्येते भवन्ति हि ॥ ३० ॥

ललित-प्रकृति की दशा में ये भाव 'सुकुमार'[4] होते हैं किन्तु विलास

---

१. तुलना—दश० रू० २।३६।

२. तुलना—दश रू० २।३७।

३. तुलना—दश रु० २।३६।

४. जब स्त्री (पात्र) में इन अलंकारों का प्रयोग हो तो 'सुकुमार' और पुरुषों में इनका प्रयोग हो तो ये 'दीप्त' कहलाते हैं। 'दीप्त' अवस्था में विलास और ललित का प्रयोग नहीं होता। ये केवल स्त्रीपात्राश्रित भाव हैं। (देखिये २२ तथा २६ पद्य भी)।

---

१. सर्वार्थेष्वनुकत्थना—ख०; सर्वावस्थेष्वविकत्थना—क (य)।

२. त्यभिसंज्ञितम्—ख०।

३. प्रयोगतः साध्वसता—ख (मु०)।

४. सुकुमारा—ख०, ग०। ५. ललितालके—ग०।

६. दीप्ता ह्येते—ख०, ग०, घ०।

और ललित को छोड़कर (कठोर प्रकृति के व्यक्ति के रहने पर) ये 'दीप्त' भी हो जाते हैं ॥ ३० ॥

पुरुषों के आठ स्वाभाविक[1] (सात्विक) गुण—

शोभा विलासो माधुर्यं स्थैर्यं[1] गाम्भीर्यमेव च ।
ललितौदार्यतेजांसि सत्वभेदास्तु पौरुषाः ॥ ३१ ॥

पुरुषों के स्वाभाविक शारीरिक गुण भी (भाव) आठ हैं—(१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) स्थैर्य, (५) गाम्भीर्य, (६) ललित, (७) औदार्य व (८) तेज ॥ ३१ ॥

शोभा—

दाक्ष्यं शौर्यमथोत्साहो नीचार्थेषु [2]जुगुप्सनम् ।
उत्तमैश्च गुणैः स्पर्धा यतः[3] शोभेति सा स्मृता ॥ ३२ ॥

(विभिन्न विषयों में) दक्षता, शौर्य, उत्साह, उच्च कार्यों में स्पर्धा तथा नीच कार्यों के प्रति घृणा का भाव रखना 'शोभा'[2] कहलाता है ॥३२॥

विलास—

[4]धीरसञ्चारिणी दृष्टिर्गतिर्गोवृषभाञ्चिता ।
[5]स्मितपूर्वमथालापो विलास इति कीर्तितः[6] ॥ ३३ ॥

वीरता प्रदर्शक वृषभ के समान चाल रहना, स्थिर दृष्टि तथा मन्द

---

१. नारियों के सत्वभेद के समान पुरुषों के भी आठ सत्वभेद होते हैं। इनमें शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य तथा गाम्भीर्य दोनों में समान हैं परन्तु नाम साम्य होने पर भी ये तत्वतः पृथक् हैं, क्योंकि नारी के अलङ्कारों में शारीरिक सुकुमारता को तथा पुरुषों के अलंकारों में सत्वभेद से उनकी मानसिक अनुभूतियों को दर्शाना इष्ट होता है। नारी में इनसे सौन्दर्य का मोहक प्रसार होता है तो पुरुष में इनसे पौरुष प्रभाव की समृद्धि।

२. (२) तुलना—दश रू० २।११।

---

१. धैर्य—क (ढ)।

२. जुगुप्सितम्—ख०।

३. सन्धा यत्र—क (ङ); यत्र—ग०, घ०।

४. वीरसञ्चा—ख०, स्थिरसञ्चारिणो—ग०।

५. स्मृतपूर्वमथा—ख०, स्मृतपूर्वं तथा वाचो—ग०।

६. स स्मृतः—क (भ०)।

मुसकान के साथ की जाने वाली बातचीत का होना 'विलास'[१] गुण कहलाता है ॥ ३३ ॥

माधुर्य—

अभ्यासात्[१] करणानान्तु श्लिष्टत्वं यत्र जायते ।
महत्स्वपि विकारेषु तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥ ३४ ॥

दीर्घकालीन अभ्यास के कारण इन्द्रियों का किसी भाव या विकार के अतिशय रहने पर भी (इससे) आन्दोलित न होना या अपनी स्थिरप्रवृत्ति में रहना माधुर्य[२] कहलाता है ॥ ३४ ॥

स्थैर्य—

धर्मार्थकामसंयुक्ताच्छुभाशुभसमुत्थितात् ।
[२]व्यवसायादचलनं [३]स्थैर्यमित्यभिसंज्ञितम् ॥ ३५ ॥

धर्म, अर्थ तथा काम में किसी शुभ या अशुभ परिणाम के उत्पन्न होने पर अपने (कार्य) से विचलित न होना 'स्थैर्य'[३] कहलाता है ॥३५॥

गाम्भीर्य—

यस्य प्रभावादाकारा[४] [५]हर्षक्रोधभयादिषु ।
भावेषु[६] नोपलक्ष्यन्ते तद् गाम्भीर्यमिति स्मृतम् ॥ ३६ ॥

क्रोध, हर्ष तथा भय की दशा में (सुख और दुःख आदि दशा में भी) भावों का चेहरे पर प्रभाव का न दिखाई पड़ना 'गाम्भीर्य'[४] गुण कहलाता है ॥ ३६ ॥

---

१. (३) तुलना दश रू० २।११;
२. (३) तुलना दश रू० २।१२;
३. तुलना—दश—रू० २।१३ ।
४. तुलना—दश—रू० २।१२ ।

---

१. स्वभावाच्चक्षुरादीनां लीनत्वं यत्र जायते—क (भ०) ।
२. व्यवसायादिवचनं— ख०; व्यवसायादवचनं—ख (मु०) ।
३. मित्यभिधीयते—ग०, घ० ।
४. दाकारे—क (ङ) ।
५. रोषहर्षभयादिषु—ग०, घ० ।
६. भावेषु नोपलभ्यं यत्—क (ङ); नोपलभ्यन्ते—घ० ।

ललित—

अबुद्धिपूर्वकं यत्तु [1]निर्विकारस्वभावजम् ।
[2]शृङ्गाराकारचेष्टत्वं ललितं तदुदाहृतम् ॥ ३७ ॥

जिसकी वाणी और शृंगारिक चेष्टाएँ बिना प्रयास के (अबुद्धि पूर्वक) ही सुकुमार रहती हों उस गुण को 'ललित'[1] जानो ॥ ३७ ॥

औदार्य—

दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम् ।
स्वजने च[3] परे वापि तदौदार्यं प्रकीर्तितम् ॥ ३८ ॥

सभी व्यक्तियों के प्रति-चाहे वे अपने हों या पराये-दान देने, प्रिय संभाषण तथा उदार बर्ताव (अभ्युपपत्ति) के द्वारा समभाव का रखना 'औदार्य'[2] गुण कहलाता है ॥ ३८ ॥

तेज—

अधिक्षेपावमानादेः[4] प्रयुक्तस्य परेण यत् ।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

शत्रु के द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किये गए आक्षेप तथा अपमान को प्राण जाने पर भी बर्दाश्त न करना 'तेज'[3] गुण जानो ॥ ३९ ॥

[5]सत्वजोऽभिनयः पूर्वं मया प्रोक्तो द्विजोत्तमाः ।
शारीरश्चाप्यभिनयं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ ४० ॥

हे श्रेष्ठ मुनिजन, मैंने आपको 'सत्व' से होने वाले (सात्विक) अभिनय के बारे में पहिले (भावाध्याय में) बतलाया था। अब मैं उसी शारीराभिनय[4]

---

१. तुलना—दश-रू० २।१४। सा० द०।

२. तुलना—दश रू० २।१४।

३. तुलना—दश रू० २।१३।

४. यहाँ (नाट्यशास्त्र में) अभिनय को पुनः दो बड़ी श्रेणियों में विभाजित किया गया है। पर सात्विक तथा शारीरिक और उनके विभाग बतलाना

---

१. सुकुमारं स्वभावतः—ख; सुकुमारस्वभावजम्—ग०, घ०; मण्डनं निर्विकारजम्—क (भ०)।

२. शृङ्गारसूचकं चैव—क (भ)।

३. वा परे—ख०, ग०, स्वे जने वा परे—क (भ०)।

४. पापमानदेः - क (च)।

५. सत्वतोऽभिनयाः पूर्वं मयोक्ता द्विजसत्तमाः—ख०।

(शरीर के विविध अङ्गों से सम्पन्न किया जाने वाला अभिनय) की व्याख्या करता हूँ ॥ ४० ॥

शारीराभिनय—

षडात्मकस्तु शारीरो वाक्यं सूचाङ्कुरस्तथा।
शाखा[1] नाट्यायितञ्चैव निवृत्यङ्कुर एव च ॥ ४१ ॥

शारीराभिनय के छः प्रकार हैं—(१) वाक्य, (२) सूचा, (३) अंकुर, (४) शाखा, (५) नाट्यायित तथा (६) निवृत्यङ्कुर (निवृत्यंकुर)[1] ॥ ४१ ॥

वाक्य-(अभिनय)—

[2]नानारसार्थयुक्तैर्वृत्तनिबन्धैः कृतः[3] सचूर्णपदैः।
प्राकृतसंस्कृतपाठो[4] वाक्याभिनयो बुधैर्ज्ञेयः ॥ ४२ ॥

[2]'वाक्याभिनय' कहते हैं संस्कृत या प्राकृत भाषा में गद्य या पद्य मय संवादों को, जिनका अनेक रसों के अर्थों को अभिव्यक्त करते हुए प्रयोग किया जाता है ॥ ४२ ॥

सूचा-(अभिनय)—

वाक्यार्थो वाक्यं वा सत्वाङ्गैः[5] सूच्यते यदा पूर्वम्।
[6]पश्चाद्वाक्याभिनयः [7]सूचेत्यभिसंज्ञिता सा तु ॥ ४३ ॥

विशिष्ट बात है। (नाटचशास्त्र में अभिनय के चार भेदों का अन्य प्रकारों के साथ विभाजन पूर्व में किया जा चुका है, परन्तु यहाँ यह अभिनय सत्वज अभिनय के अतिरिक्त होने से शारीर माना गया है। यह शारीरअभिनय भी समानीकृत इसके छः विभेद बन जाते हैं।

१. तुलना—मालविकाग्नि में कालिदास द्वारा प्रमुख 'पंचांगाभिनय' शब्द (मा० वि० मि० १।६–२)

२. यह वाचिकाभिनय ही वाक्याभिनय भी कहलाता है जिसके गद्यपद्य तथा संस्कृत प्राकृतादि से होने वाले विभेद पहिले (अध्याय १८ में) दर्शाये जा चुके हैं।

---

१. शाखो—ग०। २. नानाभागरसार्थैर्वृत्तनिबद्धैः कृतस्य—ख०;।

३. पदैः सचूर्ण—घ०।

४. पाठ्यो—ग०; पाठ्यै—क (भ०), प्रायो—ख (मु०)।

५. सर्वाङ्गैः—क (न)।

६. द्वचनाभि—ख०; वाच्याभिनयः—क (ड)।

७. सा सूचा सूरिभिर्ज्ञेया—क (ड)।

जिस वाक्य या उसके अर्थ को पहिले सात्विक तथा शारीरिक चेष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त कर चुकने पर पुनः शब्दों से उसी बात को कह (कर दोहरा) ना 'सूचाभिनय'[1] कहलाता है ॥ ४३ ॥

अंकुर-(अभिनय)—

हृदयस्थो[1] निर्वचनैरङ्गाभिनयः[2] कृतो[3] निपुणसाध्यः ।
[4]सूचैवोत्पत्तिकृतो विज्ञेयस्त्वङ्कुराभिनयः ॥ ४४ ॥

जब (निपुणतापूर्वक) आंगिक अभिनय को प्रस्तुत करते हुए 'सूचा' (अभिनय) द्वारा हृदयस्थ भावों को शब्दों के द्वारा अभिनीत किया जाए तो उसे 'अङ्कुराभिनय'[2] समझना चाहिए ॥ ४४ ॥

शाखा-(अभिनय)—

यत्तु[5] [6]शिरोमुख-जङ्घोरुपाणिपादैर्यथाक्रमं क्रियते ।
[7]शाखादर्शितमार्गः शाखाभिनयः[8] स विज्ञेयः ॥ ४५ ॥

जो मस्तक, मुख, (चेहरा) जंघा, पिंडलियां, हाथ और पैरों के द्वारा किया जाने वाला अभिनय शाखा के अनुसार (सौष्ठव पूर्वक) क्रमानुसार प्रस्तुत किया जाए उसे 'शाखाभिनय'[3] समझना चाहिए ॥ ४५ ॥

---

१. सूचाभिनय का मुख्यतः नृत्य और गीत में (अधिक) उपयोग होता है।

२. अंकुराभिनय का मुख्यतः नृत्य के साथ (साधन के रूप में) संयुक्त करते हुए नियोजन या उपयोग होता है।

३. शाखा—का आशय भी मनमोहन घोष के अंग्रेजी अनुवाद में सन्दिग्ध है। वस्तुतः शाखा का अर्थ है 'वर्तना' तथा 'शाखादर्शितमार्गः' का अर्थ होगा शाखा के व्यापार अर्थात् वर्तना क्रम से इनको सम्पादन करते हुए प्रस्तुत करना। नाट्यशास्त्र में वर्तनाक्रम से संयोजित अभिनय को 'सौष्ठवपूर्ण' बतलाया गया है (देखिये 'सौष्ठव-लक्षणं प्रोक्तं वर्तनाक्रमयोजितम्' (ना० शा० म० ११।९० प्रक्षिप्त) । संगीतरत्नाकर ने इस शाखाभिनय का स्वरूप

---

१. हृदयस्थैः—ग० । २. रङ्गविकारैः—ख० ।
३. कृते—क (न०) ।
४. सूचेवो—ग०, वोत्पत्तिकृतां—ख (मु०) ।
५. यस्तु—ख० ।
६. शिरोजङ्घोरुपाणिपादादिभिर्विरचितो विधिवत्—क (भ) ।
७. शाखादर्शन—क; शाखोदर्शित—क (भ०) ।
८. भिनयो बुधैर्ज्ञेयः—ग०, घ ।

नाट्यायित—

नाट्यायितमुपचारैर्यः[1] क्रियतेऽभिनयसूचया[2] नाट्ये।
[3]कालप्रकर्षहेतोः प्रवेशकैः[4] सङ्क्रमो यावत्॥ ४६॥

नाटक के प्रारंभ में विभिन्न (प्रकारों से) सूचा अभिनय प्रदर्शित करते हुए (जो सूचनाएँ दी जाएँ) जो समय के उत्कर्ष के साथ औपचारिकता सम्पन्न करने के लिये रखी जाए तथा जिसकी समाप्ति के साथ-साथ मंच पर पात्रों का आना होता हो तो उसे 'नाट्यायिताभिनय'[1] समझना चाहिए॥ ४६॥

स्थाने ध्रुवास्वभिनयो यः[5] क्रियते हर्षशोकरोषाद्यैः[6]।
भावरसम्प्रयुक्तैर्ज्ञेयं[7] नाट्यायितं तदपि[8]॥ ४७॥

जब ध्रुवाओं का जो हर्ष, शोक तथा क्रोध आदि के साथ भाव तथा रसों से पूर्ण अभिनय उपयुक्त अवसर प्रस्तुत किया जाता हो उसे भी 'नाट्यायित' अभिनय समझना चाहिए॥ ४७॥

बतलाया है—'अत्र शाखेति विख्याता विचित्रा—करवर्तना' (शार्ङ्गदेव स० र० अ०–७ ३६–३८), अर्थात् भाषण के पूर्व या कथोपकथन के समय पात्रों का विभिन्न रूपों में हाथों को स्पन्दित करना 'शाखा' कहलाता है। इस अभिनय का पाठ्याभिनय के प्रस्तुत करने में सहकार रहता है। [अभिनयविधान के क्रम में इन अंगोपाङ्गों के अभिनय एक दूसरे के अनुसारी रहना अपेक्षित होता है अन्यथा नाट्यार्थ के बोध की परिकल्पना करना ही अशक्य हो सकता है। ऐसे अभिनयों के साथ पाठ्य का प्रयोग होता है।]

१. नाट्य-प्रयोग के प्रारम्भ होने के पूर्व नृत्य तथा गीत के साथ आंगिक चेष्टाओं को मिला कर उपयोग करने में इस नाट्यायित अभिनय का संयोजन होता है।

---

१. यत् क्रियते—ख०, ग०, घ०।
२. सूचना—ख०, ग०, घ०।
३. काव्यप्रकर्ष—ख०, कालप्रहर्ष—ग।
४. प्रवेशने सङ्क्रमं—ग०।
५. यत्—ख०, ग०।
६. कोपाद्यैः—क (ज)।
७. सम्प्रयुक्तो—ग० घ०, संप्रयुक्तं—क (भ०)।
८. तच्च—ख०।

निवृत्यंकुर (निवृतांकुर)—

[1]यत्रान्योक्तं वाक्यं सूचाभिनयेन योजयेदन्यः ।
तत्सम्बन्धार्थकथं[2] भवेन्निवृत्यङ्कुरः सोऽथः ॥ ४८ ॥

जब किसी दूसरे पात्र के द्वारा कहे गए वचनों को कोई अन्य पात्र 'सूचाभिनय' के द्वारा अभिनीत करते हुए उससे सम्बद्ध अर्थ वाली घटना को कहते हुए सी प्रदर्शित करता है तो उसे भी 'निवृत्यंकुर'[1] जानो ॥ ४८ ॥

वाचिक अभिनय के बारह प्रभेद—

[3]एतेषान्तु भवेन्मार्गो यथाभावरसान्वितः[4] ।
काव्यवस्तुषु[5] निर्दिष्टो द्वादशाभिनयात्मकः[6] ॥ ४९ ॥
आलापश्च प्रलापश्च विलापः[7] स्यात्तथैव च ।
अनुलापोऽथ संलापस्त्वपलापस्तथैव च ॥ ५० ॥
सन्देशश्चातिदेशश्च निर्देशः[8] स्यात्तथा परः ।
उपदेशोऽपदेशश्च[9] व्यपदेशश्च कीर्तितः ॥ ५१ ॥

इन वाचिक अभिनयों के भाव तथा रसों से युक्त बारह मार्ग या रूप हो जाते हैं जिनकी नाटकीय कथावस्तु में संवाद (रचना) के हेतु संयोजना

---

१. नर्तकी द्वारा निवृत्यंकुर का उपयोग दूसरे पात्र के द्वारा उच्चारित संवाद की व्याख्या करने या शब्दों द्वारा भाव प्रस्तुत करने में होता है ।

२. वाचिक-अभिनय के इन बारह प्रकार के रूपों का सम्बन्ध भावों और रसों से होता है जो नाटकों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय के रूप में वर्तमान रहते हैं। इन बारह प्रकार के वाचिक अभिनय के रूपों द्वारा वाक्याभिनय या छहों शारीराभिनय की योजना रखी जाती है। सामान्याभिनय के रूप में रहने से ये सभी में समानरूप से विद्यमान रहते हैं यह तो स्पष्ट ही है ।

---

१. यस्त्वन्योक्तं—ग० ।
२. र्थकृतं यन्निवृत्तंकुरः सोऽथ—ख०, कृतं निवृत्तमेवांकुरं विद्यात्—क ।
३. एतेषाञ्च स्मृता मार्गा—ख०; एते मार्गास्तु निर्दिष्टाः—ग ।
४. न्विताः—ख; ग; घ ।
५. वस्तुषु निर्दिष्टाः—ख०, ग, घ० ।
६. त्मकाः—ख० ।
७. विलापोऽन्यस्तथैव च—ग०, घ० ।
८. निर्देशश्च तथैव च—ग०, घ० ।
९. व्यपदेशापदेशौ च अपदेशस्तथैव च—ग० ।

की जाती है। ये हैं—(१) आलाप, (२) प्रलाप, (३) विलाप, (५) संल्लाप, (६) अपलाप, (७) सन्देश, (८) अतिदेश, (९) निर्देश, (१०) उपदेश, (११) व्यपदेश तथा (१२) उपदेश ॥ ४९–५१ ॥

आभाषणन्तु[1] यद्वाक्यमालापो नाम स स्मृतः।
अनर्थकं वचो यत्तु[2] प्रलापः स तु कीर्तितः ॥ ५२ ॥

आलाप—
(किसी से) बोलना या संभाषण करना—'आलाप'[1] कहलाता है।
प्रलाप—
असम्बद्ध या निरर्थक वाक्यावली के प्रयोग को 'प्रलाप'[1] कहते हैं।

करुणप्रभवो[3] यस्तु विलापः स तु कीर्तितः।
बहुशोऽभिहितं वाक्यमनुलाप[4] इति स्मृतः ॥ ५३ ॥

विलाप—जो शोकपूर्ण अवस्था में (दुःख से) उत्पन्न वचनावली हो उसे 'विलाप'[2] समझें।

अनुलाप—एक ही बात को बार-बार दुहराना 'अनुलाप'[2] कहलाता है ॥ ५३ ॥

[5]उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तः संलाप इति कीर्तितः।
पूर्वोक्तस्यान्यथावादो[6] [7]ह्यपलाप इति स्मृतः ॥ ५४ ॥

संल्लाप :—उक्ति-प्रत्युक्ति युक्त संभाषण को 'संल्लाप'[3] कहा जाता है।

अपलाप :—पूर्व कथित शब्दावली का अन्यथा संयोजन (दूसरे अर्थ में योजना कर देना) 'अपलाप'[3] जानो ॥ ५४ ॥

---

१. तुलना भाव प्र० पृ० १७।-१-२४।
२. तुलना भाव प्र० पृ० ११।-१-२।
३. तुलना भाव प्र० पृ० ११।-१-४ वही १-५।

---

१. आभाषणे तु—ख०, ग०।
२. यत्र—ख०; यच्च—ग०, घ।
३. दुःखं शोकोद्भवं यत्र—ख०; करुणप्रभवं यत्तु—क (न)
४. अनुलापश्च कीर्तितः—ग०।
५. उक्तप्रत्युक्त—क (न०)।
६. स्यान्यथाभावो—ख० ग०।
७. ह्यपवाद—ख (मु०)।

तदिदं[1] वचनं ब्रूहीत्येष सन्देश उच्यते।
[2]यत्त्वयोक्तं मयोक्तं तत् सोऽतिदेश इति स्मृत ॥ ५५ ॥

सन्देश :—'उसे यह बात कह देना'—इस आकार वाली वचनावली—'सन्देश'[1] कहलाती है।

अतिदेश :—'जो तुमने कहा वह मैंने ही कहा' इस भावना से सहमति सूचक वचनावली को 'अतिदेश'[1] समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

स[3] एषोऽहं ब्रवीमिति निर्देश इति कीर्तितः।
व्याजान्तरेण कथनं व्यपदेश[4] इहोच्यते ॥ ५६ ॥

निर्देश :—'यह मैं (अकेला) कह सकता हूँ (या यह मैं कहता हूँ) जैसे वाक्य 'निर्देश'[2] कहलाते हैं।

व्यपदेश :—किसी बहाने से (व्याजान्तर) कही जाने वाली वचनावली 'व्यपदेश'[2] कहलाती है ॥ ५६ ॥

इदङ्कुरु गृहाणेति[5] ह्युपदेशः प्रकीर्तितः।
अन्यार्थकथनं यत्स्यात्[6] सोऽपदेशः प्रकीर्तितः ॥ ५७ ॥

उपदेश :—'यह ऐसा करो' तथा 'इसे ले लो' आदि वाक्यों को 'उपदेश'[3] कहा जाता है।

अपदेश :—दूसरे के वचन बतला कर अपनी बात को कह देना 'उपदेश'[4] जानों ॥ ५७ ॥

---

१. तुलना भाव प्र० पृ० ११।-१-६।

२. तुलना भाव प्र० पृ० ११।-१-८ वही १-११।

३. तुलना भाव प्र० पृ० ११।१-९।

४. 'अपदेश' का लक्षण मात्र बड़ौदा संस्करण में है। हमने अर्थ भी (इस भाव कें) इसके ही पाठ को लेते हुए लिखा है। (देखिये तुलनार्थ भा० प्र० का इसी का लक्षण १-१० पृष्ठ ११।)

---

१. त्वमिदं—ख०।

२. अतिदेशस्त्वयोक्तं यत्तन्मयोक्तमिति स्मृतः—ख०।

३. स एकोऽहं ब्रवीमीतिनिर्देशः स तु संज्ञितः—ग०।

४. व्यपदेशः प्रकीर्तितः—ख० ग०।

५. गृहाणेद—ख०, ग०, घ०।

६. वत्तु सोपदेश इति स्मृत०—घ०।

एते मार्गास्तु विज्ञेयाः सर्वाभिनययोजकाः[1] ।
सप्तप्रकारमेतेषां[2] पुनर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ५८ ॥

वाक्यों के ये ही मार्ग हैं जो सभी प्रकार के वाचिक-अभिनय की सृष्टि करते हैं। अब मैं इनमें रहने वाले सात प्रकारों को तथा उनके लक्षणों को भी बतलाता हूँ[1] ॥ ५८ ॥

वाचिक अभिनय के सात वाक्य-विभेद—

प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च तथा [3]कालकृतास्त्रयः ।
आत्मस्थश्च परस्थश्च प्रकाशः सप्त एव[4] तु ॥ ५८ ॥

ये सात प्रकार (जिनसे वाक्य किसी भी संवाद का स्वरूप ग्रहण करता हो) इस प्रकार हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) परोक्ष, (३) भूत, (४) भविष्य, (५) वर्तमान काल, (६) आत्मस्थ तथा (७) परस्थ ॥ ५९ ॥

---

१. भरतमुनि ने वाचिक अभिनय का अन्य या अतिरिक्त विवेचन यहाँ किया है जिनमें इनके कालकृत भेद सात बतलाये हैं। सामान्याभिनय का शारीरभेद मुख्यतः इन सात प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। अभिनवगुप्तपाद ने शारीर (अर्थात् वाक्याभिनय) के एक सौ चवालीस भेद कुल दिखलाये जो भरत के अनुसार हो जाते हैं। आलाप आदि बारह तथा प्रत्यक्ष, परोक्ष, आत्मस्थ और परस्थ नामक चार भेदों को कालकृत भूत आदि ३ भेदों से गुणन करने पर ये भी बारह भेद हो जाते हैं। बारहों को आलापादि बारह भेदों से गुणन करने से एक सौ चवालीसभेद बन जाते हैं। फिर यदि इन्हें संस्कृत-प्राकृत आदि भेदों से गुणन करें तो वाक्याभिनय के ९५२ भेद हो जाएँगे और इनका भी यदि सूचा के दो भेद-वाक्य तथा वाक्यार्थ-से गुणन किया जाए तो कुल भेद १९०४ हो जाते हैं। इस प्रकार शारीर के अन्य चार भेदों में अंकुर के भेद वाक्याभिनय के समान होगें; फिर शाखा, नाट्यायित तथा निवृत्यंकुर के भेदों को परस्पर गुणन किया जाता है तो ये भेद पर्याप्त विस्तार पाकर शतकोटि या अनन्त भेदों तक चले जाएँगें। अतः अभिनवगुप्त के मत में इनके भेद अगणनीय हैं परन्तु श्रीशंकुक ने सामान्याभिनय के केवल चालीस हजार भेदों का जो निरूपण किया वह इस स्थिति में अधिक ठीक नहीं है।

---

१. वाक्याभिनय—ग०, घ० ।
२. प्रकारास्तेषाञ्च पुनर्वक्ष्यामि तत्वतः—ख० ।
३. कृताश्च यः—क (जु) । ४. चैव तु—ख० ।

एष ब्रवीमि[1] नाहं भो वदामीति च यद्वचः।
प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च[2] वर्तमानश्च तद्भवेत् ॥ ६० ॥

'अरे ! ऐसी बात तो यह कहता है मैं नहीं' इस वाक्य में प्रत्यक्ष परोक्ष तथा वर्तमान काल हैं ॥ ६० ॥

अहं करोमि गच्छामि वदामि वचनन्तव।
आत्मस्थो वर्तमानश्च प्रत्यक्षश्चैव स स्मृतः ॥ ६१ ॥

'मैं करता, जाता या कहता हूँ तेरी बातों को' इस वाक्य में आत्मस्थ, वर्तमान काल तथा प्रत्यक्ष है ॥ ६१ ॥

करिष्यामि गमिष्यामि वदिष्यामीति यद्वचः।
आत्मस्थश्च परोक्षश्च भविष्यत्काल एव च[3] ॥ ६२ ॥

'मैं करूँगा, जाऊँगा तथा कहूंगा' इस वाक्य में आत्मस्थ, परोक्ष तथा भविष्यकाल है ॥ ६२ ॥

हता जिताश्च भग्नाश्च मया सर्वे द्विषद्गणाः।
आत्मस्थश्च परोक्षश्च वृत्तकालश्च[4] स स्मृताः ॥ ६३ ॥

'मैंने अपने सारे शत्रुओं को मारे, जीते और नष्ट भ्रष्ट कर दिये' इस वाक्य में आत्मस्थ, परोक्ष तथा भूतकाल है ॥ ६३ ॥

त्वया हता जिताश्चेति यां वदेन्नाट्यकर्मणि।
परोक्षश्च परस्थश्च वृत्तकालस्तथैव च ॥ ६४ ॥

'तैंने शत्रुओं को मारे तथा जीते' इस नाट्य-प्रयोग में उच्चारित संवाद में परोक्ष, परस्थ तथा भूतकाल है ॥ ६४ ॥

एष ब्रवीमि[5] कुरुते गच्छतीत्यादि यद्वचः।
परस्थो[6] वर्त्तमानश्च प्रत्यक्षश्च[7] भवेत्तथा ॥ ६५ ॥

---

१. ब्रवीति—ग०, स०। २. परस्थश्च—क (ज०)।

३, 'एष' इत्यादिश्लोकचतुष्टयस्य पाठभेदः यथा—क (भ०) पुस्तके-कृतं मया करिष्येऽहं करोमीति च यद्वचः। भूतं भवद्भविष्यच्च तदात्मस्थमुदाहृतम् ॥ स करोति कृतं तेन करिष्यति च यद्वच्चः। भवद्भूतं भविष्यच्च परोक्षं परसंस्थितम् ॥ एष चक्रे करोत्येष करिष्यति च यद्वचः। भूतं भवद्भविष्यच्च प्रत्यक्षं परसंस्थितम् ॥

४. वृत्तकालस्तु—घ०। ५. ब्रवीति—घ०।

६. आत्मनश्च परस्थश्च वर्तमानश्च स स्मृतः—क (ङ)।

७. भविष्यश्च भवेत्तथा—ख०।

'यह (व्यक्ति) करता या जाता है' यह अभी कहता हूँ इस वाक्य में परस्थ, वर्तमान तथा प्रत्यक्ष है ॥ ६५ ॥

स गच्छति करोतीति वचनं यदुदाहृतम् ।
परस्थं[1] वर्तमानञ्च परोक्षञ्चैव तद्भवेत् ॥ ६६ ॥

'वह जाता या करता है' इस वाक्य में परस्थ, वर्तमान तथा परोक्ष है ॥ ६६ ॥

करिष्यन्ति गमिष्यन्ति वदिष्यन्तीति यद्वचः ।
[2]परस्थमेष्यत्कालञ्च परोक्षञ्चैव तद्भवेत् ॥ ६७ ॥

'वे (इसे) करेंगे, जाएगे या कहेंगे' इस वाक्य में परस्थ, भविष्यकाल तथा परोक्ष है ॥ ६७ ॥

मयाद्यैव[3] च सम्पाद्यं तत्कार्यं भवता सह ।
आत्मस्थश्च परस्थश्च वर्तमानश्च स स्मृतः ॥ ६८ ॥

'मुझे इस कार्य को आज ही आपके साथ करना है' इस वाक्य में आत्मस्थ, परस्थ तथा वर्तमान-काल है ॥ ६८ ॥

हस्तमन्तरितं[4] कृत्वा यद्वदेन्नाट्यकर्मणि ।
आत्मस्थं हृदयस्थञ्च परोक्षञ्चैव तन्मतम् ॥ ६९ ॥

रंगमंच पर नाट्यप्रयोग के समय एक हाथ द्वारा बीच में (पताका मुद्रा में) ढकते हुए जो कहा जाता है उसके द्वारा अपनी, अपने मन की या अप्रत्यक्ष किसी कार्य की अभिव्यक्ति की जाती है ॥ ६९ ॥

परेषामात्मनश्चैव कालस्य[5] च विशेषणात्[6] ।
[7]सप्तप्रकारस्यास्यैव भेदा ज्ञेया [8]ह्यनेकधा ॥ ७० ॥

इस वाचिक अभिनय के जो ये सात प्रकार परस्थ, आत्मस्थ तथा काल की विशेषता से किये गए, इनके इसी प्रकार अनेक विभेद किये जा सकते हैं ॥ ७० ॥

---

१. परस्थोवर्तमा—घ० ।
२. परस्थानेऽप्यकालञ्च परोक्षञ्चैन—ख० ।
३. पद्यमेतत्—क-ख पुस्तकयोर्नास्ति । ४. मन्तरतः—क०, ख० ।
५. कालस्यैव—ग०, घ० । ६. विपर्ययात्—ख० ।
७. प्रकारास्स्वस्यैव भेदान् प्राहुरनेकका—ख० ।
८. ह्यनेकशः—ग० ।

एते प्रयोगा[1] विज्ञेया मार्गाभिनययोजिताः।
एतेष्विह विनिष्पन्नो विविधोऽभिनयो भवेत् ॥ ७१ ॥

ये ही मार्गाभिनय के प्रकार हैं जिन्हें नाट्य प्रयोक्ता जन समझें। क्योंकि इन्हीं के द्वारा विभिन्न अभिनयों की सृष्टि होती है ॥ ७१ ॥

सामान्याभिनय-लक्षण—

[2]शिरोवदनपादोरुजङ्घोदरकटीकृतः ।
[3]समः कर्मविभागो यः सामान्याभिनस्तु सः ॥ ७२ ॥

जिसमें मस्तक, चेहरा, पैर, ऊरु, जंघा, उदर तथा कटि के द्वारा एक साथ निर्माण होकर भावाभिनय प्रस्तुत किया जाए उसे 'सामान्याभिनय' समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

[शिरोहस्तकटीवक्षोजङ्घोदरकटीगतः ।
समकर्मविभागो यः सामान्याभिनयस्तु सः ॥]

[पाठ भेद—मस्तक, हँसना; कटि, छाती, जंघा, उरु तथा उदर के द्वारा एक साथ प्रस्तुत किया जाने वाला अभिनय सामान्याभिनय समझना चाहिए ।]

[4]ललितैर्हस्तसञ्चारैस्तथा मृद्वङ्गचेष्टितैः ।
[5]अभिनेयस्तु नाट्यज्ञै रसभावसमन्वितैः ॥ ७३ ॥

इसका अभिनय चतुर अभिनेता द्वारा रस तथा भावों से युक्त ललित हस्त-संचारों तथा सुकुमार आंगिक—चेष्टाओं के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ७३ ॥

---

१. प्रयोक्तृभिर्ज्ञेया मार्गा ह्यभिनये स्मृताः। एभिरेव विनिष्पन्नो विविधोऽभिनयो मतः ॥—ग०, घ० ।

२. शिरोहस्तकटीवक्षोजङ्घोरुकरणेषु तु ।—क०; शिरोवदनहस्तोरःकटचूरुचरणाश्रयः—ख; शिरोवदनपाण्यूरुजंघोदरकटीगतः—क (भ०);······ हस्तोरुजंघोदरकटी—क (ज०)।

३. समः कर्मविभागे यो विविधाभिनये तु सः।—ख०; समकर्म—ग०; समकर्मविपाको यः—क (ज०)।

४. हस्तविन्यासैः—ख० ।

५. अभिनेयं तु—ख० ।

आभ्यन्तर-अभिनय[1]—

[1]अनुद्धतमसम्भ्रान्तमनाविद्धाङ्गचेष्टितम् ।
[2]लयतालकलापातप्रमाणनियतात्मकम्[3] ॥ ७४ ॥
[4]सुविभक्तपदालापमनिष्ठुरमकाहलम्[5] ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं [6]ज्ञेयमाभ्यन्तरन्तु तत् ॥ ७५ ॥

(नाट्य प्रदर्शन में) जो अभिनय ऐसी अधिक चेष्टाओं के द्वारा प्रस्तुत किया जाए कि वे उद्धत न हों, भ्रान्ति-युक्त न हो और मिश्रित (किसी अन्य भाव या क्रियाओं से—अनाविद्ध) न हों। जो उचित लय, ताल तथा कला के प्रमाण से निश्चित स्वरूप वाला (व्यवस्थित स्वरूप वाला) हो, जिसमें संवाद (यहाँ पदों से आशय है) को ठीक प्रकार से विभाजित करते हुए तथा विना हकलाते (अटकते) हुए (या घबराते हुए)

---

१. नाट्य के आभ्यन्तर तथा बाह्य नामक दो अन्य अभिनयरूप और हैं। ये दो ऐसी नाट्यपरम्परा हैं जिनमें एक में शास्त्रानुमोदित नाट्यप्रयोग के नियमों का विवरण है तथा अन्य में शास्त्र से बहिर्भूत नियमों के अनुसरण का उल्लेख हैं। इनमें शास्त्रानुमोदित अभिनय की परम्परा का (जो आचार्यों के द्वारा विनिश्चित भी थी) प्रयोग रहता था तथा शास्त्र बहिष्कृत स्वच्छन्द परम्परा का निदर्शन केवल परम्परा के लिये (किसी भी उपयुक्तता के अभाव के कारण उसे छोड़ने या उपेक्षित करने के लिये ही) यहाँ मुनि ने दर्शाया है। श्री मनोमोहन घोष का मत है कि प्राचीनकाल के कलाकार या अभिनेता शास्त्रानुकूल अभिनय का श्रद्धा से अनुसरण न कर कभी-कभी स्वच्छन्द भी हो जाते होंगें। इसी कारण यहाँ मुनि ने उनका उल्लेख करते हुए शास्त्रानुसरण की प्रवृत्ति को ग्रहण करने की ओर ही उनका ध्यान दिलवाया है। (जब कि श्री घोष के अनुसार अभिनेता ही स्वच्छन्दवृत्ति के होते थे तथा वे शास्त्रीय नियमों को अधिक मान्य करने में उपेक्षावृत्ति रखते थे।)

---

१. अनुद्भटमसङ्क्रान्त—क (भं०)।

२. कलाकाल—ख०।

३. नियतात्मजम्—ग; नियमात्मकः—क (ड); नियतात्मजात्—क (ढ़)।

४. कथालाप—ग०। ५. मनाकुलम्—ग०, घ०।

६. मभ्यन्तरं—क (ढ)।

उच्चारित किया गया हो तो उसे (सम्भाव्याभिनयान्तर्गत) आभ्यन्तर-अभिनय समझना चाहिए ॥ ७४-७५ ॥

बाह्य-अभिनय—

एतदेव विपर्यस्तं स्वच्छन्दगतिचेष्टितम् ।
[1]अनिबद्धगीतवाद्यं नाट्यं बाह्यमिति स्मृतम् ॥ ७६ ॥

जब यही विपरीत लक्षणों, गतियों और चेष्टाओं में ऐसी स्वच्छन्दता लिए हुए हो, (जिसमें) गीत तथा वाद्यों का संयोजन न हो (या उसमें संगत न रहे) तो उसे 'बाह्य' अभिनय समझना चाहिए ॥ ७६ ॥

[2]लक्षणाभ्यन्तरत्वाद्धि तदाभ्यन्तरमिष्यते ।
[3]शास्त्रबाह्यं भवेद्यत्तु तद् बाह्यमिति[4] भण्यते ॥ ७७ ॥

'आभ्यन्तर' इसलिये कहा जाता है कि इसमें शास्त्रीय लक्षण समाविष्ट रहते हैं तथा इन्हीं लक्षणों के न रहने (या स्वतन्त्र स्वरूप प्राप्त करने) के कारण ही 'बाह्य' अभिनय माना गया है ॥ ७७ ॥

अनेन लक्ष्यते यस्मात् प्रयोगः कर्म चैव हि ।
तस्माल्लक्षणमेतद्धि नाट्येऽस्मिन् सम्प्रयोजितम्[5] ॥ ७८ ॥

क्योंकि इसी के द्वारा किसी नाट्य प्रयोग को पहचाना जाता है, इसीलिये नाटकों (नाट्य-प्रयोग) में इसकी उपयोगिता मानी गई है ॥ ७८ ॥

[6]अनाचार्योषिता ये च ये च शास्त्रबहिष्कृताः[7] ।
[8]बाह्यं प्रयुञ्जते ते तु [9]अज्ञात्वाचार्यकीं क्रियाम् ॥ ७९ ॥

---

१. अनिबद्धं गीतवाद्यैः—ग०, घ०; अनुबद्ध—क (म०) ।
२. लक्षणाभ्यन्तरं यस्मात्तस्मादाभ्यतरं स्मृतम्—क (च०) ।
३. शास्त्रार्थबाह्यभावार्थं बाह्यमित्यभिधीयते—ख० ।
४. मिति संज्ञितम्—क (ङ); मिति विश्रुतम्—क (भ०)
५ समुदाहृतम् —क (भ०); नाट्ये तस्मिन् नियोजितम्—ग० ।
६. अनाचार्योदिता—ख; अनाचार्ये हिता—क (भ०); अनाचार्याहिताः—क (ब) ।
७. शास्त्रबहिर्गताः—क (च) ।
८. बाह्यं ते तु प्रयोक्ष्यन्ते क्रियामन्यैः प्रयोजिताम्—ग०, घ० ।
९. क्रियामात्रैः प्रयोजितैः—ख० ।

जिन व्यक्तियों ने किसी योग्य नाट्याचार्य से शिक्षण प्राप्त न किया हो या जिसने किसी शास्त्र का अध्ययन करते हुए (प्रतिभा तथा व्युपत्ति के द्वारा भी) इस शास्त्र का ज्ञान प्राप्त न किया हो तो ऐसे ये केवल क्रियाओं (चेष्टाओं) के अभिनय वाले 'बाह्य' नाट्य का ही स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रदर्शन कर सकेंगें।

इन्द्रियाभिनय—

शब्दं स्पर्शञ्च रूपञ्च रसं गन्धन्तथैव च।
[1]इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च भावैरभिनयेद्बुधः[2] ॥ ८० ॥

इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप तथा गन्ध विषय होते हैं। इन विषयों का उचित आंशिक चेष्टाओं एवं उनकी स्थितियों के द्वारा अभिनय प्रदर्शित करना चाहिए।[1]

शब्द—

कृत्वा साचीकृतां दृष्टिं शिरः पार्श्वनतं[3] तथा।
तर्जनीं[4] कर्णदेशे च बुधः[5] शब्दं विनिर्दिशेत् ॥ ८१ ॥

---

१. वस्तुतः विषयों का ज्ञान मन को होता है परन्तु उस ज्ञान का माध्यम इन्द्रियाँ ही होती हैं और इन्हीं के द्वारा मानस प्रत्यक्ष सम्भव रहता है। इस प्रकार भरतमुनि ने इन्द्रियों, इनके विषयों तथा इनके मन से होने वाले सम्बन्ध पर भी विचार दिया है। इनके मत में इन्द्रियों के द्वारा जिन अनुभावों की अभिव्यक्ति की जाती हैं वे अनुभाव केवल इन्द्रियों के ही नहीं है अपि तु मन सहित इन्द्रियों के हैं और मत ही इष्ट या अनिष्टभावों की अनुभूति करता है। मन से विच्छिन्न हो जाने पर स्वतन्त्ररूप से इन्द्रियाँ किसी अनुभव को नहीं कर सकती हैं। मन की विच्छिन्नदशा में सम्मुख स्थित विषयों का भी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। दर्शन-शास्त्र एवं उपनिषदों में मन एवं आत्मा के सम्बन्ध तथा अवस्थाओं आदि की विशद मीमांसा की गई है। भरतमुनि ने भी सूत्ररूप में इसी गम्भीर विचारशृङ्खला को (जो उपनिषदां से धारावाहिकरूप में चली आ रही थी) विकसित किया है।

---

१. इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च—ग; इन्द्रियाणीन्द्रियार्थैश्च—घ०।
२. भावेनाभि—क (भ०)।
३. पार्श्वाञ्चितं—ख; पार्श्वानतं—क (य); पार्श्वे नतं—क (प०)।
४. तर्जनी कर्णदेशे तु शब्दं त्वभिनयेद् बुधः—क।
५. बुधः शब्दान् नियोजयेत्—क (ख)।

'शब्द' (जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है) का अभिनय तिरछी दृष्टि तर्जनी को कान के ऊपर रख कर सिर को कन्धे की ओर (बाजू में) झुकाते हुए—(जैसे किसी बात को सुन रहा हो इस भाव का) अभिनय किया जाए।

स्पर्श—

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा[1] भ्रूक्षेपमेव च।
तथांसगण्डयोः[2] स्पर्शात् स्पर्शमेवं विनिर्दिशेत् ॥ ८२ ॥

नेत्रों को कुछ सिकुड़ाते हुए, भौहों को ऊपर चढ़ाकर, कन्धों को कपोल से छुवाते हुए 'स्पर्श' का चतुरजन अभिनय करें।

रूप—

कृत्वा पताकौ[3] मूर्धस्थौ किञ्चित्प्रचलिताननः[4]।
निर्वर्णयन्त्या दृष्ट्या च रूपन्त्वभिनयेद् बुधः ॥ ८३ ॥

दो पताक हस्तों को ऊपर रखते हुए, मस्तक को थोड़ा हिलाते हुए (मुँह को चंचल रहते हुए) मुख्य भाव से किसी को देखने का भाव प्रदर्शित करने पर 'रूप' का अभिनय होता है। (पाठान्तर-पताक हस्त को मस्तक पर रखकर इन्हें थोड़ा धुजाते हुए') ॥ ८३ ॥

रस तथा गन्ध—

किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वोत्फुल्लाञ्च[5] नासिकाम्[6]।
एकोच्छ्वासेन चेष्टौ[7] तु रसगन्धौ विनिर्दिशेत् ॥ ८४ ॥

आँखों को थोड़ी सिकुड़ा कर फुलाते हुए, नाक को फुला कर एक सांस लेते हुए प्रसन्नता पूर्वक 'रस' तथा 'गन्ध' का (क्रमशः) अभिनय करना चाहिए ॥ ८४ ॥

पञ्चानामिन्द्रियार्थानां[8] भावा ह्येतेऽनुभाविनः।
श्रोत्र-त्वङ्नेत्रजिह्वानां[9] घ्राणस्य च तथैव हि ॥ ८५ ॥

---

१. भ्रुवोरुत्क्षेपणेन च—ग०। २. तथाङ्गगण्डयो—ग०।
३. पताके मूर्ध्निस्थे—ख०। ४. प्रचलिताङ्गुलिः—ग०, घ०।
५. कृत्वा फुल्लाञ्च—क (भ०)। ६. नाडिकाम्—क (भ०)।
७. चोद्दिष्टौ—ख०; एकोल्लासेन हृष्टेष्टौ—ग घ०; सहोच्छ्वासे चेष्टौ तु—क (भ०)।
८. मिन्द्रियाणाञ्च—ग०, घ०।
९. त्वक्चक्षुर्घ्राण-जिह्वानां श्रोत्रस्य च तथैव च—ग०, घ०।

ये ही वे क्रियाएँ हैं जिसके द्वारा श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, नासिका तथा जिह्वा जैसी पाँचों इन्द्रियों के विषयों का अनुभव[1] होता है ॥ ८५ ॥

मन का (भावों की अनुमति में) महत्त्व—

इन्द्रियार्थो[1] समनसो भवन्ति[2] ह्यनुभाविनः ।
न वेत्ति ह्यमनाः किञ्चिद्विषयं पञ्चधा[3] गतम् ॥ ८६ ॥

इन्द्रियों के ये विषय मन के अनुगत होने पर ही अनुभूत हो सकते हैं। क्योंकि जो पुरुष मानसिक चेतनाहीन (अमनाः) हो, उसे इन इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान ही नहीं हो पाता है ॥ ८६ ॥

मन के तीन भाव—

मनसस्त्रिविधो भावो विज्ञेयोऽभिनये[4] बुधैः ।
[5]इष्टस्तथा ह्यनिष्टश्च मध्यस्थश्च तथैव हि ॥ ८७ ॥

नाट्य-अभिनय में मन के तीन भाव रहते हैं–(१) इष्ट, (२) अनिष्ट तथा (३) मध्यस्थ ॥ ८७ ॥

इष्ट-भाव—

प्रह्लादनेन[6] गात्रस्य तथा पुलकितेन च ।
[7]वदनस्य विकासेन कुर्यादिष्टनिदर्शनम्[8] ॥ ८८ ॥

शरीर की आनन्दमय चेष्टाओं के द्वारा, रोमांच तथा मुँह को प्रफुल्लित रखते हुए 'इष्ट' भाव का अभिनय करना चाहिए। ॥ ८८ ॥

---

१. नाट्य में पांचों इन्द्रियों के द्वारा इष्ट, अनिष्ट तथा तटस्थ भावों का जो अनुभव किया जाता है उसमें मानसिक भाव की अभिव्यक्ति होती है इन्द्रियों के भाव नहीं; यह पूर्व विवरण से तथा इस उल्लेख से भी स्पष्ट होता है।

---

१. इन्द्रियार्थाश्च मनसा—ख० ।
२. इन्द्रियार्थश्च मनसा भाव्यते ह्यनुभावितः—ग०, घ० ।
३. पञ्चहेतुकम्—ख, ग, घ० । ४. भिनयं प्रति—ग०, घ० ।
५. इष्टोऽनिष्टश्च मध्यश्च तस्याभिनय उच्यते—ख; इष्टोऽनिष्टस्तथा चैव—ग० घ० ।
६. गात्रप्रह्लादनेनेह—क (भ०) ।
७. आननप्रक्रियाभिश्च—ग० घ०; नितान्तप्रक्रियाभिश्च—क (ज) ।
८. सर्वमिष्टं निरूपयेत्—ग०, घ०, ।

इष्टे शब्दे तथा रूपे स्पर्शे गन्धे तथा[1] रसे।
इन्द्रियैर्मनसा[2] प्राप्तैः सौमुख्यं[3] सम्प्रदर्शयेत्॥ ८९॥

शब्द, रूप, स्पर्श, गन्ध तथा रस के भावों को इष्ट होने पर मन के साथ इन्द्रियों के उनकी ओर झुकाव के द्वारा अभिनय प्रदर्शित करना चाहिए॥ ८९॥

अनिष्ट-भाव—

परावृत्तेन शिरसा नेत्रनासा-विकर्षणैः[4]।
[5]चक्षुषश्चाप्रदानेन ह्यथनिष्टमभिनिर्दिशेत्॥ ९०॥

मस्तक को हिलाते हुए या फेर कर आँखों को हटाते हुए और आँखों तथा नाक को सिकुड़ाते हुए 'अनिष्ट' भाव का प्रदर्शन करना चाहिए॥ ९०॥

मध्यस्थ-भाव—

नातिहृष्टेन[6] मनसा न चात्यर्थजुगुप्सया।
मध्यस्थेनैव भावेन मध्यस्थमभिनिर्दिशेत्॥ ९१॥

मध्यस्थ-भाव को किसी विषय या वस्तु से न अतिप्रसन्नता न ही उसके तिरस्कार को प्रकट करते हुए तथा स्वयं को इन भावों के मध्य रखकर 'मध्यस्थ-भाव' का अभिनय प्रस्तुत करना चाहिए।॥ ९१॥

तेनेदं तस्य वापीदं स एवं प्रकरोति वा।
परोक्षाभिनयो यस्तु मध्यस्थ इति स स्मृतः॥ ९२॥

यदि 'यह उसके द्वारा किया गया' यह उसका है या 'वह ऐसा करता है' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाए तो इनके द्वारा परोक्ष भाव से जो अभिनय किया जाता है वह 'मध्यस्थ भाव' कहलाता है॥ ९२॥

---

१. रसेऽपि वा—ग० घ०।

२. मंनसि—ख०। ३. सौख्यं सम्प्रति दर्शयेत्—क (ब०)।

४. नेत्रभासा—ख०।

५. तथा पातेन चक्षुपः नेत्रनासाञ्चिततया—क (भ०); प्रदानेन च चक्षुषः नेत्रनासाञ्चिततया—क (ड)

६. तानि हृष्टेन—ख; नचातिमात्रहृष्टस्तु न चात्यन्तजुगुप्सया—ग०, घ०।

आत्मस्थ एवं परस्थभाव—

आत्मानुभावी यो ऽर्थः स्यादात्मस्थ इति स स्मृतः।
परार्थवर्णना[1] यत्र परस्थः स तु संज्ञितः ॥ ९३ ॥

जो पदार्थ किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं अनुभूत हों उन्हें 'आत्मस्थ' तथा जो दूसरे व्यक्ति के द्वारा बतलाए जाएँ अथवा वर्णन किया जाए तो वे 'परस्थ' कहलाते हैं ॥ ९३ ॥

काम तथा उसके विभेद—

प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते।
स चेच्छागुणसम्पन्नो[2] बहुधा[3] परिकल्पितः ॥ ९४ ॥
धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च।

प्रायः सभी भावों की 'काम'[1] से उत्पत्ति होती है और बहुधा यही इच्छा

---

१. भावों के अभिनय निरूपण में इन्द्रियाँ, मन तथा विषय के पारस्परिक सम्बन्धों की मीमांसा नाट्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भाव इच्छागुण से सम्पन्न होते हैं तथा सभी इच्छात्मक भाव काम हैं या उनकी काम से निष्पत्ति मानी गयी हैं। इसी कारण मुनि को धर्मकाम, अर्थकाम तथा मोक्षकाम आदि रूपों वाले भावों को प्रस्तुत करना पड़ा। इसका कारण है प्रवृत्ति जिसका काम के अतिरिक्त धर्म, अर्थ तथा मोक्ष की ओर अभिमुख होना। परन्तु स्त्री पुरुषों के मानसिक भावों का योग रहने पर 'काम' की मुख्यता स्पष्ट ही है क्योंकि काम-भाव समस्त लोक में व्याप्त है। अतः नाट्य में भी 'काम' की प्रमुखता इसी कारण रखी गयी है। भरतमुनि द्वारा काम की इस प्रमुखता की प्रधानता बत-लाना लोक-जीवन को नाट्य में यथार्थतः प्रस्तुत करने के उद्देश्य से है। यह ठीक भी है कि लोक-जीवन में धर्म, अर्थ तथा मोक्ष का महत्व है पर मानवीय जीवन में कामभावना ही सहज है। नाट्य में मानवीय भावना के इस सहज रूप को क्रिया-प्रति-क्रियाओं के साथ पूर्ण एवं यथातथ प्रस्तुत करना पड़ता है क्योंकि नाट्य का यह भी एक लक्ष्य रहता है। इसी कारण मुनि ने नाट्य और लोक जीवन की निकटता को देखते हुए काम की प्रधानता स्वीकार की जो व्यावहारिक दृष्टि से ही हुई है।

---

१. परार्थवर्णनायां च परस्थ इति स स्मृतः—ख०; परस्य वर्णनीयश्च—ग० घ०; परार्थवर्णने यश्च परस्थः सोऽभिधीयते—क (भ०)।

२. चेप्सागुण—क (ज)। ३. बहुधा काम इष्यते—ग०, घ०।

से संयुक्त होकर अनेक स्वरूपों को धारण करता है। जैसे—धर्मकाम, अर्थ-काम तथा मोक्ष-काम ॥ ९४-९५ ॥

काम—

स्त्रीपुंसयोस्तु[1] योगो यः स तु काम इति स्मृतः ॥ ९५ ॥
सर्वस्यैव[2] हि लोकस्य सुखदुः[3]खनिवर्हणः ।
भूयिष्ठं दृश्यते कामः स[4] सुखं व्यसनेष्वपि ॥ ९६ ॥

पुरुष तथा स्त्री का मिलन 'काम' कहलाता है। यह काम सभी को सुख तथा दुःख देने वाला होता है तथा यही सुख और दुःख की अवस्थाओं में अतिशय देखा भी जाता है ॥ ९५–९६ ॥

शृङ्गार—

यः स्त्रीपुरुषसंयोगो[5] रतिसम्भोगकारकः ।
स श्रृंङ्गार इति ज्ञेय उपचारकृतः[6] शुभः[7] ॥ ९७ ॥

जब स्त्री तथा पुरुषों का पारस्परिक संयोग रति भाव का निष्पादक हो तो उसे 'श्रृंगार' जानो। यह उपचारों के द्वारा अनुष्ठित होने पर अतिशय सुखद (शुभ) होता है। (या इसका उपचारों का ज्ञान रखकर उपयोग करना ठीक होता है) ॥ ९७ ॥[1]

भूयिष्ठमेव[8] लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा ।
सुखस्य हि स्त्रियो मूलं नानाशीलाश्च[9] ता पुनः ॥ ९८ ॥

---

१. म० मो० घोष का अर्थ तथा पाठ दोनों यहां असंगत अर्थ को प्रकट करता हैं।

---

१. यत्तु स्त्रीपुंसयोर्योगः समो योग इति स्मृतः—ख०; स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगो यः कामः स तु संस्मृतः—ग०।

२. एतच्छ्लोकार्धं ग—पुस्तके नास्ति।

३. सुखदुःखनिबर्हणम्—ख०; शोक-दुःख निवर्हणः—क (ब)।

४. सुखदो दुःखदेष्वपि—ख०, घ०। ५. संयोग रतिसंयोगकारकः—ग०।

६. उपकारकृतः—ग०। ७. सुखः—घ०।

८. सर्वः प्रायेण—ख०; इह प्रायेण लोकोऽयं शुभमिच्छति नित्यशः—ग०, सुखमिच्छति……घ०।

९. नानाशीलधराश्च ताः—ख०।

इस संसार में सभी मनुष्य अधिक सुख के आकांक्षी हैं और सुख का मूल (उत्तम) स्त्रियाँ होती हैं जिनकी विभिन्न प्रकृति होती है ॥ ९८ ॥[1]

स्त्रियों के विभिन्न प्रकार—

देवतासुरगन्धर्व[1]रक्षोनागपतत्रिणाम् ।
पिशाचयक्षव्यालानां[2] नर-वानर-हस्तिनाम् ॥ ९९ ॥

मृगमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम्[3] ।
महिषाजगवादीनां[4] तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः ॥ १०० ॥

ये स्त्रियाँ प्रकृति की भिन्नता के कारण अनेक स्वरूप वाली होती हैं। जैसे ये देव, असुर, गन्धर्व, राक्षस, नाग, पक्षी, पिशाच, यक्ष, ऋक्ष, व्याघ्र; मनुष्य, वानर, हाथी, मृग, मीन, ऊँट, खर, सूकर, अश्व, भैंस, बकरी तथा गौ के शील के तुल्य शीलवाली होती हैं ॥ ९९-१०० ॥[2]

देवशीला नारी—

स्निग्धैरङ्गैरुपाङ्गैश्च[5] स्थिरा मन्दनिमेषिणी।
अरोगा दीप्त्युपेता च [6]दानसत्वार्जवान्विता ॥ १०१ ॥
अल्पस्वेदा[7] समरता स्वल्पभुक्[8] सुरतप्रिया।
गान्धर्व-वाद्याभिरता[9] देवशीलाङ्गना[10] स्मृता ॥ १०२ ॥

जिसके अवयव सुकुमार हों, नेत्रों के प्रान्त भाव से स्थिर एवं मन्द मन्द अवलोकन करे, स्वस्थ और दीप्ति सम्पन्न हो, दान, शक्ति तथा विनय से युक्त हो, जिसके शरीर से पसीना कम निकलता हो, प्रत्येक अवस्था में

---

१. तु० भाव-प्रकाशन—पृ० १०९, १-९-६०
२. (९९-१००) तु० भा० प्र० पृ० १०९-१२-१५

---

१. देवदानव—क०; देवगन्धर्वदैत्यानां सयक्षोरगरक्षसाम्—क (भ०)।
२. ऋक्ष—ख०। ३. वनसूकर—ग०।
४. महिषाश्वगवा—घ; क (ड); महिष-प्रभृतीनाञ्च—क (भ०)।
५. स्निग्धाङ्गोपाङ्गनयना—ख०, स्निग्धा चाङ्गैरुपाङ्गैश्च—ग० घ०।
६. सत्यार्जवदयान्विता—ख०; दानशक्यार्जवन्विता—ग० दानसत्यार्जवा —घ०।
७. अपस्वेदा—क (भ०)। ८. स्वल्पशुक्ररतप्रिया (?)—ख०।
९. गन्धपुष्परता हृद्या—क०; १०. हृद्या देवाङ्गना स्मृता—ग०, घ०।

समान भाव से स्नेह रखती हो, थोड़ा आहार करती हो, सुगन्धित वस्तुएँ प्रिय हों, गायन तथा वाद्य में रुचि रखने वाली तथा सुरत की अभिलाषी हो तो ऐसी नारी 'देवांगना' समझना चाहिए ॥ १०१–१०२ ॥[1]

असुरशीला-नारी—

अधर्मशाठ्यनिरता[1] स्थिरक्रोधातिनिष्ठुरा ।
मद्यमांसप्रिया नित्यं कोपना[2] चातिमानिनी ॥ १०३ ॥
चपला चातिलुब्धा[3] च परुषा कलहप्रिया ।
ईर्ष्याशीला[4] चलस्नेहा चासुरं शीलमाश्रिता ॥ १०४ ॥

जो अधर्म तथा शठ वृत्ति में लीन हो, जिसे देर तक क्रोध बना रहता हो, अति कठोर स्वभाव हो, मद्य और मांस जिसके प्रिय भोज्य हों, सदा क्रोध करने वाली, अतिशय मान धारण करती रहने वाली, चंचल वृत्ति, अतिशय लोभ करने वाली, कटुभाषिणी (पुरुषा), लड़ाई करवाने वाली, ईर्ष्या आदि स्वभाव वाली और थोड़ा स्नेह रखने वाली नारी 'असुरशीला' समझनी चाहिए ॥ १०३–१०४ ॥[2]

गान्धर्वशीला-नारी—

क्रीडापरा[5] चारुनेत्रा नखदन्तैः सुपुष्पितैः ।
स्वङ्गी[6] च स्थिरभाषी च मन्दापत्या रतिप्रिया ॥ १०५ ॥
गीते[7] वाद्ये नृत्ते च रता[8] हृष्टा मृजावती ।
गन्धर्वसत्वा विज्ञेया स्निग्धत्वक्केशलोचना ॥ १०६ ॥

---

१. (१०१–१०२) तुल० भा० प्र०, पृ० १६–१९,
२. (१०३–१०४) तुल० भा० प्र० पृ० २०–२२ ।

---

१. अधमा साम्यनिरत–स्थिर—ख०, साध्यनिरतास्थिर—क (भ, ब०) ।
२. क्रोधना—ख० । ७. चाति—निर्लुब्धा—ख० ।
३. ईर्ष्याशीलाथ निःस्नेहा शोलमासुरमाश्रिताः—ख० ।
४. क्षिप्तापरा—ख०; अनेकारामभोग्या च—ग० घ० ।
५. तन्वङ्गी स्मितभाषा च—ख०; स्मिताभिभाषिणी तन्वी—ग० घ० ।
६. नृत्ते गीते च नाट्ये च—ख०; गीतनृत्ते सदासक्ता विदग्धा सुरभिप्रिया—क (भ०) ।
७. नित्यं—ग०, घ० । ८. गन्धर्वशीला—ख० ।

अनेक उपवन में विहार करने वाली, जिसके नख तथा दाँत सुन्दर एवं खिले हुए हों (सुपुष्पितैः), मन्दहास पूर्वक संभाषण करने वाली, कोमल देह वाली (तन्वी), मन्द गति वाली, रति में प्रीति रखनेव ाली, सदा गीत, वाद्य और नृत्य में मग्न रहने वाली, शरीर को साफ सुथरा रखने वाली, कोमल स्वभाव एवं केश वाली तथा सुन्दरनेत्रों वाली नारी 'गान्धर्वशीला' समझनी चाहिए[1] ॥ १०५-१०६ ॥

राक्षस-शीला—

बृहद्‌व्यायतसर्वाङ्गी[1] रक्तविस्तीर्णलोचना ।
खरलोमा[2] दिवास्वप्ननिरतात्युच्चभाषिणी[3] ॥ १०७ ॥
नखदन्तक्षतकरी क्रोधेर्ष्याकलहप्रिया ।
निशाविहारशीला[4] च राक्षसं शीलमाश्रिता[5] ॥ १०८ ॥

जिसके सभी अवयव मोटे और फैले हुए हों. आंखे लाल और बड़ी बड़ी हों, शरीर पर कड़े बाल हों (खर रोमा) दिन में सोने वाली, जोर से बोलने वाली, नख और दन्तक्षत देने की प्रकृतिवाली, क्रोध ईर्ष्या तथा कलह करने वाली तथा रात्रि में घूमने फिरने की वृत्ति रखने वाली नारी 'राक्षस' शीला कहलाती है[2] ॥ १०७-१०८ ॥

नागशीला—

तीक्ष्णनासाग्रदशना[6] सुतनुस्ताम्रलोचना ।
नीलोत्पलसवर्णा च स्वप्नशीलातिकोपना[7] ॥ १०९ ॥
तिर्यग्गतिश्चलारम्भा[8] बहुश्वासातिमानिनी[9] ।

---

१. (१०५-१०६) तु०-भा० प्र० पृ० १०८-१-४ ।
२. (१०७-१०८) तु०-भा० प्र० पृ० ११०-१८-२१

---

१. बृहदायत—ग० । २. भूरिरोमा—क (ड) ।
३. स्वप्नस्वभावोत्फुल्लभाषिणी—ख०; स्वप्ननिवृत्तात्युच्च—ग०; स्वप्ननिर्वृत्तात्युच्च—घ०; स्वप्ननित्यमत्युच्च—क (भ०) ।
४. निशाभिचार—क (भ०) । ५. सत्वमा—ख० ।
६. नासोग्रदशना—ख० । ७. स्वप्नोद्देशा—ग०; स्वप्नोद्वेगा—घ० ।
८. तिर्यग्जनिश्चला—ख०, गतिश्चलरसा—क (भ०) ।
९. बहुबिम्बातिमानिनी—ख, बहुबिम्बातिमानिनी—ख, बहुसत्वाभिनन्दिनी—ग० ।

गन्धमाल्यासवरता[1] नागसत्त्वाङ्गना स्मृता ॥ ११० ॥

जिसकी नाक तीखी और दांत पतले हों, शरीर सुन्दर लोचदार हो, आंखे लाल हों, शरीर का रंग नील कमल के समान हों, जो अतिशय निद्रालु स्वभाव वाली हो, क्रोध बहुत करती हों, जिसकी गति तिरछी हो (तथा कार्य अस्थिर, अनेक प्राणियों के (सखियों के) बीच रहने पर खुश रहने वाली, पाठान्तर-) जो अधिक जोर से सांस लेने वाली हो तथा अतिशय मानी स्वभाव हो-(बहुस्वाश्वातिमानिनी) और जो सुगन्धित पुष्प, चन्दन तथा आसव का सेवन करने वाली हो तो वह नारी नागशीला[1] कहलाती है ॥ १०९–११० ॥

पक्षि-शीला—

अत्यन्तव्यावृतास्या[2] च तीक्ष्णशीला सरित्प्रिया[3] ।
सुरासवक्षीररता[4] बह्वपत्या फलप्रिया ॥ १११ ॥
नित्यं श्वसनशीला[5] च तथोद्यानवनप्रिया[6] ।
चपला[7] बहुवाक्शीघ्रा शाकुनं सत्त्वमाश्रिता ॥ ११२ ॥

जिसका मुँह चौड़ा हो, तीक्ष्ण स्वभाव हो, जल विहार में प्रीति हो, जो सुरा आसव तथा क्षीर का सेवन करे, अनेक सन्तानें हों, फलों को पसन्द करने वाली, सदा सांस लेने वाली और उपवन तथा वन विहार में प्रीति रखने वाली अति चंचल वृत्ति तथा अतिशय बोलने वाली नारी पक्षिशीला[2] होती है ॥ १११–११२ ॥

---

१. (१०९–११०) तु०—भा० प्र० ११०–२१–२२ तथा पृ० १११—श्लोक २३ भी।

२. (१११–११२) तु०—भा० प्र० १११–११–१२ (२२–२३)

---

१. गन्धमाल्यातिनिरता—ख०; गन्धमाल्यादिनिरता—ग० ।

२. अत्यर्थं घटितास्या—ख०; तन्वङ्गी दीर्घवदना—क (भ०) ।

३. रतिप्रिया—ख० । ४. क्षीररसा—ग० ।

५. चासन—क (भ०) ।

६. सदोद्यानरतिप्रिया – ख० ।

७. चला बहुलपा शीघ्रा—क (भ०) ।

पिशाचशीला—

[1]ऊनाधिकाङ्गुलिकरा[2] रात्रौ[3] निष्कुटचारिणी।
बालोद्वेजनशीला च पिशुना [4]क्लिष्टभाषिणी ॥ ११३ ॥
[5]सुरतेषूज्झिताचारा रोमशाङ्गी महास्वना।
पिशाचसत्वा विज्ञेया मद्यमांसबलिप्रिया[6] ॥ ११४ ॥

जिसकी हाथों की अंगुलिया कम या अधिक हों, रात्रि में घर के उद्यानों में (निष्कुट) निर्भयतापूर्वक विचरने वाली, बच्चों को डराने वाली, चुगली लगाने वाली, कटु भाषिणी (क्लिष्टभाषिणी) (पाठान्तर-श्लिष्टभाषिणी-जो सदा दो अर्थों के शब्दों में भाषण करती हो) सुरत कर्म में अपनी मर्यादा को छोड़ देने वाली, (सुरतेष्वूज्झिताचारा) शरीर पर अधिक बालों वाली, जोरों की आवाज करने वाली तथा मदिरा और मांस से प्रेम रखने वाली नारी पिशाच-शीला[1] कहलाती है ॥ ११३-११४ ॥

यक्षशीला—

स्वप्नप्रस्वेदनाङ्गी च स्थिरशय्यासनप्रिया[7]।
मेधाविनी च[8] मृद्वङ्गी मद्यगन्धामिषप्रिया ॥ ११५ ॥
चिरदृष्टेषु[9] हर्षश्च कृतज्ञत्वादुपैति सा[10]।
अदीर्घशायिनी[11] चैव यक्षशीलाङ्गना[12] स्मृता ॥ ११६ ॥

---

१. (११३-११४) पिशाचशीला नारी का लक्षण बडोडा संस्करण के पाठानुसार लिया गया है। तुलना—भा० प्र० १११, १५-१८।

---

१. न्यूना—क (ड); जना (?) धिका—ख०।
२. क्रूरा—ख०। ३. रात्रिसंचरणप्रिया—क (भ०)।
४. श्लिष्ट—ख०।
५. सुरते कुत्सिताचारा—क०। ६. रतिप्रिया—ख०।
७. प्रियशय्यासन स्थिरा—क (भ०)। ८. बुद्धिमती—क०।
९. नित्यदृष्टा कृतज्ञा च स्थूलाङ्गा प्रियदर्शना—क (भ०); चिरदृष्टे तु—ख०।
१०. या—ख०। ११. अदीर्घकेशिनी—क (भ०); अदीर्घगमना या च—ख०।
१२. ज्ञेया यक्षान्वयाङ्गना—ख०।

नींद में जिसके शरीर से पसीना निकलता रहता हो, जिसे किसी आसन या पलंग पर बैठना भाता हो, जो बुद्धिमान् हो तथा कोमल शरीर वाली हो, जिसके शरीर से मस्त मद्य सी सुगन्ध आती हो (मद्यगन्धा) तथा मांस सेवन पसन्द करती हो, बहुत दिन बाद किसी से मिलने पर कृतज्ञता-पूर्वक स्वागत करने वाली तथा देर तक न सोने वाली (अदीर्घशायिनी) ऐसी नारी को यक्षशीला[1] समझना चाहिए ॥ ११५–११६ ॥

व्याल(व्याघ्र)शीला—

तुल्यमानावमाना[1] या परुषत्वक्खरस्वरा ।
शठानृतोद्धतकथा व्यालसत्वा[2] च पिङ्गदृक् ॥ ११७ ॥

जो मानापमान में समान भाव रखने वाली हो, जिसकी त्वचा तथा स्वर कठोर हो, दुष्ट स्वभाव (शठा) की और झूठी बातें बनाने वाली हो, और जिसकी मंजरी (पीली पीली) आँखे हों तो उसे व्यालशीला[2] (बाघ के स्वभाव वाली) नारी समझना चाहिए ॥ ११७ ॥

मनुष्यशीला—

आर्जवाभिरता नित्यं दक्षा[3] क्षान्तिगुणान्विता ।
विभक्ताङ्गी कृतज्ञा च गुरुदेवद्विजप्रिया[4] ॥ ११८ ॥
धर्मकामार्थनिरता[5] ह्यहङ्कारविवर्जिता[6] ।
सुहृत्प्रिया सुशीला च मानुषं सत्त्वमाश्रिता ॥ ११९ ॥

जिसका विनीत स्वभाव हो, जो चतुर तथा अनेक गुणों वाली हों जिसके सभी अवयव ठीक हों (सुविभक्तांगी), अपने गुरुजन तथा देवता की पूजा भक्ति में व्यस्त रहती हो, अपने कर्तव्य तथा प्रयोजन की पूर्ति में सजग हो, (या धर्म और अर्थ के अर्जन में उद्यत रहने वाली हो) गर्व से

---

१. (११५–११६) तुलना-भाव-प्र० पृष्ठ ११०।१–५–७ ।
२. (११७) तु० भाव० पृ० १११ । १–१९–२२ ।

---

१. मानापमानयोस्तुल्या परुषा कटुकाक्षरा—ख०;
२. पिङ्गदृग् व्यालवंशजा—ख० । ३. दक्षात्यन्तगुणा—ख०; ग० ।
४. गुरुदेवार्चने रता – ख० ।
५. कामार्थनित्या च वश्याहङ्कारवर्जिता—ख० ।
६ हेतुमाश्रिता—ख० ।

विहीन हो और स्वजनों (सखी मित्रों आदि से) से स्नेह रखने वाली सच्चरित्र (सुशीला) नारी को 'मानवशीला'[1] समझना चाहिए ॥ ११८–११९ ॥

वानरशीला—

संहृताल्पतनुर्धृष्टा[1] पिङ्गरोमा[2] छलप्रिया[3]।
प्रगल्भा चपला तीक्ष्णा वृक्षारामवनप्रिया[4] ॥ १२० ॥
स्वल्पमप्युपकारन्तु नित्यं या बहु मन्यते।
प्रसह्य[5] रतिशीला च वानिरं[6] सत्त्वमाश्रिता ॥ १२१ ॥

जिसका कद ठिगना (अल्पतनु) और शरीर भरा हुआ हो, (जो) धृष्ट स्वभाव वाली हो, जिसके बाल पीले हों, जिसे फलों का सेवन इष्ट हो, जो वाचाल, चपल और फुर्तीली हो, जिसे वृक्ष उपवन तथा वन में विहार करना भाता हो, जो थोड़े से उपकार को भी बड़ा मानने वाली हो और तीव्र रति की आकांक्षा करने वाली नारी को 'वानरशीला'[2] समझना चाहिए ॥ १२०–१२१ ॥

हस्तिशीला (हस्तिसत्वा)—

महाहनुललाटा च शरीरोपचयान्विता[7]।
पिङ्गाक्षी रोमशाङ्गी च गन्धमाल्यासवप्रिया[8] ॥ १२२ ॥
कोपना स्थिरचित्ता[9] च जलोद्यानवनप्रिया[10]।
मधुराभिरता चैव हस्तिसत्वा प्रकीर्तिता[11] ॥ १२३ ॥

जिसका ललाट और ठुड्डी फैली हुई हो, जिसका शरीर भारी और मांसल हो, आंखे पीली, शरीर पर अधिक बाल हों, जिसे सुगन्धमय वस्तु, पुष्प आसव तथा वन विहार भाता हो, क्रोधित हो जाने वाली, मन्द और शान्त

---

१. (११८–११९) तुलना—भाव० १११।१–३–४।
२. (१२०–१२१) तुलना—भाव० पृ० १११।१-(५–७)।

---

१. हृष्टा—क०। २. पिङ्गरोमा—ख०।
३. फल—ख०, ग०। ४. रामरति—ख०, रामसरित्प्रिया—क (ङ)।
५. असह्यरति—ख०। ६. कपिसत्वं समाश्रिता—ख०।
७. मांसलोपचया—ग० घ०; उत्सेधोपचया—क (भ०)।
८. माल्यामिष—क (भ)। ९. स्थिरसत्वा—ख०।
१०. तथोद्यानरति—क (भ०)। ११. रतिप्रिया—ग०।

स्वभाव वाली, जल तथा वन विहार करने वाली और मधुर पदार्थों तथा रति-क्रीड़ा में रुचि लेने वाली नारी 'हस्तिशीला'[1] कहलाती है ॥ १२२–१२३ ॥

मृगशीला—

स्वल्पोदरी भग्ननासा[1] तनुजङ्घा वनप्रिया[2] ।
चलविस्तीर्णनयना[3] चपला शीघ्रगामिनी ॥ १२४ ॥
दिवात्रासपरा[4] नित्यं[5] गीतवाद्यरतिप्रिया ।
कोपनाऽस्थिर[6]सत्त्वा च मृगसत्त्वाङ्गना स्मृता ॥ १२५ ॥

जिसका पेट छोटा, नाक बैठी हुई (चपटी), जंघाए पतली, लाल और बड़ी-बड़ी आँखे, वन में घूमने की शौकीन, शीघ्र चलने वाली, घबराने वाली और डरपोक, गीत सुनने की इच्छुक, थोड़ी सी बात में क्रोधित हो जाने वाली और कार्यों को स्थिरता से न करने वाली नारी 'मृगशीला'[2] कहलाती है ॥ १२४–१२५ ॥

मीनशीला—

दीर्घपीनोन्नतोरस्का चला[7] नातिनिमेषिणी ।
बहुभृत्या[8] बहुसुता मत्स्यसत्त्वा जलप्रिया ॥ १२६ ॥

जिसकी लम्बी, मोटी और ऊँची छातियाँ हो, आँखें चंचल और पलकें न गिरने वाली हों, जिसके अनेक सेवक और अनेक सन्तति होती हों और जिसे जल प्रिय हो तो उसे 'मीनसत्वा'[3] नारी समझना चाहिए ॥१२६॥

---

१. (१२२–१२३) तुलना—भाव० पृ० १११।१–(८–९) ।
२. (१२४–१२५) तुलना—भाव पृ० १११।१–१०–(१०–१३)
३. (१२६) तुलना—भाव० पृ० १११।१–(१३–१४) ।

---

१. मग्ननासा—ख० ग०; भुग्ननासा—क (प) ।
२. जनप्रिया—क (भ०) ।
३. रक्त विस्तीर्ण—ग०, घ० ।
४. परित्रास—ख० । ५. भीरु रोमशा गीतलोभिनी—ख० ।
६. निवासस्थिरचित्ता—क० ।
७. चपलातिनिमेषिणी—ख०, चपला निर्निमेषिणी—ग० ।
८. बह्वपत्या तथा चैव—क (भ०) ।

उष्ट्रसत्वा—

लम्बोष्ठी स्वेदबहुला किञ्चिद्विकटगामिनी।
कृशोदरी पुष्पफलवणाम्लकटुप्रिया[1] ॥ १२७ ॥
उद्बन्धकटिपार्श्वा[2] च खरनिष्ठुरभाषिणी[3]।
अत्युन्नतकटिग्रीवा[4] उष्ट्रसत्वाऽटवीप्रिया[5] ॥ १२८ ॥

जिसके ओठ लम्बे हों, शरीर से पसीना अधिकता से बहता रहता हो, चाल जिसकी भोंडी सी (विकट) लगे, पेट पिचका हुआ हो, जिसे पुष्प, फल, नमकीन, खारी मीठी वस्तुएँ प्रिय हो, कमर और कोख थोड़ी कसी हो, स्वर कर्कश और शब्द तीखें हों और कमर और गला जिसका ऊँचा रहता हो उसे 'उष्ट्रसत्वा'[1] नारी समझना चाहिए ॥ १२७-१२८ ॥

मकरशीला—

स्थूलशीर्षाञ्चितग्रीवा[6] दारितास्या[7] महास्वना।
ज्ञेया मकरसत्वा च क्रूरा मत्स्यगुणैर्युता ॥ १२९ ॥

जो क्रूर स्वभाव वाली हो, मस्तक बड़ा हो, गर्दन सीधी हो, मुँह चौड़ा और खुला हुआ हो, मोटी आवाज हो तथा शेष 'मीनसत्वा' के समान गुण वाली हो तो उसे 'मकरशीला'[2] नारी समझना चाहिए ॥ १२९ ॥

खरशीला—

स्थूलजिह्वोष्ठदशना[8] रूक्षत्वक्कटुभाषिणी।
रतियुद्धकरी[9] धृष्टा नखदन्तक्षतप्रिया ॥ १३० ॥

---

१. (१२७-१२८) तुलना भाव० पृ० १११।१-(१५-१६)।
२. (१२९) तुलना भाव० पृ० १११।१-(१७-१८)।

---

१. फलवर्णाशुकबहुप्रिया—ख०, क्षारमूल-कटुप्रिया—क (भ०)।
३ उद्बद्ध—ख०। २. स्वरप्राया प्रियाशना—क (भ०)।
४. अभ्युन्नतखर—क (ड)।
५. भवेदुष्ट्री वनप्रिया—ख; क (च०)।
६. स्थिरग्रीवा—ग० घ०; स्थूलशीलाञ्चित—क (भ०)।
७. तीक्ष्णदंष्ट्रा—क (भ०)।
८. वदना—ख०; रसना—ग०।
९. युद्धप्रिया हृष्टा—ख; युद्धरता—क (च०)।

सपत्नीद्वेषिणी[1] दक्षा चपला शीघ्रगामिनी ।
सरोषा[2] बह्वपत्या च खरसत्वा प्रकीर्तिता ॥ १३१ ॥

जिसके ओठ दांत तथा जीभ मोटी हों, जिसका शरीर कड़ा और भाषण तीखे हों, रति क्रीड़ा में कलह करने वाली, धृष्ट स्वभाव वाली, नखक्षत और दन्तक्षत देने में प्रवीण, सौतों से ढाह करने वाली, गृहकार्य में चतुर, शीघ्रता से चलने वाली, क्रोध से भरी रहने वाली तथा अनेक सन्तानों वाली नारी को 'खरसत्वा'[1] समझना चाहिए ॥ १३०-१३१ ॥

सूकरशीला—

दीर्घपृष्ठोदरमुखी[3] रोमशाङ्गी बलान्विता ।
सुसंक्षिप्तललाटा च कन्दमूलफलप्रिया ॥ १३२ ॥
कृष्णा[4] दंष्ट्रोत्कटमुखी ह्रस्वोदरशिरोरुहा[5] ।
हीनाचारा बह्वपत्या सौकरं[6] सत्वमाश्रिता ॥ १३३ ॥

जिसका पेट, पीठ और मुंह लम्बा हों, जिसके शरीर पर बाल अधिक हों और शरीर मजबूत हो, जिसका कपाल (ललाट) संकरा हो, कन्द मूल तथा फल प्रिय भोज्य हों, जिसके दांत काले और मुंह भद्दा हो, बाल और पिंडली मोटे हों, जिसकी प्रकृति ओछी (हीनाचारा) और सन्तति अनेक हों तो उसे 'सूकरशीला'[2] नारी समझना चाहिए ॥ १३२-१३३ ॥

हयसत्वा—

स्थिरा[7] विभक्तपार्श्वोरु-कटीपृष्ठशिरोधरा[8] ।
सुभगा[9] दानशीला च ऋजुस्थूलशिरोरुहा[10] ॥ १३४ ॥

---

१. (१३०-१३१) तुलना भाव० पृ० ११।१ (१९-२०) ।
२. (१३२-१३३) तुलना भाव० पृ० १११।१ (२१-२२) ।

---

१. सपक्ष—क (भ०) । २. सरोगा—क० ।
३. कृष्णदन्तोत्कटमुखी ह्रस्वजङ्घा तथैव च—क (भ०) । ८
४. कृष्णदन्तो—ख० । ५. पीवरोरुशिरो—ख० ।
६. सौकरीं वृत्तिमा—क (भ०) ।
७. स्फीता—क (ड); स्थिता—क (ट) ।
८. निचितपार्श्वो—क (भ०) ।
९. सुरूपा—क (च०) ।
१०. स्थूलाकुञ्चितमूर्धजा—क (भ०) ।

कृशा[1] चञ्चलचित्ता[2] च स्निग्धवाक्शीघ्रगामिनी।
कामक्रोधपरा चैव[3] हयसत्वाङ्गना स्मृता॥ १३५॥

जो स्थिर स्वभाव वाली हो, जिसकी कोख, पिंडली, कमर, पीठ और गर्दन एक सी सुती हुई हों, सुन्दर स्वरूप वाली, दान धर्म करने वाली, सीधे और मोटे बालों वाली, दुबली पतली, चंचल चित्तवाली, मधुर भाषिणी, शीघ्रता से चलने वाली, काम सेवन में रुचि लेने वाली तथा क्रोध करने वाली नारी को 'हयसत्वा'[1] समझना चाहिए॥ १३४-१३५॥

महिष-शीला—

स्थूलपृष्ठास्थिदशना[4] तनुपार्श्वोदरा[5] स्थिरा।
हरिरोमाञ्चिता[6] रौद्री[7] लोकद्विष्टा रतिप्रिया॥ १३६॥
किञ्चिदुन्नतवक्त्रा च जलक्रीडावनप्रिया।
बृहल्ललाटा[8] सुश्रोणी माहिषं सत्वमाश्रिता[9]॥ १३७॥

जिसकी पीठ, हड्डियाँ व दांत मोटे हों, कोख तथा पेट पतला, जिसके बाल कड़े और भद्दे हों, जो रौद्र स्वरूप वाली हो, मनुष्य से द्वेष रखने वाली, (या जिससे मनुष्य घृणा करे), रति सुख की सदा चाह रखने वाली, मुंह थोड़ा ऊंचा रखने वाली, जल-क्रीड़ा और वन विहार में रुचि रखने वाली हो, जिसका ललाट और नितम्ब बड़े हों तो उसे 'महिष-शीला'[2] नारी समझना चाहिए॥ १३६-१३७॥

अजाशीला—

कृशा तनुभुजोरस्का निष्टब्धस्थिरलोचना[10]।
संक्षिप्तपार्ष्णिपादा च सूक्ष्मरोम-समाचिता॥ १३८॥

---

१. (१३४-१३५) तुलना भाव० पृ० ११२।१-(१-३)
२. (१३६-१३७) तुलना भाव प्र० पृ० ११२।१—(४-६)।

---

१. गूढा—ग०। २. चपलचित्ता च तीक्ष्णवाक्—ग० घ०।
३. नित्यं हयसत्वा प्रकीर्त्तिता—ख०। ४. पृष्ठाक्षि—क०।
५. स्निग्धत्वङ्मधुरा च या—ख०। ६. खररोमा—ख०,
७. रौद्रा—ग०, घ०।
८. बृहल्ललाटसुश्रोणी—ग०, बृहल्ललाटजघना—क (भ०)।
९. शील—क (प०)।
१०. निष्टब्धेत्तर—ग० घ०; निष्टब्धतरलोचना—क (च०)।

भयशीला जलोद्विग्ना[1] बह्वपत्या वनप्रिया[2]।
चञ्चला शीघ्रगमना ह्यजसत्त्वाङ्गना[3] स्मृता ॥ १३९ ॥

जो दुबली पतली हो, बाँहे और उरोज छोटे छोटे, दृष्टि स्थिर और लाल, हाथ पैर छोटे, बाल घुंघराले, जो डरपोक, मूर्ख, पागल हो, अनेक सन्तति हों, वन में घूमने की इच्छा रहती हो, चंचल स्वभाव और तेज चाल वाली हो तो उसे 'अजा-शीला'[1] नारी समझना चाहिए ॥ १३७–१३८ ॥

अश्वशीला—

उद्बन्धगात्रनयना[4] विजृम्भण–परायणा।
दीर्घाल्पवदना[5] स्वल्पपाणिपादविभूषिता ॥ १४० ॥
उच्चैस्वना[6] स्वल्पनिद्रा क्रोधना सुकृतप्रिया[7]।
हीनाचारा कृतज्ञा[8] चाऽश्वशीला[9] परिकीर्तिता ॥ १४१ ॥

जिसका शरीर और नेत्र तने हुए हों, बार बार जंभाई लेने वाली एवं मितभाषिणी हों, जिसका लम्बा और पतला मुंह हो, पैर तथा हाथ छोटे छोटे हों, जिसकी आवाज कर्कश हो, नींद कम लेने वाली हो, क्रोधी स्वभाव वाली हो, उपकार को मानने वाली और छिछले व्यवहार वाली हो तो ऐसी नारी को (भी) 'अश्वशीला'[2] नारी समझना चाहिए ॥ १३९–१४०॥

गोशीला—

पृथुपीनोन्नतश्रोणी[10] तनुजङ्घा सुहृत्प्रिया।
संक्षिप्तपाणिपादा च दृढारम्भा[11] प्रजाहिता ॥ १४२ ॥

---

१. (१३७–१३८) तुलना–भाव–प्र० पृ० ११२।१—(७–९)।
२. (१३९–१४०) तुलना–भाव–प्र० पृ० ११२।१—(८–९)।

---

१. जडोन्मत्ता—ग०।
२. जनप्रिया - क (भ०); धनप्रिया—क (च०)।
३. ह्यजाशीला—ग०। ४. उद्बुद्धगात्र—ख०, ग०,।
५. दीर्घान्त—ख०; स्वदीर्घवदना—क (भ०);
६. उच्चैः स्वराल्पनिद्रा च—ख०। ७. बहुभाषिणी—ख०।
८. पकृष्टा च—क (य)।
९. स्वशीला—ख०; साश्वशीला प्रकीर्तिता—ग०, घ०।
१०. पृथून्नतनितम्बा च—क (भ०)।
११. दृष्टारम्भा—ख०।

पितृदेवार्चनरता सत्यशौचगुरुप्रिया[1]।
स्थिरा परिक्लेशसहा गवां सत्वं[2] समाश्रिता॥ १४३ ॥

जिसके मोटे और ऊंचे नितम्ब हों, जंघाएं और हाथ, पैर पतले हों; सखियों की प्यारी, किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने में स्थिर वृत्ति रखने वाली, सन्तति पर स्नेह रखने वाली, पितरों तथादे वताओं की पूजन में प्रीति रखने वाली, पवित्र अन्तःकरण वाली, गुरुजन का मान रखने वाली, और क्लेश सहन करने का सामर्थ्य रखने वाली नारी को 'गोशीला' नारी समझना चाहिए॥ १४१ –१४२ ॥

स्त्रियों के प्रति व्यवहार (शिष्टाचार) :—

नानाशीलाः स्त्रियो ज्ञेयाः[3] स्वं स्वं सत्वं समाश्रिताः।
विज्ञाय च यथासत्वमुपसेवेत[4] ताः पुनः॥ १४४ ॥
उपचारो यथासत्वं स्त्रीणामल्पोऽपि हर्षदः[5]।
महानप्यन्यथायुक्तो नैव तुष्टिकरो भवेत्॥ १४५ ॥

स्त्रियाँ अनेक प्रकार की हैं जो अपनी विशिष्ट प्रकृति रखती है। स्त्रियों की इन प्रकृतियों को जान कर तदनुरूप उनका उपयोग करना चाहिए। क्योंकि उनकी प्रकृति के उपयुक्त किया जाने वाला थोड़ा सा भी कार्य उन्हें अतिशय प्रसन्नता प्रदान करने वाला हो जाता है और प्रतिकूल स्थिति में उनकी प्रकृति को बिना समझे किये गए बड़े बड़े उपाय तथा उत्तम व्यवहार भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकते[2]॥ १४४–१४५ ॥

यथासम्प्रार्थितावाप्त्या[6] रतिः समुपजायते।
स्त्रीपुंसयोश्च रत्यर्थमुपचारो विधीयते॥ १४६ ॥

---

१. (१४१–१४२) तुलना भाव प्र० पृ० ११२।१–(१०–१२)।
२. (१४३–१४४)—देखिये–भाव प्र० पृ० ११२।१–(१४–१६।

---

१. शुचिसत्वा—ख०; नित्यशोचा—ग० घ०। २. सत्वमुपश्रिता—ख०।
३. ज्ञात्वा रतिसत्वमवेक्ष्य च।—क (भ०))
४. उपसर्पेद् यथागुणम्—ख०; उपसर्पेत् ततो बुधः—ग०।
५. प्रयुक्तो हर्षवर्धनः—ख०।
६. यथासम्प्राथिताया बाह्यरतिः ग०।

और जब उचित व्यवहार एवं अभीष्ट की पूर्ति द्वारा उनको अनुकूल बनाया जाए तो इनमें रति' उत्पन्न होती है और स्त्री और पुरुषों की (पारस्परिक) रति के लिए ही निश्चित उपाय किये जाते हैं ॥ १४६ ॥

धर्मार्थं हि तपश्चर्या सुखार्थं धर्म इष्यते ।
सुखस्य मूलं प्रमदास्तासु सम्भोग इष्यते ॥ १४७ ॥

धर्म के लिये मनुष्य तपस्या करता है और सुख के लिये धर्म आवश्यक (होता) है। इस सुख का कारण स्त्रियाँ होती हैं तथा उनके साथ होने वाला विहार ही इसकी परमोच्च स्थिति होती है जो वांछित है ॥ १४७ ॥

स्त्रियों के प्रति किये जाने वाले उपचार—

कामोपचारो[1] द्विविधो नाट्यधर्मेऽभिधीयते[2] ।
बाह्यश्चाभ्यन्तरश्चैव[3] [4]नारीपुरुषसंश्रयः ॥ १४८ ॥
आभ्यन्तरः पार्थिवानां स[5] च कार्यस्तु नाटके ।
बाह्यो वेश्यागतश्चैव[6] स च प्रकरणे भवेत् ॥ १४९ ॥

स्त्रियों के प्रति किये जाने वाले उपचार के दो भेद होते हैं। स्त्री और पुरुषों का पारस्परिक प्रणय व्यापार (कामोपचार) जो नाट्यधर्मी विधा के अनुसार किया जाता है वह दो प्रकार का होता है-(१) बाह्य तथा (२) आभ्यन्तर। इनमें आभ्यन्तर उपचार को-जो कि राजाओं के द्वारा व्यवहार किया जाता है—नाटक में दिखलाया जाए तथा बाह्य उपचार का जो कि वेश्याओं के द्वारा सम्पाद्य हो उसे प्रकरण में निवद्ध किया जाता है ॥ १४८-१४९ ॥

तत्र[7] राजोप[8]भोगन्तु व्याख्याम्यनुपूर्वशः ।
उपचारविधिं सम्यक्[9] कामतन्त्रसमुत्थितम् ॥ १५० ॥

अब मैं (इस विषय में) स्त्रियों के प्रति राजा द्वारा किये जाने वाले उपचार की व्याख्या करूँगा। जो स्त्रियों के प्रति आचरित किया जाने-

---

१. कापोपभोगो—ख० ।
२. विधीयते—ख० । ३. बाहृचाभ्यन्तरश्चैव—क० ।
४. सम्भवः—ग०, घ० । ५. कर्तव्यः स च—ख० ।
६. वेश्याकृतश्चैव—ग०, घ०, वेश्याङ्गनानान्तु—ख; क (च०) ।
७. वस्तु राजोपभोगस्थं—क (भ०) ।
८. राजोपचारं तु—क (ज०) ९. कामसूत्र—ग० ।

वाला तथा जो कामशास्त्र[1] के अनुसार उपचार का विधान राजाओं द्वारा किया जाता हैं उस का भी वर्णन करता हूँ ॥ १५० ॥

स्त्रियों की त्रिविध प्रकृति—

त्रिविधा[1] प्रकृतिः स्त्रीणां नानासत्वसमुद्भवा।
बाह्या[2] चाभ्यन्तरा चैव स्याद्बाह्याभ्यन्तराऽपरा ॥ १५१ ॥

कुलीनाभ्यन्तरा ज्ञेया बाह्या वेश्याङ्गना स्मृता।
कृतशौचा तु या नारी सा बाह्याभ्यन्तरा स्मृता ॥ १५२ ॥
अन्त.पुरोपचारे[3] तु कुलजा कन्यकापि वा।

स्त्रीमात्र की तीन प्रकार की प्रकृति रहती है। यथा (१) बाह्य प्रकृति, (२)आभ्यन्तर तथा (३) बाह्याभ्यन्तर प्रकृति। जो स्त्री उच्च-कुल प्रसूता और सुशीला है उसे आभ्यन्तर प्रकृति की तथा वेश्या को बाह्य प्रकृति की स्त्री समझना चाहिए। अन्तःपुर में रख देने के कारण जिसका चरित्र अखण्डित हो (कृतशौचा) ऐसी वैश्या की कन्या आदि बाह्याभ्यन्तरा या मिश्र-प्रकृति की होती हैं। यदि वह कुलीन स्त्री या (.राज) कन्या हो तो इसी दशा में रहने पर उसे भी मिश्र-प्रकृति की स्त्री समझना चाहिए ॥ १५१–१५२ ॥

नहि राजोपचारेषु[4] कुलजा कन्यकापि वा।
न हि राजोपचारे तु बाह्यस्त्रीभोग इष्यते ॥ १५३ ॥
आभ्यन्तरो भवेद्राज्ञो बाह्यो बाह्यजनस्य च।
दिव्यवेश्याङ्गनानां हि राज्ञा[5] भवति सङ्गमः ॥ १५४ ॥

'कुलजा' स्त्री का या कन्या का राजोपचार में उपयोग नहीं होता। इसी प्रकार राजोपचार में बाह्यस्त्री (वेश्या) का संयोग नहीं बतलाया जाता (क्योंकि वह अपना स्थान छोड़कर कम ही आती है या नहीं छोड़ पाती)।

---

१. कामसूत्र—जिसमें स्त्रियों के प्रति राजा का कामोपचार वर्णन था। वर्तमान (सूत्र) ग्रन्थ में यह विवरण प्राप्त नहीं है जो वात्स्यायन-मुनि प्रणीत है तथा प्राप्य है।

---

१. विविधा—ग०।
२. बाह्याभ्यन्तरजा चैव तथा चोभयसंश्रिता—(भ)।
३. अन्तःपुरोपचारेषु—ख०। ४. राजोपचारे तु—ग०, घ०।
५. राज्ञां भवति—क०; राज्ञो भवति—घ०।

राजा का 'आभ्यन्तर' प्रकृति में तथा सामान्य व्यक्तियों का 'बाह्य' (वेश्या) प्रकृति में कामोपचार बतलाया जाता है, किन्तु राजा का दिव्यांगना (अप्सरा-जो कि स्वर्ग की वेश्या ही हैं) के साथ मिलन[1] अच्छी तरह प्रदर्शित किया जा सकता है ॥ १५३-१५४ ॥

कुलजाकामितं[1] यच्च तज्ज्ञेयं कन्यकास्वपि ।
या चापि वेश्या साप्यत्र यथैव कुलजा तथा ॥ १५५ ॥

जो 'कुलजा' के लिए वही 'कन्या' के लिए भी व्यवहार विधि हैं। इसी प्रकार यहाँ (अन्तःपुर में) जैसी वेश्या होती हैं वैसी ही कुलजा भी (अतएव इन दोनों के साथ समान व्यवहार किया जाता है) ॥ १५५ ॥

प्रणय का प्रारम्भ—

इह कामसमुत्पत्तिर्नानाभावसमुद्भवा[2] ।
स्त्रीणां वा पुरुषाणां वा उत्तमाधममध्यमा ॥ १५६ ॥

श्रवणाद्दर्शनाद्रूपादङ्गलीलाविचेष्टितैः[3] ।
मधुरैश्च समालापैः[4] कामः समुपजायते ॥ १५७ ॥

उत्तम, मध्यम तथा अधम स्वरूप में प्रणय[2] पुरुष और स्त्रियों में अनेक कारणों से उत्पन्न हो जाता है। यह अनुराग किसी व्यक्ति के विषय में (उसके गुणों के) सुनने से, देखने से, सुन्दरता के (देखने के) कारण सुन्दर शरीर क्रियाओं को या क्रीड़ाओं को देखकर या उसके मधुर सम्भाषण को सुन कर आकर्षित होने पर उत्पन्न हो जाता है ॥ १५६-१५७)

ततः कामयमानानां नृणां स्त्रीणामथापि च ।
कामभावेङ्गितानीह तज्ज्ञः समुपलक्षयेत् ॥ १५८ ॥

---

१. राजा का दिव्यस्त्री (अप्सरा) से मिलन 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में प्राप्य है।

२. प्रणय के तीन भेद शारदातनय ने भी ये ही माने हैं (द्र० भाव पृ० ११३।१-(१०-१४)।

---

१. कुलजानां मतं यच्च—ख० ग० ।

२. नानाबीज—ख०; नानाभावसमुत्थिता—क० ।

३. श्रवणस्पर्शनाद् रूपादङ्गभाव—क (भ०) ।

४. सम्प्रलापैश्च—ख० घ० ।

चतुरजन इस प्रकार स्त्री तथा पुरुष में होने वाले विभिन्न कामज लक्षणों या चेष्टाओं की पहिचान कर लें-जो कि एक दूसरे का. मिलन चाहते हों ॥ १५८ ॥

रूपगुणादिसमेतं कलादिविज्ञानयौवनोपेतम्।
दृष्ट्वा पुरुषविशेषं नारी मदनातुरा भवति ॥ १५९ ॥

किसी युवा पुरुष को सुन्दर और गुणशाली, कला, विज्ञान और यौवन से युक्त देखकर नारी प्रणयाभिमुखी (या मदनातुर) हो जाती है ॥१५९॥

प्रणयचेष्टाओं में स्वरूप-योजना—

ललिता चलपक्ष्मा च सास्रा[1] च मुकुलेक्षणा।
स्रस्तोत्तरपुटा चैव काम्या दृष्टिर्भवेदिह ॥ १६० ॥

इस अवस्था में ऐसी 'काम्या' दृष्टि की संयोजना की जाए जिसमें आंखें सुन्दरता से खिली हुई, आंखों में आंसू भरे हुए और पलकें फड़कती हुई हों ॥ १६० ॥

वलितान्ता[2] सलालित्यसम्मितैर्व्यञ्जितैस्तथा[3]।
दृष्टिः सा ललिता नाम स्त्रीणामर्धावलोकने ॥ १६१ ॥

वह दृष्टि जिसमें आँखों के कोने हिलते हों और एक एक सुन्दर अभिव्यक्ति को करते हुए आधी आँखे खुली हुई रहें तो वह 'ललिता' दृष्टि कहलाती है। इसे स्त्रियों द्वारा कनखियों से देखने में योजित करना चाहिए ॥ १६१ ॥

ईषत्संरक्तगण्डस्तु[5] सस्वेदलवचित्रितः[6]।
प्रस्पन्दमानरोमाञ्चो[7] मुखरागो[8] भवेदिह ॥ १६२ ॥

प्रणय की इस दशा में आवाज कुछ उत्तेजित सी हो जाती है, चेहरे पर पसीने की बूंदे छा जाती हैं और शरीर रोमाचित हो जाता है ॥ १६२ ॥

---

१. तथा च—क०। २. फुल्लितान्ता—क (ड); पलितान्ता—ख०, ग०।
३. सदा—ख०, ग०। ४. मर्धविलोकने—ख०।
५. संरक्तकण्ठश्च—ख०, ग०।
६. स्वेदबिन्दुविचित्रितः—ख, ग०, घ०।
७. प्रस्यन्दमान—ख० ग०।
८. मुखरागस्तु कामजः—ग घ०।

अनुरागावस्था में वेश्या की चेष्टाएँ—

काम्येनाङ्गविकारेण[1] सकटाक्षनिरीक्षितैः[2] ।
तथाभरणसंस्पर्शैः[3] कर्णकण्डूयनैरपि ॥ १६३ ॥
अङ्गुष्ठाग्रविलिखनैः[5] स्तननाभिप्रदर्शनैः[6] ।
नखनिस्तोदनाच्चैव[7] केशसंयमनादपि[8] ॥ १६४ ॥
वेश्यामेवंविधैर्भावैर्लक्षयेन्मदनातुराम् ।

वेश्या जब कटाक्षपूर्ण दृष्टि से देखने लगे, अपने भूषणों को बार बार जमाए या छुए, कानों को खुजलाने लगे, पैर या हाथ के अंगूठे से पृथ्वी को कुरेदने लगे और अपनी नाभि या उरोजों को किसी बहाने से प्रदर्शित करे तो उसे प्रणयाभिभूत (कामातुर) समझनी चाहिए[1] ॥ १६३–१६४ ॥

अनुरागावस्था में कुलजा की चेष्टाएँ—

कुलजायास्तथा चैव प्रवक्ष्यामीङ्गितानि[9] तु ॥ १६५ ॥
प्रहसन्तीव नेत्राभ्यां प्र(स)[10]ततश्च निरीक्षते ।
स्मयते सा[11] निगूढश्च वाचश्चाधोमुखी[12] वदेत् ॥ १६६ ॥
स्मितोत्तरा मन्दवाक्या स्वेदाकारनिगूहनी[13] ।
प्रस्पन्दिताधरा चैव चकिता च[14] कुलाङ्गना ॥ १६७ ॥

इसी प्रकार 'कुलजा' नारी के 'कामातुर' होने के इंगित इस प्रकार समझने चाहिए—वह खिले हुए नेत्रों से बार बार देखती है, गूढ़ भाव से

---

१. (१६३–१६५) तुलना—भाव प्र० पृ० ११३।१—(३–९) तथा ११।१—(१–२)।

---

१. विहारेण—क (भ०)। २. निरीक्षणैः—क (भ०)।
३. संस्पर्शात्—ख० ग० । ४. कण्डूयनादपि—ख० ग० ।
५. अङ्गुष्ठाग्रविलेखेन—ख०;—अङ्गुष्ठाग्रेण लिखनात्—ग० ।
६. प्रदर्शनात्—ख० । ७. च्चापि—ख० ।
८. केशसंचयनादपि—क (भ०)।
९. विज्ञेयानीङ्गितानि वै—ग०, घ० ।
१०. पृतनं च परीक्षयेत्—ख० । ११. या—क (भ०)।
१२. वाक्यञ्चा—ख० । १३. निगूहना—ग० ।
१४. कुलजाङ्गना—क (म०)।

मुसकुराती है, सर झुका कर संभाषण करती है, धीरे धीरे मुसकराते हुए बोलती है, अपने पसीने और आकार को छिपाती है, उसके ओठ फड़कने लगते हैं और चकित होकर देखती है[२] ॥ १६५-१६७ ॥

अनुरागावस्था की दशाएँ—

एवं[१] विधैः कामलिङ्गैरप्राप्तसुरतोत्सवा।
दशास्थानगतं[२] कामं नानाभावैः[३] प्रदर्शयेत्[४] ॥ १६८ ॥

जिन (अङ्गनाओं) को रति जन्य सुख की प्राप्ति नहीं होती वे अपनी अवस्था को विभिन्न दस काम-दशाओं[१] द्वारा प्रकट करती हैं ॥ १६८ ॥

दस अवस्थाएँ—

प्रथमे त्वभिलाषः[५] स्याद् द्वितीये चिन्तनं भवेत्।
अनुस्मृतिस्तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्तनम् ॥ १६९ ॥
उद्वेगः पञ्चमे प्रोक्तो विलापः षष्ठ उच्यते।
उन्मादः सप्तमे ज्ञेयो भवेद्व्याधिस्तथाष्टमे ॥ १७० ॥
नवमे जडता चैव[६] दशमे मरणं भवेत्।
स्त्रीपुंसयोरेष विधिर्लक्षणञ्च निबोधत[७] ॥ १७१ ॥

इन अवस्थाओं में पहिली दशा में 'अभिलाष', दूसरी में 'चिन्ता', तीसरी में 'अनुस्मृति', चौथी में 'गुणकीर्तन', पाँचवी में 'उद्वेग', छठी में 'विलाप', सातवीं में 'उन्माद', आठवीं में 'व्याधि', नवमीं में 'जड़ता' और दसवीं में 'मरण', होता है। ये दस दशाएं पुरुषों में तथा स्त्रियों में समान रूप से होती हैं। अब मैं इनके क्रमशः लक्षण बतलाता हूँ ॥ १६९-१७१ ॥

अभिलाष—

व्यवसायात्समारब्धः सङ्कल्पेच्छासमुद्भवः।
समागमोपायकृतः सोऽभिलाषः प्रकीर्तितः ॥ १७२ ॥

---

१. (१६५-१६७) तुलना भाव प्र० ११३।१—(१-१७) व पृ० ११४।१—(१—२)।

---

१. विविधैः कामलिङ्गैश्च—क (भ०)। २. दशावस्था—ख०।
३. नानाभावं—ख०। ४. प्रकाशयेत्—ग०।
५. त्वभिलाषा—क (ड)। ६. प्रोक्ता—क (ड)।
७. विधीयते—ख०।

संकल्प तथा इच्छा के कारण उत्पन्न होने वाले, प्रिय प्राप्ति के समागम के उपाय को पूर्ण करने के प्रथम मानसिक उद्योग को कहते हैं 'अभिलाष' जो उसे मिलन के लिये प्रेरित करता हैं[1] ॥ १७२ ॥

निर्याति[1] विशति च मुहुः करोति चाकारमेव मदनस्य ।
तिष्ठति च दर्शनपथे प्रथमस्थाने[2] स्थिता कामे ॥१७३॥

इस प्रथमदशा में प्रियस्थान पर बार बार जाना या जाकर बाहर आना एवं उसकी नजरों में बार बार आकर अपना अनुराग का भाव प्रकट किया जाता है[2] ॥ १७३ ॥

चिन्ता—

केनोपायेन सम्प्राप्तिः[3] कथं वासौ भवेन्मम ।
दूतीनिवेदितैर्भावैरिति[4] चिन्तां निदर्शयेत्[5] ॥ १७४ ॥

दूती द्वारा (अवस्था आदि) कहने पर-मुझे किस प्रकार किन उपायों से अपने इष्टतम व्यक्ति (प्रिय या प्रियतमा) की प्राप्ति हो ? इस प्रकार चिन्ता को प्रकट किया जाए[3] ॥ १७४ ॥

आकेकरार्धविप्रेक्षितानि[6] वलयरशनापरामर्शः ।
नीवीनाभ्याः[7] संस्पर्शनञ्च कार्यं द्वितीये तु ॥ १७५ ॥

इस दूसरी अवस्था में आधी खुली आंखों से आकेकरदृष्टि से देखना, अपने कड़े पर या करधनी पर हाथ जाना और नाभि और पिंडली का छूना होता है[4] ॥ १७५ ॥

---

१. तुलना—भाव प्र० पृ० ८८।१—(१५—१६) ।
२. तुलना—भाव प्र० पृ० ८८।१—(१७—२०) ।
३. तुलना—भाव प्र० पृ० ८८।१—(२१—२७) ।
४. तुलना—भाव प्र० पृ० ८९।१—(५—७) ।

---

१. निर्गच्छति प्रविशति च—ग० । २. प्रथमस्थाने स्थिते—ग० ।
३. सामान्यः कथं वा संभवेन्मम—ख०; सम्प्राप्यः कथं वा स—क (भ०) ।
४. वाक्यैरिति—ग०, घ० । ५. विनिर्दिशेत्—ख० ।
६. आकेकराक्षि—ग०, घ० ।
७. नीवी नाभ्यूरूणां स्पर्शः कार्यो—क (ड), ग०, घ०; नीवीनाभ्योः सन्दर्शनञ्च – ख० ।

अनुस्मृति—

मुहुर्मुहुर्निश्वसितैर्मनोरथविचिन्तनैः ।
[1]प्रद्वेषाच्चान्यकार्याणामनुस्मृतिरुदाहृता[2] ॥ १७६ ॥

बार बार उंसासे लेना, प्रिय के विषय की चिन्ताओं की जमावट के कारण किसी भी काम में मन का न लगना 'अनुस्मृति'[1] जानो ॥ १७६ ॥

नैवासने न शायने धृतिमुपलभते स्वकर्मणि[3] ।
तच्चिन्तोपगतत्वात् तृतीयमेवं प्रयुञ्जीत ॥ १७७ ॥

इस दशा में चित के प्रिय में निमग्न रहने के कारण न बैठने में, न सोने में और न अपने कार्यों में ही शक्ति रहने (विहस्ता) के कारण मन नहीं लगता है[2] ॥ १७७ ॥

गुणकीर्तन—

अङ्गप्रत्यङ्गलीलाभिर्वाक्चेष्टाहसितेक्षितैः[5] ।
नास्त्यन्यः सदृशस्तेनेत्येतत् स्याद् गुणकीर्तनम् ॥ १७८ ॥

अंगों की लीलापूर्ण चेष्टाओं के साथ हंसने, देखने आदि से प्रिय की इस प्रकार अभिव्यक्ति करना कि उसके समान दूसरा कोई नहीं हो सकता 'गुण-कीर्तन'[3] कहलाता है ॥ १७८ ॥

[6]गुणकीर्तनोल्लुकसनैरश्रुस्वेदापमार्जनैश्चापि[7] ।
दूत्यविरहविस्रम्भैरभिनययोगश्चतुर्थे[8] तु ॥ १७९ ॥

इस चौथी अवस्था को रोमांच, अश्रु तथा स्वेद के पोछने तथा दूती को मिलन (दशा) के लिये विश्वासपूर्वक कथन के साथ प्रेषित करने की क्रियाओं द्वारा अभिनीत करना चाहिए[4] ॥ १७९ ॥

---

१. तुलना—भाव प्र० पृ० ०८९।१—(७—८१)
२. तुलना—भाव प्र० पृ० ०८९।१—(९—११)
३. तुलना—भाव प्र० पृ० ८९।१—(१२—१५)।
४. तुलना—भाव प्र० पृ० ०८९।१—(१५—१८)।

---

१. प्रद्वेषस्त्वन्य ख—० । २. रपीष्यते—क (भ०)।
३. विहीना—ग० । ४. चित्तोपहम—ग० ।
५. वाक्येष्टहसितेक्षणै—क (भ०)। ६. कीर्तनोल्लासनै—घ० ।
७. वमार्जनाद्यापि—क (ङ)।
८. दूतीविहारविस्रम्भणैश्चतुर्थं त्वभिनयः स्यात्—क (च०)।

उद्वेग—

आसने शयने चापि न तुष्यति न तिष्ठति[1]।

नित्यमेवोत्सुका च स्यादुद्वेगस्थानमाश्रिता[2] ॥ १८० ॥

जिसे बैठने या बिछौने पर लेटते हुए भी हर्ष और सन्तोष न हो और अपने इष्ट के प्रति सदा उत्सुकता बनी रहती हो तो इसे (पांचवीं) 'उद्वेगदशा'[1] समझना चाहिए ॥ १८० ॥

चिन्तानिःश्वासखेदेन[3] हृद्दाहाभिनयेन च।

कुर्यात्तदेवमत्यन्तमुद्वेगाभिनयेन च ॥ १८१ ॥

चिन्ता, उंसासे लेना, खेद, हृदय की पीड़ा तथा अतिशय उद्वेग के द्वारा इस 'उद्वेग' दशा का अभिनय करना चाहिए ॥ १८१ ॥

विलाप—

इह स्थित इहा सीन इह चोपगतो मया।

इति तैस्तैर्विलपितैर्विलापं सम्प्रयोजयेत्[4] ॥ १८२ ॥

'वे यहाँ रहते थे, यहाँ बैठते थे, यहाँ मुझसे मिले थे, इत्यादि वचनों के कहते हुए रोना 'विलाप'[2] दशा समझना चाहिए।

उद्विग्नात्यर्थमौत्सुक्यादधृत्या[5] च विलापिनी।

त(ञ)तस्ततश्च भ्रमति विलापस्थानमाश्रिता ॥ १८३ ॥

(इस दशामें) यह रोने वाली नारी अतिशय उद्विग्न रहती है तथा अपने इष्ट के प्रति उत्सुक रहती है। इसमें इधर उधर भटकते हुए 'विलाप'[3] दशा का अभिनय करना चाहिए ॥ १८३ ॥

---

१. (१८०) तुलना—भाव प्र० पृ० ८९।१—(१९—२२)।

२. (१८२) तुलना—भाव प्र० पृ० ९०।१—(१—३)।

३. (१८३) तुलना—भाव प्र० पृ० ९०।१—(४—८)।

काम दशाओं के लक्षण चौखम्बा संस्करण के ३१ वें अध्याय में प्राप्त होते हैं तथा इस अध्याय में भी। यहां औचित्य के कारण—हमने दोनों का मिलान करते हुए इसी अध्याय में इन्हें रखा है। साथ ही मूल पाठ (सावधानी से वड़ोदा संस्करण से मिलाकर) शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने का भी उद्योग किया है। (सम्पा०)

---

१. हृष्यति—ख० ग० घ०। २. यस्मादुद्वेगस्थानमे तत्—घ०।

३. खेदैश्च हृत्तापाभि—क (ड); स्वेदैश्च—ग०, घ०।

४. तदेव कुर्यादत्यन्त—ग०, घ०। ४. तु विनिर्दिशेत्—क (भ०)।

५. दरत्या च—घ०।

उन्माद—

तत्संश्रितां[1] कथां युङ्क्ते सर्वावस्थागतापि हि ।
पुंसः[2] प्रद्वेष्टि चाप्यन्यानुन्मादः सम्प्रकीर्तितः ॥ १८४ ॥

जब केवल अपने इष्ट के विषय में बातचीत करते रहने या उसी का ध्यान बना रहे तो अन्य व्यक्तियों के प्रति विराग हो जाने या द्वेष रखने के कारण 'उन्माद'[1] दशा हो जाती है ॥ १८४ ॥

तिष्ठत्यनिमिषदृष्टिर्दीर्घं[3] निःश्वसिति गच्छति ध्यानम् ।
रोदिति विहारकाले[4] नाट्यमिदं स्यात्तथोन्मादे ॥ १८५ ॥

इस दशा का नाट्य प्रदर्शन में अपलक देखने, लम्बी सांस खींचने, ध्यान करने और चलने के समय रोने के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ १८५ ॥

व्याधि—

सामदानार्थसम्भोगैः काम्यैः[5] सम्प्रेषणैरपि ।
सर्वैर्निराकृतैः[6] पश्चाद् व्याधिः समुपजायते ॥ १८६ ॥

जब साम, दान आदि उपायों से तथा इच्छित वस्तुओं के भेजने पर भी प्रिय की उपलब्धि या अनुकूलता न हो पाए तो (चिन्ता के निरन्तर बनी रहने पर) 'व्याधि'[2] (दशा) हो जाती है ॥ १८६ ॥

मुह्यति हृदयं क्वापि[7] प्रयाति शिरसश्च वेदना तीव्रा ।
न धृतिश्चाप्युपलभते ह्यष्टममेवं प्रयुञ्जीत[8] ॥ १८७ ॥

व्याधि की इस आठवीं दशा में हृदय में मोह हो जाता है (या वह बैठने लगता है) शरीर जलता है, सिर में तीव्र वेदना होने लगती है और

---

१. तुलना—भाव प्र० पृ० ९०।१—(९—१५) ।
२. तुलना—भाव प्र० पृ० ९०।१—(१६—१८) ।

---

१. प्रद्वेष्टि चापरान् पुंसो यत्रोन्मादः स उच्यते—ख०, पुंसः प्रद्वेष्टिता चैव—
२. त्यनियमदृष्टि—क (भ०) । ३. विकार—क (भ०) ।
४. काम्यसम्प्रे क (भ) ।
५. सर्वैर्निरन्तरकृतैर्ततो व्याधिर्भवेदिह—क (भ०) ।
६. क्वापि हि गच्छति शिरश्च—क (भ०) । ७. त्वभिनयेत्—ख० ।

उसे कहीं भी चैन (धृति) नहीं मिलता। इन्हीं क्रियाओं के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए[1] ॥ १८७ ॥

जड़ता—

पृष्टा[1] न किञ्चित्प्रब्रूते न शृणोति न पश्यति।
हाकष्टवाक्या[2] तूष्णीका जडतायां[3] गतस्मृतिः ॥ १८८ ॥

पूछने पर उत्तर न दे, न सुने, न देखे और स्मृति के न रहने के कारण हाय हाय करती रहे तो इसे 'जड़ता'[2] नामक नवीं अवस्था समझना चाहिए ॥ १८८ ॥

अकाण्डे दत्तहुङ्कारा तथा प्रशिथिलाङ्गिका।
श्वासग्रस्तानना चैव जडताभिनये भवेत् ॥ १८९ ॥

उस समय में हुंकार भरने, शरीर के सारे अंगों के ढीले पड़ने, नाक और मुंह में अतिशय सांस भरने या चलने तथा बुद्धिमान्द्य के द्वारा इस दशा का अभिनय किया जाए ॥ १८९ ॥

मरण—

सर्वैः कृतैः प्रतीकारैर्यदि नास्ति समागमः।
कामाग्निना प्रदीप्ताया जायते[5] मरणन्ततः ॥ १९० ॥

जब सभी उपाय करने पर भी इष्ट प्राप्ति न हो तो कामाग्नि की दाह व्यथा को न सह सकने पर 'मरण'[3] दशा हो जाती है ॥ १९० ॥

एवं स्थानानि कार्याणि कामतन्त्रं[6] समीक्ष्य तु।
अप्राप्तौ[7] यानि काम्यस्य वर्जयित्वा तु नैधनम् ॥ १९१ ॥

इन सभी अवस्थाओं की कामतन्त्र (कामविज्ञान) के अनुसार विचार करते हुए योजना करनी चाहिए। ये दशाएँ इष्ट के अभाव या अप्राप्ति

१. तुलना—भाव प्र० पृ० ९०।१—(१९—२२)।
२. तुलना भाव प्र० पृ० ९१।१—(१—६)।
३. तुलना—भाव प्रकाशन—पृ० ९१।१—(७—८)।

१. किञ्चिद् ब्रवीति नो पृष्टा—क (भ०)।
२. तूष्णीं हा कष्ट भाषा च—घ०। ३. नष्टचित्ता जडा स्मृता—घ०।
४. श्वासाग्रेस्थाननासेव—ख०। ५. भवेत्तु—क (ड)।
६. मवेक्ष्य तु—क (भ०)।
७. अप्राप्तानि हि कामस्य—क (भ०)।

के कारण होती हैं। जहाँ तक हो सके इसमें अन्तिम दशा का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए ॥ १९१ ॥[1]

पुरुष के वियोगावस्था में प्रकट होने वाले लक्षण—

विविधैः[1] पुरुषोऽप्येवं विप्रलम्भसमुद्भवैः[2]।
भावैरेतानि कामस्य नानारूपाणि योजयेत्[3] ॥ १९२ ॥

पुरुष भी इसी प्रकार अपने इष्ट जन से वियुक्त हो जाने पर (अपने) प्रणय सूचक लक्षणों के द्वारा अनुराग के विविध रूपों की इन्हीं विविध भावों द्वारा अभिव्यक्ति या प्रदर्शन करे ॥ १९२ ॥

प्रणयावस्था के लक्षण—

एवं कामयमानानां नृणां स्त्रीणामथापि वा ।
सामान्यगुणयोगेन युञ्जीताभिनयं बुधः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार प्रणय की (विभिन्न) अवस्था में विद्यमान स्त्री या पुरुषों का अभिनय सामान्य लक्षणों द्वारा मिलाते हुए संयोजित करना चाहिए ॥१९३॥

वियोगिनी—

चिन्तानिश्वासखेदेन[4] हृद्दाहाभिनयेन[5] च ।
तथानुगमनाच्चापि[6] तथैवोर्ध्वनिरीक्षणात्[7] ॥ १९४ ॥

आकाशवीक्षणाच्चापि तथा दीनप्रभाषणात् ।
स्पर्शनान्मोटनाच्चापि तथा सापाश्रयाश्रयात् ॥ १९५ ॥

एभिर्नानाश्रयोत्पन्नै विंप्रलम्भसमुद्भवैः ।
कामस्थानानि सर्वाणि भूयिष्ठं सम्प्रयोजयेत् ॥ १९६ ॥

इस प्रकार काम की इन सारी दशाओं का चिन्ता, निश्वास, खेद, हृदय दाह (शरीर को आयास देकर) प्रिय के अनुगमन, उसके मार्ग को देखने (वाट जोहने), ऊपर (आकाश की ओर) देखते हुए, दीन या करुण भाषण करने (विभिन्न अलंकारो के) छूने और इस प्रकार की

---

१. तुलना—भाव प्रकाशन—पृ० ९१।१—(९—१०) ।

---

१. त्रिविधैः—क (च) २. विप्रलम्भानुसूचकैः—क(भ०) ।
३. कारयेत्—क (ड) । ४. चिन्तातित्रास—ख० ।
५. देहस्यायासनेन च—घ० । ६. तथानुगुण नायापि—ख० ।
७. वोर्ध्वनिरी—ख० । ८. चोपाश्रया—घ०, पापाश्रया—क (च) ग ।

अन्य अवस्थाओं के द्वारा जो वियोग के कारण उत्पन्न हों (काम की) दशाओं का अभिनय प्रस्तुत करना चाहिए ॥ १९४–१९६ ॥

प्रणय व्याधि में सेव्य उपकरण—

स्रजो[१] भूषणगन्धाँश्च गृहाण्युपवनानि च ।
कामाग्निना[२] दह्यमानः शीतलानि निषेवते ॥ १९७ ॥

जब कामाग्नि से अतिशय सतंप्त हो तो उसके प्रतीकारार्थ विशेष पुष्पमालाएँ, अलंकार, अनुलेपन, शीत गृह (यथा समुद्रगृह आदि) तथा उपवन का सेवन करना चाहिए ॥ १९७ ॥

दूती—

प्रदह्यमानः[३] कामार्तो बहुस्थानसमर्दितः[४] ।
प्रेषयेत्[५] कामतो दूतीमात्मावस्थाप्रदर्शिनीम् ॥ १९८ ॥
सन्देशञ्चैव दूत्यास्तु प्रदद्यान्मदनाश्रयम् ।
तस्येयं[६] समवस्थेति कथयेन्विनयेन सा ॥ १९९ ॥

और अतिशय काम से सन्तप्त होने तथा उसकी अनेक दशाओं से पीड़ित होने पर भी यदि इष्ट समागम न हो तो अपनी अवस्था को सूचित करने के लिए दूती को भेजना चाहिए । वह इस दूती को अपना सन्देश—जो कि अपने इष्टतम व्यक्ति के प्रति रागात्मक भाव से आपूरित हो—ले जाने को कहे । और दूती भी विनय एवं यथोचित शिष्टाचार पूर्वक इस सन्देश को 'यह उसकी अवस्था है' ऐसा कहते हुए यथास्थान पहुँचा दे ॥ १९८–१९९ ॥

अथावेदितभावार्थो[७] रत्युपायं[८] विचिन्तयेत् ।
अयं विधिर्विधानज्ञैः कार्यः प्रच्छन्नकामिते[९] ॥ २०० ॥

---

१. वासोभूषण—घ०; वासश्चन्दन—क (भ०) ।
२. भूयिष्ठं दह्यमानो हि—क (भ) ।
३. प्रदह्यमानकामार्तो—ख० ; प्रसह्यमान—क (ड) ।
४. नवस्थानसमन्वितः—क (भ०) ।
५. प्रेषयेत् कामदूतीं तु स्वावस्थादर्शनं प्रति—ग०, घ० ।
६. इयं तस्य त्ववस्था हि निवेद्या प्रश्रयादिति—क (भ०); इयं तस्याप्यवस्थेति निवोध्यं प्रश्रयादिभिः—क (ड) ।
७. अथवेदितभावार्थे—ख० । ८. रभ्युपायं—क (भ०) ।
९. कामितैः—ग (भ०); प्रच्छन्नकामिभिः—ख० ।

सन्देश के भाव को पहुँचाने के पश्चात् 'रति' के उपायों पर विचार करे। यह प्रच्छन्न-प्रणय के लिये विधान (बतलाया गया) है ॥ २०० ॥

(स्त्रियों के प्रति) राजा का प्रणयोपचार—

विधिं[1] राजोपचारस्य पुनर्वक्ष्यामि तत्वतः।
अभ्यन्तरगतं[2] सम्यक् कामतन्त्रसमुत्थितम्[3] ॥ २०१ ॥

अब मैं आभ्यान्तर में स्त्रियों के प्रति बरती जाने वाली राजाओं की प्रणयोपचार विधि का विशद वर्णन करता हूँ जो कि काम-शास्त्र[1] से की गई है ॥ २०१ ॥

सुखदुःखकृतान्[4] भावान् नानाशीलसमुत्थितान्[5] ।
यान् यान् प्रकुरुते राजा ताँस्तान् लोकोऽनुवर्तते ॥ २०२

क्योंकि अनेक प्रकृतियों तथा सुख और दुःख की अवस्था में होने वाली दशाओं के कारण जिन भावों को राजा अनुभव करता है प्रजा भी उसी का अनुसरण करती है ॥ २०२ ॥

न दुर्लभाः पार्थिवानां[6] स्त्र्यर्थमाज्ञाकृताः[7] गुणाः।
दाक्षिण्यात्तु समुद्भूतः कामो रतिकरो भवेत् ॥ २०३ ॥

राजाओं की आज्ञा देने पर गुणवती स्त्रियों की उपलब्धि दुर्लभ नहीं होती किन्तु जो 'प्रेम' चतुराई के द्वारा उत्पन्न होता है, वही अधिक आल्हादक होता है ॥ २०३ ॥

बहुमानेन देवीनां[8] वल्लभानां भयेन च।
प्रच्छन्न[9]-कामितं राज्ञा[10] कार्यं परिजनं प्रति ॥ २०४ ॥

---

१. यहाँ भरत द्वारा काम-शास्त्र के किसी विशेष ग्रन्थ का निर्देश नहीं प्रतीत होता है। यहाँ केवल उसके आचार (तन्त्र) आदि का ही संकेत परिलक्षित होता है।

---

१. तत्र राजोपचारस्य व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः। विधिमाभ्यन्तरं-क (भ०)।
२. अभ्यन्तरगतान् सम्यक्—क. (ड)। ३. कामतन्त्रे—क (ङ)।
४. सुखदः स्वकृतान्—ख.। ५. शिल्प—क (भ०)।
६. नृपाणां तु—घ०।
७. स्त्रीसम्भोगकृता गुणाः—क (भ०), नृपाणान्तु स्त्रियो ह्याज्ञाकृता गुणाः—क (ड)। ८. देवानां—ख०, ग०।
९. प्रच्छन्नकामिनां राज्ञां—ख०, ग०। १०. राज्ञः—घ०।

महादेवी के प्रति सम्मान तथा (अपनी) शेष प्रियतमाओं के भय के कारण राजा को अपनी इष्ट (आभ्यन्तर) महिला के प्रति 'प्रच्छन्न-कामिता' का ही उपचार प्रयुक्त करना चाहिए ॥ २०४ ॥

यद्यप्यस्ति नरेन्द्राणां[1] कामतन्त्रमनेकधा[2] ।
प्रच्छन्नकामितं यत्तु तद्धै रतिकरं भवेत् ॥ २०५ ॥
यद्वामाभिनिवेशित्वं[3] यतश्च[4] विनिवार्यते ।
दुर्लभत्वञ्च यन्नार्याः सा[5] कामस्य परा रतिः ॥ २०६ ॥

यद्यपि राजा के द्वारा 'काम विज्ञान' के अनेक विधानों का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु जो उपचार प्रच्छन्न प्रयुक्त हो वही सर्वश्रेष्ठ है और वही रति का संवर्द्धक भी। इसमें प्राप्त होने वाली स्त्री के प्रति जो विघ्न आते हैं, फिर उनका निवारण होता है और अन्त में दुर्लभ स्त्रीरत्न की कठिनाई से जो उपलब्धि होती है वही उत्कृष्ट 'रति' को भी प्रदान करती है ॥ २०५–२०६ ॥

राज्ञामन्तःपुरजने दिवासम्भोग इष्यते ।
बाह्योपचारो यश्चैषां[6] स रात्रौ परिकीर्तितः ॥ २०७ ॥

राजाओं के रनिवास में स्त्रियों के साथ राजा का मिलन दिन में भी हो सकता है किन्तु बाह्य स्त्री के साथ इनका मिलन रात्रि में ही उपयुक्त होता है[1] ॥ २०७ ॥

(बाह्य) स्त्री से मिलने के हेतु—

परिपाट्यां[7] फलार्थे वा नवे प्रसव एव वा ।
दुःखे चैव प्रमोदे च षडेते वासकाः स्मृताः ॥ २०८ ॥

---

१. तु० काव्यानुशासन ५।१, १६

---

१. नृपाणान्तु—ख०, ग० । २. कामद्रव्य—क (भ) ।

३. सम्भाव्यते भयं यत्र यतश्चैव निवार्यते । दुर्लभं यस्तु तत्रासो कामो रतिकरो भवेत् ॥—क (भ०) । ४. यतश्चैव निवार्यते—घ० ।

५. कामिनः सा रतिः परा—घ० । ६. वामोपचारो यच्चैव—घ० ।

७. परिपाट्या कुलार्थे च नवप्रसवसङ्गमे । क (भ०); फलार्थे वा न च प्रमद एव वा—ख० ।

इन छः कारणों से राजा का किसी स्त्री के साथ संयोग हो जाता है—(१) परिपाटी या निर्धारित-दिवस, (२) पुत्र प्राप्ति, (३) नवीन-परिचय होने, (४) स्त्री को पुत्र उत्पन्न होने, (५) दुःख के समय तथा (६) उत्सव के अवसर पर[1] ॥ २०८ ॥

उचिते वासके स्त्रीणामृतुकालेऽपि वा नृपैः[1] ।
प्रेष्याणामथवेष्टानां[2] कामश्चैवोपसर्पणम् ॥ २०९ ॥

और राजा के द्वारा उचित समझे जाने पर ऋतुकाल में प्रेष्या या इष्ट स्त्रियों के अथवा महारानी के समीप स्वयं अभिसरण करना चाहिए ॥ २०९ ॥

नायिकाओं के (आठ) प्रभेद—

तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि वा ।
स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरितापि वा ॥ २१० ॥
खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका ।
तथाभिसारिका चैव ज्ञेयास्त्वष्टौ[3] तु नायिकाः ॥ २११ ॥

नायिकाओं के आठ विभेद होते हैं–(१) वासक-सज्जा, (२) विरहोत्कण्ठिता, (३) स्वाधीनपतिका (भर्तृका), (४) कलहान्तरिता, (५) खण्डिता, (६) विप्रलब्धा. (७) प्रोषितभर्तृका तथा (८) अभिसारिका[2] ॥ २१०–२११ ॥

---

१. इस विषय में हेमचन्द्राचार्य की काव्यानुशासन-वृत्ति भी अवलोकनार्ह है जहाँ अभिनवगुप्त के विचार उद्धृत किये गए हैं । (दे० का० शा० वृ० पृ० ३०७-निर्णय सा० संस्क०) । राजाओं का स्त्रियों से मिलन का यह विधान वात्स्यायन के समय शिथिल हो चुका था ऐसा प्रतीत होता है । (देखिये—कामसूत्र ३।२–६१–६३ तथा काव्यानुशासन भी ३।२,–६१–६३) ।

२. तुलनार्थ देखिये—दशरू० २।३–२७ तथा सा० द० ३। तथा भा० प० पृ० ९९

---

१. बुधैः—क (भ०); नृपः—ग० ।

२. वेश्यानामपि कर्तव्यमिष्टानां योगसर्पणम्—ख०, द्वेष्याणामथवेष्टानां कर्त्तव्यमुपसर्पणम्—घ० । ३. इत्यष्टौ नायिका स्मृताः ख०, ग० ।

वासकसज्जा—

उचिते वासके या तु रतिसम्भोगलालसा ।
मण्डनं[1] कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिता ॥ २१२ ॥

जो स्त्री कामकेलि के लिए आतुर होकर योग्य वस्त्राभूषणों को प्रसन्न होकर धारण करती हो तथा अपने को साज-संवार कर प्रियतम की बाट जोहती हो तो उसे 'वासकसज्जा'[1] नायिका समझना चाहिए ॥ २१२ ॥

विरहोत्कण्ठिता—

अनेककार्यव्यासङ्गाद्यस्या नागच्छति प्रियः ।
तदनागतदुःखार्ता[2] विरहोत्कण्ठिता तु[3] सा ॥ २१३ ॥

जिसका स्वामी या प्रिय अनेक कार्यों में व्यस्त रहने से समय पर न लौट पाए और इसी कारण जो दुःखी हो जाए वह 'विरहोत्कण्ठिता'[2] नायिका कहलाती है ॥ २१३ ॥

स्वाधीन-भर्तृका—

सुरतातिरसैर्बद्धो यस्याः पार्श्वे[4] तु नायकः ।
सान्द्रामोदगुणप्राप्ता[5] भवेत् स्वाधीनभर्तृका ॥ २१४ ॥

रति (और व्यवहार से) अति आकृष्ट होकर जिसके पास प्रिय सदा बना रहे उस अत्यन्त हर्ष, सौभाग्य और अभिमान शालिनी नायिका को 'स्वाधीन-भर्तृका'[3] समझना चाहिए ॥ २१४ ॥

कलहान्तरिता—

ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः ।
सामर्षवशसम्प्राप्ता[6] कलहान्तरिता भवेत् ॥ २१५ ॥

---

१. तुलना—दशरू० २।२४। सा० द० । ३।८५
२. तुलना—दश रू० २ । २५ । सा० द० ३ । ८६
३. तुलना—दश रू० २ । २४ । सा० द० ३ । ७४

---

१. मङ्गलं—ख०, ग० ।
२. अनागमन—क (ङ), तस्यानुगम—ख, तदनागम—क (भ०) ।
३. मता—ख०, ग० । ४. पार्श्वगतः प्रियः—ख० ।
५. सामोदे गुणसंयुक्ता—ख०, सामोदगुणसंयुक्ता—घ० सामोदगुणसम्प्राप्ता—क (भ०) ६. आमर्षवेषसंतप्ता—ख०, ग०, अमर्षवशसंतप्ता—घ० ।

ईर्ष्या और कलह के कारण कंटाले में फंस कर जिसका प्रेमी दूर चला जाए और उसके न आने के कारण क्रोध से सन्तप्त हो जाने वाली नायिका को 'कलहान्तरिता'[1] समझना चाहिए ॥ २१५ ॥

खण्डिता—

व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः ।
तदनागमदुःखार्त्ता[1] खण्डिता सा प्रकीर्तिता ॥ २१६ ॥

जिसका पति अन्य स्त्री में आसक्त होने के कारण (व्यासंगात्) जिसके समीप समय पर न आ पाए तो उसकी बाट जोहती हुई दुःखी नायिका 'खण्डिता'[2] कहलाती है ॥ २१६ ॥

विप्रलब्धा—

यस्या[2] दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्त्वा सङ्केतमेव वा ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा भवेत्[3] ॥ २१७ ॥

जिसके समीप दूती को भेज कर या संकेत स्थल बतला कर भी किसी कारणवश प्रिय वहाँ नहीं पहुँच पाए तो इसी कारण अपमानित होने वाली नायिका 'विप्रलब्धा'[3] कहलाती है ॥ २१७ ॥

प्रोषित-भर्तृका—

गुरुकार्यान्तरवशाद्[4] यस्या वै प्रोषितः[5] प्रियः ।
प्ररूढालककेशान्ता[6] भवेत् प्रोषितभर्तृका ॥ २१८ ॥

जिसका पति किसी महत्त्वपूर्ण कार्यवश परदेश चला जाय और इसी कारण बिना केश संस्कार के शिथिल वेणी में रहने वाली (उस) नायिका को 'प्रोषित-भर्तृका'[4] समझना चाहिए ॥ २१८ ॥

---

१. तुलना—दश रू० २ । २६ । सा० द० ३ । ८२

२. तुलना—दश रू० २ । २५ । सा० द० ३ । ७४

३. तुलना दश रू०—२ । २६ सा० द० ३ । ८३

४. तुलना दश रू०—२ । २७ सा० द० ३ । ८४

---

१. तदनागमनार्ता तु—ख०, तस्यानागम—घ० ।

२. तस्माद्भूता प्रियः प्राप्य गत्वा सङ्केत—ख० ग० । ३. मता—घ० ।

४. नानाकार्याणि सन्धाय—क० । नानाकार्यार्थसम्पन्नै—ग०, र्यार्थसम्बन्धैः-क (ङ) ५. विप्रोषितः—ग० । ६. सा रूढा—क, ख० ।

अभिसारिका—

हित्वा[1] लज्जान्तु या[2] श्लिष्टा मदेन मदनेन च ।
अभिसारयते कान्तं सा भवेदभिसारिका ॥ २१९ ॥

मद या मदन के आवेग वश जो लज्जा का परित्याग कर प्रिय से मिलने के लिए संकेत स्थान पर अभिसरण करे उसे 'अभिसारिका'[1] नायिका समझना चाहिए ॥ २१९ ॥

आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रया[3] ।
एतासाञ्चैव[4] वक्ष्यामि कामतन्त्रमनेकधा[5] ॥ २२० ॥

नाटक में नायिकाएँ इन्हीं अवस्थाओं में रखी जाएं। अब मैं इनकी नाट्यप्रयोक्ता जन द्वारा प्रस्तुतीकरण की विधि (योजनाविधि) बतलाता हूँ।

नायिकाओं की योजना-विधि—

चिन्तानिःश्वासखेदेन[6] हृद्दाहाभिनयेन[7] च ।
सखीभिः[8] सहसंलापैरात्मावस्थावलोकनैः[9] ॥ २२१ ॥

ग्लानिदैन्याश्रुपातैश्च रोषस्यागमनेन च ।
निर्भूषणमृजात्वेन[10] दुःखेन रुदितेन च ॥ २२२ ॥

खण्डिता विप्रलब्धा वा कलहान्तरितापि च ।
तथा प्रोषितकान्ता च भावानेतान्[11] प्रयोजयेत् ॥ २२३ ॥

खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता तथा प्रोषित-भर्तृका नायिका के अभिनय को प्रस्तुत करने में चिन्ता, उसांसे लेना, खेद, हृदय में जलन, सखियों से सम्भाषण, अपनी दशा को देखने, ग्लानि, दैन्य, आंसुओं के

---

१. तुलना दश रू०—२। २७ सा० द० ३। ७६

---

१. या नैर्लज्ज्येन सम्बद्धा—क (प०) २. समाकृष्टा—ख०।
३. नाटकाश्रयाः—घ०।
४. ये च वक्ष्यामि—घ०, सम्प्रवक्ष्यामि कामतन्त्रप्रयोजनम्—क (भ०)।
५. यथायोगं प्रयोक्तृभिः—(ङ), यथा—योज्यं घ०। ६. खेदैश्च—ख०।
७. हृदयाभि—ख०। ८. सखीनां सम्प्रलापैश्च—ग० घ०।
९. निजावस्था—क (भ०)।
१०. निर्भूषणाङ्गी विमृजा—ख०।
११. भावैरेवं—ख० ग०, घ०।

बहने, क्रोध के आने, अलंकार तथा साज-सज्जा की सामग्री को छोड़ देने (फेंक देने), दुःख तथा रोदन की योजना करनी चाहिए[1] ॥ २२१–२२३ ॥

विचित्रोज्ज्वलवेषा तु प्रमोदोद्योतितानना।
उदीर्णशोभा[1] च तथा कार्या स्वाधीनभर्तृका ॥ २२४ ॥

स्वाधीन भर्तृका नायिका को विचित्र एवं उज्ज्वल वस्त्रादि धारण किये हुए, प्रसन्नवदन, आकर्षण एवं शोभा को प्रकट करने वाले अंगों के अतिशय लावण्य से पूर्ण स्वरूप में प्रस्तुत करना चाहिए[2] ॥ २२४ ॥

नायिकाओं के अभिसरण प्रकार—

वेश्यायाः[2] कुलजायाश्च प्रेष्यायाश्च[3] प्रयोक्तृभिः।
एभिर्भावविशेषैस्तु कर्त्तव्यमभिसारणम् ॥ २२५ ॥

इन नायिकाओं में सामान्या, कुलजा या प्रेष्या द्वारा अभिसरण बतलाना हो तो उसे आगे बतलाई गई विधि के अनुसार प्रदर्शित करे[3] ॥ २२५ ॥

सामान्या (वेश्या) नायिका का अभिसरण प्रकार :

समदा मृदुचेष्टा च तथा परिजनावृता।
नानाभरणचित्राङ्गी गच्छेद्वेश्याङ्गना शनैः ॥ २२६ ॥

प्रिय का अभिसरण करने में वेश्या अपने शरीर को अनेक अलंकारों से सजा कर तथा अपने परिजन परिवार को साथ लेकर मद तथा कोमल चेष्टाओं से युक्त होकर धीरे धीरे अभिसरण करे[4] ॥ २२६ ॥

कुलजा का अभिसरण प्रकार :

संलीना स्वेषु गात्रेषु त्रस्ता विनमितानना[4]।
अवगुण्ठनसंवीता गच्छेत्तु[5] कुलजाङ्गना ॥ २२७ ॥

---

१. तुलना दशरू०—२ । २८ । सा० द० ३ । ७८

२. तुलना— दश रू० २ । २८ । सा० द० ३ । ७६

३. तुलना— दश रू० २ । २८ । सा० द० ३ । ७६

४. तुलना— सा० द० ३७७ । भा० प्र० पृ० १०१

---

१. शोभातिशया—ख० । २. वेश्यायां कुलजायां वा प्रेष्यायां वा—ख०

३. प्रेष्याया वाथवा नृपैः घ० ।

४. विप्रेक्षितानना—ख०, ग०, वनमितानना—क (ङ); विक्षिप्त-लोचना— क० (भ०) ५. गच्छेच्च—भ०; गच्छेत—क (भ०) ।

(प्रिय का अभिसरण करने में) 'कुलजा' अपने शरीर तथा मुंह को ढंक कर चकित एवं त्रस्त नयनों से चारों ओर देखते हुए चले[1] ॥ २२७ ॥

प्रेष्या का अभिसरण—

[1]मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना ।
आविद्धगतिसंचारा गच्छेत् प्रेष्या[2] समुद्धतम् ॥ २२८ ॥

इसी (अभिसरण) को 'प्रेष्या' लड़खड़ाती चाल में आंखों को विलास-पूर्ण आमोद से फैलाते हुए तथा मद के कारण स्खलित या हकलाती हुई वाणी में संभाषण करती हुई जाए[2] ॥ २२८ ॥

सुप्त प्रिय से मिलन विधि—

गत्वा[3] सा चेद् यदा तत्र पश्येत् सुप्तं प्रियं[4] तदा ।
अनेन[5] तूपचारेण तस्य कुर्यात् प्रबोधनम् ॥ २२९ ॥

यदि अपने प्रिय के आगार पर पहुँचने पर वह सोया हुआ मिले तो उसे इस प्रकार जगाने के उपाय करना चाहिए[3] ॥ २२९ ॥

अलङ्कारेण कुलजा वेश्या गन्धैस्तु शीतलैः ।
प्रेष्या तु वस्त्रव्यजनैः कुर्वीत[6] प्रतिबोधनम् ॥ २३० ॥

कुलजा नायिका अपने गहनों की झंकार द्वारा, वेश्या शीतल सुगन्ध के द्वारा और प्रेष्या अपने आंचल से हवा करते हुए सुप्त प्रिय को जगावे[4] ॥ २३० ॥

निर्भर्त्सनपरं[7] प्रायस्तथाश्वासनपेशलम् ।
निष्ठुरं मधुरञ्चैव सखीनामपि जल्पनम् ॥ २३१ ॥

---

१. तुलना—सा० द० ३ । ७६ भा० प्र० पृ० १२० ।
२. तुलना भा० प्र० पृ० १०० ।
३. तुलना भा० प्र० पृ० १०१ ।
४. तुलना भा० प्र० पृ० १०१ ।

---

१. मदस्त्वभिनयालापा—ख०, ग० । २. प्रेष्याङ्गनानया—ख० ।
३. स्यादथं शयितो व्यक्तं पश्येत् सुप्तं प्रियं यदा—ग० ।
४. प्रियंवदा—ख० ।
५. प्रिया यथोत्थापयति तथा वक्षाम्यहं पुनः—भ०, क (भ०) ।
६. वोधयेत् शयितं प्रियम्— घ० ।
७. पद्यमेतत् ख०, ग०, घ०—पुस्तकेषु नास्ति ।

ऐसे समय सखियों का संभाषण निष्ठुर और मधुर गुणों वाला तथा सुन्दरता पूर्वक आश्वासनों और झिड़कियों से भरा हुआ होना चाहिए ॥ २३१ ॥

कुलाङ्गनानामेवायं प्रोक्तः[1] कामाश्रयो विधिः ।
सर्वावस्थानुभाव्यं[2] हि यस्माद् भवति नाटकम् ॥ २३२ ॥

कुलजा तथा अन्य नायिकाओं के लिए प्रणयाश्रित यही विधि है क्योंकि नाटक में नायिकाओं की सभी अवस्था तथा भावों को प्रस्तुत (प्रदर्शित) किया जाता है ॥ २३२ ॥

वासक उपचार विधि—

नवकामप्रवृत्तायाः[3] क्रुद्धाया वा समागमे ।
सापदेशैरुपायैस्तु[4] वासकं सम्प्रयोजयेत्[5] ॥ २३३ ॥

काम के सेवन में थोड़े दिन से ही प्रवृत्त होने वाली या क्रुद्ध नायिका के स्वेच्छा से संयोग में प्रवृत्त न होने पर कुछ वहानों या उपायों द्वारा संयोग (वासक) की योजना की जाए ॥ २३३ ॥

[6]नानालङ्कारवस्त्राणि गन्धमाल्यानि चैव हि ।
प्रियायोजितभुक्तानि[7] निषेवेत मुदान्वितः[8] ॥ २३४ ॥

विलासी पुरुष, सदा प्रियतमा से सेवित साधारणतः उत्कृष्ट किये गये एवं आकर्षक अनेक अलंकार, वस्त्र, गन्ध तथा पुष्पमालाओं को प्रसन्नता पूर्वक स्वयं धारण करे ॥ २३४ ॥

न तथा भवति मनुष्यो[9] मदनवशः कामिनीमलभमानः ।
द्विगुणोपजातहर्षो[10] भवति यथा सङ्गतः प्रियया ॥ २३५ ॥

---

१. नोक्तः—क० । २. वस्थानभाव्यं—क (ङ)
३. भयकाम—भ०, न च— क (ङ) ।
४. सत्यादेशै—ख०, नानोपायैः समाधाय—क (भ०) ।
५. सम्प्रकल्पयेत्—ख ।
६. यानि यानि च माल्यानि धूपगन्धाम्बराणि च ख० ।
७. नित्यं सुखान्युदात्तानि सेवेत मदनान्वितः—ख० ।
८. मदनान्विता—घ० ।
९. विशेषो—ख० । १०. द्विगुणोपचार—क० (ढ) ।

जब तक मनुष्य अपनी प्रियतमा को प्राप्त नहीं करता वह अतिशय वैसा आह्लाद नहीं प्राप्त कर पाता जैसा कि प्रिया से संगत हो दुगने हर्ष से मदनाधीन होकर आह्लादित होता है ॥ २३५ ॥

विलासभावेङ्गितवाक्यलीला[1]-
माधुर्यविस्तारगुणोपपन्नः[2] ।
परस्परप्रेमनिरीक्षितेन
समागमः कामकृतस्तु[3] कार्यः ॥ २३६ ॥

अनुराग पूर्ण नायक नायिकाओं के पारस्परिक व्यवहार में मधुर एवं विलासपूर्ण भावों का आयोजन करना चाहिए। उस समय मधुर चित्तवृत्ति, मधुर वचन, मधुर चेष्टा (ओष्ठ, नेत्र आदि अंगों का चालन) तथा विलासपूर्ण भंगिमाओं की योजना रहनी चाहिए ॥ २३६ ॥

पारस्परिक मिलन की तैयारी—

ततः[4] प्रवृत्ते मदने उपचारसमुद्भवे ।
वासोपचारः[5] कर्तव्यो नायकागमनं प्रति ॥ २३७ ॥

जब नायक आए तो नायिका की ओर से आनन्द के उत्पादक कुछ विशेष उपचारों को (मिलन हेतु) प्रस्तुत किया जाए ॥ २३७ ॥

नायिका का शृंगार—

गन्धमाल्ये[6] गृहीत्वा तु चूर्णवासस्तथैव[7] च ।
आदर्शो[8] लीलया गृह्यश्छन्दतो वा पुनः पुनः ॥ २३८ ॥

वह अपने कक्ष में चन्दन, पुष्पमाला तथा बुकनी (सुगन्धित पटवास, अबीर आदि) को नायक के लिए रखकर फिर अपना शृंगार करे (सजावट करे) ॥ २३८ ॥

वासोपचारे नात्यर्थं भूषणग्रहणं भवेत् ।
रशनानूपुरप्रायं स्वनवच्च[9] प्रशस्यते ॥ २३९ ॥

---

१. काव्यलीला--क (ङ) । २. विशेषमाधुर्य—ख० ।
३. कामगतस्तु—क (ङ) ।
४. नार्याप्यथ विशेषेण प्रमोदरसम्भवः । —घ० ।
५. उपचारस्तु—क (भ०) । ६. माल्यं—ख० ।
७. चूर्णवासान्—क (भ०) ।
८. स्थापयेन्नायककृते कुर्याच्चात्मप्रसाधनम्— घ० ।
९. स्वनवच्चैव यद्भवेत्—क (ङ) ।

पारस्परिक मिलन के अवसर पर अधिक अलंकारों को धारण नहीं किया जाए। केवल करधनी और पैंजन जैसे मधुर ध्वनि करने वाले गहने ही (ऐसे समय) पर्याप्त रहते हैं ॥ २३९ ॥

रंगमंच पर निषिद्ध कार्य—

नाम्बरग्रहणं[1] रङ्गे न[2] स्नानं न[3] विलेपनम्।
नाञ्जनं नाङ्गरागश्च केशसंयमनन्तथा[4] ॥ २४० ॥

(स्त्रियों की विभिन्न अवस्थाएँ तथा कार्य का अभिनय प्रस्तुत करते समय) उनके द्वारा वस्त्रों का धारण करना, स्नान, चन्दन लेपन, अंजन, अंगराग तथा अधर राग का धारण और केशों का बांधना आदि रंगमंच पर नहीं बतलाया जाय[1] ॥ २४० ॥

नाप्रावृता[5] नैकवस्त्रा न रागमधरस्य तु।
उत्तमा मध्यमा वापि कुर्वीत[6] प्रमदा क्वचित् ॥ २४१ ॥

(मुख्य नायिका तथा इसी प्रकार) उत्तम तथा मध्यम प्रकृति की स्त्रियों के अंग बिना ढंके हुए या एक ही वस्त्र धारण किये हुए न रखें जाए और उनके ओठों को (श्रेष्ठ राग के अतिरिक्त रंगों से) नहीं रंगा जाय ॥२४१॥

अधमानां भवेदेष सर्व[7] एव विधिः सदा।
तासामपि[8] ह्यसभ्यं यन्न तत्कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ २४२ ॥

मंच पर ये कार्य अधम प्रकृति की स्त्रियों द्वारा उनके स्वभाव के कारण बतलाए जा सकते हैं, किन्तु असभ्य या अश्लील कार्य इनके द्वारा भी न बतलाए जाएं ॥ २४२ ॥

---

१. रंग-मंच वर्जित ये कार्य तत्कालीन समाज की आदर्श स्थिति के स्पष्ट संकेत करते हैं।

---

१. न मञ्चग्रहणं—घ०।
२. नानुरङ्गे—ख०। ३. नानुलेपनम्—घ०।
४. न च केशोपसंग्रहम्—ख०, स्तनकेशग्रहो न च— क(ङ)।
५. नापावृता—घ०। ६. प्रकुर्यात्—घ०।
७. भवेदेवं विधिः प्रकृतिसम्भवः —ख।
८. कारणान्तरमासाद्य तस्मादपि न कारयेत्—क०।

प्रेष्यादीनाञ्च[1] नारीणां नराणां वापि नाटके ।
भूषणग्रहणं कार्यं[2] पुष्पग्रहणमेव वा ॥ २४३ ॥

दासपुरुष तथा दासी स्त्रियों को नाटक में रंगमञ्च पर केवल भव्य भूषणों तथा पुष्पमालाओं का धारण ही करना प्रदर्शित होना चाहिए ॥ २४३ ॥

गृहीतमण्डना[3] चापि[4] प्रतीक्षेत प्रियागमम् ।
लीलया मण्डितं[5] वेषं कुर्याद्यन्न विरुध्यते ॥ २४४ ॥

इस प्रकार वेषभूषा से सजकर नायिका प्रिय के आने की प्रतीक्षा करे । वह अपनी सज्जा का अनायास सम्पादन करे और अपना ऐसा वेष रखे जो समयोचित हो ॥ २४४ ॥

नायिका द्वारा प्रिय-प्रतीक्षा—

विधिवद्वासकं[6] कुर्यान्नायिका नायकागमे ।
प्रतीक्षमाणा[7] च ततो नालिकाशब्दमादिशेत् ॥ २४५ ॥

नायिका विधिवत् संयोग हेतु तैयार हो कर नायक की प्रतीज्ञा करते हुए बैठकर 'नाडिका' (समय) बतलाने को कहे (या नाडिका' ध्वनि का श्रवण करे) ॥ २४५ ॥

श्रुत्वा तु नालिकाशब्दं[8] नायकागमविक्लवा ।
विषण्णा[9] वेपमाना च गच्छेत्तोरणमेव च ॥ २४६ ॥

वह फिर नाडिका ध्वनि को सुनकर नायक के आने की घबराहट को लिये हुए खिन्न और कम्पित-हृदय से तोरण (बाहर के द्वार) तक बढ़ जाए ॥ २४६ ॥

---

१. वेश्यादीनां तु नारीणां नराणां वापि नाटके—क (भ०) ।
२. कृत्वा पुष्पाणां ग्रहणं भवेत्—क (भ०) ।
३. निर्युक्त—घ०, निर्वृत्त—क (भ०) । ४. चापि प्रतीच्छेत—ख० ।
५. मण्डनं शेषं कुर्याद् यत्र—ख० ।
६. वासोपचारं कृत्वैवं नायिका नायकागमम्—क (ज) ।
७. वीक्ष्यमाणा पथं प्रिया—घ०, शृणुयान्नाडिकाघोषं प्रतीक्षेदासनस्थिता—क (च०) । ८. नालिकानादं—ख, नालिकाघोषं—घ० ।
९. वेपन्ती सन्न (त्रस्त-ख) हृदया तोरणाभिमुखी व्रजेत्—घ० ।

तोरणं[1] वामहस्तेन कवाटं दक्षिणेन च।
गृहीत्वा[2] तोरणाश्लिष्टा सम्प्रतीक्षेत नायकम् ॥ २४७ ॥

वह दरवाजे को दाहिने हाथ से और दरवाजे की बारसाक या चौखट को बांएं हाथ से थामते हुए दरवाजे से सटकर नायक की बाट जोहे॥ २४७॥

शङ्कां[3] चिन्तां भयञ्चैव प्रकुर्यात्तोरणाश्रिता।
अदृष्ट्वा रमणं नारी विषण्णा च क्षणं भवेत् ॥ २४८ ॥

वह दरवाजे का सहारा लेकर खड़ी हुई प्रतीक्षा करते हुए शंका, चिन्ता तथा भय के उचित भावों को प्रदर्शित करे और प्रिय का आगमन होते न देख थोड़ी खिन्न हो जाय ॥ २४८ ॥

दीर्घञ्चैव विनिःश्वस्य[4] नयनाम्बु[5] निपातयेत्।
सन्नञ्च[6] हृदयङ्कृत्वा [7]विसृजेदङ्गमासने ॥ २४९ ॥

फिर वह जोर से उसाँस भरते हुए और नयनों से आँसू टपकाते हुए खिन्न हृदय होकर आसन पर अपने शरीर को लुढ़का दे ॥ २४९ ॥

व्याक्षेपाद्विमृशेच्चापि नायकागमनं प्रति।
तैस्तैर्विचारणोपायैः[8] शुभाशुभसमुत्थितैः[9] ॥ २५० ॥

वह (फिर) नायक के न आने या उसमें विलम्ब होने के कारणों का शुभ तथा अशुभ विकारों द्वारा विचार करे ॥ २५० ॥

गुरु-कार्येण मित्रैर्वा मन्त्रिणा[10] राज्यचिन्तया।
अनुबद्धः प्रियः किन्तु धृतो[11] वल्लभयापि वा ॥ २५१ ॥

---

१. वामेन तोरणं ग्राह्यं -ख० ।

२. हस्तेन सम्मुखीभूय उदीक्षेत प्रियागमम्--ख०, ग० ।

३. शुभाशङ्कां भयञ्चैव कुर्यात् तोरणसंस्थितम्--ख०, ग०; सशङ्का चैव रूपञ्च कुर्यात्तोरणमाश्रिता--क (भ०) । ११

४. तु निश्वस्य--क (भ०) ।

५. अस्त्रञ्चैव--घ०, आस्यञ्चैव--क (ढ) । ६. आर्तञ्च--क (भ०) ।

७. विमुञ्चेदङ्ग--क (भ०) । ८. विचारणैश्चापि--ख० ।

९. समन्वितैः--क० (भ०) ।

१०. मन्त्रिणां--ख०, मन्त्राणां--क (भ०) । ११. वृतो-ख ।

वह सोचे कि उसका प्रिय किसी बड़े कार्य होने, मित्रों द्वारा रोक लेने, मन्त्रियों के साथ राज्य की स्थिति पर विचार करने के कारण रुक गया है या फिर किसी इष्टतम प्रिया के द्वारा बीच ही में रोक लिया गया है ॥२५१॥

उत्पातान्निर्दिशेच्चापि[1] शुभाशुभसमुत्थितान् ।
निमित्तैरात्मसंस्थैस्तु स्फुरितैः स्पन्दितैस्तथा ॥ २५२ ॥

वह शुभ और अशुभ स्थिति के सूचक निमित्तों को अपने शरीर के फड़कने तथा कंपन के द्वारा प्रकट करे (या दिखावे) ॥ २५२ ॥

नायिका के शुभाशुभ शकुन :—

शोभनेषु तु कार्येषु निमित्तं वामतः स्त्रियाः ।
अनिष्टेष्वथ[2] सर्वेषु निमित्तं दक्षिणं भवेत् ॥ २५३ ॥

स्त्रियों के (अपने) शरीर के बाएं भाग के फड़कने पर 'शुभ' तथा दाहिने अंगों के फड़कने से अनिष्ट की सूचना मिलती है ॥ २५३ ॥

सव्यं नेत्रं ललाटञ्च भ्रूनासौष्ठन्तथैव[3] च ।
ऊरुबाहुस्तनञ्चैव स्फुरेद्यदि समागमः ॥ २५४ ॥

यदि स्त्री की बायीं आँख, भौं, ललाट, नासिका, ओठ, भुजा, छाती तथा पिंडली (उरु) फड़के तो प्रियसमागम की सूचना समझना चाहिए ॥२५४॥

एतेषामन्यथाभावे[4] दुर्निमित्तं[5] विनिर्दिशेत् ।
दर्शने दुर्निमित्तस्य मोहं गच्छेत् क्षणं ततः ॥ २५५ ॥

इसके विपरीत अंगों के फड़कने पर 'अनिष्ट' की सूचना होती है और अपशकुन को देखने पर नायिका तुरन्त मूर्च्छित तक हो जाती है ॥ २५५ ॥

अनागमे[6] नायकस्य कार्यो[7] गण्डाश्रयः करः ।
भूषणे[8] चाप्यवज्ञानं रोदनञ्च समाचरेत् ॥ २५६ ॥

---

१. आकारं दर्शयेदेवं—घ० । २. दुरुक्तेषु तु कार्येषु—ग० ।
३. भ्रूरथोष्ठं—घ० । ४. अतोऽन्यथा स्पन्दमाने—ख०, ग० ।
५. दुरितं दक्षिणे भवेत्—क (भ०) घ० ।
६. अप्राप्ते चैव कर्त्तव्यः प्रिये गण्डाश्रितः करः—क (भ०) ।
७. प्रिये गण्डार्थितं करम्—घ० ।
८. प्रसाधने त्ववज्ञानं—क (भ०) ।

नायक के न आने की चिन्ता में नायिका हाथ पर अपने गाल को टिकाए रखे अपनी सजावट की ओर ध्यान न दे और अपने गहनों को उतार या फेंकती हुई रोने लगे ॥ २५६ ॥

अथ[1] चेच्छोभनं तत्स्यान्निमित्तं [2]नायकागमे।
सूच्यो नायिकयासन्नो [3]गन्धाघ्राणेन नायकः ॥ २५७ ॥

परन्तु यदि वह शुभ शकुनों को देखती हुई नायक के आने की चिन्ता करे तो समीप से आने वाली मोहक गन्ध द्वारा नायक की समीपतर अवस्था की सूचना दे ॥ २५७ ॥

नायिका द्वारा प्रिय की सम्भावना :

दृष्ट्वा चोत्थाय संहृष्टा[4] प्रत्युद्गच्छेद्यथाविधि[5]।
ततः[6] कान्तं निरीक्षेत प्रहर्षोत्फुल्ललोचना ॥ २५८ ॥

उसे आता देखकर वह प्रसन्न हो उठकर उसकी विधिवत् अगवानी करेऔर हर्ष से खिली आँखों से उसे देखती रहे ॥ २५८ ॥

अपराधी नायक की नायिका द्वारा सम्भावना —

सखीस्कन्धार्पितकरा कृत्वा स्थानकमायतम्।
दर्शयेत ततः कान्तं सचिह्नं सरसव्रणम् ॥ २५९ ॥

परन्तु यदि नायक अन्य नायिका के मिलन जन्य चिन्ह या ताजे क्षतों से युक्त दिखाई दे तो वह अपनी सखियों के कन्धे पर अपना हाथ रखती हुई (अथवा सखी के हाथों में अपना हाथ रखती हुई) आयत स्थान में स्थित होकर इस (अपराधी) नायक को पहचाने ॥ २५९ ॥

यदि स्यादपराद्धस्तु कृतस्तैस्तैरुपक्रमैः[7]।
उपालम्भकृतैर्वाक्यै[8]रुपालभ्यस्तु नायकः ॥ २६० ॥
मानापमानसम्मोहै[9]र्वहित्थ-भयक्रमैः[10]।

१. ततश्च (ततश्चेत्—क (भ०) शोभनं पश्येत् ख० ग०।
२. वै प्रियागमे—ख०। ३. गत्वा घ्राणेन—ख०।
४. हृष्टाङ्गी-ख०। ५. प्रत्युद्गच्छेद् हि नायकम्—ख०, घ०।
६. एष सार्धश्लोको क—पुस्तक एव लभ्यते।
७. ततस्तैस्तै—ख०। ८. रभिभाष्यः स नायकः—ख० घ०।
९. रवहित्थैर्यथा क्रमम्—ख०, ग०, घ०। १०. भयक्लमैः—क (ड)।

और अपराधी (प्रिय होने) की दशा में उन उन कार्यों, व्यवहारों और उलाहने से भरे वचनों से नायक को उलाहना दे तथा मान, अपमान, सम्मोह तथा अवहित्थ (के तथ्य) को भी क्रमशः प्रदर्शित करे ॥ २६०-६१ ॥

वचनस्य समुत्पत्तिः स्त्रीणामीर्ष्याकृता[1] भवेत् ॥ २६१ ॥

विश्रतम्भस्नेहरागेषु सन्देहे[2] प्रणये तथा ।
परितोषे च धर्षे[3] च दाक्षिण्याक्षेपविभ्रमे[4] ॥ २६२ ॥

धर्मार्थकामयोगेषु[5] प्रच्छन्नवचनेषु च ।
हास्ये कुतूहले चैव सम्भ्रमे व्यसने तथा ॥ २६३ ॥

स्त्रीपुंसयोः[6] क्रोधकृते पृथङ्मिश्रे तथापि वा ।
अनाभाष्योऽपि सम्भाष्यः प्रिय एभिस्तु कारणैः ॥ २६४ ॥

स्त्रियों द्वारा इन कारणों के होने पर बिना प्रिय द्वारा संभाषण प्रारंभ करने पर भी ईर्ष्या युक्त बातचीत प्रारंभ की जाय यथा-विश्वास, स्नेह, राग, सन्देह, प्रणय, सन्तोष, स्पर्धा, दाक्षिण्य तथा आक्षेप (करने) की दशा में, धर्म, अर्थ तथा काम के प्रयोग में, प्रच्छन्न यथाहास्य वचनों में, कुतूहल, सम्भ्रम, व्यसन तथा स्त्री या पुरुष द्वारा क्रोध में किसी अपराध की अवस्था के अलग अलग या मिल कर उत्पन्न होने की दशा में ॥ २६१–२६४ ॥

यत्र स्नेहो भवेत्तत्र[7] ह्यीर्ष्या मदनसम्भवा ।
चतस्रो योनयस्तस्याः[8] कीर्त्यमाना निबोधत ॥ २६५ ॥

क्योंकि जहाँ स्नेह होगा वहाँ भय भी और जहाँ ईर्ष्या होगी वहीं प्रेम (मदन) होगा। इस ईर्ष्या के चार कारण होते हैं जिन्हें मैं आपको बतलाता हूँ ॥ २६५ ॥

ईर्ष्या-हेतु—

वैमनस्यं व्यलीकञ्च विप्रियं मन्युरेव च ।
एतेषां सम्प्रवक्ष्यामि[9] लक्षणानि यथाक्रमम् ॥ २६६ ॥

१. स्त्रीणां गाथाकृता—ख०, ग० । २. सम्मोहे—क (ङ) ।
३. हर्षे च—ख०, च सङ्घर्षे—घ० ।
४. क्षेपपातने—ख०, विस्मये—घ० । ५. योग्येषु—क (ब०) ।
६. हास्योपस्थानसंप्राप्तौ दोषोपक्षेपनिह्नवे—ख०, घ० ।
७. भयं तत्र यत्रेष्यति च मन्मथः—ख, यत्रेर्ष्या तत्र मन्मथः—घ० ।
८. स्तत्र—क (भ०) । ९. च समुत्पत्तिः प्रयोगश्च निबोधत—ख० ।

ये चार कारण हैं—(१) वैमनस्य, (२) व्यलीक, (३) विप्रिय तथा (४) मन्यु। अब इनके क्रमशः लक्षण सुनिये॥ २६६॥

वैमनस्य—

निद्राखेदालसगतिं[1] सचिह्नं सरसव्रणम्।
एवं विधं प्रियं दृष्ट्वा वैमनस्यं भवेत् स्त्रियाः॥ २६७॥

जब नायक को निद्रा से युक्त, खेदयुक्त या आलस्य युक्त (थका हुआ) देखे या रतिचिह्न और व्रणों से युक्त नायक हो तो (उसे देखकर) नायिका को 'वैमनस्य' (घट्राग) उत्पन्न हो जाता है॥ २६७॥

तीव्रासूयितवचनाद्रोषाद्[2] बहुशः प्रकम्पमानोष्ठी।
साध्विति सुष्ठिव्ति वचनैः[3] शोभत इत्येवमभिनेयम्॥ २६८॥

अतिशय ईर्ष्यायुक्त चेहरे और क्रोध से ओठ को कंपाते हुए 'साधो' आपने बड़ा ही अच्छा किया या आपकी शोभा तो बड़ी अच्छी लग रही है जैसे वचनों को कहते हुए (इसका) अभिनय करना चाहिए॥ २६८॥

व्यलीक—

बहुधा[4] वार्यमाणोऽपि यस्तस्मिन्नेव[5] दृश्यते।
सङ्घर्षमत्सरात्तत्र[6] व्यलीकं जायते[7] स्त्रियाः॥ २६९॥

जब अनेक बार मना करने पर भी नायक सदा अपनी पुरानी आदत के अनुसार वहीं जाता रहे तो संघर्ष और मत्सर के कारण नायिका में 'व्यलीक' भाव उत्पन्न हो जाता है॥ २६९॥

कृत्वोरसि वामकरं दक्षिणहस्तं तथा विधुन्वत्या[8]।
चरणविनिष्ठम्भेन च[9] कार्योऽभिनयो व्यलीके तु॥ २७०॥

---

१. रतिं--क (भ०)।

२. निद्राभ्यसूयितावेक्षणेन रोषप्रकम्प्यमानाङ्गया—क०, तीव्रासूयितवदना —घ०, निद्राघूर्णितनयने रोषस्फुरितोष्ठकम्पिता—पाङ्गया—क (भ०)। ३. वाक्यैः शोभनमित्यभिनयं युज्यात्—ख०, घ०।

४. बहुशोऽवधीर्यमाणोऽपि—घ०। ५. प्रत्यस्मिन्नेव—ख०।

६. संहर्षात् तत्र मात्सर्यात्—ख०; सङ्घर्षात् चात्र—घ०।

७. तु भवेत्—ख०। ८. रुषा विधुन्वाना—ख०, घ०।

९. त्रिनिष्टम्भेनास्मिन्नकुर्वीत साऽभिनयम्—घ०।

व्यलीक भाव का अभिनय छाती पर बायां हाथ रखते हुए और दाहिना हाथ क्रोध से हिलाकर पैरों पर रखते हुए किया जाता है ॥ २७० ॥

विप्रिय—

जीवन्त्यां त्वयि जीवामि दासोऽहं त्वञ्च मे प्रिया ।
उक्त्वैवं योऽन्यथा कुर्याद्विप्रियं[1] तत्र जायते ॥ २७१ ॥

जब नायक—'मैं तेरा सेवक हूँ' 'तू ही मेरी प्रिया है' और 'तेरे कारण ही मैं जी रहा हूँ' इत्यादि बातें कहकर भी विपरीत आचरण करे तो उससे नायिका में 'विप्रिय' भाव उत्पन्न हो जाता है ॥ २७१ ॥

दूतीलेखप्रतिवचनभेदनैः[2] क्रोधहसितरुदितैश्च ।
विप्रियकरणेऽभिनयः सशिरः[3] कम्पैश्च कर्तव्यः ॥ २७२ ॥

उस भाव का अभिनय प्रिय द्वारा प्रेषित दूती, लेख तथा प्रश्नों के उत्तर न भेजते हुए या उनका परिहार करते हुए, क्रोध, परिहास तथा रोदन और अस्वीकृति सूचक मस्तक कम्पन द्वारा करना चाहिए ॥ २७२ ॥

मन्यु—

प्रतिपक्षसकाशात्तु[4] यः सौभाग्यविकत्थनः ।
उपसर्पेत् सचिह्नस्तु मन्युस्तत्रोपजायते[5] ॥ २७३ ॥

जब पति अन्य नायिका के संभोग-चिह्न सहित आकर नायिका के सम्मुख आत्म-प्रशंसा करे तो उसे 'मन्यु' भाव उत्पन्न हो जाता है ॥ २६३ ॥

वलयपरिवर्तनैरथ[6] सुशिथिलमुत्क्षेपणेन रशनायाः[7] ।
मन्युस्त्वभिनेतव्यः सशङ्कितं वाष्पपूर्णाक्ष्या[8] ॥ २७४ ॥

इस भाव को वलयों को ढीला करते हुए ऊपर चढ़ाते हुए, करधनी को ढीली करते हुए या उछालते हुए तथा शंकापूर्ण, आंसुओं में भरी दृष्टि के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ २७४ ॥

---

१. कुर्यात्तद्विप्रियमिति स्त्रियाः—घ० ।
२. भेदनक्रोधहसितरुदिते च—ख० ।
३, सशिरःकम्पः प्रयोक्तव्यः—ख० ।
४. विकाशा (?) त्तु—ख०, ग० । ५. मन्युस्तत्र भवेत् स्त्रियाः—घ० ।
६. वर्तनेन च सशिथिल—घ० । ७. रशनयोः—ख० ।
८. चास्रमोक्षेऽस्य—घ० ।

अपराधी नायक के प्रति नायिका का व्यवहार—

दृष्ट्वा स्थितं प्रियतमं सशङ्कितं[1] सापराधमतिलज्जम् ।
ईर्ष्यावचनसमुत्थैः खेदयितव्यो ह्युपालम्भैः ॥ २७५ ॥

जब नायक को अपने सामने शंकित, अपराधी और लज्जित दशा में देखे तो ईर्ष्या-जन्य-वचन और उलाहनों से नायिका उसे खेद (या क्लेश) पहुँचावे ॥ २७५ ॥

न च निष्ठुरमभिभाष्यो[2] न चाप्यतिक्रोधनस्तु परिहासः[3] ।
[4]वाष्पोन्मिश्रैवंच[5]नैरात्मोपन्याससंयुक्तैः ॥ २७६ ॥

परन्तु इस समय न क्रूर शब्दों का उच्चारण हो और न ही अतिशय क्रोधपूर्ण परिहास किया जाए । नायिका अपनी दशा का वर्णन आंसुओं के साथ मिले हुए वचनों के (कथन) द्वारा प्रस्तुत करे ॥ २७६ ॥

मध्याङ्गुल्यङ्गुष्ठाग्रविच्यवात्[6] पाणिनोरसि कृतेन ।
उद्वर्त्तितनेत्रतया[7] प्रततैरभिवीक्षणैश्चापि ॥ २७७ ॥

इस स्थिति को नायिका मध्य अंगुली को अंगूठे से छूकर दोनों की नोक मिलाते हुए तथा हाथ को अपनी छाती पर रखकर आँखों को ऊपर उठाते हुए बार बार देखकर प्रदर्शित करे ॥ २७७ ॥

कटिहस्तविवर्तनया[8] विच्छिन्नतया तथाञ्जलेः करणात् ।
मूर्ध-भ्रमण-निहञ्चितनिपात-संश्लेषणाच्चापि[9] ॥२७८॥

इस समय वह हाथों को कमर पर रखकर घुमाते हुए और अञ्जलि को बार बार बनाते और बिगड़ाते हुए रखे । वह अपने मस्तक को घुमा कर झुकाते हुए या पैरों को देखते हुए रखे ॥ २७८ ॥

---

१. साशङ्कं—ख० । २. मतिभाष्यो—ख० ।
३. परिहार्यः—ख०, परिभाष्यः—घ० । ४. वाष्पोन्निम्नैः—ग० ।
५. वाक्यैः—क (भ०) ।
६. मध्याङ्गुल्योष्ठाग्रविच्यवात् पाणिना हृद्युरःस्थेन—ख०, घ० ।
७. भावैरभिवीक्ष—ख०, नेत्रतया तथा प्रातवीक्षणाच्चापि—घ० ।
८. निविष्टतया विच्छिन्नतया तथाङ्गुलैः—घ० ।
९. भ्रमणनिकुञ्चितनखादिसन्दर्शना—ख० ।

अवहित्थवीक्षणाद्वा[1] अङ्गुलिभङ्गेन तर्जनैर्ललितैः ।
एभिर्भावविशेषैरनुनयनेष्वभिनयः[2] कार्यः ॥ २७९ ॥

और वह 'अवहित्थ' भाव से देखती हुई अपनी अंगुलियों को मरोड़ती हुई एवं सुन्दरतापूर्वक तर्जना देकर अनुनय विनय का उपर्युक्त भावों से अभिनय करे ॥ २७९ ॥

शोभसे साधु दृष्टोऽसि[3] गच्छ त्वं किं विलम्बसे ।
मा मां स्प्राक्षीः प्रियां[4] याहि तत्र[5] या ते हृदि स्थिता ॥ २८० ॥
गच्छेत्युक्त्वा परावृत्य विनिवृत्तान्तरेण[6] तु ।
केनचिद्वचनार्थेन[7] प्रहर्षं योजयेत्[8] पुनः ॥ २८१ ॥

तथा (यह कहते हुए कि) 'आप सुशोभित हो रहे हैं' 'भले दर्शन दिये' 'पधारिये' 'देर क्यों करते हो' 'मुझे मत छुओ' 'अपनी उसी प्यारी के पास जाइये जो तुम्हारे मन में वसी है' 'हटिये जाइये' इत्यादि कहकर तथा परिहास करते हुए लौटकर दूसरे शब्दों द्वारा पुनः हर्ष की योजना करनी चाहिए ॥ २८०-२८१ ॥

रभसगृहणाच्चापि[9] हस्ते वस्त्रे च मूर्धनि ।
कार्यं [10]प्रसादनं नार्या ह्यपराधं समीक्ष्य तु ॥ २८२ ॥

यदि आंचल, हाथ या मस्तक को नायक बलात् थाम ले तो उसके अपराध को देखते हुए नायिका उसका प्रसादन करे ॥ २८२ ॥

हस्ते वस्त्रेऽथ केशान्ते नार्याप्यथ गृहीतया ।
कान्तमेवोपसर्पन्त्या[11] कर्तव्यं मोक्षणं शनैः ॥ २८३ ॥

---

१. वीक्षणेन च—ख०, वीक्षणैरप्युङ्गुलिभङ्गैश्च—ग० ।
२. रस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ख०, ग०, घ०, ।
३. गच्छ कस्मात्—क (च०) ।
४. प्रिया यत्र तत्र—क० ।
५. तव या हृदि संस्थिता—ख०, घ० ।
६. परावृत्ता विनिवृत्योत्तरेण तु—क (भ०) ।
७. केनचिद् व्यसना—ख० । ८. सम्प्रयोजयेत्—क (च०) ।
९. द्वापि—क (भ०) । १०. प्रणमनं—ख०, ग० ।
११. मेवापसर्पं—घ(क-भ०) ।

यदि नायिका नायक के समीप पहुँच कर उसके हाथ, वस्त्र या बालों को ग्रहण कर ले तो समीप आकर स्वयं वह उन्हें धीरे से छुड़वा ले[1] ॥ २८३ ॥

गृहीतयाथ केशान्ते हस्ते वस्त्रेऽथवा[1] पुनः।
यथा[2] प्रियो न पश्येद्धि स्पर्शो ग्राह्यस्तथा स्त्रिया ॥ २८४ ॥

वलद्वारा जब बालों, हाथ या वस्त्र को ग्रहण किया जाय तो नायिका उसके स्पर्श का लाभ लेकर इस प्रकार बतलाए कि उसका प्रिय उसे न समझ पाए ॥ २८४ ॥

पादाग्रस्थितया नार्या तथैवाकुञ्चिताङ्गया[3]।
अश्वक्रान्तेन कर्तव्यं केशानां मोक्षणं शनैः ॥ २८५ ॥

नायिका अपने केशों को अपने प्रियतम के हाथ से पहिले अपने पैरों के अग्र भाग से स्थित होकर तथा अंगों को झुकाते हुए धीरे से छुड़ावे और इसे अश्वक्रान्ता (अपक्रान्ता[2]) चारी के प्रदर्शन के साथ अभिनीत करे ॥ २८५ ॥

अमुच्यमाने[4] केशान्ते सञ्जातस्वेदलेशया।
हुँ हुँ मुञ्चापसर्पेति वाच्यः[5] स्पर्शालसाङ्गया ॥ २८६ ॥

जब उसके केश (ऐसे उद्योग के बाद भी) न छूटें तो वह उसके स्पर्श से थोड़ा स्वेद प्रकट करती हुई 'हुँ हूँ' 'छोड़िये' 'हटिये' आदि वचनों को कहे ॥ २८६ ॥

गच्छेति रोषवाक्येन गत्वा प्रतिनिवृत्य[6] च।
केनचिद्वचनार्थेन वाच्यं[7] यास्यसि नेति च ॥ २८७ ॥

---

(१) द्र० नाट्य-शास्त्र अ० ११ । ३० ।
(२) अपक्रान्ता नारी का लक्षण ना० शा० ११।३० पर दिया जा चुका है ।

---

१. वस्त्रेषु वा—क (भ०) । भी ।
२. हुं मुञ्चेत्यपसर्पन्त्या वाच्यः स्पर्शालसं प्रियः—क, हुं हुं मुञ्चापसर्पेति वासःस्पर्शालिसाङ्गया—ख०, ग्राह्यः स्पर्शस्तथा नार्या न पश्येद्दयितो तथा—क (च०) । ३. किञ्चित् कुट्टमितोत्कट—क० । ४. विमुच्यमाने—ख० ।
५. वासःस्पर्शा—ख० । ६. प्रतिनिवर्त्य—ग० ।
७. त्वालापं सम्प्रयोजयेत्—ख० ।

(नायिका का) क्रोधपूर्ण 'जाइये' शब्द सुनकर नायक पहिले थोड़ी दूर चला जाय और फिर लौटकर नायिका के साथ किसी अर्थवश संभाषण प्रारम्भ करे ॥ २८७ ॥

विधूननेन[1] हस्तस्य हुङ्कारस्सम्प्रयोजयेत् ।
स चावधूनने [2]कार्यः शपथैर्व्याज एव च ॥ २८८ ॥

नायिका हाथ को झिटकाते हुए 'हुंकार' भरे और इस हस्तप्रतिषेध के समय वह उससे किसी बहाने या शपथ को लेकर संभाषण करे ॥ २८८ ॥

अक्ष्णोः संवरणं[3] कार्यं पृष्ठतश्चोपगूहनम्[4] ।
नार्यास्त्वपहृते वस्त्रे नीवीच्छादनमेव[5] वा ॥ २८९ ॥

यदि नायिका का आंचल प्रिय थाम ले तो वह उसकी आगें मीचले या पीछे से उसका आलिंगन करे और वस्त्रों के खींच लेने पर नीवी मात्र का आच्छादन करे ॥ २८९ ॥

तावत् खेदयितव्यस्तु[6] यावत् पादगतो भवेत् ।
ततश्चरणयोर्याते[7] कुर्याद्दूतीनिरीक्षणम् ॥ २९० ॥

नायिका नायक को तब तक तंग करे या चिढ़ावे जब तक वह पैरों पर न गिर जाए और उसके 'पादपतन' के उपरान्त वह दूती की ओर देखे ॥ २९० ॥

उत्थाप्यालिङ्गयेच्चैव[8] नायिका नायकं ततः ।
रतिभोगगता[9] हृष्टा शयनाभिमुखी व्रजेत्[10] ॥ २९१ ॥
एतद्गीतविधानेन सुकुमारेण योजयेत् ।

तब नायिका अपने प्रिय का आलिंगन करे और रति के आनन्द हेतु उसके साथ शयन की ओर बढ़े तो ये सभी बातें गीत तथा सुकुमार नृत्य के साथ (मंच पर) प्रस्तुत की जाय ॥ २९१-२९२ ॥

---

१ विधूननश्च—घ० ।
२. कुर्याच्छपथान् व्याजमेव च—क (भ०) ।
३. संवरणे—क० । ४. मृष्टतलपोप—ख० ।
५. दीपच्छादन–क०, ख० ।
६. स्वेद—ग । ७. पाते—घ० ।
८. तथाप्यालिङ्गयेदेनं—ग०, स्पर्शस्य ग्रहणं कृत्वा—ख० ।
९. हृता—घ०, उत्थाप्यविधिनाहृष्टा—ख० । १०. भवेत्—ख० ।

यदा (था) चाकाशपुरुषं परस्थवचनाश्रयम् ॥ २९२ ॥
यदा शृङ्गारसंयुक्तं रतिसम्भोगकारणम् ।
भवेत् काव्यं[1] तदा ह्येष कर्तव्योऽभिनयः स्त्रिया ॥ २९३ ॥

जब किसी नाटक में 'आकाश-भाषित' किसी दूसरे मनुष्य के कथन पर निर्भर करता हो, जो शृङ्गाररस प्रणयवृत्त या रतिसंयोग का विधायक हो तो उसका स्त्री पात्र के द्वारा उसी प्रकार अभिनय किया जाए ॥ २९२–२९३ ॥

यदन्तःपुरसम्बन्धं काव्यं[2] भवति नाटके ।
शृङ्गाररससंयुक्तं तत्राप्येष विधिर्भवेत् ॥ २९४ ॥

यदि नाटक में अन्तःपुर में होने वाले कार्य या शृंगार-रस से युक्त (जो भी) बातें हो तो उन्हें भी इसी नियम के अनुसार अभिनीत करना चाहिये ॥ २९४ ॥

रंगमंच पर निषिद्ध कार्य—

न कार्यं शयनं रङ्गे नाट्यधर्मं[3] विजानता ।
केनचिद्वचनार्थेन अङ्कच्छेदो[4] विधीयते ॥ २९५ ॥

नाट्य धर्म को जानकर रंगमंच पर 'शयन' न किया जाय परन्तु कुछ आवश्यकता का बहाना प्रदर्शित करते हुए यहाँ 'अंक' को समाप्त कर देना चाहिए[1] ॥ २९५ ॥

यद्वा[5] शयीतार्थवशादेकाकी सहितोऽपि वा ।
चुम्बनालिङ्गनञ्चैव तथा गुह्यञ्च यद्भवेत् ॥ २९६ ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यं[6] नीवीस्रंसनमेव च ।
स्तनाधरविमर्दञ्च[7] रङ्गमध्ये न कारयेत् ॥ २९७ ॥

---

१. भारतीय नाट्यकला का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करने में रंगमंच पर ऐसे निषिद्ध कार्यों का उल्लेख महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

१. कार्यं तथा ग० ।
२. काव्यं नाटकसंश्रयः—ख०, कार्यं नाटकसंश्रयम्—क (च) ।
३. नासधर्मी तु पश्यता—क (भ०) ।
४. तस्य च्छेदं प्रयोजयेत्—क (ग०) ।
५. यदा स्वपेदर्थवशा—क (च०) । ६. दत्तं नखक्षतं छेद्यं ग० ।
७. स्तनान्तर—क० ।

या फिर (आवश्यकता या) प्रयोजनवश कोई पात्र अकेला या सहित भी (रंगमंच पर) शयन कर सकता है। रंगमंच पर चुम्बन, आलिंगन, तथा जो गुप्त कार्य हो उन्हें प्रदर्शित न किया जाए। इसी प्रकार दन्तक्षत, नखक्षत, नीवी का शिथिल करना, ओठ तथा उरोजों का मर्दन भी मंच पर वर्जित है ॥ २९६–२९७ ॥

भोजनं सलिलक्रीडा तथा लज्जाकरञ्च यत् ।
एवं विधं भवेद्यद्यत्तत्तद्रङ्गे न कारयेत्[1] ॥ २९८ ॥

भोजन, जलविहार तथा अन्य लज्जा के उत्पादक कार्य भी रंगमंच पर प्रदर्शित न किये जाए ॥ २९७ ॥

पिता[2]-पुत्र-स्नुषा-श्वश्रू-दृश्यं यस्मात्तु नाटकम् ।
तस्मादेतानि सर्वाणि वर्ज्जनीयानि यत्नतः ॥ २९९ ॥

क्योंकि पिता, पुत्र, सास तथा बहू एक साथ बैठकर नाटक को देखते हैं इसलिये ऐसे अश्लील दृश्य इसमें से प्रयत्नपूर्वक हटाए जाएं ॥ २९९ ॥

वाक्यैः सातिशयैः [3]श्रव्यैर्मधुरैर्नातिनिष्ठुरैः ।
हितोपदेशसंयुक्तैस्तज्ज्ञः[4] कुर्यात्तु नाटकम् ॥ ३०० ॥

नाटककार ऐसे नाटक की रचना करे जिसमें मधुर श्रव्य, तथा अधिक कठोरता से रहित शब्द रहें और जो अच्छे उपदेश के प्रदाता हों ॥ ३०० ॥

[एवमन्तःपुरकृतः कार्यस्त्वभिनयो बुधैः]

(प्रक्षिप्त :—अन्तःपुर में होने वाले कार्यों का भी इसी विधि से अभिनय करना चाहिए।)

प्रिय के प्रति (प्रीति-करावस्था में) सम्बोधन शब्द—

समागमेऽथ नारीणां वाच्यानि मदनाश्रये ।
प्रियेषु वचनानीह यानि तानि निबोधत ॥ ३०१ ॥

स्त्रियों के द्वारा संयोगावस्था या प्रीति की दशा में जिन शब्दों का प्रयोग सम्बोधन हेतु किया जाता है अब उन्हें सुनिये ॥ ३०१ ॥

---

१. योजयेत्—क (भ०)। २. पितृपुत्र—ख, ० क० (च)
३. हृद्यै—ख०, श्राव्यै—क (भ०)।
४. प्राज्ञः कुर्वीत नाटकम्—ख०, हितोपदेशजननैस्तज्ज्ञैः कार्यं नाटकम्— घ० ।

प्रियः कान्तो विनीतश्च नाथः स्वाम्यथ जीवितम् ।
नन्दनश्चेत्यभिप्रीते[1] वचनानि भवन्ति हि ॥ २०२ ॥

ये शब्द हैं—प्रिय, कान्त, विनीत, नाथ, स्वामी, जीवित तथा नन्दन जो नायिका द्वारा आनन्दावस्था में प्रिय के सम्बोधन हेतु प्रयुक्त होते हैं[1] ॥ ३०२ ॥

प्रिय के प्रति रोषावस्था के शब्द—

दुःशीलोऽथ दुराचारः शठो वामो विकत्थनः[2] ।
निर्लज्जो निष्ठुरश्चैव प्रियः[3] क्रोधेऽभिधीयते ॥ ३०३ ॥

क्रोध की अवस्था में नायिका द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द हैं दुःशील, दुराचार, शठ, वाम, विरूपक, निर्लज्ज तथा निष्ठुर[2] ॥ ३२३ ॥

(सम्बोधन-शब्दों के) लक्षण :—

यो विप्रियं न कुरुते न चायुक्तं प्रभाषते ।
तथार्जवसमाचारः सः प्रियस्त्वभिधीयते[4] ॥ ३०४ ॥

प्रिय—जो किसी का कुछ भी अप्रिय न करने वाला हो तथा सरल प्रकृति व मृदु आचार-वाला पुरुष हो उसे (स्वकीय) स्त्री द्वारा 'प्रिय'[3] सम्बोधन किया जावे ॥ ३०४ ॥

अन्यनारीसमुद्भूतं चिह्नं यस्य[5] न दृश्यते ।
अधरे वा शरीरे वा सः कान्त इति भाष्यते ॥ ३०५ ॥

कान्त—जिस पुरुष के ओठ या शरीर पर अन्य स्त्री समागम के चिह्न न दिखाई दें (या विद्यमान न हो) उसे (स्वकीय) स्त्री द्वारा 'कान्त' सम्बोधन दिया जाय ॥ ३०५ ॥

---

१. भाव-प्र० में ऐसे ११ शब्द (दिये गए) है (दे० पृ० १०७।१–७–६)
२. भाव० प्र० ८ ,, ,, ,, (दे० पृ० १०८।१–१०, ११)
३. इन शब्दों के लक्षणों की तुलना के लिए देखिये भा० प्र० पृ० १०७ व १०८

---

१. त्यभिहितो—क (भ०) ।
२. विरूपकः—ग०, घ० ।
३. प्रियं क्रोधेऽभिनिर्दिशेत्—ख०, प्रायः क्रोधेऽभीयते—घ० ।
४. प्रिय इत्युच्यते बुधैः—घ० । ५. यत्र प्रदृश्यते—ख० ।

संक्रुद्धेऽपि[1] हि यो नार्या नोत्तरं[2] प्रतिपद्यते ।
परुषं वा न वदति विनीतः सोऽभिधीयते ॥ ३०६ ॥

विनीत—कठोर (या कड़े) शब्दों का (अपनी प्रिया के साथ) व्यवहार न करने वाले तथा स्त्री के क्रोध करने पर (उत्तरोत्तर भाषण नहीं करने वाले) शान्त रहने वाले पुरुष को स्त्री द्वारा 'विनीत' सम्बोधन दिया जाए ॥ ३०६ ॥

हितैषी रक्षणे शक्तो न मानी न च मत्सरी ।
सर्वकार्येष्वसंमूढः[3] स[4] नाथ इति संज्ञितः ॥ ३०७ ॥

नाथ—जो हितैषी, मान और मत्सर हीन, रक्षक तथा सभी प्रकार के कार्य में चतुर पुरुष हो उसे 'नाथ' सम्बोधन दिया जाता है ॥ ३०७ ॥

सामदानार्थसम्भोगैस्तथा लालनपालनैः ।
नारीं निषेवते[5] यस्तु स स्वामीत्यभिधीयते ॥ ३०८ ॥

स्वामी—जो स्त्री का सेवन साम, (सान्त्वन) अर्थ, संभोग तथा लालन पालन द्वारा करता हो उसे 'स्वामी' सम्बोधन दिया जाए ॥ ३०८ ॥

नारीप्सितैरभिप्रायैर्निपुणं शयनक्रियाम् ।
करोति यस्तु सम्भोगे स[6] जीवितमिति स्मृतः ॥ ३०९ ॥

जीवित—जो स्त्रियों के मान में होने वाले भावों (आशयों) को जान कर उनकी इच्छा के अनुकूल रति तथा शयन क्रिया का सम्पादन करे उसे 'जीवित' सम्बोधन दिया जाता है ॥ ३०९ ॥

कुलीनो धृतिमान्[7] दक्षो दक्षिणो वाग्विशारदः ।
श्लाघनीयः सखीमध्ये नन्दनः[8] सोऽभिधीयते ॥ ३१० ॥

नन्दन—जो कुलीन, नीतिमान्, दक्ष, उदार, संभाषणचतुर तथा सखियों में प्रशंसनीय हो उसे 'नन्दन' सम्बोधन दिया जाता है ॥ ३१० ॥

---

१. संक्रुद्धोऽपि हि यो—ख० । २. नोत्तरोत्तरभाषणम्—ग० घ० ।
३. सम्यक् कार्ये—क (ङ) ।
४. यः स स्वामीति कीर्तितः—घ० ।
५. सम्भजते—घ० । ६. जीवितः सोऽभिसंज्ञितः—घ० ।
७. नीतिमान्—ग० । ८. नन्दनो नाम संज्ञितः—ग०, घ० ।

एते वचनविन्यासा रतिप्रीतिकराः[1] स्मृताः।
तथा चाप्रीतिवाक्यानि गदतो[2] मे निबोधत ॥ ३११ ॥

इन शब्दों को रति तथा उत्कृष्ट प्रीति की दशा में प्रयुक्त किया जाता है। अब मैं उन शब्दों को बतलाता हूँ जिन्हें अप्रीति की (क्रोध की) दशा में प्रयुक्त किया जाता है। आप उन्हें जानिये ॥ ३११ ॥

निष्ठुरश्चासहिष्णुश्च[3] मानी धृष्टो विकत्थनः।
अनवस्थितचित्तश्च[4] दुःशील इति स[5] स्मृतः ॥ ३१२ ॥

दुःशील—जो क्रूर (निष्ठुर), असहिष्णु, मानी, धृष्ट, शेखी मारने वाला (विकत्थन) और शब्दो का बराबर जवाब देने वाला (मुंह जोर) हो उसे 'दुःशील' समझना चाहिए ॥ ३१२ ॥

ताडनं बन्धनञ्चापि योऽविमृश्य समाचरेत्।
तथा परुषवाक्यश्च दुराचारः स उच्यते[6] ॥ ३१३ ॥

दुराचार—जो विना सोचे स्त्री को पीटे या बांध दे और कड़े शब्दों का प्रयोग करे तो उसे 'दुराचार' समझना चाहिए ॥ ३१३ ॥

वाचैव मधुरो यस्तु कर्मणा नोपपादकः[7]।
योषितां[8] किञ्चिदप्यर्थं स शठः परिभाष्यते[9] ॥ ३१४ ॥

शठ—जो मीठी मीठी बातें बनाकर उन्हीं के प्रतिकूल कार्य करता हो और स्त्रियों का कोई भी कार्य न करे तो उसे 'शठ' समझना चाहिए ॥ ३१४ ॥

वार्यते यत्र यत्रार्थे तत्तदेव[10] करोति यः।
विपरीतनिवेशी[11] च स वाम इति संज्ञितः ॥ ३१५ ॥

वाम—जो मना करने पर भी उसी कार्य को बार बार करे या जो बतलाया जाए उसके विरुद्ध (उल्टा) कर दे तो उसे 'वाम' समझना चाहिए ॥ ३१५ ॥

---

१. रतिस्मृति—ग०। २. वदतो—क (भ०)।
३. सहिष्णुर्यो—ग०।
४. उत्तरोत्तरमानी च—ग०, उत्तरोत्तरवादी च—घ०।
५. कथ्यते—क (च)। ६. संज्ञितः—ग०। ७. नोपपादयेत्—ख०।
८. योषितं कश्चिदप्यर्थं—घ०। ९. परिकीर्तितः—घ०।
१०. तं तमेव—ग०, घ०। ११. भवेदभिनिवेशी च—ग०, घ०।

सरसव्रणचिह्नो यः स्त्रीसौभाग्यविकत्थनः ।
अतिमानी तथा स्तब्धो स विरूप[1] इति स्मृतः ॥ ३१६ ॥

विरूप—जो ताजे नखक्षत के चिह्नों से युक्त होकर अपनी स्त्री के रूप का प्रशंसक और अभिमानी हो तथा स्तब्ध रहता हो उसे 'विरूप' समझो ॥ ३१६ ॥

वार्यमाणो दृढतरं यो नारीमुपसर्पति[2] ।
सचिह्नः सापराधश्च स निर्लज्ज[3] इति स्मृतः ॥ ३१७ ॥

निर्लज्ज—जो मना करने या अपमान करने पर भी (उसे) न समझते हुए पुनः उसी नारी के पास अपराध के चिह्न होते हुए भी चला जाए तो उसे 'निर्लज्ज' समझना चाहिए ॥ ३१७ ॥

योऽपराद्धस्तु[4] सहसा नारीं सेवितुमिच्छति ।
अप्रसादनबुद्धिश्च[5] निष्ठुरः[6] सोऽभिधीयते ॥ ३१८ ॥

निष्ठुर—जो अपराधी होने पर भी बलपूर्वक स्त्री सेवन का अभिलाषी हो तथा जिसमें स्त्रियों को प्रसन्न करने की बुद्धि ही न हो तो उसे 'निष्ठुर' समझना चाहिए ॥ ३१८ ॥

एते वचनविन्यासाः प्रियाप्रियविभाषिताः[7] ।
तां तामवस्थामासाद्य[8] विपरीता भवन्ति हि ॥ ३१९ ॥

शब्दों के ये ही प्रयोग हैं जिन्हें जान कर 'प्रिय' या अप्रिय शब्दों का प्रयोग किया जाता है । विभिन्न अवस्थाओं में इनमें से अनुकूल या प्रति-कूल किसी भी शब्द का (अनुकूल या प्रतिकूल दशा में) प्रयोग किया जा सकता है ॥ ३१९ ॥

---

१. विकत्थन इति—क० । २. मभिसर्पति—ग०, घ० ।
३. विलज्ज—ग० । ४. सापराधस्तु रभसा—ख० ।
५. वृत्तिश्च—क (भ०) ।
६. स धृष्ट इति संज्ञितः—क (भ०) ।
७. विभूषिताः—ग०, घ० ।
८. नानावस्थां समासाद्य विपरीतान् समाचरेत् —ग, विचार्य तान् समाचरेत्—घ०; नर्तकीसंज्ञिताः कार्या बहवोऽन्येऽपि नाटके—क ।

एष गीतविधाने तु सुकुमारे[1] विधिर्भवेत्।
शृङ्गार[2] रसवाच्यं स्यात्तत्राप्येष क्रमो[3] भवेत्॥ ३२०॥

और शृङ्गार-रस की (किसी) वस्तु को शब्दों द्वारा प्रकट करने तथा सुकुमार नृत्य और गति में भी यही विधान होगा॥ ३२०॥

एवमन्तःपुरगतः प्रयोज्योऽभिनयो भवेत्।
दिव्याङ्गनानान्तु विधिं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः॥ ३२१॥

अन्तःपुरके विषय में प्रयुक्त किये जाने वाले अभिनय का भी यही नियम है। अब मैं अप्सराओं से सम्बन्धित नियमों का विशद वर्णन करूँगा॥ ३२१॥

मानवी भावों में देवांगना—

नित्यमेवोज्ज्वलो वेषो नित्यं प्रमुदितं मनः।
नित्यमेव[4] सुखः कालो देवीनां[5] ललिताश्रयः॥ ३२२॥

दिव्यांगनाओं का वेष सदा उज्ज्वल होता है, उनका मन सदा प्रमुदित और उनका समय सुख तथा ललित क्रीड़ाओं में व्यतीत होता है॥ ३२२॥

न[6] चेर्ष्या नैव च क्रोधो नासूया न प्रसादनम्।
दिव्यानां[7] दृश्यते पुंसा शृङ्गारे[8] योषितं प्रति॥ ३२३॥

अपने जीवन में दिव्य-पात्रों का अपनी स्त्रियों के प्रति न ईर्ष्या, न क्रोध, न प्रसादन तथा न ही शृङ्गार की अपेक्षा होती है या दिखलायी जाती है॥ ३२३॥

---

१. सुकुमारो—ग०।

२. शृङ्गार-रससंयुक्तं तत्राप्येष क्रमो भवेत्—क०, शृङ्गाररति—क (ङ) शृङ्गार-रसवाच्यः स्यात्—ग०।

३. विधि—ख०, ग०।

४. सुखकालः सदा नित्यं—ख०।

५. देवानां—क०।

६. ईर्ष्या लिप्सा न च क्रोधो नासूया न प्रसाधनम्—ख०।

७. दृश्यते देवपुंसां हि—ख०, दृश्यते द्दिव्यपुंसां—ग०, घ०,

८. शृङ्गारे योषितां तथा—क।

यदा[1] मानुषसंयोगो[2] दिव्यानां योषितां भवेत् ।
तदा[3] सर्वे प्रकर्तव्या ये भावाः मानुषाश्रयाः ॥ ३२४ ॥

परन्तु जब किसी दिव्यांगना का मानव के साथ संयोग (दिखलाना अभिष्ट) हो तब मानवोचित सभी कार्य चेष्टा एवं भावों का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ३२४ ॥

शापभ्रंशात्तु[4] दिव्यानां तथा चापत्यलिप्सया ।
कार्यो[5] मानुषसंयोगः शृङ्गाररससंश्रयः[6] ॥ ३२५ ॥

जब किसी दिव्यांगना का (स्वर्ग से) पतन शाप के कारण या पुत्रप्राप्ति हेतु हो तो (उसका) शृङ्गाररस के उपयुक्त प्रकारों से मानुष पात्र के साथ मिलन बतलाया जाय ॥ ३२५ ॥

पुष्पैर्भूषणजैः शब्दैरदृश्यापि[7] प्रलोभयेत् ।
पुनः सन्दर्शनं दत्वा क्षणादन्तरिता[8] भवेत् ॥ ३२६ ॥

वह अदृश्य होकर भी मनुष्य को अपने पुष्पों, अलंकार की झंकार से लुभाए तथा (प्रकट होकर) अपनी झलक बतलाने के बाद फिर अदृश्य हो जाए ॥ ३२६ ॥

[9]वस्त्राभरणमाल्याद्यैर्लेखसम्प्रेषणैरपि[10] ।

१. अस्मात् पूर्वं क—पुस्तके—ये भावाः मानुष्याणां स्युर्यदङ्गं यच्च चेष्टितम् । सर्वं तदेव कर्त्तव्य दिव्यैर्मानुषसङ्गमे । [तत्सर्वं मानुषीं प्राप्य कार्यं दिव्यैरपि द्विजाः—(क—भ०) ।] इति पद्यमधिकं समुपलभ्यते ।

२. सम्भोगो—क० ।

३. सर्व एव तदा कार्या भावा मानुषसंश्रयाः—ख०; तदा सर्वं प्रकर्त्तव्यं—क (ड) ।

४. शापाद् भ्रंशस्तु द्विव्यानामङ्गनानां यदा भवेत्—घ०, शापभ्रंशावतीर्णानां तथा चापत्यमिच्छताम्—क (भ०) ।

५. मानुषैः सह संयोगः—ख० ।

६. तदेवमुपसर्पणम्—ख०; तथा चैवोप—ग०, घ० ।

७. रदृश्यात्रापि या भवेत्—ग०, घ०; रदृश्यासु विलोभयेत्—क (भ०) ।

८. क्षणादन्तर्हिता—ख—घ; पुनरन्तर्हिता—क (भ०) ।

९. माल्यैस्तु—ग०; दिव्याभरणमाल्याद्यै—क० (भ०) ।

१०. सम्प्रेक्षणैरपि—ख० ।

ईदृशैरुपचारैस्तु[1] समुन्माद्यस्तु[2] नायकः ॥ ३२७ ॥

इनके द्वारा (किसी भी नाट्यकृति में) वस्त्र, अलंकार, पुष्पमालाएँ तथा लेख (पत्र) आदि के प्रेषण द्वारा तथा इसी प्रकार के अन्य उपचारों से नायक के कामोन्माद को धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए ॥ ३२७ ॥

उन्मादनात्समुद्भूतः[3] कामो रतिकरो भवेत्।
स्वभावोपगतो यस्तु नासावत्यर्थं[4] भावकः ॥ ३२८ ॥

उन्माद से प्रसूत काम अतिशय आनन्द-दायी होता है और जो स्वभाविक रूप से प्राप्त हो (काम भाव)वह अतिशय मन-भावन नहीं होता ॥ ३२८ ॥

ये भावाः मानुषाणां स्युर्यद्गतं[5] यच्च चेष्टितम्।
तत्सर्वं मानुषं[6] प्राप्य कार्यं[7] दिव्यैरपि द्विजाः ॥ ३२९ ॥

हे मुनियों, मनुष्यों के जो भाव, जो गति तथा जोचेष्टाएं हों उन्हें मनुष्य के साथ रहने वाले दिव्य पात्रों के द्वारा भी (वैसा ही) प्रदर्शित किया जाए ॥ ३२९ ॥

एवं राजोपचारो हि कर्त्तव्योऽभ्यन्तराश्रयः[8]।
बाह्यमप्युपचारञ्च[9] प्रवक्ष्याम्यथ वैशिके ॥ ३३० ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे 'सामान्याभिनयो'
नाम चतुर्विंशोऽध्याः।

अन्तःपुर में होने वाले 'राजोपचार' का यही विधान अपेक्षित हैं। अब मैं अगले वैशिक अध्याय में बाह्योपचार का वर्णन करूँगा ॥ ३३० ॥

भरतनाट्यशास्त्र का सामान्याभिनय नामक चौबीसवें
अध्याय की प्रदीप व्याख्या सम्पूर्ण।



---

१. रभ्युपगमैं—ख०—घ०, रभ्युपायैस्तु—क (भ०)।
२. समुन्मादस्तु नाटके—ग०। ३. समुत्पन्नः—ख०घ०।
४. नानारत्यर्थभावकः—ख०, गतं चापि नात्यर्थमधिको भवेत्—क (भ)।
५. स्वजनं यच्च—ख०। ६. मानुषात् प्राप्य—ख०।
७. कर्त्तव्यं दैवतैरपि—ख०। ८. ह्यन्तराश्रयः—ख०, ग०।
९. मभ्युपचारश्च व्याख्यास्याम्यथ वैशिके—क (च)।

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

वैशिकोपचाराध्यायः

वैशिकपुरुष-स्वरूप—

विशेषयेत् कलाः सर्वा यस्मात्तस्मात्तु[1] वैशिकः।
वेशोपचारे[2] साधुर्वा वैशिकः[3] परिकीर्तितः॥ १॥

जो पुरुष सभी कलाओं का पारंगत (विशेषयेत्) हो उसे वैशिक पुरुष कहा जाता है। तथा वारांगनाओं के साथ किये जाने वाले उपचारों को (गुरको) भलीभाँति जानने से उसे भी वैशिक[1] पुरुष समझना चाहिए॥१॥

यो[4] हि सर्वकलोपेतः[5] सर्वशिल्पविचक्षणः[6]।
स्त्रीचित्तग्रहणाभिज्ञो[7] वैशिकः स भवेत् पुमान्॥ २॥

---

१. सामान्याभिनयाध्याय में वैशिक का निर्देश अवशिष्ट रूप में बतलाने पर यहां विशेष अध्याय में वैशिक प्रदर्शनार्थ पृथक् अध्याय का रूप दिया गया है। वैशिक शब्द का भरत ने व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ भी दिया है—जिसका व्याख्यान इस प्रकार किया जा सकता है—वेशो-वेशोपचार, तत्र भवः। भवः का अर्थ ही है वेशोपचार का विशेषताओं सहित ठीक तरह से प्रज्ञाता। आचार्य अभिनव गुप्त ने इसकी अन्य व्याख्या भी प्रस्तुत की है—वे कहते हैं— विशेषणं जानाति तेनातिकामयतीति च धात्वर्थो लक्षणमिति हि तद्विदो वैशिकाः (ब० स० पृ० २३२) तथा—वैशिकः वेश्या-कामुकः स च सर्वान् कामान् विशेषयत्यविवैदग्धात् अर्थात् जो उपभोग तथा प्रणय की सारी विशेषताओं से परिचित हो तथा प्रकृत्या कामुक हो उसे या वेश्यागामी पुरुष को जो सभी कार्यों के विदग्धतापूर्ण तरीको से परिचित हो तो वह भी 'वैशिक' कहलाता है। वैशिक का ही दूसरा नाम संभवतः 'विट' है जिसका कालान्तर में नाट्यपरिसर में पर्याप्त विस्तार हुआ।

---

१. यस्मात्तस्माद्वैशेषिकः—घ०।

२. वेश्योपचरणाद्वापि वैशिकः स उदाहृतः—ख०; वेशोपचारतो वापि—ग्र०। ३. वैशिकं परिकीर्तितम्—क (भ०)। ४. यस्तु—क (ङ)।

५. गुणोपेतः—क (ङ)। ६. प्रयोजकः—क (च)।

७. स्त्रीचित्तग्राहकश्चैव—ख०, ग०, घ०।

(और वह पुरुष) जिसने सभी कलाओं का अभ्यास किया हो, जो हस्तकौशल तथा शिल्प[1] का ज्ञाता हो तथा जो इसके अतिरिक्त स्त्रियों के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित करने या ग्रहण करने में समर्थ हो तो उसे भी 'वैशिक' पुरुष जानो।

वैशिक पुरुष के गुण—

गुणास्तस्य तु विज्ञेयाः स्वशरीरसमुत्थिताः[1]।
आहार्याः सहजाश्चेति त्र्यस्त्रिंशत् समासतः॥ ३॥

वैशिक पुरुष[2] में रहने वाले तैंतीस गुण तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। ये (संक्षेप में) (१) शरीर से उत्पन्न होनेवाले (शरीर), (२) वेष से उत्पन्न होनेवाले (आहार्य) तथा स्वाभाविक रूप में विद्यमान रहनेवाले (सहज) होते हैं।

शास्त्रविच्छिल्पसम्पन्नो[2] रूपवान् प्रियदर्शनः।
विक्रान्तो धृतिमाँश्चैव[3] वयोवेषकुलान्वितः[4]॥ ४॥

सुरभिर्मधुरस्त्यागी सहिष्णुरविकत्थनः।
अशङ्कितः[5] प्रियाभाषी चतुरः शुभदः[6] शुचिः॥ ५॥

कामोपचारकुशलो दक्षिणो[7] देशकालवित्।
अदीनवाक्यः स्मितवान्[8] वाग्मी दक्षःप्रियम्वदः॥ ६॥

---

१. कला शब्द से यहाँ आशय है 'शिल्प' का जिनकी संख्या वात्स्यायन में ६४ बतलायी है। कला शब्द का शिल्प शब्द के समानार्थक रूप में बहुलता से प्रयोग मिलता है पर जहाँ साथ साथ दोनों शब्द हों वहाँ 'शिल्प' शब्द का अर्थ कौशल से निर्मित कृतियाँ (crafts) लिया जाना उचित है।

२. वैशिक का लक्षण 'भाव-प्रकाशन' में भी है। तु० भा० प्र०, पृ० १०६,—(१-३-६)

---

१. समुद्भवाः—ख०, ग०, घ०।
२. शीलसम्प—क (च०)
३. वृत्तिमाँश्चैव—क (च); मतिमाँश्चैव—क (ज०);
४. वेषगुणा—ख०, ग०। ५. आशङ्कितः—ख०।
६. सुभगः—ख०, ग०; घ०। ७. कृतज्ञो—क (च)।
८. स्मितवाक्—ग०।

स्त्रीलुब्धः[1] संविभागी च श्रद्धधानो दृढस्मृतिः[2] ।
गम्यासु चाप्यविस्रम्भी मानी चेति हि[3] वैशिकः ॥ ७ ॥

जो शास्त्रों का विज्ञाता (शास्त्रवित्) कला तथा शिल्प में दक्ष (शिल्पसम्पन्न), रूपवान, देखने में प्रिय लगने वाला (प्रियदर्शन), शक्तिशाली, धैर्यसम्पन्न, वेष, वय तथा गुणोंवाला, मधुरस्वभाववाला, सुगन्धित वस्तुओं का प्रेमी, (सुरभिः) त्यागी, सहिष्णु, आत्मश्लाघा-हीन (या शेखी न मारने वाला) निश्शंक या निर्भय, प्रियभाषी, चतुर, सुन्दर, शुभवस्तुओं को देनेवाला (शुभदः पाठ के अनुसार अर्थ), साफ सुथरा (शुचिः), प्रणयोपचार में चतुर, उदार (दक्षिण) देश तथा समय को पहचानने वाला, दीन वचन न कहने वाला (अदीनवाक्), स्मितपूर्वाभिलाषी, संभाषण चतुर, ध्यान रखने वाला (दक्ष), मिष्टभाषी (प्रियवंद स्त्री प्राप्ति का इच्छुक, हिस्सेदारी या विभाग के कार्य में अनिच्छा रखने वाला, श्रद्धा-विश्वास से आपूरित, न बिसरने वाला (या) तेज याददाश्तवाला (दृढस्मृतिः), प्राप्त होनेवाली (गम्या) स्त्रियों पर भरोसा न करनेवाला तथा आत्मसम्मानशाली (मानी) पुरुष 'वैशिक' कहलाता है ॥ ४–७ ॥

अनुरक्तः शुचिर्दान्तो[4] दक्षिणः प्रतिपत्तिमान् ।
भवेच्चित्राभिधायी[5] च वयस्यस्तस्य[6] तद्गुणः ॥ ८ ॥

इसके मित्र में छः गुण होते हैं। वह प्रेम प्रसंग में अनुराग रखता (अनुरक्त) है (स्वभाव से) (२) सफाई पसन्द होता है, (३) दमनशील या आत्म नियन्त्रित (दान्त), (४) ईमानदार (दक्षिण), (५) बुद्धिमान् (प्रतिपत्तिमान्) तथा (६) अनेक विषयों पर बातचीत करने का (चित्राभिधायी) माद्दा रखनेवाला तथा यौवनशाली (इसका) मित्र (वयस्यः) होता है ॥ ८ ॥

---

१. अलुब्धः—ख० ।

२. दृढव्रतः—ख०, ग० । ३. स—ख०, ग० ।

४. दक्षो—क० ।

५. भवेच्छिद्राभिशायी—ग०; छिद्रपिधायी—क (ज०); चित्रविधायी—क (न०); छिद्रावघाती—क (ब०) ।

६. वयस्यास्तस्य षड्गुणाः—ग० ।

दूतीकर्म—

विज्ञानगुणसम्पन्ना कथिनी[1] लिङ्गिनी तथा।
रङ्गोपजीवना[2] चापि प्रतिप्रत्तिविचक्षणा ॥ ९ ॥
प्रातिवेश्या[3] सखी दासी कुमारी कारु-शिल्पिनी[4]।
धात्री पाखण्डिनी चैव [5]दूत्यस्त्वीक्षणिका तथा ॥ १० ॥

दूती कार्य में कोई गुणशालिनी चतुर स्त्री (विज्ञानगुणसम्पन्ना), कथा कहनेवाली स्त्री, (कथनी) भिक्षुणी, (लिंगनी), नटी, (रंगोपजीवना[1]) विचक्षण ज्ञानवाली स्त्री, पडोसिन, सखी, दासी, कुमारी, कारू (धोबिनी) शिल्पिनी (चितेरन स्त्री) धाय, साधुनी (पाषण्डिनी) तथा भविष्यकथन करने वाली स्त्रियाँ (ईक्षणिकाः) लगाई जाएं ॥ ९–१० ॥

प्रोत्साहनेऽथ[6] कुशला मधुरकथा दक्षिणाथ[7] कालज्ञा।
लसहा[8] संवृत्तमन्त्रा दूती त्वेभिर्गुणैः[9] कार्या ॥ ११ ॥

ऐसी स्त्री-जो नायक नायिका के पारस्परिक प्रोत्साहन में चतुर हो, जिसके वचन मधुर हों, जो कुशल (दक्षिण), समय की पहचान रखने वाली, आचरण में मनोहरता या आकर्षण लिए हो (लसहा) और गुप्त रहस्यों के रक्षण में सक्षम हो तो वह दूती बनायी जा सकती है[2] ॥ ११ ॥

---

१. रंगोपजीवना का अर्थ अभिनवगुप्ताचार्य ने चारण या रंजक-स्त्री किया है। (दे० अभि० भा० Vol III, पृ० २३४) 'रगोपजीवनी रंजक स्त्री चारणस्त्री'। कारू तथा शिल्पिनी के साहित्यदर्पण में क्रमशः धोबिन तथा चित्रकार की भार्या अर्थ किये गए हैं (दे० सा० द० परि० ३ का १२८ की वृत्ति। इस सन्दर्भ में दशरूपक भी (२।१६) द्रष्टव्य है।)

२. तुलना—भा० प्र०, पृ० ६४—(१–६ तथा १०)

---

१. कथनी—ग०; कथिका—क (भ०)।
२. श्लोकार्धमेतत् क० पु० नास्ति। ३. प्रतिवेश्या—ग०।
४. दारुशिल्पिका—ख०; ग०।
५. तथा रङ्गोपजीवनी—क०।
६. प्रोत्साहनेषु—ख०, ग०। ७. दक्षिणा च—ख०।
८. लडहा—क०, लटहा—क (य)।
९. दूतीत्येभि—ख०, ग०, दूतीमेवं विधां कुर्यात्—क (च)।

दूती के निषिद्ध गुण—

न[1] जडं रूपवन्तञ्च नार्थवन्तन्त चातुरम् ।
दूतं वाप्यथवा दूतीं बुधः कुर्यात् कदाचन ॥ १२ ॥

बुद्धिमान पुरुष ऐसे दूत या दूती को न नियुक्त करे जो जड़बुद्धि, सुन्दर, समृद्ध या रुग्ण हो[1] ॥ १२ ॥

दूती के कार्य—

तयाप्युत्साहनं[2] कार्यं नानादर्शितकरणम्[3] ।
यथोक्तकथनञ्चैव तथा भावप्रदर्शनम् ॥ १३ ॥

उसके द्वारा अनेक कारणों के बतलाते हुए, (तथा) नायक के कहे गए शब्दों को ठीक उसी तरह कहते हुए और उसकी अवस्था का वर्णन करते हुए नायिका को प्रणय हेतु प्रोत्साहित किया जाए[2] ॥ १३ ॥

कुलभोगधनाधिक्यैः[4] कृत्वाधिकविकत्थनम् ।
दूती[5] निवेदयेत् काम[6]मर्थांश्चैवानुवर्णयेत् ॥ १४ ॥

इसके अतिरिक्त वह नायक के कुल, धन तथा सुख का आधिक्य वर्णन करते हुए प्रशंसा करे और फिर वह नायक के घाम को बतलाती हुई प्रयोजन या पारस्परिक मिलन के विविध उपायों को बतलाए[3] ॥ १४ ॥

नवकामप्रवृत्तायाः[7] क्रुद्धाया वा[8] समागमः ।
नानोपायैः[9] प्रकर्तव्यो दूत्या[10] हि पुरुषाश्रयः ॥ १५ ॥

---

१. तु० सा० द० ३। १२८–१३० तथा काव्या० शासन (हेम०) १।५।२८।
२. तुलना—का० शा० २।५।५८ तथा भा० पृ० ६४। (१–४,१३)
३. (१४) तु०—का० शा० १।५।५८, भा० प्र० ६४,–(१-११,१३)

---

१. मृजारूपनयोपेतमर्थवन्तं जडं तथा । दूतं वाप्यथ दूतीं वा न कुर्याद्वैशिकाश्रये ।।—क (च) । २. तया प्रोत्साहणं—ख०, ग० ।
३. नानादर्शन—ख०; अनुरागानुकीर्त्तनम्—क (च) ।
४. धनाधिक्यं कार्यञ्चैव विकत्थनम्—ख०, ग० ।
५. आभिः—क (ज०) । ६. कार्यमर्थानाञ्चैव भाषणम्—ख०, ग० ।
७. न चाकाम—क०, न च काम—ख० । ८. वापि सङ्गमः—क० ।
९. नानुपायः—क०, नानापायैः—क (य) ।
१०. दूत्याभिपुरुषाश्रये—क (च) ।

प्रणय में अभिभूत होकर प्रथम बार प्रिय-संगम में प्रवृत्त होनेवाली या नायक से क्रुद्ध हो जाने वाली स्त्री के साथ पुरुष के मिलन को अनेक उपायों के द्वारा दूती सम्पन्न करे[1] ॥ १५ ॥

उत्सवे रात्रिसञ्चारे उद्याने मित्रवेश्मनि[1] ।
धात्रीगृहेषु[2] सख्या वा तथा चैव निमन्त्रणे ॥ १६ ॥

व्याधितव्यपदेशेन[3] शून्यागारनिवेशने ।
कार्यः[4] समागमो नृणां स्त्रीभिः प्रथमसङ्गमे ॥ १७ ॥

पुरुष के साथ स्त्री का यह प्रथम मिलन किसी उत्सव के समय, रात्रि में, उद्यान में, मित्र के घर, निमंत्रण के स्थान पर या बीमारी के बहाने से देखने को बुलाकर किसी सूने घर में किया जाता है[2] ॥ १६-१७ ॥

एवं समागमं कृत्वा सोपायं[5] विधिपूर्वकम् ।
अनुरक्तां विरक्तां वा चिह्नैः[6] समुपलक्षयेत् ॥ १८ ॥

अनेक उपायों तथा मार्गों से स्त्री का इस प्रकार मिलन करवाने के पश्चात् उसके अनुराग तथा विराग के चिह्नों को पहचाने ।

मदनातुरा नारी—

स्वभावभावातिशयैर्या[7] नारी मदनार्दिता ।
करोति[8] निभृतां लीलां ज्ञेया[9] सा मदनातुरा ॥ १९ ॥

---

१. (१५) तु० भा० प्र० पृष्ठ ६४ (१, १४, १५)
२. (१६-१७) तुलना भा० प्र० पृ० ६४-(१, १६-१६)

---

१. ज्ञातिवेश्मनि—ख०, ग० ।
२. धात्रीगृहे सखीगेहे—ख० ग० ।
३. समाश्रये—ख०, ग० ।
४. एवं समागमः कार्यो नृणां—ख०, ग० ।
५. नानोपायविधानजम्—ख०, ग० ।
६. लिङ्गाकारैस्तु लक्षयेत्—क०, अनुरक्तं विरक्तञ्च चिह्नैः समुपलंभयेत् —क (य) ।
७. नारी या मदनाश्रया—क०, या नारी मदनातुरा—भ (क०) ।
८. करोत्यनिभृतं लीलां—ख० । ९. नित्यं सा—क० ।

जो नारी अपने स्वभाव तथा भावों के द्वारा प्रणय लीला का प्रकट रूप में आचरण करे और अपना रागात्मक आचरण बार-बार प्रिय के प्रति करती हो तो उसे 'मदनातुरा' नारी समझना चाहिए ॥ १९ ॥

अनुरक्ता नारी—

सखीमध्ये[1] गुणान् ब्रूते स्वधनञ्च[2] प्रयच्छति ।
पूजयत्यस्य[3] मित्राणि द्वेष्टि शत्रुजनं सदा[4] ॥ २० ॥
समागमं[5] प्रार्थयते हृष्टे[6] हृष्यति चाधिकम् ।
तुष्यत्यस्य[7] कथाभिस्तु सस्नेहञ्च निरीक्षते ॥ २१ ॥
सुप्ते च पश्चात् स्वपिति चुम्बिता[8] प्रतिचुम्बति ।
उत्तिष्ठत्यपि पूर्वञ्च तथा क्लेशसहापि च[9] ॥ २२ ॥
समा[10] दुःखे सुखे च स्यान्न क्रोधमुपयाति च ।
एवंविधैर्गुणैर्युक्ता त्वनुरक्ता[11] तु सा स्मृता ॥ २३ ॥

जो अपनी सखियों के बीच अपने प्रिय के गुण बतलाती हो, अपना धन उसे देती हो, नायक के मित्रों का सम्मान करती हो, नायक के शत्रुओं से द्वेष करती हो, सदा मिलन की इच्छा रखती हो, उसे देखकर प्रसन्न हो जाती हो, नायक के साथ सम्भाषण करने पर प्रसन्न एवं संतुष्ट दिखाई देती हो, प्रिय के सोने के पश्चात् सोती हो, चुम्बन करने पर प्रतिचुम्बन करे, प्रिय के पूर्व प्रातः उठ जाती हो, प्रिय के लिये क्लेश सहन करती हो, सुख और

---

१. गुणाः सखीनामाख्याति—ख०, ग०, गुणान् सखीना—घ० ।
२. स्वधनं प्रददाति च—ख० घ० । ३. सम्पूजयति—ख०, ग० ।
४. तथा—ख०, घ० ।
५. गमागमे सखीनां या हृष्टा भवति चाधिकम्—क० ।
६. हृष्टा हृष्यति—ख०, ग०, घ० ।
७. त्यन्यकथाभिश्च—क०; तुष्यम् यस्य—ग० ।
८. प्रथमं प्रतिबुध्यते । परिक्लेशांश्च सहते चुम्बिता प्रतिचुम्बति—ख० ।
९. वा—ग० ।
१०. उत्सवे मुदिता या च व्यसने या च दुःखिता—क० ।
११. यानुरक्ता तु सा भवेत्—ख०, ग०; रक्ता सेयाहिवैशिकी—क (च) ।

दुःख की दशा में समान भाव से रहती हो और क्रोध न करे तो उसे 'अनुरक्ता' समझना चाहिये। ये ही अनुरक्ता स्त्री के गुण भी है[1] ॥ २०–२३ ॥

विरक्ता नारी—

विरक्तायास्तु चिह्नानि[1] चुम्बितास्यं[2] प्रमार्जति।
अनिष्टाच्च[3]कथां ब्रूते प्रियमुक्तापि कुप्यति ॥ २४ ॥

प्रद्वेष्टि[4] चास्य मित्राणि भजतेऽरिजनं तथा।
शेते पराङ्मुखी चापि[5] शयने[6] पूर्वशायिनी ॥ २५ ॥

सुमहत्युपचारेऽपि न तोषमुपयति[7] च।
न क्लेशं सहते चापि तथा कुप्यत्यकारणात्[8] ॥ २६ ॥

न[9] च चक्षुर्ददात्यस्य न चैनमभिनन्दति।
यस्यामेवं[10] विकारास्स्युर्विरक्तां तां विनिर्दिशेत् ॥ २७ ॥

विरक्ता नारी के लक्षण है :—चुम्बन करने पर अपने मुंह को हटा या पोंछ ले, चुभने वाली बातों को कहे, प्रिय शब्दों के बोलने पर भी नाराज हो जाए, प्रिय के मित्रों से द्वेष रखें तथा शत्रुओं का सेवन करती हो, मुंह फेर कर सोने लगे, पहिले ही सो जाए, अतिशय मनुहार के बाद भी न रीझे, दुःख को बिल्कुल न सहे और अकारण ही क्रोध करने लगे, अपने प्रिय को ओर न देखे या उसका अभिनन्दन न करे तो इन लक्षणों और विकारों से उसे 'विरक्ता' समझा जाए[2] ॥ २४–२७ ॥

---

१. तुलनार्थं द्र० भा० प्र० पृ० ११५ तथा सा० द० ३। १११–१२६
२. तुलना० भा० प्र० पृ० ११६ १, ४–५ तथा ७–१२, १४–१६ भी।

---

१. लिङ्गानि ख०। २. चुम्बिता नाभिचुम्बति—क०।
३. करोत्यनिष्टाञ्च कथां—क (य)
४. मित्राणि चास्य प्रद्वेष्टि शत्रुपक्षं प्रशंसति—ख०, तस्य शत्रुं प्रशंसति—ग०, घ०।
५. चैव शय्यायां—ग०, घ०। ६. शय्यास्था—ख०।
७. तुष्यति कथञ्चन—ख०। ८. त्यकरणे—ख०, ग०, घ०।
९. एतत्पद्यार्धं ग—पुस्तके एव लभ्यते।
१०. या स्यादेवं प्रकारा तु—क०।

नारी के हृदय-ग्रहण हेतु प्रयास—

हृदय[1] ग्रहणोपायमस्याः व्यापारचेष्टितम् ।
अर्थप्रदर्शनञ्चैव उपदानं[2] पुनर्भवेत् ॥ २८ ॥

व्यवधीनां परित्यागः भावोपक्षेप एव च ।
अर्थोप[3]न्यास एव[4] स्यादर्थदानन्तथैव च ॥ २९ ॥

ऐसी नारी के पुनः अनुकूल बनाने या हृदयग्रहण करने के लिये ये उपाय किये जाने चाहिए। जिनमें उद्देश्य या कारण का बतला देना अर्थ-प्रदर्शन) धन का प्रस्ताव या धन का प्रदान करना (उपदान) दूती या दूत की सेवाओं का त्याग और प्रतिकूलता या विराग के पदार्थों के (भावोपक्षेप) प्रतिकूलभावों को हटा देना[1] ॥ २८–२९ ॥

विराग के कारण—

दारिद्र्याद् व्याधितो दुःखात् पारुष्या[5] च्छुःश्रवात्तया ।
प्रवासगमनान्मानादतिलोभादतिक्रमात्[6] ॥ ३० ॥

---

(१) भावोपक्षेप का आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार अर्थ है:—
'एषोऽन्यत्र रागीत्यन्यमुखेनाभिधान भावापक्षेः ।'
(अभि० भा० Vol III पृ० २३०)

अर्थात् तुम्हारे विराग के कारण यह अन्यत्र अनुरक्त हो रहा था ऐसी (विपरीत) बात का कथन भावोपक्षेप कहलाता है। (इससे नायिका प्रतिकूलभाव को छोड़ देती है। इसे ही अर्थोपक्षेप भी (पाठान्तर से अर्थो) माना जाता है।

---

१. हृदयग्रहणानि स्युर्व्यापारस्य विचेष्टितम्—ख०, ग०, घ० ।
२. लथा सद्भावदर्शनम्—ख०, ग० ।
३. अकारणमुपन्यासस्तथैव व्याधिता पि च—क०, व्याधितायाः परित्यागो भावोपक्षेप एव च—क (ङ); एवं स्यादुपन्यासस्तथैव च—ख० ।
४. व्याधितो यः परित्यागो—ख०, व्याजात् त्यागोऽथ निकटात्—घ० ।
५. दश्रुतात् तथा—ख० घ० ।
६. गमनोन्मादा—ख०, गमनादेव ह्यतिलोभा—क० ।

अतिवेलागमत्वाच्च[1] तथा विप्रियसेवनात्[2]।
एभिः स्त्रीपुरुषो वापि कारणैस्तु विरज्येत ॥ ३१ ॥

स्त्री या पुरुष का विराग इन कारणों से हो जाता है :—दरिद्रता के कारण, बीमार रहने से, स्वभाव होने से, कठोर शिक्षाहीन या अध्ययन की कमी (दुःश्रवात्) होने से, मान के कारण, अतिशय लोभाभिभूत हो जाने से सदाचार के उलघंन करने से, देर से लौटने पर और प्रतिकूल या अनिष्ट-वस्तु के आचरण या सेवन से[1] ॥ ३०–३१ ॥

स्त्रियां के हृदय ग्रहण हेतु कार्य—

भावग्राहीणि नारीणां कार्याणि मदनाश्रये।
तुष्टिमेति[3] यथा नारी प्राप्यते पुरुषैरथ ॥ ३२ ॥

मदन के सम्बन्ध में स्त्रियों के हृदय को अनुकूल बनाने के लिये मनुष्यों को ऐसे कार्य करना चाहिए जिससे नारी प्रसन्न हो और वह पुरुषों को उपलब्ध हो जाए ॥ ३२ ॥

लुब्धामर्थप्रदानेन कलाज्ञानेन पण्डिताम्।
चतुरां क्रीडनत्वेन[4] ह्यनुवृत्त्या च[5] मानिनीम् ॥ ३३ ॥
[भूषणग्रहणाच्चापि[6] शृङ्गारमुखतो[7] भवेत्।]
पुरुद्वेषिणोमिष्टैः कथायोगैरुपक्रमैः[8] ॥ ३४ ॥
उपक्रीडनकैर्बालां[9] भीरुमाश्वासनेन[10] च।
गर्वितां नीचसेवाभिरुदात्तां शिल्पदर्शनैः ॥ ३५ ॥

---

१. तुलना० भा० प्र० ११७ (१, ८–११)

---

१. अतीवाभिगमाच्चापि—क०। २. विप्रियकारणात्—क०।

३. यैर्न कुप्यति वा नारी क्रुद्धा वापि प्रसीदति—क०; या न च प्रीतये नारी—ग०, यतश्च प्रीयते—घ०।

४. लडहत्वेन—क; चैव चातुर्यैः—ख०।

५. तु भामिनीम्—ख०; तु कामिनीम्—क (म०)।

६. पद्यार्धमेतत् ख० पु० नास्ति। ७. शृङ्गार मुखत्ता—घ०।

८. कथायोगैरुपक्रमेत्—ख०, चेष्टकथाभिः परिसान्त्वयेत्—ग०।

९. वालां तामपि क्रीडन् वै—ख०, बालामपि क्रीडनकैर्भीरुमाश्वास-चाटुभिः—क (ज)। १०. भीतामाश्वास—ग०, घ०।

यदि लोभी स्त्री हो तो उसे अर्थ देकर, पण्डिता स्त्री को अपने कला ज्ञान और शास्त्रज्ञान बतला कर, चतुर महिला को क्रीड़ा[1] के द्वारा, मानिनी स्त्री को उसकी इच्छा के अनुकूल आचरण के द्वारा, (भूषणों के प्रदान करने तथा शृंगार के वचनों के आरंभ के द्वारा) पुरुषों से नफरत करने वाली स्त्री को उसकी पसंद की कहानियाँ सुनाते हुए, बाला स्त्री को उपकरण प्रदान कर, भीता स्त्री को आश्वासन के द्वारा, गर्विणी स्त्री को अतिशय झुककर उसकी सेवा (पादपतन) आदि के द्वारा और उदात्त भाववाली महिला को कला वैदग्ध्य प्रदर्शित करते हुए अनुकूल या वश में किया जा सकता है ॥ ३३–३५ ॥

स्त्रियों की त्रिविध प्रकृति—

सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः[1] स्मृता ।
उत्तमा मध्या नीचा[2] वेश्यानान्तु स्वभावजाः[3] ॥ ३६ ॥

सभी स्त्रियां प्रकृति से तीन प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा, तथा अधमा परन्तु वेश्याओं की प्रकृति अपने स्वभाव के अनुसार होती है ॥ ३६ ॥

उत्तमा स्त्री-(स्वरूप)—

या विप्रियेऽपि तिष्ठन्तं[4] प्रियं[5] वदति नाप्रियम् ।
न[6] दीर्घरोषा च तथा कलासु[7] च विचक्षणा ॥ ३७ ॥

---

१. यहाँ मूल में 'चतुरत्वेन' के स्थान पर 'लडहत्वेन' पाठ अभिनवगुप्त सम्मत है। लडहत्वेन का अर्थ है प्रगल्भता के द्वारा। [लडहत्वेन = प्रागल्भ्येन- अ० भा० Vol III पृ० २३८]

---

१. प्रकृतिर्मता—ग०, घ० ।
२. चैव तृतीया चाधमा स्मृता—ख० ।
३. निबोधत—ग० ।
४. निष्टम्भं—ख० ।
५. न वदत्यप्रियं प्रियम्—ग० ।
६. अदीर्घं ग०; न चिरं क्रोधमायाति दोषान् प्रच्छादयत्यपि—ख० ।
७. कलाशिल्प—ग० ।

काम्यते[1] पुरुषैर्यातु कुलभोगधनादिकैः ।
कुशला कामतन्त्रेषु दक्षिणा रूपशालिनी[2] ॥ ३८ ॥

गृह्णाति कारणाद्रोषं विगतेर्ष्या[3] ब्रवीति च ।
कार्यकालविशेषज्ञा सुरूपा[4] सा स्मृतोत्तमा ॥ ३९ ॥

जो स्त्री अपने अप्रियकारी प्रिय को भी कड़े शब्द नहीं बोलती, जिसमें क्रोप स्थायी नहीं रहता, कला और शिल्प में जी विदग्धा हो, जो अपने कुल, सुख और धन के श्रेष्ठ होने के कारण अनेक पुरूषों द्वारा चाही चाए, प्रणयोपचार में चतुर हो, ईमानदार (दक्षिणा) और सुन्दर रूप से शोभित हो, कारणवश क्रोध करने वाली हो, ईर्ष्या रहित संभाषण करने वाली और कार्य तथा अवसर को समझनेवाली एवं सुरूप शालिनी हों तो उसे 'उत्तमा' स्त्री समझना चाहिए[1] ॥ ३७-३९ ॥

मध्यमा स्त्री-स्वरूप—

पुरुषैः[5] काम्यते या तु तथा कामयते च तान् ।
कामोपचारकुशला प्रतिपक्षाभ्यसूयिका[6] ॥ ४० ॥

ईर्ष्यातुरा त्वनिभृता[7] 'क्षीणक्रोधातिगर्विता ।
क्षणप्रसादा[8] या चैष सा नारी मध्यमा स्मृता ॥ ४१ ॥

जो स्त्री पुरूष की कामना करने वाली हो तथा जिसकी पुरूष भी कामना रखते हो, जो प्रणयोपचार में चतुर हो, अपने शत्रुदों से द्वेष रखती हो, जो प्रकट रूप (अनिभृता) ईर्ष्या से अभिभूल हो जाती हो, जिसका क्रोध क्षण स्थायी हो, जो अति घमण्डी और थोड़े प्रयास में रीझ जानेवाली हो तो उसे 'मध्यमा' स्त्री समझना चाहिए[2] ॥ ४०-४१ ॥

---

१. तु० भा० प्र० पृ० १०२-(१-१-५)
२. तु० भा० प्र० पृ० १०२ (१-६-६)

---

१. शीलशोभाकुलाधिक्यैः पुरुषैर्या च काम्यते—क० ।
२. रूपधारिणी—ख० । ३. गतेर्ष्या प्रब्रवीति च—ख०; ग० ।
४. सुभगा—ख०, ग०, घ० ।
५. पुंसः कामयते या तु पुरुषैर्या तु काम्यते—ख० ।
६. अभ्यसूयिनी—क० । ७. चानिभृता—ख०, ग० ।
८. क्षणक्रोधाभिगर्विका—ग० । ९. क्षणं प्रसाद्यते या तु—ख० ।

अधमा स्त्री-स्वरूप—

**[1]अस्थानकोपना[2] या तु दुष्टशीलातिमानिनी ।
चपला[3] पुरुषा चैव दीर्घरोषाऽधमा स्मृता ॥ ४२ ॥**

जो बिना किसी उपयुक्त कारण के ही क्रोध करने वाली हो, जिसकी प्रकृति दुष्ट हो, अतिशय घमण्डी हो, चंचल कठोर वृत्ति वाली हो तथा जिसका क्रोध कभी शान्त न होता हो उसे 'अधमा' स्त्री समझना चाहिए[1] ॥ ४२ ॥

स्त्री की (यौवन दशा में) चार अवस्थाएँ—

**सर्वासां नारीणां यौवनभेदाः[4] स्मृतास्तु चत्वारः ।
नेपथ्य-रूप-चेष्टा-गुणेन[5] शृङ्गारमासाद्य ॥ ४३ ॥**

सभी युवती स्त्रियाँ जब शृङ्गार या प्रणयानंद का आस्वादन करती हों तो उनकी चार स्थितियाँ बनती है—जो उनके वेष (नेपथ्य) रूप, चेष्टा तथा गुणों के द्वारा होती है[2] ॥ ४३ ॥

(यौवन की) प्रथमावस्था—

**पीनोरुगण्डजघना[6] धरस्तनं कर्कशं रतिमनोज्ञम् ।
शृङ्गारसमुत्साहं[7] प्रथमं तद् यौवनं ज्ञेयम् ॥ ४४ ॥**

यौवन की प्रथमावस्था में (जो रति कार्य के लिए उपयुक्त हैं) युवती की जंघाएँ, कपोल, पिंडलियाँ तथा अधर मोटे तथा सुन्दर, उरोज बड़े और कड़े तथा रति के प्रति उत्साह हो जाता है[3] ॥ ४४ ॥

---

१. तु० भा० प्र० पृ० १०२, (१, १०–१३)
२. तु० भा प्र० पृ० १०३ (१–१०)
३. तु० भा० प्र० पृ० १०३ (१, ११–१६)

---

१. अस्थाने—ग० । २. कोपमायाति दुःशीला चाति—ख० ।
३. परुषा प्रतिकूला च—ख० ।
४. यौवनलाभा भवन्ति चत्वारः–ख०; यौवनलीलाश्चतस्रस्स्युः–ग०,घ० ।
५. गुणैस्तु— ग०, घ० ।
६. जघनं स्तनाधरं—क (म०), जघनस्तनाधरं–ख०; स्तनकर्कशं—ग० ।

गात्रं पूर्णावयवं[1] पीनौ च पयोधरौ नतं[2] मध्यम् ।
कामस्य सारभूतं यौवनमेतद् द्वितीयन्तु ॥ ४५ ॥

यौवन की द्वितीयावस्था—(जिसमें रति का श्रेष्ठ सुख प्राप्त होता है) के लक्षणों में युवती के सभी अंग पूर्ण हो जाते हैं, छाती मोटी और कड़ी हो जाती है तथा कमर पतली हो जाती है[1] ॥ ४५ ॥

(यौवन की) तृतीयावस्था—

सर्वश्रीसंयुक्तं[3] रतिकरणोत्पादनं रतिगुणाढ्यम् ।
कामाप्यायितशोभं[4] यौवनमेतत् तृतीयन्तु ॥ ४६ ॥

स्त्रियों में यौवन की तृतीयावस्था आने पर उनमें सभी प्रकार की सुन्दरता पूर्ण रूप में छा जाती है, रति सुख की परम उपलब्धि होती है, वह मादकता और अनेक गुणों से सम्पन्न हो जाती है तथा काम की अतिशय अपेक्षा करने वाली शोभा बन जाती है[2] ॥ ४६ ॥

(यौवन की) चतुर्थावस्था—

नवयौवने व्यतीते तथा द्वितीये तृतीयके[5] वापि ।
शृङ्गार[6]शत्रुभूतं यौवनमेतच्चतुर्थन्तु ॥ ४७ ॥

अम्लानगण्डजघनाधरस्तनं[7] किञ्चिदूनलावण्यम्[8] ।
कामं[9] प्रति नोच्छ्वासं यौवनमेतच्चतुर्थन्तु ॥ ४८ ॥

जब प्रथम, द्वितीय और तृतीय यौवन बीत जाता है तो शृङ्गार भावनाओं की वैरिन चतुर्थावस्था आ जाती है । इस अवस्था में कपोल, जंघाएँ, ओठ

---

१. तु० भा० प्र० पृ० १०४—(१, २–११)
२. तु० भा० प्र० पृ० १०४ (१–२–११)

---

१. पीनावयवं—ग० । २. कृशं—ग०, घ० ।
३. श्रीसम्भृतं रतिकरमुन्मादनं बहु—गुणाढ्यम्—क (य); श्री सम्पूर्णं—ख० ।
४. कामायार्पितशोभं—ख० ।
५. तृतीयजे चापि—ग०, घ० । ६. कामस्य—क (प) ।
७. निर्मांस—ख० ।
८. शुष्कलम्बितकपोलम्—ख०; स्तनशेषगात्रलावण्यम्—ग०, घ० ।
९. कामे च निरुत्साहं—ख०, ग०, कामे मन्दोत्साहं—क (य०) ।

तथा उरोज का सौन्दर्य मलिन हो जाता है, अंगों का लावण्य थोड़ा घट जाता है और रति के प्रति उत्साह नहीं रहता[१] ॥ ४७-४८ ॥

प्रथमावस्था (में नारी) के व्यवहार—

नात्यर्थं क्लेशसहा न कुप्यति[१] न हृष्यति स्त्रीभ्यः[२] ।
सौख्यगुणेष्ववसक्ता नारी नवयौवना ज्ञेया ॥ ४९ ॥

नारी अपनी यौवन की प्रथमावस्था में अतिशय कष्टों का सहन करने में असमर्थ होती है, वह दूसरी स्त्रियों से न तो प्रसन्न होती है न ही अप्रसन्न और वह मनुष्य के सौम्यगुणों पर आसक्त रहती है[२] ॥ ४९ ॥

द्वितीयावस्था (में नारी) के व्यवहार—

किञ्चित् करोति मानं किञ्चित् क्रो[३]धञ्च[४] मत्सरञ्चैव ।
क्रोधे च भवति तूष्णीं यौवनभेदे[५] द्वितीये तु ॥ ५० ॥

नारी अपने यौवन की द्वितीयावस्था में थोड़ा मान, थोड़ा क्रोध और द्वेष करने लगती है और (अपने) क्रोध के समय चुप्पी साध लेती है[३] ॥ ५० ॥

तृतीयवस्था (में नारी) के व्यवहार—

रतिसम्भोगे दक्षा प्रतिपक्षासूयिनी[६] रतिगुणाढ्या ।
[७]अनिभृतगर्वितचेष्टा[८] नारी ज्ञेया तृतीये तु ॥ ५१ ॥

नारी अपने यौवन की तृतीयावस्था में रति तथा सम्भोगजन्य-आनन्द के उपभोग में चतुर हो जाती है, अपनी सौतों से डाह करती है, गुणों

---

१. तु० भा० प्र० पृ० १०४ (१-१३-१४)
२. तु० भा० प्र० पृ० १०४ (१-२-६)
३. तु० भा० प्र० पृ० १०४ (१-१८)

---

१. कुप्यति हर्षमेति सा पत्युः—क (न) प्रतिस्त्रीषु—ख०, ग० ।
२. सौख्यगुणेष्वासक्ता या—भ०, सौम्यगुणेष्वा—क० (ज) ।
३. कोपं—(य०) । ४. क्रोधं समत्सरञ्चैव—ग० ।
५. यौवनमेतद् द्वितीयं तु—ग०, घ० ।
६. प्रतिपन्नासूयिनी गुणाढ्या च—ग० ।
७. अतिधृत—क (च) । ८. वेषा—क (न) ।

से पूर्ण रहती है गर्व और चेष्टाओं का प्रदर्शन तथा प्रकट रूप में करने लगती[1] है।

चतुर्थावस्था (में नारी) के व्यवहार—

चित्तग्रहणसमर्था[1] कामाभिज्ञा त्वमत्सरोपेता[2]।
अविरहमिच्छति [3]नित्यं नारी ज्ञेया चतुर्थे तु ॥ ५२ ॥

नारी (अपने) यौवन की चतुर्थावस्था में पुरुष के चित्त को ग्रहण करने में समर्थ हो जाती है, काम के आस्वादन (की इच्छा) रहने पर भी सौतों के प्रति डाह नहीं रखती और सदा अपने स्वामी के पास बनी रहना (अविरह) चाहती है[2] ॥ ५२ ॥

यौवनभेदास्त्वेते[4] विज्ञेया नाटकेषु[5] चत्वारः।
पुनरेव तु पुरुषाणां[6] कामिततन्त्रे प्रवक्ष्यामि ॥ ५३ ॥

नाटक में नायिकाओं के लिये ये चार अवस्थाएं रहती हैं। अब मैं कामतन्त्र के अनुसार पुरुषों के प्रकार बतलाता हूँ ॥ ५३ ॥

मनुष्यों के पाँच प्रकार—

चतुरोत्तमौ तु मध्यस्तथा[7] च नीचः प्रवृद्धकश्चैव[8]।
स्त्रीसम्प्रयोगविषये[9] ज्ञेयाः पुरुषास्त्वमी पञ्च ॥ ५४ ॥

स्त्रियों के उपचारार्थ पुरुषों के पांच प्रकार बतलाए गये हैं। वे हैं— (१) चतुर, (२) उत्तम, (३) मध्यम, (४) अधम तथा (५) प्रवृद्धक (संप्रवृत्तक)[3] ॥ ५४ ॥

---

१. तु० भा० प्र० पृ० १०५ (१, १–४)
२. तु० भा० प्र० पृ० १०५ (१–१–४)
३. तु० भा० प्र० पृ० ९१ (१–२०)

---

१. पुरुष—ख० ग०। २. प्यमत्सरो—ग०।
३. अविरहितमिच्छति सदा पुरुषं नारी—क०।
४. लम्भा ह्येते—ख०, ग० घ०। ५. नाटके तु—ख०।
६. पुरुषगुणान् कामि–ख; पुरुषाणाञ्च कामतन्त्रे—क०।
७. तथाधमः सम्प्रवृत्तकश्चैव—ग०।
८. प्रवृत्तकश्चैव—क०, प्रवर्तकश्चैव—क (ङ)।
९. स्त्रीणां प्रयोगविषये विज्ञेयाः पुरुषास्त्विमे पञ्च—ग०।

चतुर—

समदुःखक्लेशसहः प्रणयक्रोधप्रसादने कुशलः।
रत्युपचारे[1] निपुणो दक्षश्चतुरः स बोद्धव्यः ॥ ५५ ॥

जो पुरुष सुख और दुःख को समान रूप से सहन करने वाला हो, स्त्रियों के प्रणय जन्य क्रोध के प्रसादन करने में कुशल हो, मधुर वचन वाला तथा रति के उपचार में कुशल हो तो उसे 'चतुर' पुरुष समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

उत्तम—

यो विप्रियं न कुरुते नार्याः[2] किञ्चिद्विरागसंज्ञातम्[3]।
अज्ञातेप्सित[4]हृदयः स्मृतिमान् धृतिमान् स [5]तु ज्येष्ठः ॥ ५६ ॥
मधुरस्त्यागी रागं न[6] याति मदनस्य चापि[7] वशमेति।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते चोत्तमः स[8] पुमान् ॥ ५७ ॥

जो पुरुष स्त्रियों का कुछ भी अप्रिय नहीं करता हो, जो धीरप्रकृति तथा उदातभावोंवाला हों, जो मिष्ट भाषी, आत्मसम्मान रखनेवाला तथा हृदय के अज्ञात भावों का ज्ञाता हो। तथा जो मधुर (आचारवाला) हो, त्यागी हो, आसक्तिरहित हो, काम के वश में न होने वाला हो तथा स्त्रियों के द्वारा अवमानित होने पर विरक्त हो जाने वाला हो तो उसे 'उत्तम' पुरुष समझना चाहिए[1]।

मध्यम—

[9]सर्वार्थैर्मध्यस्थो भावग्रहणं करोति यो[10] नार्याः।
[11]किञ्चिद्दोषं दृष्ट्वा विरज्येत् मध्यमः[12] स भवेत् ॥ ५८ ॥

---

१. तु० भा० प्र० पृ० ०२—(१–१, २) तथा दश रू० २।३ मी।

---

१. योऽर्थी नात्मच्छन्दो दक्ष—क०, प्रत्युपचारे निपुणो—क (ड)।
२. धीरोदात्तः प्रियंवदो मानी—ख० ग०। ३. संजननम्—क(प)।
४. आज्ञातहृदयतत्वो ज्ञेयः—ग०; आज्ञातहृदयेप्सितो—घ०।
५. तथा चैव—क (व)। ६. नयति—घ०।
७. नापि—ग०। ८. स च भवेज्येष्ठः—ग०, घ०।
९. सर्वार्थं—ख०; सर्वावस्थास्वपि सद्—क० (प)
१०. नारीणाम्—क (च)। ११. कश्चि—घ०।
१२. मध्यमोऽयमिति—ख०।

जो पुरुष सभी अवस्थाओं में स्त्रियों के प्रति मध्यस्थ भाव (समान रूप) से ग्रहण करता हो तथा जो स्त्री के किसी दोष का ज्ञान हो जाने पर उससे विरक्त हो जाय तो उसे (भी) मध्यम पुरुष समझना चाहिए ॥५८॥

काले दाता ह्यवमानितोऽपि न क्रोधमतितरामेति।
दृष्ट्वा व्यलीकमात्रं विरज्यते मध्यमोऽयमिति[1] ॥ ५९ ॥

जो पुरुष उचित समय पर अर्थादि पुरस्कार देता हो, अपमान हो जाने पर भी अधिक क्रोध न करे परन्तु किसी दोषपूर्ण (व्यलीक) कार्य का पता चलने पर उससे विरक्त हो जाय तो उसे (भी) 'मध्यम' पुरुष समझना चाहिए ॥ ५९ ॥

अधम—

अवमानितोऽपि नार्या निर्लज्जतया[2]ऽभ्युपैत्यविकृतास्यः।
अन्यतरं[3] सङ्क्रान्तां स्नेहपरावृत्त[4]-भावश्च ॥ ६० ॥
अभिनवकृते व्यलीके प्रत्यक्षं रज्यते दृढतरं यः।
मित्रैर्निवार्यमाणो[5] विज्ञेयः सोऽधमः[6] पुरुषः ॥ ६१ ॥

जो पुरुष वारवार स्त्रियों से अपमानित होने पर भी निर्लज्ज होकर उसी के पास जाता है और अपने मित्र के आग्रह पूर्वक मना करने पर उस स्त्री से जो अन्यत्र अनुरक्त हो उससे और भी अधिक (बदले में) प्रेम करने लगता है, जबकि वह प्रत्यक्ष रूप में उसका अपने प्रति विरक्ति का भाव जान चुका होता है तो उसे 'अधम' प्रकृति का पुरुष समझना चाहिए ॥ ६०–६१ ॥

सम्प्रवृद्धक (संप्रवृत्तक)—

अविगणितभयामर्षो[7] मूर्खप्रकृतिः[8] प्रसक्तहासश्च[9]।
एकान्तदृढग्राही निर्लज्जः[10] कामतन्त्रेषु ॥ ६२ ॥

---

१. मोऽयमपि—ग०।
२. निर्लज्जतयोपसर्पति य एनाम्—ग०, घ०।
३. सङ्क्रान्तान्तरमन्यस्नेह—ग०। ४. मन्यस्नेह—ग०, घ०।
५. सुहृदापि वार्यमाणो ख०। ६. सोऽधमो नाम—ख०।
७. अविगलित—क (ब); अवगणित—क० (ज)।
८. मूर्खः प्रकृतिप्रकृष्टभावश्च—ग०, घ०।
९. प्रयुक्तहासश्च—क (ब)। १०. निर्व्याजः—घ०।

रतिकलहसम्प्रहारेष्वकर्कशः[1] क्रीडनीयकः स्त्रीणाम् ।
एवंविधस्तु[2] तज्ज्ञैर्विज्ञेयः सम्प्रवृद्धस्तु[3] ॥ ६३ ॥

वह मनुष्य जो स्त्रियों के भय या क्रोध की परवाह नहीं करता हो, मूर्ख प्रकृति का हो, स्त्रियों को अपने मोहक रूप द्वारा हँसाने वाला या उनकी हंसी का बार बार पीछे पड़ने पर भी निर्लज्ज होकर आसक्ति को न छोड़ने वाला, रतिप्रहार में अकर्कश, शिथिल मनवाला मनुष्य हो तो उसे 'सम्प्रवृद्धक' (सम्प्रवृत्तक) समझना चाहिए ॥ ६२–६३ ॥

स्त्रियों की अनुकुलता के हेतु (मनोवैज्ञानिक पद्धति से) उपसर्पण—

नानाशीलाः[4] ज्ञेया गूढार्थहृदयेप्सिताः[5] ।
विज्ञाय तु[6] यथासत्वमुपसर्तेत्तथैव ताः ॥ ६४ ॥

स्त्रियों की विभिन्न प्रकृति होती हैं और उनने चित बड़े ही रहस्यमय (गूढ़) होते हैं, अतएव पहिले उनके सत्व (या आशय) को उचित प्रकार से समझ कर फिर उनके समीप जाना चाहिए ॥ ६४ ॥

भावाभावौ विदित्वाथ तत्र[7] तैस्तैरुपक्रमैः ।
पुमानुपचरेन्नारीं कामतन्त्रं समीक्ष्य तु ॥ ६५ ॥

मनुष्य को कामतन्त्र के अनुसार उनकी चेष्टाओं से अनुराग और विराग (भावाभाव) को समझ कर तब फिर उन उन उपायों द्वारा प्रयत्न पूर्वक स्त्रियों के प्रति उपसर्पण करना चाहिए ॥ ६५ ॥

साम चैव[8] प्रदानञ्च भेदो[9] दण्डस्तथैव च ।
उपेक्षा चैव कर्तव्या नारीणां विषयम्प्रति ॥ ६६ ॥

---

१. सम्प्रहारेषु कर्कशः—ग० ।
२. एवंविधो विधिज्ञै—ग०, घ० ।
३. सम्प्रवृत्तः स्यात्—घ० ।
४. लीलाः—क (ढ) ।
५. गूढार्थहृदयाश्च ताः— ग०, घ० ।
६. तथा तत्वमुपसर्पेत्तु ताः बुधः—ग०, घ०, तु ताः पुनः—क० (न०) ।
७. तु ततस्तै—ग०, घ० ।
८. चोपप्रदान—क० ।
९. दण्डो भेद—क (य०) ।

ये उपाय है जिनके द्वारा स्त्रियों को अपने अनुकूल बनाया जाय उनके नाम है—(१) साम, (२) प्रदान, (३) भेद तथा (४) दण्ड[1] ॥६६॥

साम—

तवास्मि मम चैवासि[1] दासोऽहं त्वञ्च मे प्रिया ।
आत्मोपक्षेपणकृतं[2] यत्तत्सामेति[3] कीर्तितम् ॥ ६७ ॥

किसी के प्रति, अपना यह भाव शब्दों द्वारा प्रकट करना कि—मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरी हो, मैं तुम्हारा और तुम मेरी प्रिया हो आदि तो वह 'साम' कहलाता है ।

प्रदान—

काले काले प्रदातव्यं धनं विभवमात्रया ।
यन्निमित्तान्तरकृतं[4] प्रदानं नाम तत् स्मृतम् ॥ ६८ ॥

अपने वैभव के अनुसार समय समय पर आवश्यकतानुसार 'धन' देना हो तथा किसी अन्य बहाने से धन का भेजना भी 'प्रदान' समझना चाहिए[2] ॥ ६८ ॥

भेद तथा दण्ड—

भेदः स्यात्तत्प्रियस्येह सोपायं[5] दोषदर्शनम् ।
बन्धनं ताडनञ्चापि[6] दण्ड इत्यभिधीयते ॥ ६९ ॥

किसी के अपराध (या दोषों को) इस प्रकार रखे कि वे सचमुच हुए हों 'भेद' कहलाता है तथा किसी को बाँधना या पीटना 'दण्ड' कहलाता है ।

---

१. तु० भा० प्र० पृ० २१४ (१, ७)। ये ही साम आदि अर्थशास्त्र के पारिभाषिक शब्द भी है ।

२. आचार्य अभिनवगुप्तपाद का मत है कि 'प्रदान' किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर, प्रसन्नता से या किसी कष्ट की दशा में सहायतार्थ भी दिया जाता है।

---

१. चैव त्वमहं ते—ग०, घ० ।
२. युतं—क (न०) । ३. तत्सामेत्यभिधीयते—ग०, घ० ।
४. निमित्तान्तरसम्भूतं—ख०; सनिमित्ता-ग०; नियुक्तान्तर-क (ज०)
५. प्रदानं कोपदर्शनम्—ख । ६. वापि—ग० ।

सामदान आदि के द्वारा वशीभूत होने के लक्षण—

मध्यस्थां[1] मानयेत् साम्ना लुब्धां[2] चोपप्रदानतः ।
अन्यावबद्धभावाञ्च[3] भेदेन प्रतिपादयेत् ॥ ७० ॥

मध्यस्थ स्त्री को साम के द्वारा पुनः अनुकूल किया जा सकता है, लोभी स्त्री को 'प्रदान' द्वारा तथा दूसरे पुरुष में आसक्त स्त्री को 'भेद' के द्वारा वशीभूत किया जाए ॥ ७० ॥

दुष्टाचारे समारब्धे त्वन्यभावसमुत्थिते[4] ।
दण्डः पातयितव्यस्तु[5] मृदुताडनबन्धनैः[6] ॥ ७१ ॥

यदि किसी स्त्री के द्वारा मध्य या प्रतिकूल भाव का प्रदर्शन शुरू किया जाय तो उस पर इसके बन्धन या ताड़न के द्वारा 'दण्ड' का[1] प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ ७१ ॥

सामादीनां प्रयोगे तु परीक्षणे यथाक्रमम् ।
न स्याद्या[7] च समापन्ना तामुपेक्षेत बुद्धिमान् ॥ ७२ ॥

साम आदि के क्रमशः प्रयोग कर चुकने पर भी स्त्री यदि अनुकूल न हो या वश में न आए तो बुद्धिमान् पुरुष उसकी उपेक्षा करे ॥ ७२ ॥

---

१. अभिनवगुप्त का मत है कि प्रतिकूल भाव होने की दशा में स्त्री को किसी अन्यप्रदेश में भेज देना या दूसरे परिचित सम्बन्धी के पास ले जाना भी इस दण्ड का (उचित) उपाय होता है ।

---

१. मध्यस्थां—ग०, घ० ।

२. लुब्धामर्थं—ग०, घ० ।

३. भावायां भेदनं—क (प०) ।

४. मध्यभावे—ग० ।

५. पातयितव्यो हि—ग० ।

६. अतः परं क-पुस्तके—नायकः पुरुषो वाच्यो नायिकां ताडयेच्च ताम् । ताडयेत्तां बुधो नारीं रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ इतिपद्यमधिकम् ।

७. स्याद्या वशमापन्ना—क (न०); न भवेद्वशगा या तु—ग० ।

स्त्रियों के व्यवहार से उनके मन का अन्दाजा—

मुखरागेण नेत्राभ्यामङ्ग[1]रागविचेष्टितैः[2] ।
द्वेष्यो वापि प्रियो वापि मध्यस्थो वापि योषिताम् ॥ ७३ ॥

स्त्रियों के चेहरे से, नेत्रों से और उसकी शारीरिक चेष्टाओं द्वारा उसकी इष्ट, अनिष्ट या मध्यस्थ वृत्त का ज्ञान हो जाता है ॥ ७३ ॥

वेश्या की (मनुष्यों से धन ऐंठने की) चालें—

अर्थहेतोस्तु वेश्यानां[3] प्रियो वा यदि वाप्रियः ।
गम्य[4] एव नरो नित्यं मुक्त्वा दिव्यनृपस्त्रियः ॥ ७४ ॥

अर्थ पाने के लिये मनुष्य चाहे प्रिय हो या अप्रिय पर सदा वेश्याओं के लिये वह इष्ट ही (अपेक्षणीय ही) रहता[1] है। केवल अप्सराओं पर जो किसी मनुष्य या राजा के गुणों पर आसक्त होती है यह बात लागू नहीं होती ॥ ६४ ॥

द्वेष्यन्तु प्रियमित्याहुः प्रियं[5] प्रियतरन्तथा ।
सुशीलमिति दुश्शीलं गुणाढ्यमिति निर्गुणम् ॥ ७५ ॥

इन वेश्याओं को धन के लिए अप्रिय व्यक्ति भी-जो पहिले इनकी घृणा का पात्र रह चुका हो तो भी वह प्रिय हो जाता है और प्रिय व्यक्ति भी अप्रिय हो जाता है। इनके लिये समय पर दुश्चरित्र भी सच्चरित्र और निर्गुण भी गुणवान् है ॥ ७५ ॥

प्रहसन्ती[7] च नेत्राभ्यां यं दृष्ट्वोत्फुल्लतारका ।
प्रसन्नमुखरागा[8] च लक्ष्यते भावरूपणैः ॥ ७६ ॥

---

१. आचार्य अभिनव-गुप्त का मत है कि वेश्याओं के मन का अन्दाज (भाव से) किसी प्रकार भी पाना अशक्य है।

---

१. नेत्रैर्वा—ग० । २. विज्ञेयो भावचेष्टितैः—क०; विज्ञेयस्त्वङ्ग—ग० ।

३. वेश्यानामप्रियो वा यदि प्रियः—ग०, घ० ।

४. गम्यो हि पुरुषो नित्यं—ग०; नाम्नो हि—क (ढ़); नरो भवति नित्यं तु—क (भ०) ।

५. प्रियमप्यप्रियं तथा—ग०, घ० ।

६. दुःशीलञ्च सुशीलञ्च निर्गुणं गुणवानिति—ग० ।

७. प्रहसन्तीव—ग०, घ० । ८. रागाच्च—क० ।

जिसे देखकर ये अपनी पुतलियों को आनन्द से नाचने लगे और अपनी आँखों के साथ मुंह से मुसकाते हुए प्रसन्न मुख हो तो इसके चेहरों से अनुराग का भाव प्रकट हो जाता है यह समझे ॥ ७६ ॥

भावाभावौ[1] विदित्वेव[2] निरस्तैस्तैरुपक्रमैः[3] ।
यत्नादुपचरेन्नारीं[4] कामतन्त्रं प्रतीक्ष्य[5] तु ॥

(प्रक्षिप्तः—इस प्रकार भाव तथा विराग को उन उन उपायों के प्रयोग द्वारा समझते हुए तथा 'कामतन्त्र' के अनुसार विचार कर उनका उपसर्पण करते हुए प्रयत्नपूर्वक स्त्रियों के साथ व्यवहार किया जाए ।

उपचारबलत्वाच्च[6] विप्रलम्भात्तथैव[7] च ।
तासु निष्पद्यते कामः काष्ठादग्निरिवोत्थितः[8] ॥ ७७ ॥

जब उचित प्रकार से इनके समीप उपसर्पण किया जाय तो उसके बल पर या प्रथम संयोग के बाद थोड़े दिन प्रतीक्षा करवाने पर इनमें स्थित 'मदन' के उद्गम का पता चल जाता है। जैसे काठ से अग्नि का निकलना कालापेक्षी होता है वैसे ही इनमें 'काम' उत्पन्न हो सकता है[1] ॥ ७७ ॥

योषितामुपचारोऽयं यथोक्तो वैशिकाश्रयः[9] ।
कार्यः प्रकरणे सम्यग्यथायोगश्च[10] नाटके ॥ ७८ ॥

हे मुनियों मैंने (इस प्रकार) स्त्रियों के प्रति बरता जाने वाला परम्परागत व्यवहार (जो वैशिक पुरुषों से सम्बन्ध रखता है) पूरी तरह बतलाया है। इसका आवश्यकतानुसार नाटक तथा प्रकरण में उपयोग किया जा सकता है ॥ ७८ ॥

---

१. इसका आशय यही है कि औत्सुक्य के बिना कामाग्नि नहीं बढ़ती और एक बार इस आग के लग जाने पर फिर उसकी शान्ति मुश्किल है।

---

१. पद्यमेतत् ग० घ० पुस्तकयोर्नास्ति । २. विधायैवं—ख० ।
३. ततस्तैस्तै—ख० । ४. उपसर्पेत्तथा नारीं—ख० ।
५. समीक्ष्य—ख० ।
६. फलत्वाच्च—ग० घ०, छलत्वात्तु—क (य०) ।
७. विप्रलम्भकृतेन च—ग०, घ० ।
८. काष्ठादिव हुताशनः—क० (भ०) ९. वैशिकाश्रये—क (ज०) ।
१०. चापि यथायोगं—ग० ।

एवं वेश्योपचारोऽयं[1] तज्ज्ञैः कार्यो द्विजोत्तमाः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि चित्रस्याभिनयं प्रति ॥ ७९ ॥

विदग्ध जन इस वेश्योपचार का उपयुक्त रूप में उपयोग करें। मैं अगले अध्याय में 'चित्राभिनय' के विषय में बतलाऊँगा।

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वैशिकोपचारो[2] नाम पञ्चविंशोऽध्यायः।

भरतनाट्यशास्त्र का 'वैशिकोपचार' (बाह्योपचार) नामक
पच्चीसवें अध्याय की प्रदीप व्याख्या सम्पूर्ण।

---

१. विशेषाचारोऽयं—ख०।
२. बाह्योपचारो नाम—ग०।

षड्विंशोऽध्यायः

अथ चित्राभिनयाध्याय

चित्राभिनय स्वरूप—

अङ्गाद्यभिनयस्येह[1] यो विशेषः क्वचित् क्वचित् ।
अनुक्त उच्यते यस्मात्[2] स चित्राभिनयः स्मृतः ॥ १ ॥

कभी कभी अंग (आदि) से होनेवाले विशेष अभिनय भी अपेक्षित होते हैं। अतएव अंगादि से होनेवाले जिस अभिनय का अभी तक सामान्य परिपाटी से लक्षण नहीं दिया जा सका उस सारे दिये जाने वाले विवरण को 'चित्राभिनय'[1] समझना चाहिए ॥ १ ॥

दिन, रात्रि आदि का अभिनय—

उत्तानौ तु करौ कृत्वा पताके[3] स्वस्तिकं तथा ।
उद्वाहितेन शिरसा तथा चोर्ध्वनिरीक्षणात्[4] ॥ २ ॥
प्रभातं गगनं रात्रिं[5] प्रदोषं दिवसन्तथा ।
ऋतून् घनान्[6] वसन्तांश्च विस्तीर्णांश्च जलाशयान् ॥ ३ ॥

---

१. आचार्य अभिनगुप्त ने सामान्य अभिनय से चित्राभिनय का विभेद बतलाया है—रसात्मक पदार्थों का सामान्य भावभूमि पर किया जाने वाला प्रस्तुतीकरण सामान्याभिनय तथा लोकपरिपाटी में प्रसिद्ध आंगिक अभिनय (करण तथा अंगहार) का विशेष स्वरूप तथा पदार्थो को प्रस्तुत करते हुए किया जाने वाला अभिनय चित्राभिनय है। चित्र का अर्थ है अद्भुत वस्तु। सहसा प्रभाव अर्जित करने तथा नवीनता दिखलाने के लिये इसका अभिनय में सन्निवेश करना 'चित्राभिनय का नाट्यप्रयोग में विशेष स्थान स्वतः निर्दशित कर देता है। भरत के लक्षण में प्रयुक्त 'अंग' शब्द के कारण यहाँ अंगहारों का अभिनय लेना चाहिए। जो चित्राभिनय में समाविष्ट रहता है क्योंकि इनकी अन्यत्र तत्वोंपयोगिता को ही बतलाया गया था अभिनेयता को नहीं पर इनकी अभिनेयता चित्राभिनय से ही परिलक्षित होती है।

---

१. अङ्गाभिनयस्येह—ग०, घ०। २. चित्रः—क०।
३. स्वस्तिकौ पार्श्वसंस्थितौ—क०। ४. निरीक्षितैः—ग० घ०।
५. रात्रिः—क०। ६. घनान्धकारांश्च—ग०।

दिशो ग्रहान् सनक्षत्रान् किञ्चित्स्वस्थश्च[1] यद् भवेत् ।
तस्य[2] त्वभिनयः कार्यो नाना-दृष्टिसमन्वितः ॥ ४ ॥

दोनों हाथों को पताक[1] मुद्रा में सीधे स्वस्तिक करे, उद्वाहित रूप में मस्तक रखकर ऊपर विभिन्न (उचित) द्रष्टियों से देखने पर इनके द्वारा-प्रभाव, रात्रि, प्रदोष, ऋतुएं, बादल, बनान्त प्रदेश, विस्तीर्ण जलाशय, दिशाएँ, तथा ग्रह नक्षत्र, (आदिवस्तु) को वताया जा सकता है ॥ २-४ ॥

भूमिगत पदार्थ—

एभिरेव[3] करैर्भूयस्तेनैव शिरसा पुनः ।
अधोनिरीक्षणेनाथ भूमिस्थान्[4] सम्प्रदर्शयेत् ॥ ५ ॥

इसी मुद्रा में हाथों को रखकर मस्तक को नीचे की ओर झुकाकर रखने पर भूमिस्थ वस्तुओं को वतलाया जाता है ॥ ५ ॥

चन्द्रिका, सुख आदि—

स्पर्शस्य ग्रहणेनैव[5] तथोल्लुकसनेन[6] च ।
चन्द्रज्योत्स्नां सुखं वायुं रसं[7] गन्धश्च निर्दिशेत् ॥ ६ ॥

यदि चांदनी, सुख, वायु, रस तथा सुगन्ध को वतलाना हो तो स्पर्श के साथ इसी मुद्रा वाले हाथ को ऊपर की ओर हिलाते या धुजाते हुए रखना चाहिए ॥ ६ ॥

---

१. पताक, स्वस्तिक तथा उद्वाहित मस्तक के लक्षण क्रमशः ना० शा० अध्याय ९।१७-२६, ९।१३४ तथा ८।२७ पर दिये जा चुके है ।

---

१. स्वस्थं दिव्यार्थमेव वा--क (ब०)

२. अभिनेयं तत्र सर्वं—क (ज०); अनेनाभिनयेन ह्यनेकान् भावान् प्रदर्शयेत्—क (ब) ।

३. अनेनैव क्रमेणेह नानाभावसमाश्रयम्--क (ब०) ।

४. भूमिष्ठं सम्प्रयोजयेत्—ख० ।

५. ग्रहणाच्चैव—ख०; ग्रहणञ्चैव—ग०, घ० ।

६. तथोत्सुकधनेन च—ग० ।

७. रसगन्धौ विनि०—ग० घ० ।

सूर्य, अग्नि आदि—

वस्त्रावगुण्ठनात्[1] सूर्यं रजोधूमानिलांस्तथा[2]।
भूमि-तापमथोष्णञ्च[3] कुर्याच्छायाभिलाषतः ॥ ७ ॥

वस्त्र से मुंह को ढँककर उससे सूर्य, (उड़ती हुई) धूल, धुंआ तथा आग लगने का भाव प्रदर्शित होता है। तथा भूमि का ताप, ऊष्मा आदि को छायायुक्त प्रदेश के सेवन की इच्छा द्वारा प्रकट किया जाए ॥ ७ ॥

दोपहरी का सूर्य—

ऊर्ध्वाकेकरदृष्टिस्तु मध्याह्ने सूर्यमादिशेत्।
उदयास्तगतञ्चैव[4] विस्मयार्थैः[5] प्रदर्शयेत् ॥ ८ ॥

आधी खुली आँखों (आकेकर दृष्टि) से ऊपर देखने पर मध्याह्न का सूर्य बतलाया जाता है। इसी प्रकार विस्मय के भाव द्वारा सूर्य के उदय तथा अस्त को बतलाया जाय ॥ ८ ॥

सुखप्रद पदार्थ—

यानि सौम्यार्थयुक्तानि सुखभावकृतानि च।
गात्रस्पर्शैस्सरोमाञ्चैस्तेषामभिनयो[6] भवेत् ॥ ९ ॥

जो सौम्य और सुखप्रद पदार्थ हों उन्हें शरीर के स्पर्श तथा रोमाञ्च के द्वारा प्रदर्शित किया जाए ॥ ९ ॥

तीक्ष्ण स्वरूप वाले पदार्थ—

यानि स्युस्तीक्ष्णरूपाणि तानि चाभिनयेत्[7] सुधीः।
असंस्पर्शैस्तथोद्वेगैस्तथा[8] मुखविकुण्ठनैः[9] ॥ १० ॥

जो पदार्थ तीक्ष्ण स्वरूप वाले (या दुःखप्रद) हों उन्हें दूर से स्पर्श करते हुए (असंस्पर्श) उद्वेग प्रकट करते हुए और मुंह को झुकाकर रखते हुए प्रदर्शित

१. वक्त्रावकुण्ठनात्—ग०, घ०। २. धूमानलांस्तथा—ग०, घ०।
३. तापं तथा चोष्णं—ग०, घ०।
४. उदयास्तं गता ये च गम्भीरार्थैः—ख०; उदयास्तमने चैव—घ०।
५. गम्भीरार्थैः—ग०। ६. असंस्पर्शैः—क।
७. त्वभिनयेन्नरः—ग०, घ०।
८. अस्पर्शनसमुद्वेगै—ख०; अङ्गस्पर्शैस्तयोद्वेगैः—ग०।
९. विकूणनैः—ख०।

करना चाहिए। (पाठान्तर-उनका शरीर को स्पर्श करते रोमाञ्च तथा स्पर्श के साथ मुंह को फेर कर अभिनय किया जाए) ॥ १० ॥

गम्भीर तथा उदात्त भाव—

गम्भीरोदात्तसंयुक्तानर्थानभिनयेद्[1] बुधः।
साटोपैश्च[2] सगर्वैश्च गात्रैः सौष्ठवसंयुतैः ॥ ११ ॥

गम्भीर तथा उदात्त भावों को बतलाना हो तो सौष्ठवपूर्ण[1] (शरीर के) अवयवों के द्वारा गर्व और वेग सहित शरीर के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ११ ॥

हार तथा माला (आदि)—

यज्ञोपवीतदेशस्थमरालं[3] . हस्तमादिशेत्।
स्वस्तिकौ विच्युतौ[4] हारस्रग्दामार्थान् समादिशेत्[5] ॥ १२ ॥

यदि (मौक्तिक या सुवर्ण) हार तथा पुष्पों की माला बतलाना हो तो दो अराल हस्तों[2] को (ना० शा० ९।८८, ९१) कन्धे पर (यज्ञोपवीत धारण करने के प्रदेश पर) रखकर स्वस्तिक करते हुए हटा ले ॥ १२ ॥

सर्वज्ञता—

भ्रमणेन प्रदेशिन्या दृष्टेः परिगमेन च।
अलपद्मकपीडायाः[6] सर्वार्थग्रहणं भवेत् ॥ १३ ॥

'समग्र' अर्थ या भाव ग्रहण को प्रकट करने में प्रदेशिनी को घुमाकर चारों ओर देखते हुए अलपल्लव[3] मुद्रा वाले हाथ को दबाया जाय ॥ १३ ॥

---

१. 'सौष्ठव' का लक्षण ना० शा० अ० ६।८८-९१ पर देखिये।

२. अराल-हस्त का लक्षण ना० शा० अ० ९।४६ तथा स्वस्तिक हस्त का लक्षण ना० शा० ९।१३४ पर देखिये।

३. अलपल्लव हस्त का लक्षण ना० शा० ९।९० पर देखिये।

---

१. युक्तानेतानाभि—ग०, घ०। २. साहसैश्च—क (ब०)।

३. देशे तु कृत्वारालौ करावुभौ—ख०, ग० घ०।

४. विद्युतौ हस्तौ रन्ध्रदामानि निर्दिशेत्—ग०।

५. निदर्शयेत्—ख०, घ०।

६. पीडनाच्चालपद्मस्य—क (च); अलपल्लवपीडातः—ग०; घ०।

श्राव्य तथा दृश्य पदार्थ—

श्रव्यं[1] श्रवणयोगेन दृश्यं दृष्टिविलोकनैः[2] ।
आत्मस्थं परसंस्थं वा मध्यस्थं वा विनिर्दिशेत् ॥ १४ ॥

यदि किसी श्राव्य तथा दर्शनीय वस्तु को (जो स्वयं, अन्य या मध्यस्थ व्यक्ति से सम्बद्ध हो) बतलाना हो तो कान और आँखों को उसी ओर लगाते हुए उनका अभिनय प्रदर्शित करना चाहिए ॥ १४ ॥

विद्युत् उल्का आदि—

विद्युदुल्काघनरवा[3] विस्फुलिङ्गार्चिषस्तथा[4] ।
त्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैश्च तेऽभिनेयाः प्रयोक्तृभिः ॥ १५ ॥

विद्युत्, टूटते तारे, उल्का, आग के शोले तथा चिनगारी को ढीले शरीर तथा खुली आँखों (फटी आँखों, अक्षिनिमेष) से देखते हुए प्रदर्शित करना चाहिए ॥ १५ ॥

अनिष्टकारी तथा अस्पृश्य पदार्थ—

उद्वेष्टितपरावृत्तौ करौ कृत्वानतं शिरः ।
असंस्पर्शैस्तथानिष्टे[5] जिह्मदृष्टेन[6] कारयेत् ॥ १६ ॥

यदि किसी अनिष्ट तथा अस्पृश्य वस्तु को बतलाना हो तो उद्वेष्टित और परिवृत्त (परावृत्त[1]) करणों को हाथों से प्रदर्शित करते हुए सिर को झुका हुआ और द्रष्टि को टेढ़ी या फिरी हुई (जिह्म) रखते हुए अभिनय करना चाहिए ॥ १६ ॥

---

१. उद्वेष्टित और परावृत्त (परिवर्तित) करणों तथा हस्त-मुद्रा का स्वरूप क्रमशः ना० शा० अ० १।२०८ तथा ६।२१० पर दृष्टव्य ।

---

१. श्राव्यं—ग० ।

२. विचारणैः—ख०; दृष्ठापपातनात्—क (ज) ।

३. घनरवो—ग० घ० ।

४. ङ्गार्चिदीप्तयः—क (ज०) ।

५. असंस्पर्शेन वानिष्टं—ख०, असंस्पर्शात्तथाऽनिष्टं मा स्पृशेति च निर्दिशेत्—क (ज०) ।

६. चिह्नदृष्टेन—ग० ।

लू, गर्मी आदि—

वायुमुष्णं तमस्तेजो[1] मुखप्रच्छादनेन[2] च ।
रेणुतोयपतङ्गाँश्च[3] भ्रमराँश्च निवारयेत् ॥ १७ ॥

गर्म वायु, आकाश का ताप, धूल उड़ना, वर्षा, जुगूनू तथा भँवरों को बतलाने में (अपना) मुँह ढँकते हुए अभिनय करना चाहिए ॥ १७ ॥

सिंह आदि वन्य पशु—

कृत्वा स्वस्तिकसंस्थानौ[4] पद्मकोषावधोमुखौ ।
सिंहर्क्षवानरव्याघ्रश्वापदाँश्च निरूपयेत्[5] ॥ १८ ॥

सिंह, रीछ, वानर, व्याघ्र तथा अन्य इसी प्रकार के (अन्य) वन्य पशुओं को बतलाने में 'पद्मकोष'[1] हस्तों को स्वस्तिक दशा में नीचा मुँह रखते हुए अभिनय करना चाहिए ॥ १८ ॥

गुरुजन की वन्दना आदि—

स्वस्तिकौ त्रिपताकौ च गुरूणां पादवन्दने ।
खटकस्वस्तिकौ[6] चापि प्रतोदग्रहणे[7] स्मृतौ ॥ १९ ॥

यदि पूज्यजन का चरणस्पर्श बतलाना हो तो त्रिपताक[2] हस्तों को स्वस्तिक[2] कर ले और चाबुक आदि ग्रहण करना प्रदर्शित करना हो तो 'कटकामुख[2] हस्त को स्वस्तिक करे ॥ १९ ॥

---

१. पद्मकोष का लक्षण ना० शा० अ० ९।८० पर देखिये ।

२. त्रिपताक तथा स्वस्तिक के लक्षण क्रमशः ना० शा० अ० ९।२६–३२ तथा ९।१३४ मे तथा कटकामुख का वहीं अ० ९।६१–६४ पर देखिये ।

---

१. नभस्तेजो—ग० ।

२. संछादनेन—ख० ।

३. पतङ्गानां भ्रमराणाञ्च वारणम्—ख०, ग०; घ० ।

४. संस्थौ तु—क (घ०) ।

५. निरूपणम्—ख० ।

६. स्वस्तिकौ कटकास्यौ च—ग० घ० ।

७. प्रतोदप्रग्रहादिषु—ख० ।

संख्या—

एकं द्वि[1] त्रीणि चत्वारि पञ्च षट् सप्त चाष्टधा[2] ।
नव वा दश वापि[3] स्युर्गणनाङ्गुलिभिर्भवेत् ॥ २० ॥

दशाख्याश्च शताख्याश्च सहस्राख्यास्तथैव च ।
पताकाभ्यान्तु हस्ताभ्यां[4] प्रयोज्यास्ताः प्रयोक्तृभिः ॥ २१ ॥

एक से दस तक की गणना उंगलियों की उतनी ही संख्या या उंगलियों पर गणना के द्वारा तथा दस, सौ, हजार आदि दसगुनी संख्या को दो पताक हस्तों द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ॥ २०–२१ ॥

दशाख्यगणनायास्तु[5] परतो या भवेदिह ।
वाक्यार्थेनैव साध्यासौ परोक्षाभिनयेन च ॥ २२ ॥

जो संख्या दस या उससे अधिक हो तो उसे परोक्षरूप में अभिनय के द्वारा या प्रत्यक्षरूप में वाक्य के द्वारा प्रकट करना चाहिए ॥ २२ ॥

छत्रध्वज आदि पदार्थ—

छत्र[6] ध्वज पताकाश्च निर्देश्या[7] दण्डधारणात्[8] ।
नानाप्रहरणञ्चाथ[9] निर्देश्यं धारणाश्रयम् ॥ २३ ॥

छत्र, ध्वज, ध्वजदण्ड तथा अनेक-विध शस्त्रों को किसी दण्ड को धारण या ग्रहण करते हुए अभिनीत किया जाय ॥ २३ ॥

स्मरण तथा ध्यान—

एकचित्तो ह्यधोदृष्टिः[10] किञ्चिन्नतशिरास्तथा[11] ।
सव्यहस्तश्च सन्दंशः स्मृते[12] ध्याने वितर्किते ॥ २४ ॥

---

१. द्वे–कग०, घ० । २. चाष्ट वा—ग०, घ० ।
३. वा चैव गणनाङ्गुलिभिः—घ० । ४. हस्ताभ्यामभिनेयाः–ग०, घ० ।
५. संख्यायास्तु दशभ्यस्तु परतोऽभ्यधिका यदा । वाचिकेनैव साध्यासौ–क (ज) ।
६. चित्रध्वज-ग० । ७. निर्देश्यं—ख० ।
८. धारणैः–ग० । ९. स्वधारणैश्च रूप्याणि नानाप्रहरणान्यपि–क (ज) ।
१०. ष्यधो–ग०, घ०,
११. शिरः किञ्चिन्नतं भवेत्–ग०, घ०, शनैराकम्पयेच्छिरः–क (ज) ।
१२. स्मृतौ ध्याने च निर्दिशेत्–घ० ।

स्मरण, ध्यान तथा विचार (वितर्कित) को एकचित्त, आंखों को झुलाकर, सर को थोड़ा नमाते हुए और बांए हाथ को 'सन्दंश'[1] मुद्रा में रखते हुए अभिनीत करना चाहिए ॥ २४ ॥

ऊंचाई व सन्तति-परम्परा-प्रदर्शन—

उद्वाहितं शिरः कृत्वा हंसपक्षौ[1] प्रदक्षिणौ।
अपत्यरूपणे[10] कार्यानुच्छ्रयौ च प्रयोक्तृभिः ॥ २५ ॥

सन्तति (का प्रदर्शन) बतलाना हो तो मस्तक को उद्वाहित[2] और हंसपक्ष[2] हस्तों को दाहिनी ओर ऊँचा उठाकर घुमाते हुए रखे ॥ २५ ॥

अतीत, नष्ट आदि पदार्थ—

अरालश्च[1] शिरहस्थाने समुद्वाह्य[2] तु पामकम्[3]।
गते निवृत्ते[4] ध्वस्ते च श्रान्तवाक्ये[5] च योजयेत् ॥ २६ ॥

अतीत, (काल) गया तथा नष्ट हुआ (व्यक्ति) और श्रान्त पुरुष के वचनों का प्रदर्शन मस्तक को 'अराल'[3] हस्त के सहारे टिकाते हुए अभिनीत करें ॥ २६ ॥

शरद-ऋतु—

सर्वेन्द्रियस्वस्थतया दिक्प्रसन्नतया तथा[8]।
विचित्र[9] भूतलालोकैः शरदन्तु विनिर्दिशेत् ॥ २७ ॥

---

१. सन्दंश हस्तमुद्रा का लक्षण ना० शा० ९।१०९ पर देखिये।

२. उद्वाहित मस्तकका लक्षण ना० शा० अ० ८।२७ तथा हंसपक्षहस्त का स्वरूप ना० शा० अ० ९।१०५ पर द्रष्टव्य।

३. अराल-हस्त का स्वरूप ना० शा० ९।४६-५२ पर देखिये।

---

१. हंसपक्षं तथोर्ध्वगम्–स्व०।

२. अपत्याभिनयं कार्यं–क (ज), प्रासादमुच्छ्रयामानं दीर्घं गर्वञ्च निर्दिशेत्–ख०।

३. कृत्वारालं च शिरसः–स्व०। ४. समुद्वाह्यं–ग०।

५. वामतः–ग०, घ०। ६. निर्वृत्ते–क०।

७. श्रुते–ग०, घ०।

८. प्रसन्नवदनस्तथा-क० प्रसादेन मुखस्य च–क (ज०)।

९. कुसुमालोकैः–ख०, ग०।

सभी इन्द्रियाँ की शान्ति, दिशाओं की निर्मलता तथा विभिन्न पुष्पों को आश्चर्यावह दृष्टि से भूतल पर अवलोकन करने के अभिनय द्वारा 'शरद' ऋतु को बतलाया जाए ॥ २७ ॥

हेमन्त—

गात्रसङ्कोचनाच्चापि सूर्याग्निपटुसेवनात्[1] ।
हेमन्तस्त्वभिनेतव्यः[2] पुरुषैर्मध्यमोत्तमैः[3] ॥ २८ ॥

उत्तम तथा मध्यम (मध्यम तथा अधम-पाठान्तर से अर्थ) पात्रों के द्वारा अपने अंगों को झुकाने सिकुड़ाने तथा सूर्य, आग के साग्रह सेवन करने के (सूर्य, आग तथा गरम वस्त्रों को बतलाने के पाठान्तर से अर्थ) अभिनय द्वारा 'हेमन्त' ऋतु को प्रदर्शित किया जाय ॥ २८ ॥

शिरो-दन्तोष्ठकम्पेन गात्रसङ्कोचनेन च ।
कूजितैश्च[4] ससीत्कारैरधमश्शीतमादिशेत् ॥ २९ ॥

इसीको अधम पात्र सर और ओठों को हिलाने, दांतों को कटकटाने, जोरों से सी सी करने और कराहते हुए प्रदर्शन करें ॥ २९ ॥

अवस्थान्तरमासाद्य[5] कदाचित्तूत्तमैरपि ।
शीताभिनयनं कुर्याद्दैवाद्[6] व्यसनसम्भवम् ॥ ३० ॥

उत्तम पात्र भी किसी विशेष अवस्था या दुर्भाग्यवश कष्ट की दशा में अधमपात्र के समान (इसी प्रकार) शीतार्त्त व्यक्ति का अभिनय प्रदर्शित करें ।

शिशिर—

ऋतुजानाञ्च[7] पुष्पाणां गन्धाघ्राणैस्तथैव च ।
रूक्षस्य[8] वायोः स्पर्शाच्च शिशिरं रूपयेद्बुधः[9] ॥ ३१ ॥

---

१. पटसेव–ख० ग०, तथा शुल्काभिलाषतः–क० (ज०) ।

२. स्त्वभिनेयः स्यात्–ग० । ३. पुरुषैर्मध्यमाधमैः–क०, घ० ।

४. श्वाससीत्कारैः शीतं हीनो विनिर्दिशेत्–ख० ।

५. सम्प्राप्तैरुत्तमैश्च कदाचन–ग०, घ० ।

६. शीतातपाभिनयनं कार्यं–ख; शीताभिनयनं कार्यं दैवव्यसनसम्भवे–ग०, घ० ।

७. मधुदानात्तु–ग०, अनिलस्य सुखस्पर्शाद् ऋतुजानां तथैव च । गन्धाघ्राणेन पुष्पाणां–क (ज०) ।

८. रूक्षाच्च–ग०, घ० । ९. दर्शयेन्नरः–ख ।

पुष्पों की सुगन्ध लेने, आसव-पान तथा तीखी हवा के स्पर्श को प्रदर्शित कर 'शिशिर' ऋतु को अभिनीत करना चाहिए ॥ ३१ ॥

वसन्त—

प्रमोदजननारम्भैरुपभोगैः[1] पृथग्विधैः[2] ।
वसन्तस्त्वभिनेतव्यो नानापुष्पप्रदर्शनात्[3] ॥ ३२ ॥

'वसन्त' ऋतु को आनन्दप्रद वस्तुओं के सेवन, कार्यप्रारम्भ तथा विभिन्न पुष्पों के प्रदर्शन द्वारा अभिनीत करना चाहिए ॥ ३२ ॥

ग्रीष्म—

स्वेदप्रमार्जनैश्चैव[4] भूमितापैः सवीजनैः[5] ।
उष्णस्य[6] वायोः स्पर्शेन ग्रीष्मं त्वभिनयेद् बुधः ॥ ३३ ॥

भूमि के ताप, स्वेद के पोंछने (अपमार्जन); पंखा डुलाने तथा गरम वायु के स्पर्श के द्वारा 'ग्रीष्म-ऋतु' का अभिनय करना चाहिए ॥ ३३ ॥

वर्षा—

कदम्बनीपकुटजैः[7] शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः ।
मेघवातैः[8] सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत् ॥ ३४ ॥

कदम्ब, नीप तथा कुटज पुष्पों के खिलने, हरे घास, इन्द्रगोप कीट, पुरवाई हवा (मेघवात) के सुखद स्पर्श के द्वारा 'वर्षा' ऋतु को अभिनीत किया जाए ॥ ३४ ॥

---

१. आमोदजननैर्गन्धैः—क (ज०)

२. तथोत्सवैः—ग०, घ० ।

३. प्रदर्शनैः—क (ज०) ।

४. स्वेदापमार्जनाच्चापि—ग०; घ० ।

५. सुवीजनैः—ग०, तापोपवीजनैः, स्पर्शनादृतुवायोश्च—क (ज) ।

६. उष्णाच्च वायोः स्पर्शाच्च—ग०, घ० ।

७. कुटपैः—क०, निम्बकुटजैः—ग०, घ० ।

८. कदम्बकैर्मयूराणां प्रावृषं सन्निरूपयेत्—ग० घ०; मेघैर्मयूरनादैश्च प्रावृषं सन्निरूपयेत्—क (ज) ।

वर्षा की रात—

मेघौघनादैर्गम्भीरैर्धाराप्रपतनैस्तथा।[1] ।
विद्युन्निर्घातघोषैश्च वर्षारात्रं[2] समादिशेत् ॥ ३५ ॥

वर्षा ऋतु की रात्रि को बतलाने में गम्भीर मेघों की गर्जना, धारावाहिक दृष्टि, बिजली की कड़कड़ाहट तथा पतन का प्रदर्शन करना चाहिए ।

सामान्य-ऋतुएँ—

यद्यस्य[3] चिह्नं वेषो वा कर्म वा रूपमेव वा ।
निर्देश्यः स ऋतुस्तेन इष्टानिष्टार्थदर्शनात्[4] ॥ ३६ ॥

जिस ऋतु का जो चिह्न, जो वेष, कर्म, द्रश्य तथा स्वरूप हो उसे उचित स्वरूप में चाही तथा अनचाही अवस्था के साथ बतलाना चाहिए ॥ ३६ ॥

एतानृतूनर्थवशाद्दर्शयेद्धि[5] रसानुगान् ।
सुखिनस्तु[6] सुखोपेतान् दुःखार्थान् दुःखसंयुतान् ॥ ३७ ॥

इन ऋतुओं को (कथावस्तु की) आवश्यकता के अनुसार—जो सुखी पात्र हो उन्हें आनन्द की दशा में तथा दुःखी पात्रों को दुख की दशा में बतलाने वाले उचित रस (तथा भावों) के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ३७ ॥

यो[7] येन भावेनाविष्टः सुखदेनेतरेण वा ।
स तदाहितसंस्कारः सर्वं पश्यति तन्मयम् ॥ ३८ ॥

सुख या दुःखप्रद जिस भाव में जो मग्न रहता है उसे उसी भाव में समाए रहने के कारण सारा जगत् भी वैसा ही दिखाई देता है ॥ ३८ ॥

---

१. नादगम्भीरधाराप्रपतनैरपि–ग०, घ० ।
२. वर्षारम्भं–ख०; वर्षरात्रं विनिर्दिशेत्–ग०; घ० ।
३. यद्यच्च–ग०, घ०, यद्यत्र–क (ज०) ।
४. दर्शनैः–क (ज०) ।
५. दर्शयेत् विरहानुगान्–ख; प्रयुञ्जीत यथारसम्–ग०, घ०; प्रयुञ्जीत विचक्षणः–क (ज) ।
६. सुखिनस्तु सुखोत्पन्नान् दुःखितान् दुःखसंयुतान्–ख० ।
७. पद्यमिदम् क–पुस्तके एव ।

भाव—

भावाभिनयनं कुर्याद्विभावानां निदर्शनैः ।
तथैव चानुभावानां भावसिद्धिः[1] प्रवर्तिता ॥ ३९ ॥

विभावों तथा अनुभावों के प्रदर्शन द्वारा 'भावों'[1] को अभिनीत किया जाए। इसी प्रकार अनुभावों को भी क्योंकि भाव की सिद्धि में ये ही अंग रहते हैं।

विभाव—

विभावेनाहृतं कार्यमनुभावेन[2] नीयते[3] ।
आत्मानुभवनं[4] भावो निभावैः परदर्शनम् ॥ ४० ॥

विभावों से सम्बद्ध कार्यों को अनुभावों के द्वारा अभिव्यक्त करना चाहिए क्योंकि स्वयं के भाव तथा दूसरे व्यक्ति को प्रदर्शित किये जाने वाले विभाव[1]-होते हैं ॥ ४१ ॥

गुरुर्मित्रं सखा स्निग्धः सम्बन्धी बन्धुरेव वा ।
आवेद्यते हि यः प्राप्तः[5] स विभाव इति स्मृतः ॥ ४१ ॥

गुरु[2], मित्र, सखा, स्निग्ध, पितृ, मातृ सम्बन्धी या बन्धु रूप में जो भी पात्र (अभिनयार्थ) मंच पर आता है या उचित रूप में सूचित होता है तो यह सभी विभाव कहलाता है ॥ ४१ ॥

---

१. भाव तथा विभाव, अनुभाव आदि के विशिष्ट विवरण ना० शा० अ० ६।१८–३ तथा ६।४–५ पर द्रष्टव्य ।

२. एक व्यक्ति को अनेक भावो में सम्बद्ध करने का यही एक उदाहरण है जिससे एक ही व्यक्ति अपने स्वाभाविक रूप में भी व्यक्तिभेद से अनेक सम्बन्धों को अपने में बनाये रख सकता है तथा उसके स्वरूप में किसी प्रकार की विकृति या विभेद नहीं होता ।

---

१. भावात् सिद्धिः प्रकीर्तिता–ग०, घ० ।
२. मनुभावे निरूपणात्–ख, क, (च०) ।
३. रूप्यते–ग०, घ०,
४. आत्माभिनयनं ख, ग,० ।
५. प्राप्तो विभावः स तु संज्ञितः–ग०, घ० ।

अनुभाव—

यत्वस्य सम्भ्रमोत्थानैरर्घ्यपाद्यासनादिभिः[1] ।
पूजनं क्रियते भक्त्या[2] सोऽनुभावः[3] प्रकीर्तितः ॥ ४२ ॥

और इन व्यक्तियों के आने पर हड़बड़ाकर अगवानी करना, उठना आसन, पाद्य अर्घ्य आदि निवेदन करने तथा आसन देते हुए इनकी (योग्यतानुसार) पूजन (आदि) करना अनुभाव हो जाता है। (पाठा—वाणी तथा सामग्री से जो पूजन की जाए तो उसे अनुभाव जाने) ॥ ४२ ॥

एवमन्येष्वपि ज्ञेयो[4] नानाकार्यप्रदर्शनात्[5] ।
विभावो वापि भावो वा विज्ञेयोऽर्थवशाद् बुधैः ॥ ४३ ॥

नाट्यप्रदर्शन में इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी विभिन्न घटनाओं (कार्यों) को देखते हुए उनके कार्यों से (सम्बद्ध या अभिव्यक्त) विभाव तथा अनुभावों को समझ लेना चाहिए ॥ ४३ ॥

यस्त्वपि[6] प्रतिसन्देशो दूतस्येह प्रदीयते[7] ।
सोऽनुभाव इति ज्ञेयः प्रतिसन्देशदर्शितः[8] ॥ ४४ ॥

(इन नाट्यप्रदर्शनों में) दूत को उसके निवेदन या प्रश्न के उत्तर में जो प्रत्युत्तर दिया जाय तो उसे भी (कार्य रूप होने से) अनुभाव समझना चाहिए ॥ ४४ ॥

एवं[9] भावो विभावो वाप्यनुभावश्च कीर्तितः[10] ।
पुरुषैरभिनेयः[11] स्यात् प्रमदाभिरथापि वा ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार भाव, विभाव तथा अनुभावों का पुरुष तथा स्त्री पात्रों के द्वारा अभिनय किया जाए ॥ ४५ ॥

---

१. सम्प्रभागो–ख; सम्भ्रमो स्थानमर्घ्यासनपरिग्रहः–ग०, घ०; अर्घ्यासनपरिग्रहैः–क (ज०) ।

२. वाचा–ग०, घ० । ३. स्वभाव इति कीर्तितः–क (ज) ।

४. तथा—ख० । ५. नानाकार्यत्वदर्शनात्—ग०, घ० ।

६. यश्चापि—ग०, घ० । ७. प्रतीयते—ग०, घ० ।

८. परसन्देश—क (ज०) ।

९. एवं विभावो भावो वाप्यनुभावोऽथवा पुनः—ख० ।

१०. स्तथैव च—ग०, घ० ।

११. अभिनेयस्तु पुरुषैः प्रमदाभिस्तथैव च—ख० ।

अभिनय के सामान्य निर्देश—

स्वभावाभिनये स्थानं पुंसां कार्यन्तु वैष्णवम् ।
आयतं वावहित्थं[1] वा स्त्रीणां कार्यं[2] स्वभावतः ॥ ४६ ॥

यदि पुरुष अपनी स्वाभाविक दशा का अभिनय करे तो उसे 'वैष्णव-स्थान'[1] म तथा स्त्री को आयत या अवहित्थ स्थान में कार्य के औचित्य के अनुसार स्थित रहना चाहिए ।

प्रयोजनवशाच्चैव शेषाण्यपि भवन्ति[3] हि ।
नाना[4]-भावाभिनयनैः प्रयोगैश्च पृथग्विधैः ॥ ४७ ॥

(परन्तु) किसी विशेष प्रयोजनवश दूसरे (शेष) स्थानों को भी विभिन्न भावों का अभिनय करते हुए विभिन्न (प्रकार के) रूपों में ग्रहण किया जा सकता है ।

पुरुष तथा महिलाओं की आंगिक चेष्टाएं—

धैर्य[5]-लीलाङ्गसम्पन्नं[6] पुरुषाणां विचेष्टितम्[7] ।
मृदु-लीलाङ्गहारैश्च[8] स्त्रीणां कार्यन्तु चेष्टितम् ॥ ४८ ॥

पुरुषों की चेष्टायें धैर्य तथा लीलापूर्ण अंगहारों के द्वारा तथा स्त्रियों की चेष्टाएँ कोमलता तथा सुकुमार-अंगहारों के द्वारा प्रदर्शित या प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ४८ ॥

करपादाङ्गसञ्चारास्त्रीणां[9] तु ललिताः स्मृताः ।
सुधीरश्चोद्धतश्चैव[10] पुरुषाणां प्रयोक्तृभिः ॥ ४९ ॥

---

१. वैष्णव, आयत तथा अवहित्थ स्थान का विवरण ना० शा० अध्याय ११।५१–५२, तथा १३।१५७-१७० पर देखिये ।

---

१. चावहित्थं—ग० । २. कार्यंप्रयोगतः—ग०, घ० ।
३. स्थानान्यन्यानि योजयेत्—ख०, ग० ।
४. नानाभावानभिनयैः नित्यं कार्यं प्रयोक्तृभिः—क० (ज०) ।
५. स्थैर्यं—क (प०) । ६. लीलाङ्गहारं स्यात्—ख० ।
७. तु चेष्टितम्—ख० । ८. हारन्तु कार्यं स्त्रीणां तु—ख० ।
९. हस्तपादाङ्गसञ्चारः स्त्रीणां सललितो भवेत्—ख; करपा‥‥तु ललितो ‥‥ग०, घ० ।
१०. सधीरस्तु तोऽपि स्याद् व्यापारः पुरुषाश्रयः—ख० ।

स्त्रियों के हाथ, पैर, तथा अंगों का चालन लालित्य पूर्ण होना चाहिए परन्तु पुरुषों के अंगों का चालन (आवश्यकतानुसार) धैर्य तथा औद्धत्य से युक्त रहें ॥ ४९ ॥

यथारसं[1] यथाभावं स्त्रीणां भावप्रदर्शनम्।
नराणां प्रमदानाञ्च भावाभिनयनं[2] पृथक्।
भावानुभावनं[3] युक्तं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ॥ ५० ॥

स्त्रियों के भावाभिनय रस तथा भाव के अनुरूप रखे जाते हैं तथा पुरुष तथा स्त्रियों के द्वारा वाक्यार्थों (संवादों) का एक ही प्रकार से अभिनय नहीं होना चाहिए। अब मैं विस्तार से विभाव तथा अनुभावों से युक्त इन भावों का अभिनय-विधान बतलाता हूँ ॥ ५० ॥

हर्ष—

आलिङ्गनेन गात्राणां सस्मितेन च चक्षुषा।
तथोल्लुकसनाच्चापि[4] हर्षं सन्दर्शयेन्नरः ॥ ५१ ॥

अपने इष्टजन के शरीर के आलिंगन, मुस्कुराहट, खिली हुई आँखों तथा रोमांच के द्वारा अपने हर्ष को (अभिनेता द्वारा) प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ५१ ॥

क्षिप्र[5]सञ्जातरोमाञ्चा[6] बाष्पेणावृतलोचना।
कुर्वीत नर्तकी हर्षं प्रीत्या[7] वाक्यैश्च सस्मितैः ॥ ५२ ॥

अभिनेत्री (नर्तकी) इसी हर्ष को सहसा रोमाञ्चपूर्ण अंगों, अश्रुपूर्ण नेत्रों, मुसकुराहट भरे वचनों तथा प्रीतिपूर्ण व्यवहार से प्रकट करे ॥ ५२ ॥

---

१. पद्यार्धमेतत् ग—पुस्तके नास्ति।
२. शब्दार्थाभिनयं—ग० घ०।
३. भावानुभावसंयुक्तं—ग०।
४. तथाल्पकथनाच्चापि हर्षं संयोजयेद्बुधः—ग०।
५. क्षिप्रं—ख०; ग०।
६. रोमाञ्चात्—क०।
७. प्रीतियुक्ता स्मितेन च—क (प०)।

क्रोध—

उद्धृत्तरक्तनेत्रश्च[1] सन्दष्टाधर एव च।
निश्वासकम्पिताङ्गश्च क्रोधञ्चाभिनयेन्नरः[2] ॥ ५३ ॥

चढ़ी और घूमती हुई लाल आंखों और ओठों के चवाने, जोर से सांस लेने तथा अंगों के कम्पन के द्वारा 'क्रोध' को अभिनेता (पुरुषपात्र) प्रदर्शित करे ॥ ५३ ॥

नेत्राभ्यां[3] वाष्पपूर्णाभ्यां चिबुकौष्ठप्रकम्पनात्[4]।
शिरसः कम्पनाच्चैव भ्रुकुटी-करणेन च ॥ ५४ ॥
मौनेनाङ्गुलिमङ्गेन[6] माल्याभरणवर्जनात्।
आयतस्थानकस्थाया[7] ईर्ष्या-क्रोधे[8] भवेत् स्त्रियाः ॥ ५५ ॥

स्त्रियों के (अभिनेत्री) ईर्ष्या से उत्पन्न क्रोध के अभिनय में आँखों में आँसू लाते हुए ओठ ठुड्डी तथा मस्तक को कंपाना, भ्रुकुटी चढ़ाना, मौन धारण करना, उगलियां को तोड़ना, पुष्पमाला तथा गहनों को निकाल देना तथा 'आयत-स्थान'[1] में स्थित रहना प्रदर्शित किया जाता है ॥ ५४-५५ ॥

विषाद—(दुःख)

निश्वासोच्छासबहुलैरधोमुखविचिन्तनैः।
आकाशवचनाच्चापि[9] दुःखं पुंसां[10] तु योजयेत् ॥ ५६ ॥

पुरुष पात्रों का 'विषाद' अतिशय सांस तथा उसांस लेने, नीचा मुंह कर सोचने तथा आकाश की ओर देखने के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ५६ ॥

---

१. आयतस्थान का लक्षण ना० शा० १०।१५७–१७० पर द्रष्टव्य।

---

१. नेत्रञ्च संदंशेनाधरस्य च—ग०, घ०।

२. क्रोधं त्वभिनयेद् बुधः ग०, घ०।

३. वाष्पपूर्णेक्षणाच्चैव—ग०, घ०।

४. प्रकम्पनम्—ख०; प्रदर्शनात्—ग०। ५. दर्शनेन च—ग०।

६. नाङ्गुलिभागेन—ग०।

७. स्थानकच्छाया—ख०। ८. ईर्ष्याक्रोधो—ग०, घ०।

९. वीक्षणाच्चापि—ग०। १०. पुंसां प्रयोजयेत्—ग०, घ०।

रुदितैः[1] श्वसितैश्चैव शिरोऽभिहननेन च ॥
भूमिपाताभिघातैश्च[2] दुःखं स्त्रीषु प्रयोजयेत् ॥ ५७ ॥

स्त्रियों का विषाद रोने, जोर से सांस लेने, सर पीटने, भूमि पर लोटने . तथा शरीर को पृथ्वी पर गिराने, के द्वारा प्रदर्शित किया जाए ॥ ५७ ॥

आनन्दजं[3] चार्तिजं वा ईर्ष्यासम्भूतमेव वा ।
यत् पूर्वमुक्तं रुदितं[4] तत् स्त्रीनीचेषु योजयेत् ॥ ५८ ॥

आनन्द, ईर्ष्या तथा पीड़ा में उत्पन्न होने वाले आंसुओं का पहिले जो वर्णन किया गया वे स्त्री तथा अधमपात्रों की इन अवस्थाओं में (भी) प्रदर्शित किये जाए ॥ ५८ ॥

भय—

सम्भ्रमावेग[5]चेष्टाभिश्शस्त्रसम्पातनेन[6] च ।
पुरुषाणां भयं कार्यं धैर्यावेगबलादिभिः[7] ॥ ५९ ॥

पुरुषों का भय सम्भ्रम आवेग, हाथ से शस्त्रों के गिर जाने, धैर्य तथा आवेग आदि के अभिनय द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ५९ ॥

चलतारकनेत्रत्वाद्[8] गात्रैः स्फुरितकम्पितैः ।
सन्त्रस्तहृदयत्वाच्च पार्श्वाभ्यामवलोकनैः[9] ॥ ६० ॥

---

१. रुदितैश्च स्मितैश्चैव उरोऽभिहन—ग०, घ० ।

२. भूमिहस्ताभि—ख, भूमिधाताभि—ग०, घ० ।

३. आनन्दाश्रुसमुत्पन्नमीर्ष्यासम्भवमेव वा—ग०, घ० ।

४. सहितं—ग०, घ० ।

५. सम्भ्रमोद्वेग—ग०, घ० ।

६. शस्त्रसम्पतनेन—ग०, घ० ।

७. धैर्याय शबलादिभिः—ख०, धैर्योद्वेग—ग०, घ० ।

८. तत्र प्रचलनस्तब्धगात्रस्फुरणकम्पनैः—ख०; नेत्रप्रचलहस्तभ्रू—गात्रस्फुरणकम्पनैः—क (द०); तथा चलितनेत्रत्वाद् गात्राणां कम्पनादपि —क (प०) ।

९. तथा पार्श्वावलोकनात्—क (प०) ।

भर्तुरन्वेषणाच्चैवमुच्चैराक्रन्दनादपि[1] ।
प्रियस्यालिङ्गनाच्चैव[2] भयं[3] कार्यं भवेत् स्त्रियाः ॥ ६१ ॥

स्त्रियों को भय प्रदर्शित करने की दशा में आंखों की पुतलियों के घूमने, अंगों को फड़कने तथा कांपने, हृदय में भयजन्य त्रास के कारण बगले झांकने, रक्षक के (सहायक) ढूँढ़ने, जोरों से रोने तथा अपने समीप स्थित मनुष्य का आलिंगन करने का अभिनय करना चाहिए ॥ ६०-६१ ॥

मद—

मदा ये[4]ऽभिहिताः पूर्वं तान् स्त्रीनीचेषु योजयेत् ।
सुकुमारैस्तु[5] ललितैः पार्श्वानतविलम्बितैः ॥ ६२ ॥

मद की जिन अवस्थाओं का पहिले निदर्शन (अ० ७) किया जा चुका है उन्हें स्त्री पात्र में प्रयुक्त करना चाहिए । इस दशा में शरीर को बाजू में झुकाते हुए सुकुमार तथा ललित (अंगों की) चेष्टाओं से युक्त रखा जाए ॥ ६२ ॥

नेत्रावघूर्णनैश्चैव[6] सालस्यैः[7] कथितैस्तथा ।
गात्राणाङ्कम्पनैश्चैव[8] मदः कार्यो भवेत् स्त्रियाः ॥ ६३ ॥

स्त्रियों में 'मद' का अभिनय आंखों के घूमने, आलस्य पूर्ण एवं असंबद्ध बकवास करने तथा अंगों के डुलाने के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ॥६३॥

अनेन विधिना कार्यः प्रयोगः[9] करणान्वितः ।
पौरुषः[10] स्त्रीकृतो वापि भावो:[11] ह्यभिनयम्प्रति ॥ ६४ ॥

---

१. भ्रातुरन्वेषणाच्चापि उच्चैराक्रन्दितेन च—ग०, घ० ।
२. पुरुषालिङ्गना—न० । ३. भयकार्यं—ख० ।
४. ये विहिताः—ग०, घ० ।
५. मृदुभिस्खलितैर्नित्यमाकाशस्यावलम्बनात्—क०, मृदुभिर्ललितैः कार्यमाकारस्यावलम्बनम्—ग० । ६. घूर्णनाच्चापि—ग० ।
७. विलापकथितैः—ग०; विलग्नैः कथितै—ख०, घ० ।
८. कम्पनाच्चैव...ख०, घ० ।
९. प्रयोगाः कारणोत्थिताः—क०, प्रयोगः करणोत्थितः—ग० ।
१०. पौरुष-स्त्रीकृतो—ग० ।
११. भावाभिनयनं प्रति—ग०, घ० ।

नाट्यप्रदर्शन में स्त्रियों तथा पुरुषों के भावों को अभिनीत करने की दशा में जब जैसी आवश्यकता प्रतीत हो इन्ही विधानों का करणों के साथ अनुसरण किया जाए ॥ ६४ ॥

सर्वे सललिता[1] भावास्त्रीभिः कार्याः प्रयत्नतः[2] ।
धैर्यमाधुर्यसम्पन्ना[3] भावाः कार्यास्तु[4] पौरुषाः ॥ ६५ ॥

नाट्यप्रदर्शन में स्त्रियों के सभी भाव लालित्यपूर्ण तथा पुरुषों के धैर्य और माधुर्य पूर्ण रखने चाहिए ॥ ६५ ॥

पक्षी-शुक तथा सारिका आदि—

शुकाश्च सारिकाश्चैव सूक्ष्मा ये चापि[5] पक्षिणः ।
त्रिपताकाङ्गुलिभ्यान्तु वलिताभ्यां[6] प्रयोजयेत् ॥ ६६ ॥

तोता, मैना या अन्य छोटे आकार के पक्षियों को 'त्रिपताक' हस्त की दो उगलियो के द्वारा बतलाना चाहिए ॥ ६६ ॥

शिखिसारस-हंसाद्याः[7] स्थूला येऽपि स्वभावतः ।
रेचकैरङ्गहारैश्च[8] तेषामभिनयो भवेत् ॥ ६७ ॥

और मोर, सारस, हंस आदि स्थूल पक्षियों को जिनका स्वरूप स्वाभाविक और पर बड़ा होता है उन्हें बतलाने में उचित रेचकों तथा अंगहारों का प्रदर्शन करना चाहिए । (जिससे उनका सांकेतिक अर्थ अभिव्यक्त किया जाए) ॥ ६७ ॥

पशु—

खरोष्ट्राश्वतराः[9] सिंहव्याघ्रगोमहिषादयः ।
गतिप्रचारैरङ्गैश्च[10] तेऽभिनेयाः प्रयोक्तृभिः ॥ ६८ ॥

---

१. तु ललिता—ग०, घ० । २. स्त्रीणां कार्याः प्रयोगतः—ग०, घ० ।
३. वीर्यमाधुर्य—ख० ४. कार्याश्च—ग०, घ० ।
५. ये चैव—ग०, घ० ।
६. मिलिताभ्यां—ख०, चलिताभ्यां—ग०, घ० ।
७. शिखिनः सारसा हंसा स्थूला येऽन्ये च पक्षिणः—ख० ।
८. पक्षाङ्गोदारगतिभिरभिनेयाः प्रयोक्तृभिः—ख० ।
९. स्वरोष्ट्राश्वेभसिंहाश्च व्याघ्रगोमहिषादयः—ग० घ०; खरोष्ट्रगोश्वाश्वतरान् सिंहव्याघ्रगजादिकान्—ख० ।
१०. महापशूनङ्गहारैर्गतिभिश्च प्रयोजयेत्—ख० ।

खर, ऊंट, खच्चर, व्याघ्र, सिंह, बैल, गाय भैंस आदि पशुओं को गति-प्रचार उपयुक्त अंगों की क्रियाओं के द्वारा अभिनय करते हुए सूचित किया जाए ॥ ६८ ॥

भूत, पिशाच आदि—

भूताः पिशाचा यक्षाश्च दानवाः सह[1] राक्षसैः ।
अङ्गहारैर्विनिर्देश्या नामसङ्कीर्तनादपि[2] ॥ ६९ ॥

भूत, पिशाच, यक्ष, दानव तथा राक्षस—जब वे प्रत्यक्ष प्रवेश न करते हों या दिखाई न देते हों तो उन्हें अंगहारों द्वारा या नाम लेकर वर्णन करते हुए बतलाना चाहिए । ॥ ६९ ॥

अङ्गहारैर्विनिर्देश्या अप्रत्यक्षा भवन्ति ये ।
प्रत्यक्षास्त्वभिनेतव्या[3] भयोद्वेगैः सविस्मयैः ॥ ७० ॥

यदि अंगहारो के द्वारा प्रदर्शित करने पर ये प्रत्यक्ष न होते हो पर दिखाई देते हो तो भय, उद्वेग तथा विस्मय के भावों द्वारा इनको बतलाने का अभिनय किया जाए ॥ ७० ॥

देवाश्च[4] चिह्नैः प्रणामकरणैः भावैश्च विचेष्टितैश्चैव ।
अभिनेयाः[5] ह्यर्थवशादप्रत्यक्षाः प्रयोगज्ञैः ॥ ७१ ॥

जब ये अहश्य हो जाएं तो आवश्यकतानुसार (अपेक्षानुसार) उन्हें दूर करने के कारण प्रत्यक्षरूप में देवताओं की बन्दना के योग्य भावों के साथ अभिनीत किया जाए ॥ ७१ ॥

---

१. राक्षसास्तथा—ख० ग० ।

२. कर्मसङ्कीर्त—ख०; प्रत्यक्षा न भवन्ति हि—ग० ।

३. स्त्वभिनेयास्तु—घ० ।

४. देवाः प्रणामकरणैर्भावैश्च विचेष्टितैश्च ललितैश्च—ख०; देवाः प्रणाम-करणैर्भावैश्चापि विचेष्टितैः—ग०, घ० ।

५. अर्थवशादभिनेया अप्रत्यक्षाः प्रयोगेषु—ख०; अनुकरणादिविधानाद-प्रत्यक्षानभिनयेत्ताश्च—क० (ज) ।

अप्रत्यक्ष व्यक्ति का अभिवादन—

सव्योत्थितेन[1] हस्तेन ह्यरालेन शिरः स्पृशेत् ।
नरेऽभिवादने[2] ह्येतदप्रत्यक्षे विधीयते ॥ ७२ ॥

अप्रत्यक्ष व्यक्ति का अभिवादन दाहिनी बाजू से 'अराल'[1] हस्त को उठाकर मस्तक का स्पर्श करते हुए बतलाए ॥ ७२ ॥

देवता तथा गुरुजन का अभिवादन—

खटकावर्धमानेन कपोताख्येन[3] वा पुनः ।
दैवतानि गुरूंश्चैव प्रमदाश्चाभिवादयेत् ॥ ७३ ॥

देवता, गुरु तथा (पूज्य) स्त्रियों को किये जाने वाले अभिवादन को कटकावर्धमान[2] तथा कपोत-हस्त के द्वारा अभिनीत करना चाहिए ॥ ७३ ॥

दिवौकसश्च ये[4] पूज्याः प्रत्यक्षाश्च भवन्ति ये ।
तान्[5] प्रमाणैः प्रभावैश्च गम्भीरार्थैश्च योजयेत् ॥ ७४ ॥

जो देवता पूज्य हों तथा सशरीर प्रत्यक्ष दिखाई दें या आदरणीय व्यक्ति हों उन्हें प्रमाण, प्रभाव तथा गम्भीर भाव के साथ बतलाया जाए ॥ ७४ ॥

पुरुष, मित्रादि का वर्ग—

महाजनं सखीवर्गं[6] विटधूर्तजनं तथा ॥
परिमण्डलसंस्थेन[7] हस्तेनाभिनयेन्नरः ॥ ७५ ॥

---

१. अराल हस्त का लक्षण ना० शा० ९।४६–५२ पर द्रष्टव्य ।

२. कटकावर्धमान तथा कपोत-हस्त के लक्षण क्रमशः ना० शा० अ० ९।१३६ तथा ९।१२९ पर द्रष्टव्य ।

---

१. भयोत्थिनेन भेदेन—ख०; पार्श्वोत्थितेन—ग०, घ० ।
२. भिवादनं—ख०, ग० ।
३. पताकाख्येन वा तथा—क (ज) ।
४. पूज्याश्च—ग०, घ०, पूज्याश्चा प्रत्यक्षा—ख० ।
५. प्रणामैश्च प्रभावैश्च गम्भीरार्थे प्रयोजयेत्—ख० ।
६. सखिजनं—ख०, ग० ।
७. संज्ञेन हस्तेनाभिनयेद् बुधः—ग० ।

अनेक व्यक्तियों का समूह (भीड़ भाड़) जन सम्मर्द), मित्रवर्ग विट तथा धूर्त व्यक्तियों का वर्ग परिमंडल[1] हस्त के द्वारा बतलाना चाहिए ॥ ७५ ॥

पर्वत तथा ऊचें वृक्ष—

पर्वतान् प्रांशुयोगेन[1] वृक्षांश्चैव समुच्छ्रितान्[2] ।
प्रसारिताभ्यां बाहुभ्यामुत्क्षिप्ताभ्यां प्रयोजयेत् ॥ ७६ ॥

पर्वतों तथा वृक्षों को उनकी ऊंचाई के साथ बतलाना हो तो ऊपर की ओर फैला कर भुजाओं को नीचे की ओर झटका देना चाहिए ॥ ७६ ॥

सागर, विस्तीर्ण जल आदि—

समूह[3]-सागरं सेनां बहुविस्तीर्णमेव च ।
पताकाभ्यान्तु हस्ताभ्योमुत्क्षिप्ताभ्यां प्रदर्शयेत् ॥ ७७ ॥
शौर्यं[4] धैर्यञ्च गर्वञ्च दर्पमौदार्यमुच्छ्रयम् ।
ललाटदेशस्थानेन[5] त्वरालेनाभिदर्शयेत् ॥ ७८ ॥

सागर और उसकी विस्तीर्णता, गंभीर जलप्रवाह और विस्तृत सेना को बतलाने के लिये ऊपर की ओर झटका देकर दो पताक हस्तों द्वारा (लहरदार बताते हुए) अभिनय करना चाहिए तथा शौर्य, धैर्य, गर्व, दर्प, औदार्य, वृद्धि (उच्छ्रय) एवं उन्नति को ललाट पर 'अराल'[2] हस्त को रखते हुए बतलाया जाए ॥ ७७-७८ ॥

वक्षोदेशादपाविद्धौ[6] करौ[7] तु मृगशीर्षकौ ।
विस्तीर्णप्रद्रुतोत्क्षेपौ[8] योज्यौ यत् स्यादपावृतम् ॥ ७९ ॥

---

१. परिमंडल या उरोमंडल-हस्त का लक्षण ना० शा० अ० ९।१९६ द्रष्टव्य ।

२. अराल का लक्षण ना० शा० ९।४६–५२ पर द्रष्टव्य ।

---

१. भावेन—क (ज) । २. समुत्थितान्—ख०, ग०

३. समूहं सागराम्नानां—ख०, ग० समूहं सागराम्बूनां—घ० ।

४. ततः शौर्यञ्च दर्पञ्च गर्वमौदार्यं—ग०, घ० ।

५. देशसंस्थेन हस्तौ किञ्चित् प्रसारितौ—ग० ।

६. दपावृत्तौ—ख०, घ० । ७. कृत्वा—क (ज) ।

८. प्रद्रुतोत्क्षितौ—घ० ।

यदि (दो) मृगशीर्ष[1] हस्त को छाती से हटाकर जल्दी से फैलाते हुए दूर ले जाए तो उसके द्वारा किसी वस्तु का खोलना (अपावृत्त) बतलाया जाता है ॥ ७९ ॥

गृह, अंधेरा आदि—

अधोमुखोत्तानतलौ हस्तौ किञ्चित्प्रसारितौ[1]।
कृत्वा त्वभिनयेद्[2] वेलां बिलद्वारं[3] गृहं गुहाम् ॥ ८० ॥

गृह, अंधेरा, बिल या गुहा को हथेलियों को थोड़े फैला कर नीचे की ओर मुंह वाली करते हुए पुनः ऊपर उठा कर प्रदर्शित किया जाता है ॥ ८० ॥

शाप-ग्रस्त आदि—

कामं[4] शापग्रहग्रस्तान् ज्वरोपहतचेतसः[5]।
एतेषां[6] चेष्टितं कुर्यादङ्गाद्यैः सदृशैर्बुधः ॥ ८१ ॥

जो व्यक्ति काम तथा शाप ग्रस्त हो या ज्वर से चेतना हीन हो जाए तो उनका अभिनय उनकी शारीरिक चेष्टाओं के अनुकरण करते हुए रखना चाहिए ॥ ८१ ॥

दोला—

दोलाभिनयनं[7] कुर्याद्दोलायास्तु[8] विलोलनैः।
सङ्क्षोभेण[9] च गात्राणां रज्ज्वश्वग्रहणेन च ॥ ८२ ॥
यदा[11] चाङ्गवती डोला प्रत्यक्षा पुस्तजा भवेत्।
आसनेषु प्रविष्टानां कर्तव्यं तत्र डोलनम् ॥ ८३ ॥

१. मृगशीर्ष का लक्षण ना० शा० ९।८६ पर देखिये।

१. प्रदर्शयेत्—ख०। २. प्रदर्शयेत्तद्वद्—ख०, निदर्शयेत्तत्तद्—घ०।
३. गृहध्वान्तं बिलं गुहाम्—ख०, घ०।
४. कामाशापग्रहग्रस्ता ज्वरोपहतमानसाः—ख०, ग०।
५. मानतः—घ०।
६. एवंविधा नरा ये च तेषां कार्यं विचेष्टितैः—ख०, तेषामभिनयः कार्यो मुखगात्र-विचेष्टितैः—ग०, घ०। ७. कार्यं —ग०, घ०।
८. दोलानां त्ववदोलनैः—ख०, कार्यं दोलान्दोलनलीलाया—क० (भ०)
९. संक्षोभणेन—ख०। १०. रज्वा प्रग्रहणेन च—ग०, घ०।
११. तदा कम्पवती दोला भवेत् प्रत्यक्षसंश्रया। आसने ह्युपविष्टानां कीर्तितं तत्र दोलनम् —ग०, घ०।

दोला (झूला) का प्रदर्शन उसकी क्रियाओं के अनुकरणात्मक अभिनय के द्वारा करना चाहिए। (जैसे) शरीर के अंगों का आवेग पूर्ण होना, रज्जुओं को थामना (आदि) (यह अभिनय की बात हुई) और यदि दोला प्रत्यक्ष मंच पर प्रस्तुत (नाट्यधर्मी विधानों के अनुसार निर्मित वस्तु विद्यमान) हो तो आसन पर बैठ कर झूलते हुए पात्र को प्रदर्शित किया जाए ॥ ८२-८३ ॥

आकाशवचनानीह वक्ष्याम्यात्मगतानि[1] च।
अपवारितकञ्चैव[2] जनान्तिकमथापि च ॥ ८४ ॥

अब मैं आकाश-भाषित, स्वगता, अपवारितक तथा जनान्तिक का अभिनय बतलाता हूँ ॥ ८४ ॥

आकाश-भाषित—

दूरस्थाभाषणं[3] यत् स्यादशरीरनिवेदनम्[4]।
परोक्षान्तरितं वाक्यमाकाशवचनन्तु[5] तत् ॥ ८५ ॥
तत्रोत्तरकृतैर्वाक्यैः संलापं सम्प्रयोजयेत्[6]।
नाना-कारणसंयुक्तैः काव्यभावसमुत्थितैः[7] ॥ ८६ ॥

किसी पात्र से किया जाने वाला वह सम्भाषण जो दूरी से हो या बिना (किसी पात्र के) प्रवेश के हो, या परोक्ष रूप में किसी को सम्बोधित करते हुए कहा गया हो तथा जो समीप न हो तो उसे 'आकाश भाषित' जानो। सम्भाषणों में उत्तरोत्तर वाक्यों से नाटक में होने वाले अर्थों के अनुसार विविध प्रश्नोत्तर द्वारा इसे प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ८५-८६ ॥

आत्मगत (स्वगत)—

अतिहर्षमदोन्माद[8] रागद्वेष भयार्दितः।
विस्मयं[9] क्रोधदुःखार्तिवशादेकोऽपि भाषते ॥ ८७ ॥

---

१. म्यात्मगतं तथा—ख०।
२. वारितकश्चापि—ग०, घ०।
३. स्थान्वेषणं—ख०; दूरस्थभाषणं—ग०।
४. निवेशनम्—ख०।
५. यच्चाप्याकाश—ख०। ६. तत्र योज—ख०।
७. रसभाव—ख०। ८. मदोन्मादा—ख०।
९. विस्मयः क्रोधदुःखार्त्तदेशादेको—ख०।

हृदयस्थं वचो[1] यत्तु तदात्मगतमिष्यते ।
[सवितर्कञ्च तद्योज्यं प्रायशो नाटकादिषु ॥ ८८ ॥]

जो 'वचन' हृदय में गुप्त रखते हुए कहे जाते हों वे 'आत्मगत' कहलाते हैं। ये वचन अतिहर्ष, मद, उन्माद, राग, द्वेष, भय, पीड़ा, विस्मय, क्रोध तथा दुःख की दशा में (प्रायः) प्रयुक्त किये जाते हैं। [और इनकी प्रायः नाटक में योजना वितर्क के साथ रखी जाती है।] ॥ ८७-८८ ॥

अपवारितक—

निगूढभावसंयुक्तमपवारितकं[2] स्मृतम् ।

किसी गोपनीय भाव से सम्बद्ध वचनों का संभाषण 'अपवारितक' कहलाता है।

जनान्तिक—

कार्यवशादश्रवणं पार्श्वगतैर्यञ्जनान्तिकं तत् स्यात् ।

जब अनपेक्षित रूप में समीप स्थित व्यक्ति को कोई बात नहीं सुनाना हो तो (उस दशा में किसी अन्य व्यक्ति से किया जाने वाला व्यक्तिगत संभाषण) 'जनान्तिक'[1] कहलाता है।

---

१. अपवारितक तथा जनान्तिक—अभिनवगुप्तपाद ने कुछ आचार्यों के मत को प्रस्तुत करते हुए बतलाया कि अपवारितक तथा जनान्तिक दोनों ही रंगमञ्च पर उपस्थित पात्रों के लिये अश्राव्यता की दृष्टि से समान है। दूसरे आचार्य की दृष्टि में जो वृत्त एक के लिये गोपनीय हो और अनेकों के लिये जो प्रकाश्य रहता हो तो उसे 'जनान्तिक'; परन्तु जो वृत्ति एक के लिये प्रकाश्य और अनेकों के लिये गोपनीय हो तो उसे 'अपवारितक' समझा जाए।

अपवारितक और जनान्तिक कुछ ऐसी विलक्षण प्रयोग कोटि में आते हैं जो नाट्यधर्मीप्रभाव से प्रयोग काल में सम्भव होते हैं किन्तु जो वास्तव में मानवीय जीवन प्रकृति के अनुकूल नहीं होते। इनके द्वारा नाटकादि में उपयोगी श्रव्यकथांशों को संकेतित करते हुए घटनाक्रम की धारा व्यवस्थित रखी जाती है। इस प्रकार ये नाट्यप्रयोग को शृङ्खलाबद्धता और गति प्रदान करने में विशिष्ट अभिनय-शिल्प के रूप में अवस्थित किये गये हैं वह स्पष्ट

---

१. हृदयस्य वचो यत्तु—क०; हृदयस्थं स वै यत्तत्—ख०।
२. मपवारितकेव च—ख०।

अन्तःस्थ भाव की प्रदर्शन-विधि—

हृदयस्थं सविकल्पं[1] भाव[2]स्थञ्चात्मगतमेव ॥ ८९ ॥

किसी व्यक्ति के मन में रहने वाले विकल्प या भाव का कथन 'आत्मगत' का ही प्रकार है ॥ ८९ ॥

इति[3] गूढार्थयुक्तानि वचनानीह नाटके ।
जनान्तिकानि[4] कर्णे तु तानि[5] योज्यानि योक्तृभिः ॥ ९० ॥

नाटक में गोपनीयता से सम्बन्ध शब्दों या वचनों को 'जनान्तिक' के द्वारा 'एवं' कहते हुए कान में कहा जाता है ॥ ९० ॥

पूर्ववृत्तन्तु[6] यत् कार्यं भूयः कथ्यन्तु[7] कारणात् ।
कर्णप्रदेशे[8] तद्[9] वाच्यं मागात्तत् पुनरुक्तताम् ॥ ९१ ॥

इसी प्रकार जो बात पहिले कही जा चुकी हो उसे आवश्यक होने से फिर कही जाती हो तो उसे भी 'कान' में पुनरुक्ति को बचाने के लिये कह देना चाहिए ॥ ९१ ॥

अव्यभिचारेण पठेदाकाशजनान्तिकात्मगत-पाठ्यान्[10] ।
प्रत्यक्ष-परोक्षकृतानात्मसमुत्थान् परकृतांश्च[11] ॥ ९२ ॥

है । इनके भरतोक्त लक्षणों का आगे अनुसरण संस्कृत नाटकों में कम हुआ तथा अन्य परम्परा से गृहीत लक्षणों को ही परवर्ती नाट्यग्रन्थकारों ने ग्रहण किया ।

अपवारितक तथा जनान्तिक के भरतोक्त लक्षणों का व्यवहार या अनुसरण संस्कृत-नाटको में विरल मिलने से कुछ समीक्षक गण इन्हें लक्षण या प्रतिभा से निर्मित अन्य प्रकार मानते हैं जो भरतोक्त नहीं है ।

---

१. सवितर्कं—ग०, घ० । २. भाववशादात्म—ख० ।

३. यानि गुह्यार्थं—ख०, ग० ।

४. कर्णे निवेद्यमेवमेवमित्यभिधाय च—ग०, घ०; तानि कर्णनिवेद्यानि एवमित्यभिधाय च—क (प०) ।

५. सन्नियोज्यानि—ख० ।

६. सकृदुक्तं तु—ख० । ७. कस्मात्तु—ख० ।

८. तत्कर्णे श्रावयेद्येन न याति—ख० ।

९. यद्वाक्यमगात् तत्—ग० । १०. पाठ्यम्—क० ।

११. परोत्थांश्च—ख०, परस्थांश्च—ग०, घ० ।

बिना किसी प्रकार की त्रुटि या भ्रम रखते हुए इन आकाशभाषित, आत्मगत तथा जनान्तिक (पाठ्य) वचनों का प्रयोग करना चाहिए। ये बचन किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्ति से दूसरों के या स्वयं के कार्य से सम्बद्ध होते हैं॥ ९२॥

अपवारिक तथा जनान्तिक की प्रदर्शन-विधि—

हस्तमन्तरितङ्कृत्वा[1] त्रिपताकं प्रयोक्तृभिः।
जनान्तिकं प्रयोक्तव्यमपवारितकं तथा॥ ९३॥

अपवारितक तथा जनान्तिक को 'त्रिपताक' हस्त का बीच में व्यवधान रखते हुए अभिनय करना चाहिए[1]॥ ९३॥

पुनरुक्त शब्दाभिनय—

सम्भ्रमोत्पातरोषेषु[2] शोकावेगकृतेषु च।
यानि वाक्यान्युच्यन्ते पुनरुक्तानि[3] तेष्विह॥ ९४॥
ब्रूह्यहो[4] साधु हा हेति गच्छ किं मुञ्च मा वद।
एतानि[5] वचनानीह द्वि-त्रि-संख्यानि कारयेत्॥ ९५॥

जो शब्द हड़बड़ाहट (सम्भ्रम) उत्पात, रोष तथा शोकावेग में कहे जाते हैं उन्हें 'पुनरुक्त' कहते हैं। इन दशाओं में कहे जाने वाले शब्द हैं बोलो, (बुद्धि) बहुत ठीक (साधु) हो (या हाय हाय) जाओ जाओ, क्या क्या, छोड़ो-छोड़ो, नहीं नहीं, मत बोलो आदि शब्दों को दो या तीन बार दुहराना चाहिए॥ ९४-९५॥

प्रत्यङ्गहीनं यद्वाक्यं[6] विकृतश्च प्रयुज्यते।
न लक्षणकृते[7] तत्र कार्यस्त्वभिनयो बुधैः॥ ९६॥

नाटक में जो शब्द विकृत या अपूर्ण प्रयुक्त हों उन्हें लक्षणानुसारी आंगिक मुद्राओं तथा चेष्टाओं के द्वारा अभिनीत नहीं करना चाहिए॥ ९६॥

---

१. तुलना० सा० द० ६।१३७–१३९, द० रू० १।६५ भा० प्र० २१९ १–२१,२२ तथा ना० द० पृ० ३१।

---

१. मन्तरतः कृत्वा—ख०।
२. प्रयोजयेत्—ख०, सम्भ्रमेष्वथ रोषेषु—क०।
३. पुनरुक्तं न—ख०।
४. साध्वहो माञ्च हा हेति किं किं मा मा वदेति च—घ०।
५. एवं विधानि कार्याणि—क०। ६. यत् काव्यं—क०।
७. लक्षणकृतस्तत्र—क०।

भावों का अवेक्षणौचित्य—

भावो य[1] उत्तमानान्तु न तं मध्येषु योजयेत् ।
यो भावश्चैव मध्यानां न तं नीचेषु योजयेत् ॥ ९७ ॥

जो भाव उत्तम पात्रों के योग्य हों उनकी मध्यम पात्रों में तथा इसी प्रकार जो मध्यम पात्रों के योग्य हो उनकी अधमपात्रों में योजना नहीं करना चाहिए ॥ ९७ ॥

पृथक् पृथग्भावरसैरात्मचेष्टा-समुत्थितैः[2] ।
ज्येष्ठमध्यमनीचेषु नाट्यं रागं हि[3] गच्छति ॥ ९८ ॥

क्योंकि जो अपनी ही (उचित) चेष्टाओं के द्वारा प्रकट होने वाले या अभिव्यक्त भाव या रस होंगे—वे उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के पात्रों की पृथक्-पृथक् चेष्टाओं द्वारा ही होना चाहिए—(समान क्रिया या एक जैसे अभिनय द्वारा नहीं)—वैसा रहने से ही नाट्य प्रदर्शन में आकर्षण (राग) बना रहता है ॥ ९८ ॥

स्वप्न-दशा में भावों की अभिनय-विधि—

स्वप्नायित[4] वाक्यार्थस्त्वभिनेयो[5] न खलु हस्तसञ्चारैः ।
सुप्ताभिहितैरेव[6] तु वाक्यार्थैः सोऽभिनेयः स्यात् ॥ ९९ ॥

स्वप्न की अवस्था का अंगो या हस्त चेष्टाओं द्वारा अभिनय नहीं करना चाहिए । यह भाव केवल निद्रावस्था में कहे गए वाक्यों द्वारा ही प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ९९ ॥

स्वप्न दशा में संवाद (पाठ्य)—

मन्दस्वरसञ्चारै[7] र्व्यक्ताव्यक्तं पुनरुक्तवचनार्थम्[8] ।
पूर्वानुस्मरणकृतं कार्यं स्वप्नायिते[9] पाठ्यम् ॥ १०० ॥

---

१. यत्रोत्तमानां—क० ।
२. चेष्टासमन्वितः—ख०, ग० ।
३. च वाच्छति—ख०, ग०, घ० ।
४. स्वप्नायितेषु भावाः कर्त्तव्या—ग०, घ० ।
५. वाक्यार्थस्याभिनयो न खलु—ख० ।
६. सत्वाभिनयेनैव तु वाक्यार्थैनैव ते साध्याः—ग० ।
७. सञ्चारं—ग० घ० ।
८. व्यक्ताव्यक्तद्विरुक्त—ग०, घ० ।
९. स्वप्नाञ्चिते—क० ।

इस अवस्था में वाक्यों को मन्दध्वनि में (धीमे धीमे) पिछली घटना के स्मरण को लिये हुए अर्थ के द्वारा पदावली रहनी चाहिए तथा वही उच्चारित भी की जाएं ॥ १०० ॥

वृद्धमात्र के संवाद—

वृद्धानां योजयेत् पाठ्यं गद्गदस्खलिताक्षरम् ।
असमाप्ताक्षरञ्चैव बालानान्तु कलस्वनम् ॥ १०१ ॥

वृद्धावस्था में जिस संभाषण (या कथन) की योजना की जाए उसे गदगद् ध्वनि तथा स्खलित अक्षरों (शब्दों) में रखे तथा बच्चों के संवाद को कलकल ध्वनि तथा अपूर्ण शब्दों वाले रखना चाहिए ॥ १०१ ॥

मरणावस्था में (प्रयोज्य) संवाद—

प्रशिथिलगुरु[1]करुणाक्षरघण्टानुस्वरितवाक्य[2] गद्गदजैः ।
हिक्का[3] श्वासोपेतां काकुं कुर्यान्मरणकाले ॥ १०२ ॥
हिक्का-श्वासोपेता[4] मूर्च्छोपगमे मरणवत् कथयेत् ।
अतिमत्तेष्वपि कार्यं तद्वत्[5] स्वप्नायिते यथा पाठ्यम् ॥ १०३ ॥

(किसी पात्र के) मरण के समय अव्यक्त (या अस्पष्ट) संवादों की योजना करनी चाहिए जो कि शिथिल, भारी तथा हीन वर्णों वाले हों, गलघंटी में गुंजार (खड़खड़ाहट) तथा गिरावट लिये हो तथा बीच बीच में हिचकी आए, सांस भर जाए या बलगम थूकना पड़े। हिक्का (हिचकी) श्वास तथा कफ की दशा में मूर्च्छा आ जाए तो वह मरण के समान माना जाता है। इस भाव को बतलाने में संवाद शब्दो में स्वप्नायित के जैसी पुनरुक्ति प्रदर्शित करते हुए रहना चाहिये और ये ही भाव अतिमत्त पात्र में भी बतलाये जाएँ ॥ १०२–१०३ ॥

मरण—

नानाभावोपगतं[6] मरणाभिनये बहु कीर्तितन्तु ।
विक्षिप्तहस्तपादैर्निभृतैः[7] सन्नैस्तथा कार्यम् ॥ १०४ ॥

---

१. गुरुकरणा—ख० ग० । २. वाक्यगद्गदवत्—ग०, घ० ।

३. कासश्वास—ख०, हिक्काश्वासकफां—ग० ।

४. पेतमनवेक्षितमूर्च्छनं मरणम्—ग० ।

५. पाठ्यं पुनरुक्तसंप्रयुक्तम्—ख० ।

६. नानाभावोपगतो मरणाभिनयो बहुप्रकारस्तु—ख०; कथनीयो नानाभावतो मरणा—ग० । ७. निर्वृत्तैस्सर्वैस्तथा गात्रैः—ग०, घ० ।

विभिन्न अवस्था या कारणों से होने वाले 'मरण' के अनेक लक्षण रहते हैं। उदाहरणार्थ—कभी कभी उत्तर दशा में व्यक्ति हाथ पैर पटकता है और कभी शरीर तथा उसके सभी भाग सुन्न हो जाते हैं ॥ १०४ ॥

विषपान-जन्य मरण—

विषपीतेऽपि[1] च मरणं कार्यं विक्षिप्तगात्रकरचरणम् ।
विष-वेग-सम्प्रयुक्तं विस्फुरिताङ्गक्रियोपेतम् ॥ १०५ ॥

विषपान से होने वाले 'मरण' को शरीर तथा हाथ पैरों के पटकने और विष के वेग से शरीर के विभिन्न अवयवों पर होने वाले असर और कार्य को प्रदर्शित करते हुए अभिनय करना चाहिए ॥ १०५ ॥

रोगजन्य मरण—

व्याधिकुले च मरणं निषण्णगात्रैस्तु[2] सम्प्रयोक्तव्यम् ।
हिक्काश्वासोपेतं[3] तथा पराधीनगात्र-सञ्चारम् ॥ १०६ ॥

व्याधि (के आक्रमण) से होनेवाले मरण में हिचकी, सांस और शरीर के अवयवों की शिथिलता का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ १०६ ॥

विषवेग की आठ अवस्थाएँ—

प्रथमे वेगे कार्श्यं[4] त्वभिनेयं वेपथुर्द्वितीये तु ।
दाहस्तथा तृतीये विलह्लिका[5] स्याच्चतुर्थे तु ॥ १०७ ॥
फेनस्तु पञ्चमस्थे[6] तु ग्रीवा[7] षष्ठे तु भज्यते ।
जडता[8] सप्तमे तु स्यान्मरणं त्वष्टमे भवेत् ॥ १०८ ॥

विषवेग से होनेवाली अवस्थाएँ आठ होती है। इनमें प्रथमावस्था में शरीर शक्ति हीनता (कृशता) हो जाती है, दूसरी अवस्था में शरीर कंपन, तीसरी में दाह, चौथी में हिचकी आना, पाँचवी में मुँह में फेसूट (झाग)

---

१. विषवेगेऽपि च···कार्यं विक्षिप्तगात्रकरणञ्च—ख० ।
२. विषण्णगात्रेण—ख०, ग०; निषण्णगात्रेण—घ० ।
३. पेतमनवेक्षितगात्र—ग०, घ० । ४. योगे कार्यं—ख० ।
५. वेपथुं—ख०; विषस्य कुर्यात् प्रकम्पनं परतः—क (ज०) ।
६. हिक्कां कुर्यात् चतुर्थे तु—ग०, घ० ।
७. फेनश्च पञ्चमे वं—ग०, घ० ।
८. ग्रीवाभङ्गं तथैव षष्ठे तु—ग०, घ० ।
९. जडता तु सप्तमे वं प्रोक्तं मरणं तथाष्टमे चैव—ग०, घ० ।

आना, छठी में गले का लटक जाना, सातवीं में जड़ता और आठवीं अवस्था में (अन्त में) 'मरण' होता है ॥ १०७–१०८ ॥

(प्रथमावस्था) कृशता—

तत्र[1] प्रथमवेगे तु क्षामवक्त्रकपोलता ।
कृशत्वेऽभिनयः कार्यो वाक्यानामल्पभाषणम् ॥ १०९ ॥

विषपान करने के उपरान्त प्रथम वेग में चेहरा तथा कपोलों का बैठ जाना तथा वाक्यों को धीमे धीमे (हलकी आवाज में) बोलना प्रदर्शित करना चाहिए ॥ १०९ ॥

[प्रविष्टतारके[2] नेत्रे कपोलाधरमेव च ।
अंसोदरभुजानान्तु कृशता कार्श्यरूपणम्[3] ॥]

(पाठान्तर-प्रथम वेग में नेत्रों की पुतलियाँ धंस जाती है । गाल और चेहरा उतर जाता है । तथा कन्धा, पेट और हाथों में एकदम शिथिलता (अशक्ति) आ जाती है ।

(द्वितीयावस्था) कम्पन—

हस्तयोः पादयोर्मूर्ध्नि युगपत् पृथगेव वा ।
कम्पनेन यथायोगं वेपथुं सम्प्रयोजयेत् ॥ ११० ॥

हाथ तथा पैर के साथ मस्तक को (यथा अवसर स्थिति के अनुसार) कम्पित करते हुए या इनमें के प्रत्येक अंग को पृथक् पृथक् धुजाकर 'कम्पन' को प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ११० ॥

(तृतीयावस्था) दाह—

सर्वाङ्गवेपनोद्वेजनेन[4] कण्डूयनात्तथाङ्गानाम् ।
विक्षिप्तहस्तगात्रैर्दाहश्चैवाभिनेतव्यः[5] ॥ १११ ॥

सम्पूर्ण शरीर को त्रस्त तथा कम्पित करते हुए, शरीर तथा अंगों को खुजलाते हुए तथा मस्तक और अन्य शरीर के अंगों को पटकते हुए 'दाह' का अभिनय प्रदर्शित करना चाहिए ॥ १११ ॥

---

१. अत्र ग० पुस्तके भिन्नपाठः दृश्यते ।
२. प्रवृद्ध—ख० ।
३. रूपेण—ख० ।
४. सर्वाङ्गवेपथुश्च कण्डूयनं तथाङ्गानाम्—क० ।
५. हस्तगात्रं दाहं नाट्ये प्रयुञ्जीत—ख० ।

(चतुर्थावस्था) हिक्का—

उद्वृत्तनिमेषत्वादुद्गारच्छर्दनैस्तथाक्षेपैः[1] ।
अव्यक्ताक्षरकथनैः विलल्लिकामभिनयेदेवम्[2] ॥ ११२ ॥

आँखों की पलकों के बार बार गिराने, (मुंह से) उल्टी करने, हाथ, पैर या शरीर को पटकने तथा अव्यक्त-अक्षरों को बोलते हुए 'हिक्का' (विलल्लिका) का अभिनय प्रदर्शित करना चांहिये ॥ ११२ ॥

(पंचमावस्था) फेन—

उद्गारवमनयोगैः[3] शिरसश्च[4] विलोलनैरनेकविधैः ।
फेनस्त्वभिनेतव्यो निस्संज्ञतया निमेषैश्च[5] ॥ ११३ ॥

(मुंह से निकलने वाले) फेन का अभिनय डकार लेने, उल्टी करने, सर को अनेक प्रकार से हिलाकर पटकने, वेहोश हो जाने तथा आँखें फटी रहने के द्वारा किया जाए ॥ ११३ ॥

(छठी अवस्था) शिरोभंग—

अंसकपोलस्पर्शाच्छिरसश्च[6] विनामनाच्छिरोभङ्गः[7] ।

गर्दन ढल जाने (शिरोभंग, ग्रीवाभंग) का अभिनय कन्धे को बार बार छूने, कपोल को हाथ लगाने तथा सर को ढीला करते हुए झुका देने के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ।

(सातवीं अवस्था) जड़ता—

सर्वेन्द्रियसम्मोहाज्जडतामेवं प्रयुञ्जीत[8] ॥ ११४ ॥

'जड़ता' का अभिनय सभी इन्द्रियों को गति हीन बनाते हुए अभिनीत करे ॥ ११४ ॥

---

१. उन्मेषनिमेष—क (प०) ।
२. हिक्कामेवं त्वभिनयेत्तु—ग०, घ० ।
३. फेनोद्गारनिपातैः शिरसश्च—ख० ।
४. सृक्कालेहैर्विलोलनैःशिरसः—ग० ।
५. निमेषश्च—ख० ।
६. ग्रीवाभङ्गो विवर्तनाच्छिरसः—घ० ।
७. च्छिरोभङ्गात्—ख० ।
८. त्वभिनयेत्तु—क० ।

आठवीं अवस्था-मरण—

सम्मीलितनेत्रत्वाद्[1] व्याधिविवृद्धौ[2] भुजङ्गदशनाद् वा ।
एवं हि नाट्यधर्मे[3] मरणानि बुधैः प्रयोज्यानि ॥ ११५ ॥

किसी व्याधि से या सर्पदंश से होने वाले मरण का आंखों को बन्द करते हुए नाट्यधर्मी विधान के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ११५ ॥

एतेऽभिनयविशेषाः[4] कर्तव्या सत्वभावसंयुक्ताः[5] ।
अन्ये तु लौकिका[6] ये ते सर्वे लोकवत् कार्याः ॥ ११६ ॥

सभी अवस्थाओं में होनेवाले विशेष अभिनय सत्व तथा भाव से संयुक्त करते हुए प्रदर्शित करने चाहिए। इसके अतिरिक्त जो अन्य लौकिक विषय कार्य तथा व्यवहार हों उन्हें लोक-प्रसिद्ध स्वरूप में ही ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ११६ ॥

सामान्य-निर्देशन—

नानाविधैर्यथा पुष्पैर्मालां[7] ग्रथ्नाति[8] माल्यकृत् ।
अङ्गोपाङ्गै[9] रसैर्भावैस्तथा नाट्यं प्रयोजयेत् ॥ ११७ ॥

जैसे पुष्पमाला को माली अनेक विध-पुष्पों से गूँथता है वैसे ही नाटक को विभिन्न शारीरिक मुद्राओं, रस तथा भाव से युक्त करते हुए प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ११७ ॥

या यस्य लीला नियता गतिश्च
रङ्गप्रविष्टस्य[10] विधानयुक्तः[11] ।
तामेव कुर्यादविमुक्तसत्वो
यावन्न रागात् प्रतिनिःसृतः[12] स्यात् ॥ ११८ ॥

---

१. नेत्रतया—घ० ।
२. विवृद्धया भुजङ्गदंशाद् वा—ग० घ० ।
३. नाट्ययोगे—ख० ४. अभिनयपरिशेषाः—ख० ।
५. सर्वभाव—ख० ।
६. लोकतो ये ते सर्वे लोकतः साध्याः—ख० ।
७. माल्यं—ग०, घ० । ८. मालां बध्नाति—क (प०)
९. अङ्गोपाङ्गरसैः—ग० । १०. प्रवृत्तस्य—ख० ।
११. विधानतस्तु—ग० घ०, विधानयुक्तः—क० ।
१२. निर्वृतः स्यात्—क०; निस्सृतः सः—घ० ।

रंगमंच पर प्रविष्ट होने वाले जिस पात्र की नाटयविधान के अनुसार जो गति तथा कार्य नियत किये गए हैं उन्हें उस पात्र के द्वारा बिना किसी भाव को (सात्विक भाव को) छोड़ते हुए रंगनिष्क्रमण तक बराबर अपने कार्य को करते रहना चाहिए ॥ ११८)

एवमेते मया प्रोक्ता नाट्ये[2] चाभिनयाः क्रमात् ।
अन्ये[1] तु लौकिका ये ते लोकाद् ग्राह्याः सदा बुधैः ॥११९॥

इस प्रकार मैंने वाणी तथा अंगों के क्रमशः अभिनय-विधान को बतलाया। इसमें जो अनेक बातें नहीं बतलाई जा सकी हों उन्हें लोक-व्यवहार से संकलित की जाए ॥ ११९ ॥

नाट्य की त्रिविध प्रतिष्ठा—

लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।
वेदाध्यात्मपदार्थेषु[3] प्रायो नाट्यं प्रतिष्ठितम्[4] ॥ १२० ॥

नाट्यविद्या में लोक, वेद तथा अध्यात्म तीनों को प्रमाण माना गया हैं। परन्तु नाटक पिछले दो प्रमाणों (वेद और अध्यात्म) पर प्रायः आश्रित रहता है ॥ १२० ॥

वेदाध्यात्मोपपन्नं[5] तु शब्दच्छन्दस्समन्वितम् ।
लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं[6] तथा[7] ॥ १२१ ॥
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।

नाटक जिसका मूल वेद तथा अध्यात्म में है तथा जो अपने में विभिन्न शब्दों तथा छन्दों को समेटे है, पर जब तक वह जनता द्वारा गृहीत या अभिनीत न हो तो वह सफल नहीं होता। अतएव नाटक की सफलता में प्रजाजन ही अधिकृत प्रमाण है ॥ १२१ ॥

देवतानामृषीणाञ्च राज्ञामथ[8] कुटुम्बिनाम् ।
पूर्ववृत्तानुचरितं[9] नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १२२ ॥

---

१. भावा ह्यभिनयं प्रति—ख०; वागङ्गेऽभिनयाः क्रमात्—ग० घ० ।
२. नोक्ता येऽपि तु तेऽप्यत्र लोकाद् ग्राह्यास्तु पण्डितै—ख० ।
३. लोकाध्यात्म—ख० । ४. व्यवस्थितम्—ख० ।
५. तदध्यात्माभिसम्भूतं छन्दःशब्द—ख० ।
६. लोकस्वभावजम्—ग०, घ० । ७. त्विदम्—ख० ।
८. राज्ञां लोकस्य चैव हि—ख०; राज्ञां जनपदस्य च—क० प० ।
९. कृत्वानुकरणं लोके—ग०, घ० । नाट्यहेतोः प्रयोक्तृभिः— ख० ।

देवता, ऋषि, राजा तथा गृहस्थी जन के जीवन की पूर्व घटनाओं का अनुकरणात्मय प्रदर्शन 'नाट्य' कहलाता है ॥ १२२ ॥

लोकस्य चरितं यत्तु नानावस्थान्तरात्मकम् ।
तदङ्गाभिनयोपेतं नाट्यमित्यभिसंज्ञितम् ॥ १२३ ॥

प्रजाजन की अनेक अवस्थाओं से युक्त चरित्र का आंगिक आदि अभिनय से युक्त प्रदर्शन 'नाट्य'[1] कहलाता है ॥ १२३ ॥

नाटक को नियमित या सैधान्तिक स्वरूप जनता ही प्रदान करती है—

एवं लोकस्य या वार्ता न ानावस्थान्तरात्मिका ।
सा नाट्ये संविधातव्या नाट्यवेदविचक्षणैः[1] ॥ १२४ ॥

इस प्रकार जो प्रजाजन की अनेक अवस्थाओं से युक्त वार्ताएँ (कथाएँ, चरित्र) हों उन्हें ही 'नाट्यवेद' के चतुर प्रयोक्ता नाटक में प्रदर्शित करे ॥ १२४ ॥[2]

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः ।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तन्नाट्यमिति[2] संज्ञितम् ॥ १२५ ॥

क्योंकि जो शास्त्र, नियम, कला तथा कार्य प्रजाजन से सम्बद्ध है उन्हें 'नाट्य' में समाविष्ट करते हुए प्रदर्शन किया जा सकता है ॥ १२५ ॥

न च शक्यं हि लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।
शास्त्रेण निर्णयं[3] कर्तुं [4]भावचेष्टाविधिं प्रति ॥ १२६ ॥

क्योंकि इस स्थावर जंगमात्मक जगत् की सारी चेष्टाएँ तथा भावों का शास्त्र द्वारा स्वरूप निश्चय करना संभव नहीं है ॥ १२६ ॥

---

१. नाट्य के मूल का तथा उसके लोकाश्रित रहने का विवरण ना० शा० १।१२० में आ चुका है । यहां फिर से उसे दोहराया जा रहा है । नाट्यशास्त्र में सर्वत्र लोकाश्रित प्रयोग पर वल दिया गया है तथा तदनुरूप व्यवहार का ही उपदेश भी । यह इस ग्रन्थ से सर्वत्र स्पष्ट ही है ।

२. पद्य संख्या १२२ तथा १२४ एवं १२५ मूलपाठ में सन्दर्भानुरोध के कारण लगाये गये हैं । यद्यपि ये वडोदा-संस्करण के पाठान्तर में दिखलाये गये हैं । (सम्पा०)

---

१. नाट्यहेतोः प्रयोक्तृभिः—ख० ।
२. नाट्यमित्यभिसंज्ञितम्—ख० ।
३. नियमं—क(ज०) ख० ।
४. नानाचेष्टा—ख० ।

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले[1] नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयं[2] नाट्ययोक्तृभिः[3] ॥ १२७ ॥

क्योंकि प्रजा के स्वभाव विभिन्न प्रकार के होते हैं और नाटक स्वभाव (शील) पर आधारित होता है । इसलिए नाट्यकार तथा नाट्यप्रयोक्ताजन लोकप्रसिद्ध घटना तथा लोकसिद्ध भावों का ही नाटक में ग्रहण किया करें ॥ १२७ ॥

एवं[4] भावानुकरणे नानाप्रकृतिसम्भवे ।
भावाङ्गसत्वसंयुक्तो यत्नः कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥ १२८ ॥

और वे विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों में होने वाले भावों के अनुकारक इस नाट्य-प्रयोग को भाव. अंग, तथा सत्त्व से युक्त करते हुए प्रदर्शित करने में अपना ध्यान सदा बनाए रखें । (प्रयत्न करें) ॥ १२८ ॥

एतान्[5] विधिंश्चाभिनयस्य सम्यक्-
विज्ञाय रङ्गे मनुजः प्रयुङ्क्ते[6] ।
स[7] नाट्यतत्त्वाभिनयप्रयोक्ता[8]
सम्मानमग्र्यं लभते हि[9] लोके ॥ १२९ ॥

जो मनुष्य अभिनय की इन शास्त्रीय विधियों को समझते[1] हुए मंच पर प्रदर्शित करता है, वह नाट्यतत्त्व तथा अभिनय को प्रयोग द्वारा व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने के कारण जगत् में सम्मान-भाजन होता है ॥ १२९ ॥

---

१. आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने यहाँ अभिनय विधि की व्याख्या करते हुए दिखलाया कि सामान्याभिनय से लेकर जो अभिनय की विधियाँ चित्राभिनय तक दिखलाई गयी है वे अभिनय विधान में इति-कर्त्तव्यता के रूप में निर्दशित की गयी हैं अतः इन्ही विधियों पर ध्यान पूर्वक विचार करते हुए ठीक से

---

१. तासु—क० (ज०) । २. कर्त्तव्यं—ग०, घ० ।
३. अभ्यन्तरश्च बाह्यश्च द्विविधं नाट्यमिष्यते—क (ज०) ।
४. पद्यमेतत् क—पुस्तके नास्ति ।
५. नाट्यप्रकाराः कथिता मयैते—ख०, येऽभिक्रमैर्योऽभिनयं तु सम्यक्—ग०; एभिःक्रमै—घ० ।
६. मनुजैः प्रयोज्याः—ख०; मनुजः प्रयुज्यात्—ग०, घ० ।
७. नाट्यस्य तत्वानुगतः प्रयोगः—ख० ; । ८. भिनयप्रयोगः—ग० ।
९. हिरण्यम्—ख०; च लोके—ग० ।

एवमेते[1] ह्यभिनया वाङ्नेपथ्याङ्गसम्भवाः[2] ।
प्रयोगज्ञेन कर्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ॥ १३० ॥

इन वाणी, नेपथ्य तथा शरीर के अंगों से प्रस्तुत किये जाने वाले अभिनयों[1] को जानना चाहिए तथा इनको सिद्धि के आंकाक्षी नाट्यप्रायोक्ता को नाटकादि में प्रस्तुत (भी) करना चाहिए ॥ १३० ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे चित्राभिनयो नाम षड्विंशोऽध्यायः ।

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र का 'चित्राभिनया' नामक
छब्बीसवें अध्याय की प्रदीप व्याख्या सम्पूर्ण ।

अभिनय को समझ कर प्रस्तुत करना चाहिए । यहाँ समझ कर विचार करते हुए शद्ध से भरतमुनि ने नाट्ययपरम्परा में आगे किये जाने वाले अभिनय प्रयोगों कों भी संकेतित करते हुए सिद्ध नाट्यप्रयोग को प्रस्तुत करने का निर्देश किया है । नाट्य सम्प्रदाय की इस धारा में आगे चलकर चित्राभिनय के अन्तर्गत कोहल आदि नाट्याचार्यों ने अनेक विशिष्टियाँ तथा अभिनय विधियाँ दिखलाई । अभिनवगुप्तपाद ने कोहलादि प्रवर्तित इन अभिनयों के मूलवचनों का संग्रह भी इस प्रसंग में प्रस्तुत किया है तथा इस अभिनय के विवरण को यथाशक्य पल्लवित भी किया । विस्तार भय से समग्रविवरण यहाँ नहीं दिया गया है । इसका अन्य कारण यह भी है कि यह विवरण अशुद्ध पाठ के कारण भी पूर्णतः प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है ।

१. नाट्य प्रयोग परस्पर वाणी, (वाचिक), नेपथ्य (आहार्य) तथा शरीर (आङ्गिक) के सहकार के कारण सम्मिलित रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है तथा इसी के सम्मिलित रूप से ही नाट्य प्रयोग में सिद्धि हो सकती है । अतएव इन अभिनयों में 'अङ्ग' शब्द से सत्व या सात्विक-अभिनय का भी मुनि ने संकेत किया है तथा इस प्रकार सामान्याभिनय की भी सूचना देते हुए 'चित्राभिनय' तक के अभिनय क्रम को प्रस्तुत करने का निर्देश भी किया है । प्रयोग की सिद्धि के उल्लेख द्वारा 'अग्रिम प्रतिपाद्य' सिद्ध्यध्याय की यहीं सूचना देते हुए अध्याय का उपसंहार किया है ।

---

१. ज्ञेयास्त्वभिनया ह्येते—ग०, घ चत्वारोऽभिनया ह्येते—कक (ज) ।
२. संश्रयाः—ग०; घ० ।

सप्तविंशोऽध्याय

(नाट्य-सिद्धि-निरूपणाध्याय)

सिद्धीनां तु प्रवक्ष्यामि लक्षणं नाटकाश्रयम् ।
यस्मात् प्रयोगः सर्वोऽयं सिद्ध्यर्थं[1] सम्प्रदर्शितः[2] ॥ १ ॥

अब मैं रूपकों (नाटकों) से सम्बद्ध सिद्धि का लक्षण बतलाता हूँ। क्योंकि नाटक की रचना (प्रदर्शन, निर्माण) आदि सिद्धि पर निर्भर (करती) है[1] ॥ १ ॥

सिद्धि के प्रकार—

सिद्धिस्तु द्विविधा ज्ञेया वाङ्मनोङ्गसमुद्भवा[3] ।
दैवी[4] च मानुषी चैव नानाभावसमुत्थिता ॥ २ ॥

नाट्य-रचना में जो वाणी, मन तथा शरीर के अभिनय से उत्पन्न होने वाली तथा अनेक रसों और भावों से सम्बद्ध सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं— दैवी तथा मानुषी ॥ २ ॥

मानुषी-सिद्धि—

दशाङ्गा मानुषी सिद्धिर्दैवी तु द्विविधा स्मृता ।
नानासत्त्वाश्रयकृता वाङ्नैपथ्यशरीरजा[6] ॥ ३ ॥

---

१. इस अध्याय में प्रेक्षकों के द्वारा नाट्यप्रयोग के प्रदर्शन पर होने वाला रसग्रहण तथा उसके सामूहिक प्रभाव आदि का जो कि अनेक विध मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कोणों से आता है तथा इसी कारण जिसमें अनेक विशेषज्ञ विद्वान् तथा कलाविद का समावेश होता है निरूपण किया गया है।

---

१. सिद्ध्यर्थः—ख० सिद्ध्यर्थे—ग०, घ० ।

२. सम्प्रतिष्ठितः—ग०, घ० ।

३. वाक्सत्वाङ्गसमुद्भवा—ग०; घ० ।

४. दैविकी मानुषी—ग०, घ० ।

५. भावरसा श्रया—ग०, घ०, द्विविधा नाटचभाविनी—क० (भ०) ।

६. शारीरी वाङ्मयी तथा—स, ग०, घ० ।

इनमे मानुषी सिद्धि के दस अंग तथा दैवी के दो अंग होते हैं। (और) ये अंग अनेक भावों से आश्रित वाणी,[1] वेष, (नेपथ्य) तथा शरीर से अभिव्यक्त किये जाने पर उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

वाङ्मयी सिद्धि—

स्मितापहासिनी[1] हासा साध्वहो कष्टमेव[2] च।
प्रवृद्धनादा[3] च तथा सिद्धिर्ज्ञेयाथ[4] वाङ्मयी ॥ ४ ॥

प्रेक्षकों का स्मित, अर्धहास, अतिहास, साधु, साधु, अहो (आश्चर्य), हाय हाय तथा जोर से चिल्लाना (ये सभी) वाङ्मयी[2]-सिद्धि के सूचक है ॥४॥

शरीरी सिद्धि—

पुलकैश्च सरोमाञ्चैरभ्युत्थानैस्तथैव च।
चेलदानाङ्गुलिक्षेपैः शारीरी सिद्धिरिष्यते ॥ ५ ॥

प्रेक्षको का हर्ष रोमांचित होने, अपने स्थान से उछल पड़ने तथा वस्त्र और अंगूठी को अपने शरीर से उतार कर अभिनेता की ओर पुरस्कार हेतु फेंकने से प्रयोग की शारीरी-सिद्धि सूचित होती है[3] ॥ ५ ॥

---

१. इन तीनों से 'सामान्याभिनय' का निर्माण हो जाता है।

२. वाङ्मयी सिद्धि में होने वाले 'स्मित' आदि के लक्षण ना० शा० ६।५२ में दिये जा चुके हैं।

३. प्राचीन समय से भारत में एक प्रथा चली आ रही थी कि नाट्य-प्रदर्शन में किसी योग्य अभिनेता के अभिनय से प्रसन्न होने पर सम्पन्न दर्शकगण अपने शरीर पर धारण किये हुए वस्त्र, मूल्यवान् पदार्थों को उपहार स्वरूप दे दिया करते थे। आज भी कई प्रकार के पुरस्कार प्राप्त करना इसी सिद्धि के अन्तर्गत है पर अब प्रयोग के कार्यकाल में हर्षाभिभूत दर्शको द्वारा इस प्रकार सामग्री का वर्षण एक हल्की रसग्रहीति को शिष्टता के अभाव में धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है।

---

१. स्मितार्धहासातिहासा—ग०, घ०।
२. हा हतेति च—क (प)।
३. भवेत् प्रवृद्धानन्दाया—क (प०)।
४. ज्ञेया सिद्धिस्तु—ख०, ग०।

किञ्चिच्छिष्टो[1] रसो हास्यो नृत्यद्भिर्यत्र[2] युज्यते ।
स्मितेन सः[3] प्रतिग्राह्यः प्रेक्षकैर्नित्यमेव च ॥ ६ ॥

जब अभिनेताओं (नर्तकों) के द्वारा (यहाँ श्लिष्ट पाठ लेना अप्रासंगिक है) शिष्ट हास्य का प्रदर्शन हो तो प्रेक्षक गण उसे मुसकुराहट के साथ ग्रहण करते हैं ॥ ६ ॥

किञ्चिदस्पष्टहास्यं यत्तथा वचनमेव च[4] ।
अर्धहासेन[5] तद्ग्राह्यं प्रेक्षकैर्नित्यमेव हि ॥ ७ ॥

जब वे ऐसे हास्य का प्रदर्शन करे जो थोड़ा अस्पष्ट हो अथवा ऐसे शब्दों का प्रयोग करे जो कि पूर्ण-रूप से प्रेक्षक को हँसा न पाए तो प्रेक्षक गण उसे अर्धहास के साथ ग्रहण करेंगे[1] ॥ ७ ॥

विदूषकोच्छेदकृतं[6] भवेच्छिल्पकृतश्च यत् ।
अतिहास्येन तद्ग्राह्यं प्रेक्षकैर्नित्यमेव तु ॥ ८ ॥

जो हास्य विदूषक के दम्भ या शेखी से पूर्ण हो या किसी शिल्प (अतिशय) को निदर्शित करता हो तो उसे दर्शक सदा 'अतिहास्य' द्वारा ग्रहण करते हैं[2] ॥ ८ ॥

---

१. शिष्ट हास्य तथा अर्धहास यथार्थ घटना के प्रभाव का दर्शकों पर सीधा असर बतलाता है ।

२. अतिहास्य प्रेक्षक तभी करते है जब नेपथ्यरचना भी हंसोड़ व्यक्तित्व के साथ एकरूपता लाती हो। जैसे कोई विदूषक (या जोकर) अपनी वचनावली के साथ वेष भी ऐसा धारण करे कि तत्काल दर्शक चिल्ला कर हँसने लगे ।

---

१. किञ्चित् च्छिष्टो—ख०, ग०, घ० ।

२. यः प्रयुज्यते—ख०, ग०, घ० ।

३. सुपरिग्राह्यः—ग०, ख; परिग्राह्यः—घ०, सम्परिग्राह्यः—क (प०)

४. वा—ग० ।

५. अर्थहास्येन—क० ।

६. विदूषकोच्छेक—ख०, विदूषकोत्सेक—घ०, विदूषको च्छेदपदं—क (प०) ।

यद्धर्मपदसंयुक्तं[1] तथातिशयसम्भवम् ।
तत्र साध्विति यद्वाक्यं[2] प्रयोक्तव्यं हि साधकैः ॥ ९ ॥

अहोकारस्तथा[3] कार्यो नृणां प्रकृतिसम्भवः।
विस्मयाविष्ट[4]भावेषु प्रहर्षार्थेषु चैव हि ॥ १० ॥

इसी प्रकार विस्मय आदि भावों तथा शृङ्गार, अद्भुत और वीर-रस के प्रदर्शन के समय दर्शक 'अहो' (कितना आश्चर्यकारी, वाह !) का उच्चारण करते हैं ॥ १० ॥

करुणेऽपि[5] प्रयोक्तव्यं कष्टं[6] शास्त्रकृतेन[7] तु ।
प्रवृद्धनादा[8] च तथा विस्मयार्थेषु[9] नित्यशः ॥ ११ ॥

पर करुण रस के प्रदर्शन के समय दर्शकों के मुंह से हाय तथा आंखों से आंसू निकलते हैं और विस्मयावहं दृश्यों के प्रदर्शन के समय जोर की आवाज (प्रवृद्धनादा) होती है ॥ ११ ॥

साधिक्षेपेषु[10] वाक्येषु प्रस्पन्दिततनूरुहैः ।
[11]कुतूहलोत्तरावेधैर्बहुमानेन साधयेत्[12] ॥ १२ ॥

(किसी पात्र के) अपमानजनक शब्दों के उच्चारण करने की अवस्था में दर्शको को जो कि आगे आने वाली घटना के प्रति कौतूहल रखते हैं—रोमाचित हो जाते है तथा चिल्लाने लगते हैं ॥ १२ ॥

दीप्तप्रदेशं यत् कार्यं छेद्यभेद्याहवात्मकम् ।
सविद्रवमथोत्फुल्लं[13] तथा युद्धनियुद्धजम् ॥ १३ ॥

---

१. यद्वर्गपद—ख० । २. सद्वाक्यं—ख०, वाक्यं तु—घ० ।
३. अहंकारस्तदा—ख० ।
४. विस्मयादिषु भावेषु प्रहर्षार्थे तथैव च—ख० ।
५. करुणेषु—ख०, करुणे तु—घ० ।
६. सास्त्रं कष्टेति चैव हि—ग०, घ० ।
७. शास्त्रकृतेन—क०, ख० । ८. प्रवृद्धनादः कर्तव्यो—ग०, घ० ।
९. विस्मयोत्थो हि सर्वदा—ख० ।
१०. अविच्छेदेषु—क (प०); सिद्धिच्छेदेषु—ग० (घ०) ।
११. कुतूहलान्तरावेद्यं—ग० घ० ।
१२. साध्यते—ग०, घ० ।
१३. सविद्रवमथोत्पातं तथा लघुनियुद्धजम्—ग०; घ० ।

प्रकम्पितांसशीर्षञ्च[1] साश्रं[2] सोत्थानमेव च।
तत् प्रेक्षकैस्तु [3]कुशलैस्साध्यमेवं[4] विधानतः॥ १४॥

यदि किसी दीप्त 'नाट्यरचना' में जिसमें शरीर के अवयवों के छेदन, भेदन का, युद्ध (अशुभ) अद्भुत (घटना) दुःख या दुर्भाग्य, भयानक दुर्घटना को छोटे मोटे हाथापाई के दृश्य या छोटा सा बाहुयुद्ध प्रदर्शित किया जा रहा हो तो दर्शक गण कंधे तथा मस्तक को कंपाने आंखों में आंसू लाकर तथा अपने स्थान से थोड़ा उठते हुए उसे ग्रहण करते हैं ॥१३-१४॥

एवं साधयितव्यैषा[5] तज्ज्ञैः सिद्धिस्तु मानुषी।
दैविकीञ्च पुनः[6] सिद्धिं सम्प्रवक्ष्यामि तत्वतः॥ १५॥

इस प्रकार मानुषीसिद्धि[1] को साधना चाहिए। अब मैं दैवीसिद्धि का वर्णन करता हूँ, आप उसे भी सुनिये ॥ १५॥

दैवी-सिद्धि—

या [7]भावातिशयोपेता सत्वयुक्ता[8] तथैव च।
सा प्रेक्षकैस्तु कर्त्तव्या[9] दैवीसिद्धिः प्रयोगतः॥ १६॥

नाटकीय प्रदर्शन या संविधानक में जो सिद्धि अतिशय भावों से युक्त तथा सात्विक भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति करने वाली हो तो उसे 'दैवी-सिद्धि'[2] के रूप में दर्शक लेते हैं ॥ १६॥

---

१. 'मानुषीसिद्धि' प्रायः औसत दर्शक की मानवी भावनाओं से सम्बद्ध रहती है और आज भी दर्शक गैलरियो से उनका अन्दाजा लगाया जा सकता है पर इसी सिद्धि से नाट्यप्रयोग के गहनतत्त्व, गम्भीरअभिनय और शास्त्रीय कलागत सफलता का अन्दाज होना कठिन है।

२. नाट्यप्रदर्शन में 'दैवीसिद्धि' के तत्त्व अत्यन्त गंभीरता तथा गहन-वेद्यता लिये रहते हैं।

---

१. सकम्पितांसकशिरः—ग०, घ०; प्रकम्पितात् समरसं—ख०।
२. साश्रमोत्थानमेव—ख०। ३. सकुशलैः—ग०।
४. चेतस्य चालनात्—क० (ज०)।
५. तव्ये या—ख०। ६. तथा सिद्धिं कीर्त्यमानां निबोधत—ग०।
७. सत्वातिशया ज्ञेया भावयुक्ता—ग०, घ०। ८. सत्ययुक्ता—ख०।
९. मन्तव्या—ख०, नाट्ये सम्प्रेक्षकैर्ज्ञेया नित्यं सिद्धिस्तु दैविकी—ग०, घ०।

न शब्दो यत्र[1] न क्षोभो न चोत्पातनिदर्शनम् ।
सम्पूर्णता च रङ्गस्य दैवी[2] सिद्धिस्तु सा स्मृता ॥ १७ ॥

जब किसी नाट्यप्रदर्शन के समय कोई आवाज, किसी प्रकार का विघ्न तथा अनपेक्षित उत्पात न हो तथा प्रेक्षागृह दर्शकों से लबालब भरा हो तो 'दैवी-सिद्धि'[1] कहलाती है ॥ १७ ॥

त्रिविध-घात—

दैवी च[3] मानुषी चैव सिद्धिरेषा मयोदिता ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि घातान्[4] दैवसमुथितान् ॥ १८ ॥
दैवात्मपरसमुत्था[5] त्रिविधा घाता[6] बुधैस्तु विज्ञेयाः ।
औत्पत्तिकश्चतुर्थः कदाचिदथ[7] सम्भवत्येषु ॥ १९ ॥

इस प्रकार मैंने दैवी तथा मानुषी सिद्धि को बतलाया । अब मैं देवोत्पन्न विभिन्न दुर्घटनाओं का वर्णन करता हूँ जो सिद्धि में प्रतिबन्धक होती है । ये दुर्घटनाएँ या घात जो किसी नाट्य प्रदर्शन में आती हैं ये तीन प्रकार की होती हैं । इनमें प्रथम दैव या भाग्यवश दूसरी अपने ही अभिनेताओं द्वारा तथा तीसरी शत्रुओं द्वारा आती है । इनमें कभी-कभी उत्पात से होने वाली चौथी घात भी होती है ॥ १८–१९ ॥

---

१. इस दैवीसिद्धि का सम्बन्ध सुसंस्कृत प्रेक्षकों से अधिक प्रतीत होता है जो गहरी अनुभूतियों से सराबोर रसप्रयोग में रुचि लेते हों तथा सामान्य दर्शक भी जब चुपचाप नाट्यप्रदर्शन को देख रहे हों तो इस आनन्द पूर्ण स्थिति तथा शान्तिपूर्ण प्रदर्शन को 'दैवीसिद्धि' मान लिया जाता है ।

---

१. नैव च—ग०, घ० ।
२. सा सिद्धिर्दैविकी स्मृता—ग०, घ० ।
३. एवं सिद्धिस्तु विज्ञेया प्रेक्षकैर्दिव्यमानुषी—ग०, घ० ।
४. घातान् वै दिव्यमानुषान्—ख० ।
५. दैवपरात्म—ख० ।
६. घातका बुधैर्ज्ञेया—ग० ।
७. कादचित्कः स विज्ञेयः—ख० ।

दैवकृत-घात—

वाताग्निवर्षकुञ्जरभुजङ्गसङ्क्षोभमण्डपनिपाताः[1] ।
कीटव्यालपिपीलिकपशुप्रवेशनाश्च[2] दैवकृताः[3] ॥ २० ॥

तूफान आने, आग लगने, वर्षा होने, हाथी के निकल भागने, सांप के निकलने, रंगमंच के किसी भाग के टूट पड़ने, प्रदर्शन के समय कीड़े, सांप या चीटी के निकलने या पशु के प्रवेश कर जाने पर 'दैवी-घात' समझना चाहिए[1] ॥ २० ॥

शत्रुकृतघात—

[4]अतिहसितरुदितविस्फोटितान्योत्कुष्टनालिकापाताः[5] ।
गोमय[6] लोष्ठ पिपीलिकविक्षेपाश्चारिसम्भूताः ॥ २१ ॥

शत्रुओं द्वारा की गई घात में प्रदर्शन के समय जोरों से हँसना, रोना या चिल्लाना, विस्फोट होना, शोरगुल मचाना (उत्कुष्ट) गाली बकना, गोबर के कण्डां, मिट्टी के ढेलों तथा चीटियों का मंच पर फेंकना होता है[2] ॥ २१ ॥

---

१. दैवकृता कहने का आशय है कि अनेक दुर्घटनाओं के मूल में अलौकिक या अदृष्ट कारण भी होते हैं, जिन्हें देवताओं द्वारा किया हुआ समझा जाता है। दुर्घटनाओं के घटने में (ये) घात भी कारणीभूत (मानी जा सकती या) होती है।

२. 'शत्रुजघात' अभिनेताओं द्वारा भी उत्पन्न किया जाता है, क्योंकि एक नाट्यमडली के अभिनेता दूसरी नाट्यमंडली के प्रयोग को उखाड़ने का

---

१. सङ्क्षोभवज्रपतनानि—ग०, घ० ।

२. पशुवेशनजास्तथैव—ख०; पशुविशसनानि दैविका घाताः—ग०,घ० ।

३. दैवककृता—क० ।

४. अस्मात् पूर्वं—वैवर्ण्यं चाचेष्टं विभ्रमितत्वं स्मृतिप्रमोहश्च । अन्यवचनञ्च काव्यं तथाङ्गदोषो विहस्तत्वम् । एते त्वात्मसमुत्था घाता ज्ञेयाः प्रयोगज्ञैः । इति क पुस्तकेऽधिकम् ।

५. अभिरटित विस्फोटितानि विक्रुष्टतालिकापाताः—ग०, घ० ।

६. गोमयलोष्ठतृणोपलविक्षेपाश्चारिसम्भूताः—ख०; गोमय ··· विक्षेपाश्च स्युश्चात्मसम्भूताः—ग०, गोमय······स्युः परसम्भूताः—घ० ।

मात्सर्याद्वेषाद्वा[1] तत्पक्षत्वात्तथार्थभेदत्वात् ।
एते तु[2] परसमुत्था ज्ञेया घाता बुधैर्नित्यम् ॥ २२ ॥

ये शत्रु से होने वाले घात मात्सर्य तथा द्वेष, विपरीत पक्षावलम्बी होने के तथा किसी व्यक्ति से फूट डालने लिये धन पाकर भी विघ्नों को उत्पन्न किये जाते हैं। बुधजन इन्हें ठीक से (ध्यान पूर्वक) देखें[1] ॥ २२ ॥

उत्पातजन्य घात—

औत्पत्तिकास्तथा स्युः क्षितिकम्पोल्कादिवातनिर्घाताः ।
[औत्पतिकाश्च घाता [3]मत्तान्मत्तप्रवेशलिङ्गकृतः ।]

उत्पात से होने वाली (चौथी) घात में-पृथ्वी का हिलना, उल्कापात, तूफान आना, अंधड़ हवा का (चलना पाठा०—प्रदर्शन-स्थल पर किसी नशे किये हुए या पागल व्याक्ति का प्रवेश कर जाना) होता है[2] ।

आत्मसमुत्थघात—

पुनरात्मसमुत्था ये घातास्तास्तान् प्रवक्ष्यामि ॥ २३ ॥
वैलक्षण्यमचेष्टितविभूभिकत्वं[4] स्मृतिप्रमोषश्च[5] ।
अन्यवचनश्च काव्यं[6] तथार्त्तनादो[7] विहस्तत्वम् ॥ २४ ॥
[8]अतिहसितरुदितविस्वरविपीलिकाकीटपशुविरावाश्च ।

उद्योग करते हैं। यह उद्योग किसी प्रतिस्पर्द्धा, पुरस्कार प्राप्ति या रागद्वेष-वशात् भी होता है। नाट्यशास्त्र का यह विवरण आज भी अनेक सामाजिक कार्यों पर सटीक उतर रहा है।

१. अभिनेताओं को परस्पर लड़ा कर उन्हें समाप्त कर देने के लिये कभी कभी विपक्षी नाट्य-निर्देशक भी 'घात' उत्पन्न करवा देते हैं।

२. 'उत्पातजन्यघात' में दर्शको में एक अतर्कित तथा तीव्र-भय तत्काल समाविष्ट हो जाता है (परन्तु प्राकृतिक-आघात सहसा घटित होने के कारण उनमें भय की मात्रा क्रमशः समाविष्ट नहीं होती) ।

---

१. मात्सर्यद्वेषाद्वा तत्पक्ष्यत्वात्तयार्थभेदाद्वा—ख०, मात्सर्यात् द्वेषाद्वा तत्पक्षत्वात्तथार्थभेदाद्वा—ग०, घ०। २. परप्रयुक्ता—ग०; घ०।
[३. पशुवेषोन्मत्तलिङ्गकृताः—ख०] ४. मचेष्टाविभू—ख०।
५. प्रसूतिश्च—, प्रमोक्षाः स्युः—ग०, घ०। ६. काव्ये—ग०; घ०।
७. नादो—ख०।
८. आरटितरुदितविहसित—कासक्षताङ्गकम्पाद्याः—क(ट), अतिहसित-रुदितविस्वरपिपीलिकाविटकीटगवा (?) श्च—ख०।

मुकुटाभरणनिपाताः[1] पुष्करवाग्भीतदोषाश्च[2] ॥ २५ ॥
अतिहसितरुदितानि सिद्धिबाधप्रमाणकरणानि[3] ।

अब मैं आत्मसमुत्थ घात का (जो कि अभिनेताओं के द्वारा स्वयं हो जाती है) वर्णन करूँगा । अभिनय में अस्वाभाविकता (वैलक्ष्य), (अभिनेता का) अनपेक्षित रूप में हाथ पैर पटकना, (अचेष्टित) उपयुक्त भूमिका धारण न करना, (विभूमिकत्व) अभिनेता का कार्य करते समय स्मृतिनाश होना, दूसरे ही शब्दों का (जो संवाद के अतिरिक्त हो) उच्चारण करना, (अभिनेता का) क्लेश के कारण चिल्लाने लगना, (आर्तनाद) उचित हस्त चेष्टाओं की न्यूनता (विहस्तत्व), अतिशय हंसने या रोने लगना, स्वर बिगड़ जाना तथा प्रदर्शन के मध्य कीट, पशु आदि के बोलने की आवाज होना, (मुकुट आदि) आभूषण का टूट जाना, वादन दशा में मृदंग आदि वाद्य का विगड़ जाना, संवाद उच्चारण में लजाना ये सिद्धि में घातक होते है ॥ २३–२५ ॥

कीटपिपीलिकपाताः सिद्धिं[4] सर्वात्मना घ्नन्ति ।
मुकुटाभरणनिपातः प्रवृद्ध[5]नादश्च नाशनो भवति ॥ २६ ॥

(इनमें) कीड़े तथा चीटियों का गिरना पूर्ण रूप से सिद्धि का विनाशक होता है (जबकि) मुकुट आदि अलंकारों का गिर जाना व शोरगुल का बढ़ना नाट्यप्रयोग का नाशक होता है ॥ २६ ॥

पशुविशसनमपि[6] ज्ञेयं[7] बाधाजननं प्रयोगस्य[8] ।
वाग्भीतिभाण्डदोषाः[9] सिद्धिं सर्वात्मना घ्नन्ति ॥ २७ ॥

(प्रदर्शन गृह में) पशु का प्रवेश तथा उसका पीटा जाना नाट्यप्रदर्शन (प्रयोग) में बाधक होता है । परन्तु (अभिनेताओं का) संवादों के बोलने

१. भरणप्रपतनपुष्करवाग्भीतिदोषाश्च—ग०, घ० ।

२. पुष्करजाः काव्यदोषाश्च—क० ।

३. अतिरुदितहसितानि सिद्धेर्भावस्य दूषणानि स्युः—ख० ।

४. सिद्धेःख० । ५. प्रवद्धनादस्य—ख०, ग० ।

६. पशुविशसनं तथा स्याद् बहुवचनघ्नं प्रयोगेषु—क०; पशुवेशनं तथा··· प्रयोगेषु—ख० । ७. मवज्ञेयं—ग० ।

८. अतः परं—ग-पुस्तके—प्रपतमुत्कृष्टघ्नं स्वैरञ्चेत्तथैव पादघ्नम्—इत्यधिकम् । ९. भीतिर्भाण्ड—घ० ।

में लजाना और वाद्य-वादन का बिगड़ जाना सम्पूर्ण सिद्धि का घातक होता है ॥ २७ ॥

अप्रतिकार्य घातें—

ज्ञेयौ तु काव्यजातौ[1] द्वौ दोषावप्रतिक्रियौ[2] नित्यम् ।
प्रकृतिव्यसनसमुत्थः शेषोदकनालिकत्वश्च[3] ॥ २८ ॥

नाटक में होनेवाले दो घातों का कोई प्रतिकार नही किया जा सकता हैं । (एक) स्वाभाविक अभिनय का न होना तथा नाडिका[1] से पानी का बाहर निकलने लगना (क्योंकि वैसा होने पर सभी नियत-समय में होने वाले अभिनयादि प्रदर्शन अस्तव्यस्त हो जाएंगे) ॥ २८ ॥

स्थूल घातों के प्रदेश—

पुनरुक्तो[4] ह्यसमासो विभक्तिभेदो विसन्धयोऽपार्थाः[5] ।
त्रैलिङ्गजश्च[6] दोषः प्रत्यक्षपरोक्षसम्मोहः[7] ॥ २९ ॥
छन्दोवृत्तत्यागो[8] गुरुलाघवसङ्करो[9] यतेर्भेदः ।
एतानि यथा स्थूलं[10] घातस्थानानि काव्यस्य ॥ ३० ॥

नाटक में होने वाली घातों के मोटे (जिससे सिद्धि निलम्बित हो जाती है) प्रदेश हैं:—(संवाद में) पुनरुक्ति होना, गलत सामासिक प्रयोग करना, विभक्तियों में भूल हो जाना, (वाक्य में) सन्धि की अपेक्षा न करना

---

१. नाडिका = घाटिका या २४ मिनिट का समय । प्राचीन काल में समयज्ञान के लिये इसी का प्रयोग होता था । घड़े में जल भर कर उसमें एक पतली नाली के माध्यम से बूंदे गिरती रहती हैं जिससे नाडिका का ज्ञान होकर कालनियमन होता था । आज भी विवाह आदि के अवसर पर इसे देखा जा सकता है ।

---

१. काव्ययुक्तौ—ग०, घ० ।
२. घाता—क० । ३. नालिकत्वश्च—क० ।
४. पुनरुक्तं—ख० । ५. ऽपार्थः—क० ।
६. त्रिलिङ्गजाश्च—ख०, ग०, घ० ।
७. सम्मोहाः—क० । ८. त्यागाः—ख० ।
९. सङ्करोत्पातभेदा—ख० ।
१०. स्थूलघात—ग०, यथास्थलं घात—घ० ।

(विसन्धि) या उसकी प्रयोग-हीनता, असंगत शब्दों का प्रयोग (अपार्थ) शब्दों का (तीन) लिंग के अनुसार प्रयोग न होना, शब्दों के प्रत्यक्ष परोक्ष सम्बन्ध का अज्ञान (प्रत्यक्षपरोक्ष-सम्मोह), छन्दों-भंग या छन्द के स्वरूप का परित्याग कर देना, गुरू तथा लघु वर्णों का अनपेक्षित परिवर्तन तथा यतिभंग होना[1] ॥ २९–३० ॥

विस्वरमजाततालं[1] वर्णस्वरसम्पदा च परिहीणम् ।
अज्ञातस्थानलयं स्वरगतमेवंविधं[2] हन्यात् ॥ ३१ ॥

(नाटक के प्रदर्शन में) स्वरों का अनुचित आलाप, ताल-हीनता (बेतालपन) वर्ण तथा स्वर हीनता, स्थान तथा लय का अज्ञान नाट्यगत संगीत[2] (परिपाटी के स्वरूप) का घातक होता है ॥ ३१ ॥

विषमं मार्गविहीनं विमार्जनश्चाकुलंप्रहारश्च[3] ।
अविभक्तग्रहमोक्षं पुष्करगतमीदृशं[4] हन्ति[5] ॥ ३२ ॥

'सम' मार्ग तथा मार्जना का ठीक से न समझना, जोर देकर बजाना, प्रारंभ करने तथा बन्द करने के स्थान को छोड़ देना ये मृदंग आदि अवनद्ध-वाद्य वादन के रंग को फीका कर देता है[3] ॥ ३२ ॥

---

१. संवाद में भाषा, विभाषा तथा संस्कृत भाषा के सुस्पष्ट उच्चारण का अपना महत्त्व है। नाट्यशास्त्र भाषाविधानाध्याय में तथा अन्यत्र शब्दों के व्यवस्थित उच्चारण पर अधिक बल दिया जाना प्रतिपादित किया गया है। उसका कारण है इस तत्त्व की त्वरित प्रभावशालिनी उपयोगिता रहना क्योंकि संवाद के सुस्पष्ट उच्चारण से जनता पर पर्याप्त प्रभाव गिरता है, पर नाट्यशास्त्र के आचार्य द्वारा इसके दोषों का निदर्शन करना भी आवश्यक था। भरत मुनि द्वारा निर्दशित ये दोष आज भी प्रसिद्ध अभिनेताओं में अंशतः देखे जा सकते हैं।

२. संगीत की शास्त्रीय-पदावली का स्पष्टीकरण (आगे) संगीत के अध्यायों में दिया जा रहा है। (देखिये-ना० शा २८–३३)

३. सम, मार्ग, मार्जना, ताल आदि संगीत शास्त्रीय तथ्यों का विवेचन ना० शा० अध्याय २८, २९ तथा ३३ में किया गया है।

---

१. विस्वरविरक्तरागं स्वर—वग० ।
२. मेवं विधि—ग०, घ०, मेवंविधन्यायत् (?)—ख० ।
३. विमार्जनं बहुलप्रहारं च—ख०, कुलप्रकारश्च—ग० ।
४. पुष्पगतं मारिषं हन्यात्—ग० । ५. हन्यात्—ग०; घ० ।

अप्रतिभास[1]-स्खलनं विस्वरमुच्चारणञ्च काव्यस्य ।
अस्थानभूषणत्वं पतनं[2] मुकुटस्य विभ्रंशः[3] ॥ ३३ ॥

वाजिस्यन्दकुञ्जरखरोष्ट्रशिविकाविमानयानानाम्[4] ।
आरोहणावतरणेष्वनभिज्ञत्वं[5] विहस्तत्वम् ॥ ३४ ॥

प्रहरणकवचानामप्ययथाग्रहणं[6] विधारणञ्चापि ।
[7]अमुकुटभूषणयोगश्चिरप्रवेशोऽथवा[8] रङ्गे ॥ ३५ ॥

एभिः स्थानविशेषैर्घाता लक्ष्यास्तु सूरिभिः कुशलैः ।
[9]यूपाग्निचयनदर्भस्रग्भाण्डपरिग्रहान्[10] मुक्त्वा ॥ ३६ ॥

विना प्रतीत होते हुए भी त्रुटियों का स्मृति हीनता के कारण बराबर होना, संवाद तथा पद्यों (काव्य) का स्वरहीन उच्चारण करना, आभूषणों का अनुचित स्थान पर धारण करना, मुकुट का गिर पड़ना, भूषणों का (उचित होने पर भी) धारण न करना, रथ, हाथी, घोड़ा, खच्चर ऊंट पाल्की (शिविका) विमान तथा यान पर चढ़ने तथा उतरने के अभिनय को न जानने के कारण उनसे गिर पड़ना, (हंस्ताभिनय की न्यूनता) शस्त्र तथा कवचों का ठीक से धारण न करना, विना मुकुट ही (देवपात्रों का) रंगमंच पर आ जाना तथा पात्रों का निर्द्धारित समय पर मंच पर प्रवेश न होना (आदि) ऐसे कार्य हैं जिन्हें चतुर प्रयोक्ताजन उचित स्थान पर प्रयोग न करने के कारण घातक रूप में पहिचान सकते है। परन्तु मंच पर स्थित यूप (यज्ञ स्तम्भ) समिधाओं का हटाना, कुशमाला (स्रुक) तथा यज्ञ-पात्रों के (जो रंगमंच पर होने वाले हवन के लिए लाए गए हों) मंच पर रह जाने पर विचार नहीं करना चाहिए ॥ ३३–३६ ॥

---

१. अप्रतिभागं—क० । २. मुकुटनिपातश्च—ग०, घ० ।
३. च भ्रंशः—ख०; भूषणग्रहणम्—ग०, घ० ।
४. भ्रंशं रथनागवाजिकुञ्जर—ग०, घ०; व्याप्तिस्पन्दनकुञ्जर (?)—ख० ।
५. आरोहणवितरणेष्वनभिज्ञतया—ग०, घ० ।
६. कवचानां वाऽयथावद् ग्रहणं साधनं वापि—ग०, घ० ।
७. अस्फुटभूषण—ख०, भूषणयोगो—घ० ।
८. रङ्गे तु चिरप्रवेशो वा—घ० ।
९. यूपानि—ग० ।
१०. स्रुग्भाण्ड…हांस्त्यक्त्वा—ग०, घ० ।

त्रिविध घात-विभाग—

सिद्धेर्मिश्रो[1] घातस्सर्वगतश्चैकदेशजो[2] वापि ।
नाट्यकुशलैः[3] सलेख्या[4] सिद्धिर्वा[5] स्याद्धिघातो वा ॥ ३७ ॥

नाट्य-कुशल निर्देशक को इन सिद्धि तथा घातों का मिश्र, पूर्णयोग (सर्वगत) तथा व्यक्तिगत (एकदेशज) भेद करते हुए विवरण लिखकर उसकी आलोचना करना चाहिए परन्तु बिना (इस प्रकार के) प्राक्कलन के सिद्धि तथा घात का (प्रमाण-हीन) आलेखन नहीं करना चाहिए ॥३७॥

सिद्धिर्वा[6] घातो वा सर्वगतो व्यक्तलक्षणो बहुशः ।
यस्त्वेकदेशजातस्स[7] प्रत्यवरोऽपि[8] लेख्यस्स्यात् ॥ ३८ ॥

सिद्धि तथा घात के सर्वगत विभाग की अनेक मार्गों से स्वतः अभिव्यक्ति हो जाती है परन्तु यदि प्रदर्शन के एक भाग में थोड़ा (सा) दोष हो (जाए) तो उससे प्रयोग की निम्नस्तर में गणना न की जाए और व्यक्तिगत दोष से जो घात हो उसे फिर से न गिना जाए बस एक बार उसका (अवश्य) आलेखन किया जाए ॥ ३८ ॥

जर्जरमोक्षस्यान्ते[9] सिद्धेर्मोक्षस्तु नालिकायास्तु ।
कर्तव्यस्त्विह[10] सततं नाट्येऽस्मिन् प्राश्निकैः[11] सम्यक् ॥३९॥

नाट्य निर्देशक (सूत्रधार) द्वारा जर्जर स्थापन के पश्चात् नाट्यप्रयोग के प्रारंभ में नाडिका तथा लेख्य सिद्धि को सम्मुख रखकर

---

१. सिद्धया—क, ख० ।
२. देशोऽपि—ग० ।
३. सिद्धिकुशलैः—ख०; नाटयकुशलैः—ग० ।
४. स लेख्यः—ख०; संलेख्या —घ० ।
५. नैव सिद्धिर्नघातश्च—घ० ।
६. नालेख्यो बहुदिनजः सर्वगतोऽव्यक्तविशेषः—क० ।
७. दिवसजात—क० ।
८. वरोहि लेख्यस्तु—ग०, घ० ।
९. स्यान्तर्नालीकसिद्धिश्च लेख्यसिद्धिश्च—ग०, घ ।
१०. कर्त्तव्यास्त्विह—ग०, घ० ।
११. प्राश्निकैर्विधिना—क०, ख० ।

उसका ज्ञान कर लेना चाहिए। (जिससे प्रयोगगत सभी घातों तथा गुणों का उसे ध्यान रहें[1])॥ ३९॥

अशुद्धनान्दी-पाठ—

योऽन्यस्य महे मूर्खो[1] नान्दीश्लोकं पठेद्धि देवस्य[2]।
स्ववशेन[3] पूर्वरङ्गे सिद्धेर्घातः[4] प्रयोगस्य[5]॥ ४०॥

जब किसी (देवोत्सव के अवसर पर होने वाले) नाट्यप्रदर्शन में कोई पात्र मूर्खतावश अनुपयुक्त या अन्य देवता की स्तुति में नान्दी पाठ करता हो तो पूर्वरंग की सिद्धिघात के रूप में (यह कार्य) माना जाए॥ ४०॥

प्रक्षिप्तीकरण से उत्पन्न घात—

योऽन्यस्य[6] कवेः काव्यं[7] काव्येन सम्मिश्रयेत्तथान्येन।
तस्यापि बलाद्रङ्गे तज्ज्ञैर्घातो विलेख्यस्तु॥ ४१॥

(अज्ञानावस्था में भी) जब किसी के द्वारा अन्य लेखक की रचना को दूसरी रचना में मिलाकर प्रस्तुत किया जाय तो इस कार्य को एक घात के रूप में (अवश्य) लिखा जाना चाहिए॥ ४१॥

योऽन्यस्य कवेर्नाम्ना काव्यं काव्येन मिश्रयेन्मोहात्।
निर्दिष्टदोषतोऽस्मिन् सिद्धयालेख्यो बुधैः क्रमशः॥ ४२॥

---

१. श्लोक ३९–४० के मध्य प्रक्षिप्त श्लोक निम्न प्राप्त होता है—

दैन्ये दीनत्वमायान्ति ते नाट्ये प्रेक्षकाः स्मृताः।
ये तुष्टौ तुष्टिमायान्ति शोके शोकं व्रजन्ति च॥

जो दर्शक हीन-दृश्य देखकर दुःखी, हर्ष के अवसर पर प्रसन्न तथा शोकावस्था में शोकाकुल हो जाए उन्हें नाट्य प्रेक्षक समझना चाहिए। (परन्तु इसी अध्याय में यही पुनः ५६ वाँ श्लोक होने से पुनरुक्ति परिहारार्थ इसे अनुपयुक्त स्थान से हटा दिया गया है —सम्पादक।

---

१. मूर्खो—क०, महेशमूढ़ो—ख, मूढ़ो—ग०। २. मूढस्य—ग०।
३. देवस्य पूर्वरङ्गे—ग०; घ०।
४. घातस्तस्यापि लेख्यः स्यात्—ग०, घ०।
५. प्रयोक्तव्यः—ख०।
६. श्लोकद्वयमेतत् क—पुस्तके नास्ति। ७. काव्ये मिश्र—ग०।

और जब किसी प्रख्यात लेखक के नामवाली नाट्य (या काव्य) रचना की अपनी रचना में मिलाकर पढ़ा जाए तो इसे भी सिद्धि के घात के रूप में (निश्चित रूप से) समाविष्ट किया जाए[1] ॥४२॥

यो देशवेषभाषाव्यपेतमपि[1] च प्रयोजयेत् काव्यम् ।
तस्याप्याभिलेख्यः स्याद् घातोद्देशः[2] प्रयोगज्ञैः ॥ ४३ ॥

यदि किसी नाटयकार द्वारा नाट्य के शास्त्रीय रूप तथा उनके प्रदर्शन करने (प्रयोग) के नियमों के विरुद्ध देश, भाषा तथा सम्वाद वाले नाटय की रचना किया जाय तो इसे भी घात के रूप में संग्रहीत किया जाय[2] ॥४३॥

कः शक्तो नाट्यविधौ यथावदुपपादनं प्रयोगस्य[3] ।
कर्तुं[4] व्यग्रमना वा तथावदुक्तं परिज्ञातम् ॥ ४४ ॥

---

१. किसी अन्य प्रसिद्ध लेखक के नाम से प्रसिद्ध रचना का दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रयोग किये जाने के उल्लेख से स्पष्ट है कि नाट्यरचना में कवि के नाम की प्रस्तावना में चर्चा करना प्राचीन काल में संभवतः प्रचलित न रहा होगा और इसी आशंका से परिचालित होकर कवि तथा रचना के नाम का प्रस्तावना में विवरण दिया जाना बाद में प्रचलित हुआ तथा नियम का भी रूप ले लिया होगा जैसा कि साहित्यदर्पण आदि से विदित होता है। महाकवि भास की नाट्यरचना में कवि के साथ नाट्यरचना का प्रस्तावना में उल्लेख नहीं मिलता जो कदाचित् नाट्यशास्त्र के प्रतिकूल नहीं है।

२. भाषा तथा आचार-व्यवहार के नियम परिवर्तनशील होते है इसलिये कोई भी नाट्यरचना या उसके लेखक का सम्पूर्ण नियम को बिना उल्लंघन किये नाट्यरचना लिखना मुश्किल है। संभवतः इसी कारण भाषा तथा आचारगत शिथिलता आते हुए भी संस्कृत साहित्य में अनेक मौक्तिक दृष्टिगत किये जा सकते हैं।

---

१. भाषाहितं काव्यं प्रयोजयेद्दुष्टम्—ख०, देशभावरहितं भाषाकाव्यं प्रयोजयेद बुद्धया—क० ।

२. घातो देशः—क०; घातो देशे विधौ—ग०; घातोदेशविधौ तज्ज्ञैः—घ० ।

३. प्रयोगे च—ग० ।

४. धृष्टो—ग० घ०, भ्रष्टो व्यग्रमनो वा—क (प०) ।

किसकी शक्ति हो सकती है ? या कौन इस विषय में दृढ़ (शुद्ध) बुद्धिवाले हैं जो विधि के अनुसार इन प्रयोगों का उचित एवं पर्याप्त ध्यान रखते हों ॥ ४४ ॥

[1]तस्माद्गम्भीरार्थाः शब्दा ये लोकवेदसंसिद्धाः ।
सर्वजनेन[2] ग्राह्यास्ते योज्या[3] नाटके विधिवत् ॥ ४५ ॥

इसलिए नाटक में उन्हीं शब्दों का समावेश करना चाहिए जो गम्भीर अर्थ लिए हों, वेद तथा लौकिक प्रयोग में आने वाले हो तथा जिनका आशय सरलता से प्रजानन समझ लें[1] ॥ ४५ ॥

न च किञ्चिद्गुणहीनं दोषैः परिवर्जितं न वा किञ्चित् ।
तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतो[4] ग्राह्याः ॥ ४६ ॥

नाटक न तो सबी गुणों से युक्त या दोषों से रहित हो सकत है परन्तु नाटयप्रयोग में दोष अधिक न होने पाए यही ध्यान देने की बात है[2] ॥ ४६ ॥

न[5] च नादरस्तु कार्यो नटेन वागङ्गसत्वनेपथ्ये[6] ।
रसभावयोश्च[7] गीतेष्वातोद्ये लोकयुक्त्याञ्च ॥ ४७ ॥

(परन्तु) अभिनेता (नट) को संवाद (वंचित) अंग सत्व और नेपथ्य संपाद्य अभिनय के प्रति और (इसी प्रकार) रस, भाव, गीत, वाद्य

---

१. इस विवरण का आशय इतना ही है कि नाटक की भाषा में प्रयुक्त वैदिक तथा लौकिक किसी भी पदावली को लोक-संवेद्य होना चाहिए। यही नाटक की व्यवहारिकता है तथा यही उसके लिये ध्यान देने की मूल बात है।

२. नाटक की रचना या प्रयोग के समय पर ध्यान देने योग्य जो वातें यहाँ भरत ने वतलायी है वे सभी वड़ी व्यवहारिक एवं सदा उपयोगी रहेगी यह निर्विवाद है।

---

१. गम्भीरा शब्दा ये व्याकरणे वेदशास्त्र सं प्रोक्ताः—क (प०) ।
२. सर्वजनग्राह्यास्ते—ख० । ३. संयोज्या—ख०, ग० ।
४. नाट्यार्थतो—क० ।
५. नाऽनादरस्तु—ग०, घ० । ६. गौणवागङ्गनेपथ्ये—ग० ।
७. भावनृत्तगीतैरातोद्यैर्लोक—ग०; भावनृत्तगीत आतोद्ये—घ० ।

और लोक रूढ़ियों के प्रति (अपेक्षित रूप में) अधिक लगाव (आग्रह) रखना चाहिए ॥ ४७ ॥

एवमेतत्तु[1] विज्ञेयं सिद्धीनां लक्षणं बुधैः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्राश्निकानान्तु[2] लक्षणम् ॥ ४८ ॥

बुधजन द्वारा सिद्धि को इसी प्रकार (लक्षणों द्वारा) समझना चाहिए। अब मैं निर्णायक प्रेक्षकों (प्राश्निको) के लक्षण बतलाता हूँ ॥ ४८ ॥

प्राश्निक-स्वरूप—

चारित्राभिजनोपेताः[3] शान्तवृत्ताः कृतश्रमाः[4]।
यशोधर्मपराश्चैव[5] [6]मध्यस्थवयसान्विताः ॥ ४९ ॥

षडङ्गनाट्यकुशलाः प्रबुद्धाः[7] शुचयः समाः।
चतुरातोद्यकुशलाः [8]वृत्तज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ५० ॥

देशभाषाविधानज्ञाः[9] कलाशिल्पप्रयोजकाः[10]।
चतुर्धाभिनयोपेता[11] [12]रसभावविकल्पकाः ॥ ५१ ॥

शब्दच्छन्दोविधानज्ञा नानाशास्त्रविचक्षणाः।
एवं विधास्तु कर्तव्याः प्राश्निकाः[13] नाट्यदर्शने ॥ ५२ ॥

(वे) जो सच्चरित्र, कुलीन, शान्त प्रकृति तथा व्यवहार के जानने वाले, विद्याभ्यास में परिश्रमी, गुण और यश तथा धर्म के आकांक्षी, मध्यस्थभाव

---

१. मेतद्धि—ग०, घ०। २. प्रेक्षकाणां—ग०, घ०।
३. चरित्राभिनयोपेताः ख०।
४. शान्तिवृत्त-श्रुतान्विताः—ग०, घ० श्रान्तवृत्त—ख०।
५. धर्मरताश्चैव—ग०, घ०।
६. मध्यस्था वचसा—ख०; मध्यस्था वयसा—ग०; घ०।
७. अलुब्धाः—ख०।
८. नेपथ्यज्ञाः सुधार्मिकाः—ग०, घ०।
९. विचक्षणाः—ग०, घ०।
१०. चतुर्थाभिनयो—क०, चतुर्धाभिनयज्ञाश्च—ख०; ग०; घ०।
११. सूक्ष्मज्ञा रसभावयोः ग०, घ०।
१२. प्रेक्षकाः—ग०, घ०।
१३. दशरूपके—क०; नाट्योटक्त्रभिः—क० (भ०)।

युक्त, अवस्था में अधिक, नाटक के छः अंगों (के ज्ञान) में निपुण, प्रत्युत्पन्न-मति, पवित्र (या ईमानदार) तथा समबुद्धि, आतोद्य की चारों विधाओं के ज्ञाता, नेपथ्य विधान, भाषा-विधान, चतुर्विध अभिनय, व्याकरण; छन्द तथा अन्य शास्त्रों से परिचित, गुणशाली, कला तथा विविध शिल्पों में चतुर और रस तथा भावों के सूक्ष्म तत्त्वों के परिज्ञाता हो उन्हें नाट्य-प्रदर्शन के समय निर्णायक प्रेक्षक (प्राश्निक) बनाया जाय ॥ ४९–५२ ॥

अव्यग्रैरिन्द्रियैः शुद्ध ऊहापोहविशारदः ।
त्यक्तदोषोऽनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ॥ ५३ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ (नेत्र आदि) व्यवस्थित हो, जो शुद्ध आचारवाला, ऊहापोह में चतुर, नाट्य प्रयोग के दोष हानि तथा गुणों का ग्राहक (अनुरागी) हो तो ऐसे व्यक्ति को नाट्यप्रेक्षक बनाया जाय ॥ ५३ ॥

यस्तुष्टौ[2] तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च ।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ॥ ५४ ॥

नाटय में सुखी व्यक्ति को देखकर जो प्रसन्न, दुखी को देखकर शोकाकुल तथा दीन-अवस्था में देखकर दैन्य का अनुभव करनेवाला होता हो वह नाट्य प्रदर्शन को देखने योग्य व्यक्ति 'प्रेक्षक' होता है[1] ॥ ५४ ॥

न चैवैते गुणाः सम्यक् एकस्मिन्[3] प्रेक्षके स्मृताः ।
[4]विज्ञेयस्याप्रमेयत्वादल्पत्वादायुषस्तथा[5] ॥ ५५ ॥
उत्तमाधममध्यानां सङ्कीर्णायाञ्च संसदि ।
न[6] शक्यमधमैर्ज्ञातुमुत्तमानां [7]विचेष्टितम् ॥ ५६ ॥

---

१. प्रेक्षकों के विस्तार से बतलाए गए स्वरूप का आशय इतना ही है कि वे चतुर तथा सहृदय तो हों ही, साथ ही नाट्यप्रदर्शनों के प्रति सुझाव देने की क्षमतावाले और सम्वेदनाशील भी हों । भरत ने दर्शकों की इसी अपेक्षा को अपने लक्षण में अभिव्यक्त किया जो कदाचित् सभी नाट्यनिर्देशक अपने दर्शको से अभी भी अपेक्षित समझते हैं ।

---

१. व्यक्तादोषो—ख०, व्यक्तदोषो—ग० । २. यस्तुष्टे—ख० ।
३. सर्वस्मिन्—क० । ४. तस्माद्बहुत्वाज्ज्ञानानां—ग०, घ० ।
५. संकीर्णानाञ्च पर्षदि—क० । ६. अशक्यमधमै—ख० ।
७. तु चेष्टितम्—ख० ।

ये विविध या सभी गुण किसी एक प्रेक्षक में विद्यमान नहीं रह सकते, क्योंकि ज्ञेय विषय अनेक हैं तथा जीवन छोटा है। (इसके अतिरिक्त) सभा में उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के व्यक्तियों के साथ अधम प्रकृति के व्यक्तियों के मिल जाने से अधम व्यक्ति द्वारा उत्तम चरित्रों को नहीं समझा जा सकता ॥ ५५–५६ ॥

यद्यस्य शिल्पं नेपथ्यं कर्म[1] चेष्टितमेव वा ।
तस्य तेनैव कार्यन्तु[2] स्वकर्मविषयं प्रति ॥ ५७ ॥

इसलिये जिसका, अपना जो कार्य, वेष (नेपथ्य), शिल्प, वाणी तथा चेष्टाएँ हों उसे उसी बात को (कार्य को) समझने में उपयुक्त प्रेक्षक समझना चाहिए[1] ॥ ५७ ॥

प्रेक्षकों की विभिन्न श्रेणियाँ—

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले[3] नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
उत्तमाधममध्यानां वृद्धबालिशयोषिताम्[4] ॥ ५८ ॥

नाट्य प्रदर्शन की सिद्धि अनेक व्यक्तियों पर निर्भर करती है तथा ये व्यक्ति भी स्त्री तथा पुरुष, वृद्ध तथा युवावस्था वाले और उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के होते हैं ॥ ५८ ॥

विभिन्न दर्शकों की पसन्द—

तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते[5] ।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षे[6] चाथ विरागिणः ॥ ५९ ॥

१. प्रेक्षकों की महत्ता एवं उपयोगिता सर्वत्र अनुभव की गयी है। पश्चिमी समीक्षकों ने भी नाट्यप्रकृति में इनकी महत्ता दिखलाये हुए कहा है कि प्रेक्षक सदा मानसिक दृष्टि के निष्क्रिय नहीं होते हैं, अतः रंगमंडप पर प्रस्तुत नाट्यप्रयोग के प्रति उनकी एक निश्चित प्रतिक्रिया होती है जो बौद्धिक होती है। नाट्यप्रयोग ऐसे प्रेक्षको की परितुष्टि को ध्यान में रख कर भी करना होता है चाहे औसत प्रेक्षक की रुचि इससे विभिन्न भी रहती हो।
(Production Theater and Stage. Page, 778.)

१. कर्म वाक् चेष्टितं तथा—ख०, ग०, घ० ।
२. तत् साध्यं स्वकर्मविषयीकृतम्—ख०, ···स्वकर्मविषयाश्रयम्—ग०, घ० ।
३. शीलान्नाट्यं विनिर्मितम्—ख० । ४. वृद्धबालक—ग० ।
५. समयान्विते—क०, ख० । ६. मोक्षेष्वथ—ग०, घ० ।

युवा पुरुष प्रेम (मय) दृश्य को देखकर रीझते हैं, विदग्धजन किसी (धार्मिक तथा दार्शनिक) सिद्धान्त के उल्लेख से, धनार्थी कमाने के उपायों को तथा विरागी पुरुष मोक्ष या भक्ति के प्रसंग देखकर प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ५९ ॥

शूरा[1] बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यानपुराणेषु[2] वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यश[3] ॥ ६० ॥

शूरपुरुष वीभत्स तथा रौद्र रस, बाहुयुद्ध तथा युद्धों के दृश्यों से तथा वृद्ध पुरुष धार्मिक या पौराणिक आख्यान से प्रसन्न होते हैं ॥ ६० ॥

बालाः मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्यनैपथ्ययोस्सदा।
एवं भावानुकरणे[4] यो यस्मिन् प्रविशेन्नरः।
प्रेक्षकस्तु[5] स मन्तव्यो गुणैरेतैरलङ्कृतः ॥ ६१ ॥

बालक, स्त्रियाँ तथा मूढ़वृत्ति के जन हास्यरस के तथा (चमकीली या हंसोड़) वेषभूषा से प्रसन्न होते हैं। अतएव इन भावों के अनुसार जो व्यक्ति जिस वर्ग का हो उसे उन गुणों से युक्त 'प्रेक्षक' मान लेना चाहिए ॥ ६१ ॥

एवं हि प्रेक्षकाः ज्ञेयाः प्रयोगे नाट्यसंश्रये[6]।
सङ्घर्षे त्तु[7] समुत्पन्ने प्राश्निकान् सन्निबोधत ॥ ६२ ॥

यज्ञविन्नर्तकश्चैव छन्दोविच्छब्दवित्तथा[8]।
[9]अस्त्रविच्चित्रकृद्वेश्या गान्धर्वो राजसेवकः ॥ ६३ ॥

नाटक के प्रयोग के अवसर पर ये ही प्रेक्षक होते हैं। जब नाट्यप्रयोग की सफलता या असफलता पर विचारसंघर्ष उत्पन्न हो जाय तो नाटक के प्रत्येक भाग के अभिनयादि की सफलता के लिये (इन विशिष्टवर्ग तथा

१. शूरास्तु वीर—क० । २. धर्माख्याने—क० ।
३. सर्वदा—ख० । ४. भावानुकरणे—ग०
५. स तत्र प्रेक्षको ज्ञेयो—ख० ।
६. दशरूपतः—क०, ख० ।
७. च—ग० ।
८. छन्दोविच्छेदवित्तथा—ख०, ग०; छन्दोविच्छब्दविन्नृपः—घ० ।
९. अस्त्रविब्दद्धभावैश्च—ख०; इष्व(स) स्त्रचित्रविद्वेश्या—ग०, घ० ।

रुचि के) प्राश्निकों[1] (प्राश्निकों) से पूछा जाय। ये (प्राश्निक) हैं—याज्ञिक (यज्ञ कार्य करने वाला), नर्तक (अभिनेता), छन्दवेत्ता (छन्दःशास्त्र का विद्वान्), वैयाकरण (शब्दशास्त्र का विज्ञाता), अस्त्रशास्त्रों का ज्ञाता, चित्रकार, वेश्या, संगीतकार (गान्धर्व) तथा राजा का सेवक। अब मैं इनकी उपयोगिता बतलाता हूँ॥ ६२–६३॥

यज्ञविद्यज्ञयोगे च नर्तकोऽभिनये स्मृतः[1]।
छन्दोविद्वृत्तबन्धेषु[2] शब्दवित्पाठ्यविस्तरे[3]॥ ६४॥
इष्वस्त्रवित्सौष्ठवे[4] तु नेपथ्ये चैव चित्रकृत्।
कामोपचारे वेश्या च गान्धर्वः स्वरकर्मणि[5]॥ ६५॥
सेवकस्तूपचारे स्यादेते[6] वै प्राश्निकाः स्मृताः।
एभिर्धर्ममभिप्रेक्ष्य[7] दोषा वाच्यास्तथा गुणाः॥ ६६॥

यज्ञों के अभिनय प्रदर्शन के लिए 'याज्ञिक' को, सामान्य (सभी) अभिनय के विषय में अभिनेता (नर्तक) को, छन्दों के प्रयोग में छन्दवेत्ता को, पाठ्यविधान (विस्तार) में वैयाकरण को, बाण आदि अस्त्रों के विज्ञाता को सौष्ठव के प्रयोग में, (रंग तथा) वेष रचना में चित्रकार को, कामोपचार

---

१. प्राश्निक—नाटचप्रयोग के प्रत्येक अंग का परीक्षण कर उसकी सफलता का निर्णय देने के कारण प्राश्निक न्यायाधीश के समान मान्य होते थे और उनका निर्णय सभी मान्य करते थे। नाटचप्रयोग को अतिसुन्दर बनाने के लिये भरतमुनि ने ऐसी तुला की स्थापना की जिनसे कला तथा शास्त्रीय परम्परा का परीक्षण होता रहे तथा वे व्यवस्थित बनी रहे और विकास भी करती रहें। प्राश्निकों का यह विवरण नाट्यप्रयोग की भरतकालीन उन्नत स्थिति का प्रमाण भी है।

---

१. तथा—ग०, घ०। २. छन्दो उद्वृत्तबन्ते तु ग०।

३. अतः परं–विभूतिगुणसंयोगे तथान्तःपुरचेष्टिते। राजात्मचरिते च स्यादिष्वासः सौष्ठवे तथा। प्रणामकृतिचेष्टासु वस्त्राभरणयोजने। इति ख० ग० पुस्तकयोरधिकं पद्यद्वयम्।

४. नाटचमूले च नेपथ्ये चित्रकृत् संप्रशस्यते—ख० ग० घ०।

५. स्वरतालयो—ग० घ०। ६. च दशैते—ख०, ग०, घ०।

७. एभिदृष्टान्तसंयुक्तै—क०।

(प्रेम तथा उसके अभिव्यञ्जक अभिनय) में वेश्या को, स्वर तथा ताल के प्रयोग में गान्धर्व (संगीतकार) को तथा व्यवहारों के अभिनय में राजाधिकारी (राजसेवक) को दर्शक मान कर इनकी राय लेनी चाहिए। (ये ही इन विषयों के अभिनय प्रदर्शन के विषय में उपयुक्त न्याय कर सकते हैं) ये (ही दस) नाट्यप्रयोग के दर्शक प्राश्निक कहलाते हैं। इन व्यक्तियों को अपना कर्तव्य समझकर (धर्ममभि-प्रेक्ष्य) गुण तथा दोषों को बतलाना चाहिए[1] ॥ ६४–६६ ॥

अशास्त्रज्ञे[1] विवादो हि यदा भवति कर्मतः।
तदैव[2] प्राश्निका ज्ञेया गदिता ये मयाऽनघाः ॥ ६७ ॥

जब शास्त्रों के अज्ञान के कारण प्रयोगगत कार्यों के विषय में विवाद उत्पन्न हो जाय तो इन्ही दर्शकों से (जो मैंने बतलाए हैं) पूछा जाना चाहिए[2] ॥ ६७ ॥

शास्त्रज्ञानाद्यदा[3] तु स्यात् सङ्घर्षः शास्त्रसंश्रयः।
शास्त्रप्रमाणनिर्माणैर्व्यवहारो[4] भवेत्तदा ॥ ६८ ॥

परन्तु जब शास्त्रज्ञान को लेकर विवाद उत्पन्न हो जाय तो शास्त्र ग्रन्थों के अनुसार ही उसका निपटारा (निर्णय लेकर) कर लेना चाहिए[3] ॥६८॥

---

१. नाट्यप्रयोग का (उचित स्वरूप में) न्यायतः सफलता के निर्णयार्थ नाट्यशास्त्र का यह विस्तृत विवरण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा आदर्शभूत है और पूर्ण जांचपड़ताल के साथ प्रयोग की गुणतः परीक्षा इसी प्रकार सही हो सकती है।

२. इसका आशय है कि किसी नाट्यप्रदर्शन के गुण दोषों का जब सामान्य प्रेक्षक वर्ग ठीक से किसी प्रकार उचित निर्णय न कर पाए तो अपने अपने विषय के विशेषज्ञ दर्शकों को ही उनसे सम्बम्द्ध विषयों में पूछा जाय, क्योंकि वैसा करने पर नाट्यप्रयोग का सही मूल्यांकन सम्भव होताहै।

३. भरत के इस नियम का आशय है कि जब शास्त्रों के विशेषज्ञ नाट्यप्रयोग के (नाटकीय अभ्यास के) विषय में भिन्न मत रखे तो उन्हें

---

१. अशास्त्रज्ञा विवादेषु यथा प्रकृतिकर्मतः—क०।
२. अथैते—क०; तदैते—घ०।
३. शास्त्रज्ञाने—ख०,ग०। ४. निर्माणो व्यवहारो—ग०, घ०।

[1]भर्तृनियोगादन्योन्यविग्रहात्[2] स्पर्धयापि भरतानाम् ।
अर्थपताकाहेतोस्सङ्घर्षो नाम सम्भवति ॥ ६९ ॥

यह संघर्ष अभिनेताओं की पारस्परिक स्पर्धा, उनके स्वामियों के इशारों पर या अर्थ और पताका की प्राप्ति के लिए उत्पन्न हो जाता है[1] ॥ ६९ ॥

संघर्षावस्था में निर्णय की विधि—

तेषां[3] कार्यं व्यवहारदर्शनं पक्षपातविरहेण ।
कृत्वा[4] पणं पताका व्यवहारः सभवितव्यस्तु ॥ ७० ॥

इस संघर्ष के निर्णय में पक्षपातहीनता से उनके कार्य (तथा प्रमाण) देखने चाहिए । विवाद निर्णय उनकी प्रतिज्ञा (शर्त) को देखते हुए देना चाहिए[2] ॥ ७० ॥

शास्त्र को उद्घृत् कर तदनुसार ही अपना मन्तव्य बनाना चाहिये या फिर परम्परागत नियमों को जो ग्रन्थों में संग्रहीत होते है देखकर प्रयोग की सफलता का निश्चय करना चाहिए ।

१. भरत के इस नियम का उदाहरण 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में दो नाटचाचार्यों के संघर्ष में देखा जा सकता है ।

२. स्पर्धा या सघर्ष में भाग लेने की शर्त होने पर उसमें या तो किसी विशेष नाटचरचना को मंच पर प्रस्तुत करना होता है या किसी नाटचरचना के एक विशिष्ट भाग के रस भावादि को कलात्मक प्रकार से प्रस्तुत करना हो सकता है या फिर किसी नवीन नाटचरचना को प्रस्तुत किया जा सकता है और इस प्रकार जब प्रयोग पूर्ण हो जाता है तो उसके प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक, आचार्य या सफल अभिनेता अथवा एक विशेष नाटच-मंडली या उनके मुखिया को पताका, विजय-स्वरूप दी जातो है । कभी-कभी अनेक सप्ताह तक कई नाटच रचनाएँ स्पर्धा में प्रस्तुत की जाती रहती है तथा सर्व-श्रेष्ठ रचना को 'पताका' प्राप्त होती है ।

---

१. स्वामिनियोगा—ख०; स्वाभिनयो—ग० ।
२. विग्रहस्पर्धया च—ग०, घ० ।
३. तेषां व्यवहारगतावपक्षपातेन दर्शनं कार्यम्—ख०, ग० ।
४. कृत्वा पणं पताकासं-व्यवहारं गमयितव्यम्—ग०; घ० ।

घातों का प्रमाणलेखन (संग्रह)—

सर्वैरनन्यमतिभिः[1] सुखोपविष्टैश्च[2] शुद्धभावैश्च ।
लोके[3] गणकसहायैः सिद्धेर्घाताः समभिलेख्याः ॥ ७१ ॥

इन व्यक्तियों के द्वारा-जो सुखपूर्वक बैठे, शुद्ध भावना वाले तथा अप्रतिम बुद्धिमान् (अनन्य मतिभिः) हो-गणकों की सहायता से सिद्धि में प्रतिबन्धक घातों को (दोषों) को या त्रुटियों को लिखना (या लिखवाना) चाहिए ॥ ७१ ॥

नात्यासन्नैर्न दूरसंस्थितैः[4] प्रेक्षकैस्तु भवितव्यम् ।
तेषामासनयोगो[5] द्वादशहस्तस्थितः[6] कार्यः ॥ ७२ ॥

ये निर्णायक दर्शक न अधिक दूर न मंच के अतिशय समीप ही बैठने चाहिए । इनके आसन मंच में बारह हाथ दूर रखे जाएँ ॥ ७२ ॥

यानि[7] विहितानि पूर्वं सिद्धिस्थानानि तानि लक्ष्याणि ।
घाताश्च[8] लक्षणीयाः प्रयोगतो[9] नाट्ययोगे तु ॥ ७३ ॥

नाटयप्रदर्शन से प्राप्त होनेवाली सिद्धियों के बिन्दुओं को (गिन कर) ये बतलाएँ तथा, उन्हें लिखे या लिखवाते चलें । इसी प्रकार नाट्यप्रदर्शन के मध्य मिलने वाली घातों का भी संग्रह किया जाए ॥ ७३ ॥

आकलन के अनुपयुक्तघात—

दैवाद्धातसमुत्थाः[10] परोत्थिता वा न वै बुधैर्लेख्याः ।
घाता[11] नाट्यसमुत्था ह्यात्मसमुत्थास्तु लेख्यास्स्युः ॥ ७४ ॥

---

१. तैः सम्भाविन्नमतिभिः—ग०, घ० ।

२. विशुद्धभावैश्च—ख०, ग० ।

३. यैर्लेखकगणकसहायास्सहसिद्धिभिर्घाताः—क०; लेखकगणकसहायैः—घ० ।

४. दूरस्थितिभिः—ग०, घ० । ५. मासनयावत्—ग० ।

६. हस्तस्थितिः कार्या—ग०, घ० ।

७. यान्युक्तानि हि पूर्वं—ख०, ग०, घ० । ८. याः काश्च—ग० ।

९. यथोत्थिता—ग०, घ० ।

१०. दैवोत्पातसमुत्थास्तथा परोत्था बुधैर्नैवैर्लेख्याः—ख०; दैवोत्पन्नसमर्था पताकोत्थिता वा बुधैर्लिखितव्याः—ग० ।

११. यास्ताः ग० ।

उन घातों को जो आकालिक (दैवी) हों या शत्रुओं के द्वारा गड़-बड़ पैदा करने के लिए उत्पन्न की गई हो—नहीं लिखी जाय। परन्तु नाटयप्रदर्शन में होनेवाली तथा अभिनेताओं की स्वयं की असावधानी से होनेवाली (आत्मसमुत्थ) घातों[1] को (अवश्य) संग्रहीत किया जाए ॥ ७४ ॥

पताका का निर्णय—

घाता यस्य स्वल्पाः संख्याता[1] सिद्धयश्च बहुलास्युः।
विदितं कृत्वा राज्ञस्तस्मै देया पताका हि ॥ ७५ ॥

जिस नाट्यप्रदर्शन में उक्त परिपाटी के अनुसार देखने पर घातों की संख्या थोड़ी तथा सिद्धियाँ अधिक रहे उनकी संख्या संग्रह आदि को राजा को प्रस्तुत करते हुए (गुण तथा योग्यता के अनुसार अधिक रहने के कारण) उसे ही पुरस्कार या विषय के फल स्वरूप 'पताका' दी जाए ॥ ७५ ॥

सिद्ध्यतिशयात् पताका समसिद्धौ पार्थिवाज्ञया देया।
अथ नरपतिः समः स्यादुभयोरपि[4] सा तदा देया ॥ ७६ ॥

एवं[5] विधिज्ञैर्द्रष्टव्यो व्यवहारः[6] समञ्जसम्।
स्वस्थचित्तैस्सुखासीनैः सुविशिष्टैर्गुणार्थिभिः ॥ ७७ ॥
विमृश्य प्रेक्षकैर्ग्राह्यं सर्वरागपराङ्मुखैः।
साधनं दूषणाभासः[8] प्रयोगसमयाश्रितैः ॥ ७८ ॥

---

१. किसी नाट्य रचना में घात का होना उसकी (साहित्यगत) हीनता या घटिया स्तर को ही निर्दशित करता है। इस प्रकार की रचना को मंच पर

---

१. संघातसिद्धयश्च—ग०।

२. राज्ञे—ग०, घ०।

३. प्रथमं समकर्णगुणाः स्युस्तस्मिन् भरतप्रयोगेषु कुशला सिद्धयधिके तु पताका समसिद्धा वाज्ञे (दे) नृपतेः —ग०।

४. स्यादुभावपि लम्भनीयो तो—ग०, घ०।

५. एतच्छ्लोकयुग्मं ग—पुस्तके नास्ति।

६. व्यवहारः समञ्जसाम्—क०; व्यवहारसमञ्जम्—घ०।

७. गुणादिभिः—ख०। ८. दूषणाभासं—घ०।

किन्तु दोनों प्रतिस्पर्द्धी दलों के समान गुणशाली रहने पर जिसकी सिद्धियाँ अधिक हों उसे 'पताका' दी जाय या सिद्धियों के समान होने पर राजा की (उचित) आज्ञा के अनुसार 'पताका' प्रदान की जाए।

यदि राजा दोनों प्रतिस्पर्द्धी दलों के विषय में समान मत रखे तो दोनों को 'पताका' दी जाय। [(नाट्य प्रदर्शन में) इन नियमों को देखने के साथ ही पाठ्य (संवाद), भूमिका तथा रस को भी ध्यान में रखना चाहिए]।

(पताका प्रदान करते समय) इन प्रेक्षकों (निर्णायकों) के जो नाट्य-प्रदर्शन के नियमों से परिचित, गुणों को समझने में चतुर, आनन्दपूर्वक उचित स्थान पर आसीन तथा आग्रह और राग से परे हों—किये गये निर्णय के औचित्य को देखना चाहिए।

ये (प्रेक्षक) नाट्यप्रदर्शन से सम्बद्ध साधन, छोटे से छोटे दोष (दूषणाभास) को भी निर्दशित करें[1] ॥ ७६–७८ ॥

समत्वमङ्गमाधुर्यं[1] पाठ्यं प्रकृतयो रसाः।
गानं वाद्यं सनैपथ्यमेतज्ज्ञेयं[2] प्रयत्नतः[3] ॥ ७९ ॥

अतएव नाट्यप्रयोक्ताजन (सूत्रधार या नाट्य निर्देशक) को समता अंग-माधुर्य, पाठ्यय (संवाद गति की रचना) भूमिका प्रकृति) रस, गीत, वाद्य तथा वेषभूषा (नेपथ्य) के विज्ञान को ठीक तरह से समझना चाहिए ॥ ७८ ॥

प्रस्तुत कर स्पर्धा में भाग लेनेवाले व्यक्तियों को भी इसी कारण अपनी अभिनय कला तथा अन्य उपकरणों की बहुलता द्वारा काफी हद तक मूल रचना लेखक के इस दोष को ढक देते है। (इस सन्दर्भ में इसी अध्याय के २४, २५ श्लोक पुनः द्रष्टव्य हैं)।

१. इसका निर्णय दर्शकों के अनुकूल कोलाहल या (उसके) किसी निर्णय पर असन्तोष न व्यक्त कर चुपचाप सुन लेने या उसका अनुमोदन करने आदि से भी किया जा सकता है।

---

१. एवं विधिं तु दृष्ट्वा—ग०।
२. प्राश्निकै र्ज्ञेयवादितः (?)—क० (र)
३. प्रयोक्तृभिः—ग०।

समत्व(ता)-का स्वरूप—

ध्रुवाणां[1] गानयोगेषु कलान्तरकलासु च।
यदङ्गं क्रियते नाट्यं[2] समन्तात्[3] समुच्यते ॥ ८० ॥

नाट्य प्रदर्शन में अंगों की विभिन्न कलात्मक छवियों का वाद्य ध्वनियों के साथ ध्रुवा गीत और नृत्य के अवसर पर निर्माण किया जाता है उसे 'समत्व' जानों ॥ ८० ॥

[4]अङ्गोपाङ्गसमायुक्तं[5] गीततालल्याॅन्वितम्।
गानवाद्यसमत्वञ्च[6] तद्बुधैः सममुच्यते ॥ ८१ ॥

तथा किसी नाट्यप्रदर्शन के समय अंगों तथा उपांगों की विविध भाव-भंगियाँ गीत के ताल तथा लय के साथ और वाद्य के अनुसार (साथ साथ) रहें तो उसे भी 'समत्व' समझना चाहिए ॥ ८ ॥

अंगमाधुर्य—

अनिर्भुग्नमुरः[7] कृत्वा चतुरस्त्रकृतौ[8] करौ।
ग्रीवाञ्चिता तथा कार्या त्वङ्गमाधुर्यमेव[9] च ॥ ८२ ॥

यदि वक्षःस्थल को न झुकाते हुए दोनों भुजाओं को चतुरस्त्र दशा में फैलाते हुए, ग्रीवा को अंचित दशा में रखा जाय तो 'अंगमाधुर्य' होता है ॥ ८२ ॥

पूर्वोक्तानीह शेषाणि यानि साध्यानि[10] साधकैः।
वाद्यप्रकृतयो[11] गानं[12] वक्ष्यमाणानि निर्दिशेत्[13] ॥ ८३ ॥

---

१. गीतवादित्रतालेन—क०; ध्रुवानाट्यप्रयोगेषु—ग०।

२. नाटये—ग०। ३. समर्थः—ग०।

४. पद्यमेतद् ग०—पुस्तके नास्ति। ५. समायोगं—ख०।

६. भाण्डवाद्यं समं चैव यस्मिस्तत् सममुच्यते—ख०, घ०।

७. सन्निर्भुग्न—क०।

८. चतुरस्त्रायतौ भुजौ—घ०।

९. माधुर्यमुच्यते—घ०। १०. द्रव्याणि—क०।

११. वाद्यादीनां पुनर्विप्राः लक्षणं सन्निबोधत—क०; वाद्यप्रकृतयोऽङ्गानां—ग०

१२. ज्ञानं—ख०। १३. दर्शयेत्—ग०।

तथा शेष विषयों को जो अभिनेताओं (साधक) के द्वारा सम्पादित या प्रस्तुत किये जाएँ (साध्यमानानि, साध्यानि) पूर्व में बतलाया जा चुका है। परन्तु उन्हें वाद्य, भूमिका (प्रकृति) तथा गीत (गानं) की स्थिति को सदा देखते हुए रखना चाहिए[1] ॥ ८३ ॥

यानि स्थानानि सिद्धीनां तैः सिद्धिन्तु प्रकाशयेत्।
हर्षादङ्गसमुद्भूतां[1] नानारसमुत्थिताम् ॥ ८४ ॥

हर्ष आदि भावों, विभिन्न आंगिक अभिनय तथा रसों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि को इन्हीं लक्षणों को प्रकट करना नाहिए ॥ ८४ ॥

नाट्यप्रयोग के उपयुक्त समय—

वारकालास्तु[2] विज्ञेया नाट्यज्ञैर्विविधाश्रयाः।
दिवसश्चैव रात्रिश्च तयोर्वारान्[3] निबोधत[4] ॥ ८५ ॥

प्रादोषिकोऽर्धरात्रिश्च[5] तथा प्राभातिकोऽपरः[6]।
नाट्यवारा भवन्त्येते रात्रावित्यनुपूर्वशः[7] ॥ ८६ ॥

नाट्यप्रयोक्ताजन (निर्देशक, सूत्रधार) को नाट्यप्रयोग (वार) का समय (काल) ज्ञान रहना चाहिए जो कि समान्यतः दिन तथा रात्रि के समय प्रदर्शित करने हेतु विभिन्न विचारों पर निर्भर करता है। अब मैं इनका रात्रि तथा दिन में प्रदर्शित करने का वर्णन करता हूँ। रात्रि के समय

---

१. अभिनेताओं के साधना द्वारा अर्जित किये जाने वाले विषय हैं पाठ्य, रस तथा नेपथ्य में दक्षता आना (इसके स्वरूप के लिये ना० शा० अध्याय १०, ६ तथा २३ द्रष्टव्य है)

---

१. वयोभूतां—(र)।

२. परः कालश्च विज्ञेयो विविधो नाट्ययोक्तृभिः—ग०; वारः कालश्च—घ०। ३. तयोर्वारं—ख०; विशेषाश्चानयोः स्मृताः—ग०, घ०।

४. अतः परं-परं-ख-पुस्तके-पूर्वाह्णेष्वथ मध्याह्ने ह्यपराह्णे तथैव च। दिवासमुत्था विज्ञेय नाट्यवाराः प्रयोगतः ॥ इति पद्यं समुपलभ्यते।

५. प्रादोषिकार्धरात्रिश्च—क०; प्रादोषिकार्धरात्रश्च—ख०।

६. प्राभातिकोऽपि च—ग०।

७. रात्रिपर्वसमाश्रिताः घ०।

लिये जाने वाले नाट्य-प्रदर्शन (प्रयोग) सन्ध्या, अर्धरात्रि तथा उषःकाल के समय किये जाते हैं ॥ ८५-८६ ॥

पूर्वाह्णस्त्वथ[1] मध्याह्नस्त्वपराह्णस्तथैव च ।
दिवासमुत्था[2] विज्ञेया नाट्यवाराः प्रयोगतः ॥ ८७ ॥

दिन के समय किये जाने वाले प्रदर्शनों का समय पूर्वाह्ण, अपराह्ण तथा मध्याह्न रहता है ॥ ८७ ॥

विषय तथा रस के अनुसार नाट्यप्रदर्शन का समय—

एतेषान्तु यथा[3] योग्यं नाट्यं कार्यं रसाश्रयम् ।
तदहं सम्प्रवक्ष्यामि वारं[4] कालसमुत्थितम् ॥ ८८ ॥

अब मैं यह बतलाता हूँ कि ये समय विभिन्न रसों के नाट्य-प्रयोगों के प्रदर्शनों में क्यों उपयुक्त होते हैं ? तथा इन्हीं समयों पर इनका प्रदर्शन क्यों निश्चित किया गया है ॥ ८८ ॥

यच्छ्रोत्ररमणीयं स्याद्धर्माख्यानकृतं[5] तथा ।
पूर्वाह्णे[6] तत् प्रयोक्तव्यं शुद्धं वा विकृतन्तथा ॥ ८९ ॥

जो सुनने में मधुर तथा धार्मिक आख्यान से युक्त हो—तो वह चाहे शुद्ध प्रकार हो या मिश्र-उसे पूर्वाह्ण में प्रदर्शित किया जाय ॥ ८९ ॥

सत्त्वोत्थानगुणैर्युक्तं वाद्यभूयिष्ठमेव च ।
पुष्कलं [7]सिद्धियुक्तन्तु अपराह्णे प्रयोजयेत् ॥ ९० ॥

जो वाद्यसंगीत प्रचुर, शक्ति तथा उत्पादनमयी कथावस्तु वाला तथा निश्चित सिद्धियों को देनेवाला हो तो उसे अपराह्ण में अभिनीत किया जाय ॥ ९० ॥

---

१. पौर्वाह्णिकस्तथा ज्ञेया आपराह्णिक एव च—ग० ।

२. दिवासमुत्थितावेतौ नाट्यवारौ प्रकीर्तितौ—ग० ।

३. यत्र यद्योज्यं नाट्यकार्यं रसाश्रयम्—क० ।

४. वारकालसमाश्रयम्—क० ।

५. धर्मोत्थानकृतं च यत्—क० ।

६. तत् पूर्वाह्णे बुधैः कार्यं शुद्धं तु विकृतं तथा—ग०, घ० ।

७. सत्वसंयुक्त—ख०; सिद्धिबहुलं—क (र) ।

कैशिकीवृत्तिसंयुक्तं शृङ्गाररससंश्रयम्[1] ।
नृत्यवादित्रगीताढ्यं[2] प्रदोषे नाट्यमिष्यते ॥ ९१ ॥

जो कैशिकी वृत्ति तथा शृङ्गार रस वाला हो, तथा जिसमें नृत्य गीत और वाद्यों का प्राचुर्य हो उसे प्रदोषकाल में प्रदर्शित किया जाय ॥ ९१ ॥

यत्तु[3] माहात्म्यसंयुक्तं करुणप्रायमेव च ।
प्रभातकाले तत् कार्यं नाट्यं निद्राविनाशनम् ॥ ९२ ॥

जो (किसी नायक की) महत्ता का प्रदर्शन तथा अधिकांशतः करुण रस वाला हो तो उसे प्रातःकाल प्रदर्शित करे, यह (प्रदर्शन के समय आनेवाली) निद्रा का नाशक होता है ॥ ९२ ॥

अर्धरात्रे न[4] युञ्जीत न मध्याह्ने तथैव च[5] ।
सन्ध्याभोजनकाले च नाट्यं[6] न च कदाचन ॥ ९३ ॥

ये नाट्य प्रदर्शन अर्धरात्रि, मध्याह्न, सन्ध्याकाल (सन्ध्योपासना के समय) तथा भोजन की वेला में प्रदर्शित नहीं करना चाहिए ॥ ९३ ॥

एवं कालञ्च देशञ्च प्रसमीक्ष्य[7] ससंश्रयम् ।
नाट्यवारं[8] प्रयुञ्जीत यथाभावं यथारसम् ॥ ९४ ॥

इस प्रकार समय, स्थान तथा कथावस्तु को देखते हुए रस तथा भावों के अनुसार नाट्यप्रदर्शन (नाट्यवार) को प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ९४ ॥

अपवाद—

अथवा देशकालौ च[9] न परीक्ष्यौ प्रयोक्तृभिः ।
यथैवाज्ञापयेद् भर्त्ता[10] तदा[11] योज्यमसंशयम् ॥ ९५ ॥

---

१. ललिताभिनयात्मकम्—क (प)
२. गीतवादित्रभूयिष्ठं—ग०, घ० ।
३. यन्नर्मंहाष्यवहुलं—क०, घ० । ४. नियुञ्जीत—क० ।
५. न प्रयुञ्जीत मध्याह्ने नार्धरात्रे कथञ्चन—ख० ।
६. नाट्यं नैव प्रयोजयेत्—क०, न नाट्यं सम्प्रयोजयेत्—ख० ।
७. समीक्ष्य च वलाबलम्—क०; पर्णंदं (वर्णनं ?) च समीक्ष्य तु—ख० ।
८. नाट्यं नित्यं प्रयुञ्जीत यथाभावं—क०, '''यथासत्वं यथारसम्—ख० ।
९. तु—ग०, घ० । १०. यत्र चाज्ञाप—ग०, घ० ।
११. तत्र—ग०, घ० ।

परन्तु स्वामी जब आज्ञा दे तो (उस समय) स्थान तथा समय को बिना देखे तत्काल (प्रयोग) प्रदर्शन प्रस्तुत कर देना चाहिए। इस विषय में विशेष आग्रह अनाकांक्षित है ॥ ९५ ॥

तथा[1] समुदिताश्चैव विज्ञेया[2] नाटकाश्रिताः।
पात्रं प्रयोगमृद्धिश्च[3] विज्ञेयास्तु त्रयो गुणाः ॥ ९६ ॥

नाटकों के प्रदर्शन में तीन गुण रहते हैं क्योंकि नाटक इन्हीं पर निर्भर करता है। ये गुण हैं—पात्र, प्रयोग तथा समृद्धि (सिद्धि) ॥ ९६ ॥

आदर्श पात्र के गुण—

बुद्धिमत्वं[4] सुरूपत्वं लयतालज्ञता तथा।
रसभावज्ञता चैव वयस्स्थत्वं[5] कुतूहलम् ॥ ९७ ॥
ग्रहणं धारणञ्चैव गानं[6] नाट्यकृतं तथा।
जितसाध्वसतोत्साहौ[7] इति पात्रगतो विधिः ॥ ९८ ॥

बुद्धिमान, सुन्दर तथा शक्ति सम्पन्न शरीरवाला, लय, ताल, रस तथा भावों का विज्ञाता, उचित वय तथा कौतूहल युक्त, कला तथा शास्त्रों को ग्रहण करने तथा सूक्ष्म बुद्धि, नृत्य-नाट्य तथा गीत में सम्पन्नता होना ये गुण 'अभिनेता'[1] में रहने चाहिए ॥ ९७–९८ ॥

---

१. सफल नाट्यप्रयोग के लिये पात्र, प्रयोग तथा समृद्धि इस 'त्रिक' का समन्वय अति आवश्यक है तथा यदि ऐसा किया जाये तो नाट्यप्रयोग का उचित मूल्याङ्कन सम्भव हो सकता है। भरतमुनि ने नाट्यप्रयोग की परिपूर्णता के लिये जहाँ शास्त्रीय सिद्धान्त बतलाये वहीं प्रयोग की सफलता के लिये उपयुक्त एवं निश्चित मानदण्ड भी प्रस्तुत किया। जिसके आधार पर किसी भी नाट्यप्रयोग का उचित मूल्याङ्कन किया जा सके। भरत का यह विवरण प्रयोगात्मक नाट्चदृष्टि रखने वालों के लिये आज भी माननीय है तथा नाट्च सिद्धान्त की पूर्ति का महत्वपूर्ण अंश भी।

---

१. यथासमुदयश्चैव प्रयोगाश्च समृद्धयः—ग०।
२. प्रयोगाः—घ०। ३. मर्थश्च—ख०, ग०।
४. बुद्धिः सत्वं सुरूपत्वं—ख; बुद्धिसत्वस्वरूपं च—ग०, घ०।
५. वयःस्वत्वं—ख०। ६. गात्रावैकल्यमेव च—क०।
७. निजसाध्वसतोत्साह—क, ख०।

आदर्श प्रयोग (का स्वरूप)—

सुवाद्यता सुगानत्वं सुपाठ्यत्वं तथैव च ।
शास्त्रकर्मसमायोगः प्रयोग इति[1] संज्ञितः ॥ ९९ ॥

जिस नाट्य प्रदर्शन में वाद्य संगीत श्रेष्ठ, गीत मधुर, संवाद स्पष्ट तथा कार्यों के अनुसार ठीक प्रदर्शित हो तो ये 'प्रयोग' के गुण समझे जाएँ ॥९९॥

समृद्धि—शुचि[2] भूषणतायां तु माल्याभरणवाससाम् ।
विचित्ररचना[3] चैव समृद्धिरिति संज्ञिता ॥ १०० ॥

बढ़िया अलंकारों, पुष्पादि मालाओं तथा वस्त्रों का धारण तथा उचित चित्रकारी और नेपथ्य (वेषभूषा) रचना का रहना (नाट्य प्रदर्शन में) 'समृद्धि' गुण को उत्पन्न करता है ॥ १०० ॥

यदा समुदिताः[4] सर्वे एकीभूता भवन्ति हि ।
अलङ्कारः स[5] तु तथा मन्तव्यो नाट्ययोक्तृभिः ॥ १०१ ॥

ये सभी गुण जब किसी एक नाट्यप्रयोग में विद्यमान रहें तो उसे श्रेष्ठ नाट्यप्रयोग (नाट्यप्रयोक्ताजन) मानें ॥ १०१ ॥

एतदुक्तं द्विजश्रेष्ठाः[7] सिद्धीनां लक्षणं मया[8] ।
अत ऊर्ध्वम्प्रवक्ष्यामि ह्यातोद्यानां विकल्पनम् ॥ १०२

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे सिद्धिव्यञ्जको नाम सप्तविंशोऽध्यायः ।

हे मुनियों, मैंने आपको सिद्धियों का लक्षण निरूपण पूर्वक सारा स्वरूप बतलाया । अब मैं (अगले अध्याय में) संगीत तथा वाद्यों की विभिन्न शाखाओं या आतोद्यों की विवेचना करूँगा ॥ १०२ ॥

भरतनाट्यशास्त्र के 'सिद्धिव्यञ्जक' नामक सत्ताईसवें अध्याय
की प्रदीपव्याख्या समाप्त ।

भरतनाट्यशास्त्र का तृतीयखण्ड समाप्त ।

---

१. स तु—ग०, क० ।
२. सुविभूपणता या तु सुमाल्याम्बरता तथा—ग०, घ० ।
३. या त्वङ्गरचना चैव समृद्धिरिति सा स्मृता—ग०, घ० ।
४. समुदयाः—ख०, सर्वे सुमुदिता—ग० ।
५. अलङ्काराः सकुतुपाः क० ।
६. नाटकाश्रयः—ख० ।
७. मया सम्यक्—ग०, घ० ।
८. द्विजाः—ग०, घ० ।

परिशिष्ट

(नाट्यशास्त्र : अध्याय २०–२७)

अतिरिक्त टिप्पणियाँ

विंश अध्याय

(दशरूपकनिरूपण)

(सङ्केत—टिप्पणियों के आरम्भ में दी गयी संख्या अध्यायगत श्लोकों की है।)

१. दशरूपकों में काकु की योजना पिछले अध्याय में कही गयी थी, अतः उसके अनुसार दशरूपकों का स्वरूपाभिधान का क्रम आ ही जाता है। इस तथ्य से यहाँ अध्याय को भी संगति लग जाती है। तो फिर दशरूपकों के लिये 'कथयिष्यामि' का प्रयोजन क्या हो सकता है। यहाँ यह भी आशंका होती है कि 'रसा भावाः' आदि के संग्रह में जब दशरूपकशब्द की समायोजना नहीं है तो फिर यह कैसे कहा जाए कि दशरूपकों के उपयोगी 'पाठ्य' को बतलाता हूँ। अतः 'रूपक' शब्द के प्रति भी कुछ विवरण देना आवश्यक है। जिसअर्थ का रूपण या प्रत्यक्ष किया जाता है, उस अर्थ के वाचक होने से काव्य भी 'रूप' कहलाता है। इसलिये दशरूपों का विभाग जिससे किया जाए वही 'दशरूप विकल्पन' होगा। अतः यहाँ षष्ठी समास है। इसलिये यहाँ अर्थ है कि जिस सूत्र से वाचिक शब्द में आङ्गिकप्रकृतिप्रत्यय एवं अर्थ के विभाग की कल्पना करते हैं वहाँ वाणी का ही यह विस्तृत वर्णन है। 'नामतः' पद से उद्देश्य को तथा 'कर्मतः' पद से लक्षण को कहा गया है। यहाँ इसी कारण कर्म विजातीय से व्यावृत्तिरूप लक्षण है। 'प्रयोगतः' का अर्थ है प्रकृष्ट अर्थात् उचित योग अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध ही प्रयोग है। जैसे नाटक तथा प्रकरण के लक्षणों के योग से नाटिका का बजाना।

प्रश्न—परस्पर उचित सम्बन्ध ही प्रयोग नहीं होता, तब प्रयोगतः की व्याख्या द्वारा आप कैसे नाटिका का ग्रहण करेंगें, क्योंकि नाटिका तो प्रयोग है।

उत्तर—यहाँ तथा अन्यत्र 'च' शब्द भी कारिका में पठित है। इन दो पदों का यह आशय है कि उक्त प्रयोगों के प्रकारों से पारस्परिकसम्बन्धगत वैचित्र्य

के द्वारा अन्य प्रभेदों की भी कल्पना की जा सकती है। यदि प्रयोगतः की व्याख्या 'प्रयोग के लिये' ऐसी करें तो प्रयोगतः कथन ही व्यर्थ हो जाता है क्योंकि उक्त व्याख्यान का तो कोहलादि के द्वारा लक्षित तोटक, सट्टक एवं रासक आदि को संग्रहीत करना भी फल है जिसका एक उदाहरण नाटिका लिया गया है।

२-३ अब उद्देश्य कथन के द्वारा दशरूपकों को वतलाते हैं—'नाटक मित्यादि से'। यहाँ सप्रकरणम् में सह शद्ब के द्वारा यह दिखलाया गया है कि प्रकरण का नाटक के साथ अङ्क, प्रवेशक तथा सन्धि आदि में साम्य होता है। इन रूपकों के लक्षण के समय ही इनकी व्याख्या भी की जाएगी। नाटकीय कथा या कथावस्तु—जो कि कर्म तथा फलों के प्रदर्शक तथा उपदेष्टा पुराणों में होती है—उसके होने पर भी कवियों की रूपकादि में संयोजिक कथावस्तु प्रायः अनियत रहती है तथा उच्चावच भी है। अतः यहाँ कुछ प्रयोज्य है, सूच्य है, कुछ ऊह्य तथा कुछ उत्प्रेक्षणीय रहता है, इस प्रकार यहाँ अनेक विचित्रताओं का योग या समावेश रहता है। प्रत्यक्ष में भावना से अनुभव होने वाले रसावेश से उत्पन्न आनन्द ही इन रूपकों का फल या सारतत्त्व है, जो इतिहास की अपेक्षा विलक्षणता युक्त होता है। इसमें जो वस्तु सूच्य या ऊह्य है वैसी विभागशः इतिहास में भी हो सकती है, अतः वह इसका फल नहीं हैं। दशरूपकों की स्थिति प्रयोग पर्यन्त मानी गयी है, जो बार-बार कही गयी है। उद्देशक्रम के अनुसार पहिले सामान्य लक्षण तथा उसी के उपरान्त विशेष लक्षण कहा जाता है जिसे 'अनुपूर्वशः' पद से कारिका में दिखलाया है।

४. इनमें प्रथम सामान्य लक्षण को दिखलाते हैं—'सर्वेषाम्' इत्यादि के द्वारा। वृत्तियाँ काव्य की मातृभूता है। सम्पूर्ण संसार ही वृत्तियों में व्याप्त है, यह तथ्य प्रथम अध्याय में दिखलाया जा चुका है। वृत्तियाँ तथा उनके अङ्ग सभी काव्यों में होते हैं।

प्रश्न—यदि वृत्तियाँ एवं उनके अङ्ग काव्यों में हो तो फिर वृत्तिप्रभवत्व दशरूपकों का लक्षण कैसे सङ्गत होगा? क्योंकि वृत्तिप्रभवत्व तो दृश्य, श्रव्य तथा पाठ्य सभी काव्यों में रहता है।

उत्तर—इसीलिये 'प्रयोगतः' शब्द यहाँ रखा गया है अर्थात् यह प्रयुज्यमान अर्थ के लिये है। इसका आशय यही कि (यद्यपि) वृत्तियाँ अर्थात् चेष्टाएँ अभिनेय तथा अनभिनेय सभी काव्यों की जननी होती है, तथा वाच्यार्थ के रूप में कवियों के हृदय में स्थित इन वृत्तियों से भी काव्य का उद्भव होता है फिर

भी प्रयुज्यमान होने के कारण (अर्थात् प्रयोग की योग्यता का अभिसन्धान कर) वृत्तियों से विनिःसृत प्रयोग या अभिनेय काव्य होता है। अतः स्पष्ट है कि दशरूपक चारों वृत्तियों का अभिधान करने वाला प्रकार है। इन दृश्य काव्यों का दस संख्या में ही विभाग है ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने पर नाटिका, सट्टक आदि का निषेध हो जाएगा जब कि उनमें भी दशरूपकों के लक्षणों का योग रहता है। यह तथ्य आगे भी पल्लवित होगा।

५–६. षाड्जी प्रभृति जाति स्वर समुदाय ही ग्राम है। जैसे स्वरों के समुदाय रूप से किसी वैलक्षण्य के न आने पर भी पर्याय से तथा प्राथम्य, प्राधान्य, अल्पत्व, भूयस्त्व, पूर्णत्व, अपूर्णत्व, आरोहत्व, अवरोहत्व, अन्त्यत्व एवं मध्यत्व आदि विभाग प्राप्त भेदों से जैसे षड्ज ग्राम अन्य है तथा मध्यम ग्राम अन्य; उसी तरह स्वरस्थानीय वृत्तियों के प्राथम्य एवं प्राधान्यादि दशक के कारण एक रूपक दूसरे से भिन्न हो जाता है। यथा चार श्रुतियों वाला पञ्चम त्रिश्रुति होने पर ग्रामभेद करता है, उसी तरह वृत्ति भी श्रुतिस्थानीय अङ्गों से भेद को निर्माण करती है। यह कहीं तो सम्पूर्ण है तथा कहीं न्यून है। इस प्रकार रूपकों का विभाग बन जाता है, इस तथ्य को जाति तथा श्रुति के दोनों भागों के उदाहरण से दिखलाया गया है।

यहाँ ग्राम शब्द रागजाति समुदाय को दिखलाता है। अतः अर्थ होगा कि जैसे विचित्ररूप से सन्निवेश के अवलम्बन द्वारा अतिशय सुकर स्वर समुदाय रूप दो ग्रामों से विभाग की कल्पना कर पूर्णस्वर एवं अपूर्ण स्वर वाले जात्यंशकों की उत्पत्ति होती है, उसी तरह पूर्ण वृत्तियों वाले रूपकों के भेदों की उत्पत्ति हो जाती है।

७–८. नाटक तथा प्रकरण में ही सम्पूर्ण वृत्तियाँ होती हैं न कि विपर्यय फलतः दो वृत्तियों वाले या तीन वृत्तिवाले भी नाटक होंगे ही, क्योंकि जैसे मुद्राराक्षस नाटक में कैसिकीवृत्ति है ही नहीं या वेणीसंहार नाटक में सात्वती तथा आरभटी ही बाहुल्येन दिखलाई पड़ती है। अतः वृत्तियों से रूपक विनिर्गम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वृत्तियों के विनियोग, विकल्प तथा समुच्चय के द्वारा वृत्यङ्गों की बहुलता से रूपकों के विभेदों की कल्पना की जाती है। यहाँ कोहलादि प्रदर्शित रूपकों के अन्य प्रभेदों को भी इस सामान्य लक्षण से संग्रहीत किया जा सकता है। वैसे कैशिकी वृत्ति के अभाव में भी शृङ्गार का योग समवकार के स्वरूप में आगे दिलाया गया है। नाटक प्रकरण से प्रधान होता है क्योंकि उसमें प्रसिद्धि का उपजीवन करने वाली कल्पनाप्रसूत वस्तुओं

की सम्भावना रूपी उत्प्रेक्षाएँ रहती हैं जो प्रमाण प्राप्त वस्तुओं में स्वतन्त्ररूप से योजना करने पर समाविष्ट हो जाती हैं।

१०. इसी कारण इतिहासादि प्रमाणों से सिद्ध वस्तु के प्रदर्शक नाटक का लक्षण सर्वप्रथम बतलाते हैं—'प्रख्यातवस्तु' इत्यदि के द्वारा। महाभारत आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों में जो वस्तु है वह जिसका प्रतिपाद्य अर्थात् विषय रहे। कदाचित् इसमें भी अप्रसिद्ध वस्तु हो सकती है उसके व्यावर्तन या वरण के लिये लक्षण में प्रख्यातोदात्त नायक कहा गया। यह श्रीशङ्कुक का मत है परन्तु उपाध्याय तोत के मत में जिसकी प्रख्यात वस्तु हो तो उसमें नायक उदात्त होने से गतार्थ हो आता है फिर इस विशेषण की क्या आवश्यकता हुई। कहते हैं कि प्रसिद्धि तीन प्रकार से होती हैं इनमें प्रथम है अमुक देश में अमुक व्यक्ति ने किया। इसमें वस्तु प्रतिपाद्य प्रकर्ष से ख्यात तथा विषय मालव, पञ्चाल आदि देश आ जाते हैं। इस प्रकार वस्तु तथा विषय से सम्बन्ध दो प्रतीतियों को यहाँ दिखलाया गया है तथा तृतीय को 'प्रख्यातोदात्तनायक' विशेषण के द्वारा कहा गया है। वीररस के उपयुक्त उदात्तविशेषण के फल स्वरूप धीरललित, धीर प्रशान्त, धीरोद्धत एवं धीरोदात्त इन चारों नायकों का ग्रहण होता है। 'राजर्षिवंश्य' पद प्रख्यात वस्तु ऋषि तुल्य राजाओं के साधुवंश के उपयुक्त है। यद्यपि देवताओं के चरित प्रख्यात है तब भी वरलब्ध प्रभावादि को बहुलता से उपाय के रूप मे उपदेष्टव्य नहीं है अतः प्रख्यात वस्तुविषयत्व तथा प्रख्यातोदात्तत्व इन दोविशेषणों का प्रकृत में उपनिबन्धन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ फलमुखेन निषेध दिखलाया गया है। यह बात नहीं कि देवचरित उस रूप में अवर्णनीय है, किन्तु जहाँ प्रकरी या पताका नायक के रूप में उनका उपगम अङ्गीकरण योग्य है। जैसा कि नागानन्द में भगवती का साक्षात्कार करने में है। यहाँ यह बतलाया गया कि निरन्तर भक्ति से भावित प्राणियों पर देवता प्रसन्न हो जाते हैं, अतः देवाराधन पुरःसर उपायों का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि मुख्यरूप में देवताओं के चरित का वर्णन करते हैं और वह विप्रलम्भ, करुण 'अद्भुत, भयानक एवं रौद्र रस के उपयुक्त रहे तो यह मनुष्य चरित ही सम्पन्न करता है ऐसा मानना होगा। प्रत्युत अबुद्धिपूर्वक किया गया देवचरित का आधान प्रसिद्धि का विघातक ही होगा। इसलिये देवताओं के चरित में हृदय का संवाद भी नहीं होगा क्योंकि उनमें दुःख ही नहीं जिसके प्रतीकार के उपायों के विषय में कोई व्युत्पादन किया जा सके।

प्रश्न—इस प्रकार यदि रूपकों के नायक दिव्य न रखने का नियम बन जाए तो डिम इत्यादि की स्थिति क्या होगी ?

उत्तर--डिम आदि में दिव्य नायकों के रखने का अभिप्राय विशेष है जिसे आगे इनके प्रसंग में दिखलाया जाएगा।

११. प्रसिद्ध वस्तु, प्रसिद्ध विषय तथा प्रसिद्ध नायक इनमें तीन प्रसिद्धियाँ अनुस्यूत हैं अतः इन तीनों से युक्त जब रूपक हो तो वह निष्फल नहीं होता यह स्पष्ट है। इसी कारण कहा गया है कि–'नाना विभूतिभिर्युतम्' इत्यादि। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जिनके विभाव हो तो ऐसे विचित्र स्वरूप वाले फलों से युक्त नाटकों को किया जाय। उनमें भी अर्थ तथा काम सभी के अभिलषणीय होने से उन्हें अधिकतः दिखलाना चाहिए यह बात 'ऋद्धिविलासादिभिः' से कही है। मूल में प्रयुक्त 'गुणैः' पद से अप्रधानभूत चेष्टित की हेयता दिखलायी गयी हैं, क्योंकि ऐसे कार्य अपाय प्रधान होते हैं अतः इनका सम्बन्ध प्रतिनायक में रखना चाहिए। क्योंकि वे पूर्वपक्षीय स्थान के है जिनका प्रतिषेध कर सिद्धान्तकल्प नायक के चरित का निर्वाह इष्ट है। अतः गुण शब्द की व्याख्या होगी जनपदों की तथा उनके द्वारा कोश की समृद्धि, विलास, क्रीड़ा, सन्धिविग्रह आदि गुण। अवान्तर वस्तु की समाप्ति में जो विच्छेद है विराम हैं वे अङ्क हैं तथा जो निमित्त बल से प्राप्त हैं और प्रत्यक्षतः देखे नहीं जा सकते हों ऐसे चेष्टितों के जो आवेदक हैं वे प्रवेशक हैं; उनसे युक्त नाटक रूपक होता है।

१२. इसका नाटक नामकरण भी सार्थक है इसे—'नृपतीनाम्' इत्यादि से कहते हैं। क्योंकि विनेय युवकों के सामर्थ्य को बढ़ावा देने के लिये राजाओं से सम्बद्ध इतिवृत्त विशिष्ट रूपक को ही नाटक कहा गया है। विनयों के प्रदाता राजाओं के चेष्टित रहने से उन्हीं का नाम 'नाटक' है, जो हृदय में प्रवेश कर रञ्जना के उल्लासन के द्वारा एवं उपायविषयक व्युत्पत्ति से घटित चेष्टाओं से हृदय और शरीर को नचा देते (वही नाटक है)। यहाँ नट् धातु है जिसके दो अर्थ हैं नृती तथा नत्ट्। इनमें नृती अर्थात् गात्रविक्षेप तथा नत्ट् का अर्थ है नाट्य तथा अभिनय। इन दोनों अर्थों में आचार्यों ने इसका स्मरण किया है इस कारण इसका नाम नाटक हुआ।

प्रश्न—नाटक का इतिवृत्तभूत अर्थ पुराणादि में उपनिबद्ध है, जिसका सभी उपयोग कर सकते हैं तो फिर यह अर्थ नटों को ही क्यों भावित करता है। इसके उत्तर में कारिका में कहा है—'नानारस' इत्यादि। इनमें जो चेष्टित हैं, वे यहाँ विविध प्रकार के नट व्यापार रूप अभिनयों का सम्पादन करते हैं। उन्हीं के द्वारा विनय का प्रदायक ऐसा कर्तव्यसूत्र पर जो हृद्यतम सूई

के द्वारा प्रवेश करवाया गया है वही हृदय पर आरोहण करते हुए शौर्यादि धर्मरत्नों का ग्रन्थन करता है।

प्रश्न—राजाओं के ही चरित्र में ऐसा आस्वाद क्यों हैं देवचरित में क्यों नहीं ?

उत्तर—विविध उपायों के वैचित्र्य से राजाओं के चरित्र में वैचित्र्य आ जाता है, सुख एवं दुख की उत्पत्ति के सम्पादन में यह बात देवचरित में नहीं होती जो कही भी जा रही है। इसी कारण जहाँ प्रतीति के विघातक वैरस्य की संभावना हो तो उनका नाटक में उपनिबन्धन नहीं किया जाता है। वर्तमानकालिका राजा का चरित अवर्णनीय होता है, इसी कारण लक्षण में प्रकर्ष के द्योतक प्रख्यात शब्द को रखा गया है।

श्रीशङ्कुक ने 'नृपतीनाम्' में बहुवचन प्रयोग का आशय यह दिखलाया कि इससे अरिषड्वर्ग का भी संकेत होता है उसे विजिगीषु के रूप में रखने पर। अन्य आचार्यों का मत है कि राजर्षिवंश में नायक के उत्पन्न होने की बात को ही यहाँ दिखलाया गया है।

कुछ आचार्य यह भी कहते हैं कि—'देवता धीरोद्धत प्रकृति के होते हैं, राजा धीरललित, सेनापति तथा अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण तथा वैश्य धीरप्रशान्त होते है।'[1]

अतः यदि इस वचन पर ध्यान दें तो देवता नाटक के नायक नहीं हो सकते वस केवल राजा जो कि धीरललित है वही नायक बन सकता है। परन्तु ऐसी वात ठीक नहीं क्योंकि रामचन्द्र जैसे नायक धीरललित कैसे हो सकेंगे। इसका समन्वय इस प्रकार हो सकेगा कि प्रख्यातोदात्त पद से यह निकलता है कि इन चारों को उदात्त नायक मानना चाहिए।

१३. अङ्क के स्वरूप को दिखलाते हैं—'अस्यावस्थोपेतम्' इत्यादि से। नाटक का जो कार्य हैं वह विन्दु के द्वारा किये गये विस्तारण से सम्पाद्य इतिवृत्त होगा। यह अवस्थादि के अनुकूल रह कर गतिशील होता है तथा

द्रष्ट—देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ।
धीरप्रशान्ता विज्ञेयाः ब्राह्मणाः वणिजस्तथा॥
(अ० भा० १८-१२ भाग २,)

आधिकारिक होता है। इसलिये आरम्भ आदि अवस्थाओं से संयुक्त रखते हुए या उससे पूर्ण कर इस इतिवृत्त के प्रकर्ष को देखते हुए 'अङ्क' को रखा जाता है। विन्दु रूप सूत्र से बंध कर जब आरम्भ आदि अवस्थाएँ—चलने वाली स्थितियाँ—पूर्ण हो जाएँ तो अङ्कच्छेद हो जाता है, तथा इसीलिये आगे द्वितीय अंक बिन्दु के द्वारा अभिधेय विधान किया जाता है। यही प्रक्रम आगे प्रयत्नादि अवस्थाओं में भी रहता है, इसी कारण नाटक में न्यूनतम पाँच अङ्क होते ही हैं यह मुख्य कला है।

प्रश्न—अवस्था के अनुसार अङ्कों के निर्माण करने पर फिर इन अङ्कों का न्यूनत्व या आधिक्य का उपनिबन्धन कैसा होता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि यह सभी विचार कर किया जाता है। यही बात मूल में 'सोऽपि' के अपि शद्व से स्पष्ट दिखलायी गयी है, तथा तु शब्द से वैलक्षण्य भी। यह इस प्रकार है कि जब कार्य की आरम्भ की अवधि प्रधान हो तो उसी को उपक्रम तथा उपसंहार रूपी अवस्थाओं की अपेक्षा से दो अङ्क रखे ही जाएँगे तथा अन्य के लिये एक एक अङ्क हो तो, उनमें इन अवस्थाओं का सम्पादन हो तो फिर इन अङ्कों की संख्या सात, आठ तथा दस तक अधिकतम बढ़ाई जा सकती है।

इन अवस्थाओं में से किसी अवस्था को प्रधान तथा अन्य को दूसरी में समाविष्ट किया जाएगा तो न्यून अंक भी होंगे, जैसे 'नाटिका' में होते हैं। इस तथ्य को 'तु' तथा तत्वज्ञ पद से दिखलाया गया है। अवस्था, बिन्दु तथा कार्य के स्वरूप को आगे दिखलाया जा रहा है।

१४. अब यहाँ प्रश्न है कि इसे अङ्क क्यों कहते है? इसका उत्तर यही है कि अङ्क यह रूढ़ि शब्द है। यहाँ रूढ़ि के स्थान पर भट्टलोल्लट 'गूढ़' शब्द का पाठ मानते है तथा अर्थ करते है कि जो रसों एवं भावों से गूढ़ = छन्न या व्यापक हो। यह अर्थ अङ्क शब्द से मिलता है। अन्य लोग इसी आर्या के द्वितीय पाद में 'रोहयत्यर्थान्' पाठ लेते हैं। रूढ़ि का अर्थ रोहण है और रोहण से लेते हैं उत्सङ्ग को अतः रोहण उत्सङ्ग को कहते हैं। अतः जो नाटक का अंश योग्यता के अनुसार भावादि अर्थों का सामाजिकों के हृदय पर आरोपण कर देता है या स्वयं वहन करता है अतएव वह उत्सङ्ग की तरह आरोहण सम्बन्ध (केअंश के रहने) से इस (अंश) को अङ्क कहा जाता है।

अङ्क यह शब्द लक्षण में रूढ़ है तथा दूसरों से जो प्रकृतार्थ का व्यवच्छेदक होता है वही लक्षण होता हैं। ऐसी स्थिति में अङ्क भी दृश्य रूपक एवं रूप

के नानात्व को कहता है तथा दूसरे अनभिनेय श्रव्य तथा पाठ्य काव्यों से उनका विभेद या पार्थक्य भी बतलाता है। यह अङ्क अभिनेय रूपक के अंशों में होता है अतः अनभिनेयों से भेद दिखलाने वाला यह अङ्क अभिनेय रूपक का लक्षण हो सकता है।

१६. अङ्क के स्वरूप को दिखलाते हैं—'यत्रार्थस्य' इत्यादि से। जहाँ आरम्भादि अवस्था लक्षण अर्थ की समाप्ति हो वह अङ्क है। यही अङ्क का स्वरूप है। अवस्था की समाप्ति होने पर भी सन्धियों के भेद से उचित बीज का संहरण जब होता है तब भी अङ्कच्छेद होता है। मुखादि सन्धियों में क्रमशः उत्पत्ति, उद्भेद एवं फल समापन रूप जो बीज की दशा विशेष होती हैं, वे 'संहार' कहलाती हैं। अङ्क के विच्छेद होने पर भी अर्थ के विच्छेद नहीं होने के लिए बिन्दु का सम्बन्ध बनाए रखा जाता है तथा इसी रूप में अङ्क को निर्मित किया जाता है। यहाँ 'अस्यावस्थोपेतम्' इत्यादि कारिका से 'अङ्क' का स्वरूप-लक्षण तथा 'अङ्क इति' इत्यादि से तटस्थ लक्षण आचार्य ने दिखलाया है। ऐसी स्थिति में अङ्क के स्वरूप में तीन प्रकार या कोण बनते हैं जिन्हें कोहलाचार्य ने स्पष्टतः दिखलाया है। यथा:—

'त्रिधाङ्कोऽङ्कावतारेण चूडयाङ्कमुखेन वा।
अर्थोपक्षेपणं चूडा बह्वर्थैः सूतवन्दिभिः।
अङ्कस्याङ्कान्तरे योगस्त्ववतारः प्रकीर्तितः।
विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमिष्यते ॥'

अङ्कावतार, चूड़ा तथा अङ्कमुख भेदों से अङ्क के तीन प्रभेद होते हैं; इनमें अङ्कावतार उसे कहते हैं जहाँ एक अङ्क में दूसरे अङ्क का योग रहे, चूड़ा उसे कहते हैं, जहाँ सूत या बन्दियों के द्वारा जहाँ अङ्क के उपश्लिष्ट मुख का स्त्री या पुरुष के द्वारा या उपक्षेप होता हो तो उसे अङ्कमुख कहते हैं। यहाँ विश्लिष्ट या—उपश्लिष्ट की व्याख्या कर चुके हैं कि नाटकादि में एक अङ्क के अर्थ का जब दूसरे अङ्क के अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है।

१७. प्रवेशको के द्वारा मुख्यचरित में आने वाली शङ्का के कारण उसे बतलाने के लिये—'ये नायकाः' इत्यादि के द्वारा कहा जाता है। धीरोदात्तादि तथा उनके मित्रादि जो नायक तथा प्रतिनायक हैं उनके चरित उनके लिये अनुष्ठेय यां कर्तव्य उपायादि तथा सम्भोग जो कि प्रत्यक्ष हो न कि सूच्य, वह अङ्क वृत्त या फल की ओर नायक के चरित की व्युपत्ति प्रत्यक्षतः दर्शकों को

करवाता है। क्योंकि संभोग का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु नायक के क्लेश-बाहुल्य का यदि दर्शन होगा तो सामाजिक को वैरस्य हो जाएगा कि ऐसे महान् कष्टों के सहने से क्या लाभ हुआ इत्यादि। जहाँ प्रतिनायक में चरित-सम्भोग अनुपादेय या अविषय होने से हेय रहते हैं तो नायक में वे उपादेय होते हैं। अविप्रकृष्ट का अर्थ है जो दीर्घ या लम्बा न हो, क्योंकि जो दीर्घ अभिनेय रहे तो वह प्रयोग करने वाले अभिनेताओं तथा दर्शकों को खेद उत्पन्न करता है।

१८–१९. वर्णनीय प्रधानवृत्त को बतलाने के बाद तदुपयोगी वृत्त की दिशा दिखलाने के लिये कहते हैं—'नायकदेवी' इत्यादि से। नायक मुख्य तथा पताका नायक अमुख्य होता है। देवी, गुरुजन, आचार्य आदि या इनका सम्बन्धी के अभिप्राय वाला अङ्क होता है। इसी कारण यह किसी एक ही विचित्ररस से युक्त नहीं होता। जैसे यदि देवी के सम्बन्ध से शृङ्गार है तो नायक के सम्बन्ध से वीर भी होगा यह स्वयं उत्प्रेक्षा से जान लेना चाहिए। अनेक रसों से अङ्कित रहने के कारण इसका 'अङ्क' नाम अन्वर्थ है।

२०. इसमें केवल चरित या सम्भोग ही प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अन्य बातें भी प्रत्यक्ष होती हैं अतः रञ्जनातिशय को दिखलाते हैं—'क्रोधप्रसाद' इत्यादि से। शङ्का, भय तथा त्रास के कारण होने वाला 'विद्रव' होता है, जिसे गर्भसन्धि में कहेंगे। उद्वाह का अर्थ है विवाह। अद्भुत रस का सम्भव अर्थात् उत्पत्ति उसका अभ्युपगम, उपक्रम, दर्शन तथा निर्वाह इत्यादि रञ्जक वर्ग का उपलक्षण है। अक्ष अर्थात् इन्द्रियों से ज अर्थात् होने वाले ज्ञान के जो अनुगत है, वह प्रत्यक्ष है। यहाँ प्रत्यक्ष शब्द से उसके एक देश को कहा गया है, जिसका आशय है कि अन्य इन्द्रियवर्ग की प्रत्यक्षता भी होती हैं तथा कभी-कभी तत्व भी प्रत्यक्ष होता है। अतः ये प्रत्यक्ष होने वाले भी इनमें कुछ रहते हैं तथा कुछ को संकेत या सूचना से भी दिखलाकर प्रत्यक्ष कराया जाता है।

२४–२५. अब अङ्क के उपयोगी काल के परिणाम को जो कि इसमें इतना काल अपेक्षित है—बतलाते हैं—'एकदिवसप्रवृत्तम्' इत्यादि से। इस प्रकार के अवान्तर प्रयोजन से युक्त बीज—(अनुष्ठान के उपाय की वर्णनीयता) को स्वीकार कर अङ्क को सम्पन्न किया जाता है। जिसका प्रकृष्ट प्रयोगरूप जो वर्तन है, उसका सम्पादन एक दिवस में १५ मुहूर्त्त में ही करना चाहिए। क्योंकि उतने काल तक जिनका निरोध नहीं किया जा सकता है, ऐसे आवश्यक भोज, नादि है। इसके बाद भी अगर प्रयोग करना इष्ट हो तो दर्शक, सामाजिक और

प्रयोक्ता (अभिनेताओं) के आवश्यक सन्ध्यावन्दनादि क्रियाकलापों को अविरोधी स्थिति में करना चाहिए। इस प्रकार अनेक कार्यों का एक अङ्क में करने का निषेध भी किया है तो कहीं स्वीकार भी किया है, कि एक अङ्क में अनेक कार्य हो सकते हैं। अन्य आचार्य कहते हैं कि यह समग्र आर्या ही निषेधपरक है। अन्य आचार्य एकाङ्केन में तृतीया है अतः यह विधिपरक है।

२६. अत्यन्त आवश्यक जब भोजनादि तो हैं उनको क्या प्रत्यक्ष अभिनय पर दिखाना चाहिए इस प्रकार की आशंका के उत्तर में कहते हैं—'रङ्गं तु ये प्रविष्टाः' इत्यादि। यहाँ अवश्य कर्तव्य कार्य के समाप्त हुए विना या अवान्तर कार्य के प्राप्त किये विना निष्क्रमण नहीं होता अतएव आवश्यक कर्तव्य की समाप्ति में ही पात्र का निष्क्रमण होना चाहिए इसे दिखाते हैं—बीजार्थेति। उपक्षेपात्मा बीज का प्रयोजन तथा उसकी युक्ति में जो उपायभूत कर्तव्य है उसे प्रयोजन के अनुसार रस से युक्त या पूर्ण करके यवनिका से तिरोधान रूप निष्क्रमण दिखलाना चाहिए। अन्य आचार्य कहते हैं कि बीजभूत अर्थ की युक्ति या उत्पत्ति उद्घाटन, उद्भेद, गर्भ, निर्भेद एवं फल के समानयन वाली होती है।

२७. इस प्रकार इतिवृत्त के विषय या नियम को अङ्क में बतला कर अब उसी इतिवृत्त के काल के विषय में नियम दिखलाते हैं—'ज्ञात्वा' इत्यादि से। जिन लक्षणों को या कार्यों को करना ही हो, जैसे इस क्षण में सन्ध्या की जाए इत्यादि उनसे युक्त दिन की स्थिति को समझ कर सबको कार्य करना चाहिए; जोकि अपने में प्रत्येक पूर्ण हो तो उसे विभाग करके दिखलावे। नाडिकाओं से समय की कलाओं से दिन तथा रात्रि का आठ विभाग कर अथवा छाया के प्रमाण से विभाग कर तदनुसार एक दिवस सम्पाद्य उपयोगी कार्य के अभिनय को अंक में निबद्ध किया जाए यही आशय है।

२८. जो कार्य मध्याह्न काल के स्नान सन्ध्या एवं भोजनादि है उन्हें दिन के मध्यभाग में ही करना चाहिए अथवा जो कार्य हो चुका हो किन्तु दूर है (जैसे दशरथ मरणजादि) उन्हें कैसे दिखलाया जाए? एतदर्थ कहते हैं—'दिवसावसानकार्य' इत्यादि से। दिन भर में जो समाप्त हो सकते हैं ऐसे सभी कार्य यदि अङ्क में दिखलाना युक्त न हो तो अङ्कच्छेद कर प्रवेशक के द्वारा उन्हें दिखलाना चाहिए। क्योंकि प्रवेशक का अर्थ ही है कि जो अदृष्ट अर्थ को भी हृदय में प्रवेश करवा दे। अतः यहाँ प्रवेशक पद से अर्थोपक्षेपकों

का ग्रहण अभिप्रेत है। इसीलिये कोहल ने अर्थ के उपक्षेपक इन पाँचों प्रवेशक, अङ्कावतार, अङ्कमुख तथा विष्कम्भक को कहा है।

२६. 'अङ्कच्छेदं कृत्वा' इत्यादि। क्योंकि जो मास या वर्ष से सञ्चित है वह कार्य सामाजिकों के हृदय में स्थित है, अतः प्रवेशक तथा विष्कम्भक को करना होता है किन्तु जो अनुसन्धेय या परिमित है, वहाँ अङ्कमुख होता है तथा अल्पअनुसन्धेय में चूलिका तथा अल्पतम में अङ्कावतार होता है। यहाँ जो सञ्चित कार्य यत्न से सम्पाद्य है, उसी की वर्ष के रूप में गणना करते हैं, क्योंकि अन्य वर्ष रहते हुए भी नहीं के समान है। उदाहरणार्थ श्रीराम चरित में उनका चौदह वर्षों का यद्यपि वनवास है, तथापि मारीच का वध, सुग्रीव के लिये राज्यदान आदि अवान्तर कार्य के तीन चार (८ या ९) मास ही होते हैं, अतः ये एक वर्ष के ऊपर नहीं होते हैं। इसी कारण वर्ष द्वय का निषेध शास्त्रकार करते हैं तथा इसी कारण एक हजार वर्ष की आयुवाले के चरित्र को सौ वर्षों के अन्तराल में घटित कहने में दोष नही है तथा पाँच अङ्कवाले नाटक में कार्य करने के लिये पाँच दिन संक्षेप तथा दस अंक के नाटक में दस दिन रहना विस्तार कहलाता है।

३०. अङ्कच्छेद में अन्य कारणों को भी दिखलाते हैं—'य कश्चित्' इत्यादि से। जहाँ कार्य विस्तृत है तथा पुरुष नायक हो और वह लम्बे (अनेक योजन लम्बायमान) मार्ग पर जाता है तो उसके प्रतिदिन के गमन, मध्य में विश्राम तथा शयन आदि सभी कार्यों को रङ्ग के बीच कैसे दिखलाते रहें, अतः अन्त में अङ्क च्छेद कर देना चाहिए। डिम आदि रूपकों में दिव्य नायक से आकाशयान आदि के द्वारा शीघ्र लम्बे मार्ग को पार कराना युक्ति संगत है। नायक का प्रकष्ट अध्व में गमन इत्यादि, इसलिये है क्योंकि यह अङ्कच्छेद पूर्व में कथित लक्षण उपयुक्त है। अङ्कार्थ के सन्धान के प्रयोजनार्थ प्रवेशक की यहाँ रखा जाता है यह कहा ही जा रहा है आगे की कारिका में।

३१. इस प्रकार अङ्क के लक्षण का विस्तार कर एवं कथित अर्थ का आधे से उपसंहार कर शेष अर्धभाग से अङ्कानुसन्धानरूप 'प्रवेशक' के सामान्य लक्षण को दिखलाते हुए कहते हैं—'सन्निहितनायकोऽङ्क' इत्यादि। यहाँ नायक शब्द से उसके चरित तथा सम्भोग ये दोनों जहाँ सन्निहित अर्थात् प्रत्यक्ष हों ऐसे रूपक के एक अङ्क से (भी) नायक के चरित्र को दिखाना चाहिए अर्थात् उससे शून्य अंक को नहीं किया जाए, यह बतलाया है। यह रूपक के एक अङ्क के रहने पर जब रहता है तो फिर प्रकरण तथा नाटक के विषय में और

भी यह बात लागू होगी। अन्य आचार्य इस अंश को उत्तरार्ध से मिलाकर कहते हैं कि रूपकान्तर प्रवेशकों से शून्य होते हैं। परिजन-कथानुबन्धत्व चारों (अर्थापक्षेपकों) का उपलक्षण है। अतः जहाँ नाटक में अभिनेय अर्थ सम्बन्धी कथा के योग से प्रयोग के अनुसार अङ्क के मध्य में ही जब अङ्क का निपतन या प्रवेश रहे तो वहाँ अङ्कावतार होगा।

३२. विषय को बतलाते हैं—'अङ्कान्तरानुसारी' इत्यादि से। आशय यहाँ यही है कि यह अङ्क के मध्य में रखा जाता है। आगे आने वाला अङ्क पूर्व अङ्क का अनुगमन करता है अर्थात् वह उसी के पश्चात् आता है। प्रत्येक अङ्क के अन्त में जो बिन्दु है तथा जो अनुसन्धान करने वाले वाक्य के प्रयोजन का संक्षिप्त तत्व है, उसे कहा जाए अर्थात् वह आधिक्यकरण रूप या विस्तार करण के लिये होता है। अतएव नाटक तथा प्रकरण में प्रवेशक अवश्य रहता है किन्तु इसके अतिरिक्त रूपकों में परिमित कार्य रहने से वहाँ प्रवेशक उपयुक्त नहीं होता, यह आगे और भी देखेंगे।

३३. अब विष्कम्भक से प्रवेशक का विभेद दिखलाते हैं—'नोत्तममध्यम' इत्यादि के द्वारा। प्रवेशक शब्द अतिशय विशेष का भी वाचक होता है। परिजन भी उत्तम होते हैं अथवा उत्तम भी परिजन होते हैं, इस आशंका की निवृत्ति के लिये भी यह कथन है। उदात्त अर्थात् जो संस्कृत वचन हैं, उनका निषेध है। अन्य के अनुसार उदात्त अर्थात् अपने कार्य में विश्रान्त होने वाले वचन का निषेध है। यहाँ भाषा भी प्राकृत तथा आचार भी प्राकृत ही रहता है, प्रयोग के आश्रय या अनुरोध के कारण। कहीं कहीं प्रयोगवश संस्कृत भाषा का भी निष्कम्भक में उपयोग रहता है।

३४. संक्षेपार्थ को पूर्व में कहा था अतः उसी के विभागार्थ अब आगे कहते हैं—'कालोत्थानगति' इत्यादि से। काल के उत्थान अर्थात् उदय की गति का ज्ञान जिससे होता है ऐसा कालोदय का सूचक प्रवेशक होता है। यहाँ अर्थाभिधानका प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। कार्य अर्थात् पञ्चाङ्ग का अनुष्ठान जैसे कर्मों का आरम्भ का उपाय अर्थात् किस उपाय के आश्रय से कर्म का अनुष्ठान हो, पुरुष तथा द्रव्य की सम्पत्ति की परिपूर्णता, देश तथा काल का विभाग, विनिपात का प्रतीकार तथा कार्य की सिद्धि इस प्रकार के अभिधान से युक्त प्रवेशक होते हैं। इनके सिवाय प्रवेशक के और भी प्रयोजन हो सकते हैं जिनकी यहाँ केवल परिगणना नहीं है अत एव 'अनेकार्थं' कहा भी है।

३५. ऐसा कौन सा अर्थ है जो प्रवेशक में संक्षेप या विस्तार से दिखलाया जाता है उसे कहते है—'बह्वाश्रय' इत्यादि के द्वारा। सन्धि को करने वाला से आशय है कि जो नाटक तथा प्रकरण आदि में मुखादि पाँच सन्धियों की योजना करने की इच्छा करता हो, उसके लिये अङ्कगत अर्थों के सन्निवेश हेतु चूलिका आदि पाँच अर्थोपक्षेपकों को कहा गया था। अतः उनके द्वारा अंकों में कथनीय विस्तृत कार्य की संक्षेप में योजना करना अर्थात् जितना कार्य सन्धान के लिये उपयोगी हो उतना ही कहा जाय। क्योंकि गद्य में बिना समास के असंस्कृत अनेक पदों के अभिधान से सामाजिकों को खेद या ऊब होती है। इससे यह भी सूचित किया गया है कि नाट्य में उत्कलिकाप्राय गद्य का प्रयोग न किया जाए क्योंकि समास से सङ्कीर्ण होकर वह अभिनय की शाखा के अंगों को तोड़ने वाला होता है और कहीं पर समास में संशय कारक होकर अर्थ के निश्चय में भी रुकावट लाता है।

३६. 'दिवसावसानकार्य' इत्यादि जो पूर्व में कहा गया था उसमें अनेक अनुपपत्ति आ खड़ी होती है। जहाँ अर्थ की समाप्ति है अर्थात् जो प्रत्यक्ष में प्रयोज्य होकर भी अङ्क में समाप्त नहीं होता हो तो उसे प्रवेशक से सम्पन्न किया जाता है। इसलिये यहाँ यह अर्थ भी है कि जहाँ दिन भर में पूरे होने वाले अनेक कार्य हो वहाँ बीच में सुन्दरप्रयोग वाले तथा उपदेश योग्य ही कार्यों को प्रत्यक्ष दिखला कर अवशिष्ट को प्रवेशकों से सम्पन्न करे। अवशिष्ट अर्थ का फल है केवल इतिवृत्त का निर्वाह होना अतः प्रवेशक में संक्षिप्त कथा या अल्पवृतार्थ रहे। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रयोग के योग्य 'प्रवेशक' की उपयोगिता को भी दिखलाया गया है।

३७–३९. प्रकरण में नायक की अपेक्षा से उपयोग में आनेवाले पात्र प्रायः मध्यम ही रहने से 'विष्कम्भक' की बाहुल्येन संभावना होने के कारण विष्कम्भक का स्वरूप बतलाते हैं—'मध्यमपुरुषै' इत्यादि के द्वारा। विष्कम्भक वह है जहाँ विष्कम्भन अर्थात् उपस्तम्भन होता है। यह विष्कम्भक संस्कृत वाक्यों से अनुगत होकर संकीर्ण भी होता है और अर्थक्रिया का कर्तव्यवश अनुसन्धान करते हुए प्रवेशक से भी विष्कम्भक को किया जाता है। जो टिप्पणी में दिया है। यहाँ ३९ के स्थान पर पाठान्तरपद्य भी उपयोगी है जो यहाँ टिप्पणी में दिया है। यथा:—

अङ्कान्तरालविहितः प्रवेशकोऽर्थक्रियां समभिवीक्ष्य।
सङ्क्षेपात् सन्धीनामर्थानाञ्चैव कर्तव्यः॥

[अर्थक्रिया के सभी पक्षों से आवश्यकता को देखते हुए सन्धियों तथा अर्थों के मध्य में विहित या सन्निवेश के योग्य प्रवेशक को संक्षेप में (या संक्षेप के लिये ?) किया जाय ।]

इस अर्थक्रिया को स्पष्ट करते हैं 'सङ्क्षेपात् सन्धीनाम्' इत्यादि से। सन्धियों का संक्षेप है युद्ध या राज्यभ्रंश आदि अर्थों का जो संक्षेप है उन सभी का अभिसन्धान कर अङ्क तथा सन्धि के मध्य में विष्कम्भक की योजना रखना है।

४०. अब प्रत्यक्ष दिखलाने के अयोग्य पदार्थों का सामान्यतः संग्रह दिखलाते हैं—'न महाजन' इत्यादि से। इसलिये जिस जिस वस्तु में उससे परिवारण होता है वह नायक है तथा उससे युक्त प्रकरण है। यहाँ वा ग्रहण के द्वारा यह भी बतलाया है कि महाजन से संख्याधिक्य का वारण तो है ही इसके अतिरिक्त अन्य भी जो कुछ है उसको भी नहीं करना चाहिए। अर्थात् जो पुरुषों से साध्य हो [जैसे—समुद्र में सेतुबन्धन निर्माण आदि] तो उन सभी कार्यों को मञ्च पर नहीं दिखलाना चाहिए। महाजन अर्थात् परिवार के अनेक सदस्यों के समुदाय को तथा उनके कार्यों को प्रत्यक्षतः रंगमञ्च पर नहीं दिखलाया जाए। यदि इनको दिखलाना ही हो तो चार या पाँच प्रकरी या पताकागत और उनके जो परिवार हों उतने ही या प्रकर्ष बतलाना हो तो आठ या दस कार्य पुरुषों का रंगमञ्च पर कार्य रखा जाए। क्योंकि इससे अधिक रहने पर चारों प्रकार के अभिनयों का ठीक से अवबोध नहीं हो पाएगा, फिर तो यह केवल देवयात्रा में दिखलाई पड़ने वाला जनसमुदाय हो जाएगा।

४६. इस प्रकार अङ्क में प्रवेशक की स्थिति दिखलाकर उसके समुदाय रूप नाटक को दिखलाते हुए कहते हैं 'काव्यं गोपुच्छाग्रम्' इत्यादि। आशय यही कि इसमें कुछ कार्य मुखसन्धि तक चलने वाले तथा कुछ निर्वहणसन्धि तक पर्यवसित होने वाले होते हैं और सारभूत पदार्थों को पर्यन्त तक रखना चाहिए। (शेष विवेचन वहीं टिप्पणी में देखें)

४७. सारभूत पदार्थों के पर्यन्त तक रखने में हेतु दिखलाते हैं—'सर्वेषां काव्यानाम्' इत्यादि से। सभी काव्यों के अर्थात् नाट्यादि रूपको के अन्त में निर्वहण में अद्भुतरस को रखना चाहिए। इस प्रकार वे रस एवं भावों की युक्ति से वे परस्पर सम्बद्ध तथा युक्ति सङ्गत हो जाते हैं अन्यथा अद्भुतरस के बिना वे उपयुक्त नहीं होंगे। अतः शृङ्गार, हास्य, वीर एवं अद्भुत रसों के संयोजन

के द्वारा क्रमशः स्त्रीरत्नलाभ, पृथ्वीलाभ, शत्रुक्षय को तथा करुण, भयानक, बीभत्स, रौद्र तथा शान्त रस से इनकी निवृत्ति को। अतः इस क्रम से लोकोत्तर एवं असम्भाव्य मनोरथ की प्राप्ति होने से यह आवश्यक ही हो जाता है कि अद्भुतरस को निर्वहण में दिखलाया जाए।

४८. उपसंहार करते हुए कहते हैं—'नाटकलक्षणम्' इत्यादि से। लक्षण युक्त्या अर्थात् लक्षणरूप द्वार से जो युक्ति अर्थात् योजना है उसके द्वारा ही। आशय यही कि वस्तु के साध्यार्थ को हृदय में प्रवेश करवाने में जो युक्ति हेतुभूत हों उनके द्वारा।

४९. प्रकरण के लक्षण को नाम निर्वचन तथा भेदों के साथ बतलाते हुए कहते हैं—'यत्र कवि' इत्यादि से। वस्तु पद से यहाँ साध्य फल का ग्रहण किया गया है तथा शरीर का अर्थ है फल के उपाय। काव्य के अभिधेय को जो आत्मशक्ति के द्वारा प्रकर्षयुक्त करता है वह प्रकरण है।

५०. जहाँ उत्पाद्य कुछ न हो वहाँ अनुत्पाद्य अंश भी कहीं से नहीं लिया जाय यही बतलाने के लिये कहते हैं—'यदनार्ष' इत्यादि से। अनार्ष का अर्थ है पुराणादि से भिन्न बृहत्कथा आदि में उपनिबद्ध देवचरित्र। आहार्य = प्राचीन कवियों के काव्य से लिये गये जैसे समुद्र दत्त के कार्य। प्रश्न :—जहाँ वस्तु उत्पाद्य नहीं तो वहाँ अनुत्पाद्य अंश में कवि के द्वारा करणीयता नहीं है अतः प्रकृष्ट करण वहाँ कैसे संगत होगा? उत्तर :—यहाँ उत्पन्न अर्थात् पूर्वसिद्ध काव्य में बीज तथा वस्तु जैसी रहे वहाँ यत् पद का आशय यहीं है कि बृहत्कथा आदि में प्रसिद्ध जो वस्तु गुण उन्हें प्रकर्ष प्रदान करता हो। तात्पर्य यही कि प्राचीन कविगण के द्वारा उत्प्रेक्षित वर्णन में जो उत्कृष्ट स्वरूप की योजना हो उसे कवि प्रकरण में समायोजित करे।

५१. इतिवृत्त की ऐसी योजना को स्मरण करवाने के लिये अतिदेश द्वारा कहते हैं—'यन्नाटके' इत्यादि के द्वारा। वस्तु शरीरम् से इसे अङ्क प्रवेशक से युक्त रखना बतलाया गया है तथा ऋद्धि विलासादि से नायक की फलवत्ता को। 'वृत्तिभेदाश्च' से नाना रस, भाव तथा चेष्टाओं से युक्त तथा सुख एवं दुःख की उत्पत्ति करने वाला एवं 'सलक्षणम्' पद से लक्षणादि सम्पन्न अङ्कादि युक्तता भी दिखलाई गयी है।

५४. वेश अर्थात् वेश्याओं का मार्ग उसमें जो स्त्री हो उसके उपचार को (इस प्रकार के उपचार वैशिकाध्याय में हैं)। उस वपचार से परिपूर्ण रहने

से जहाँ कुलस्त्री के चरित या चेष्टित मन्द या अल्प रहें। दूसरा पक्ष (भी) इसकी व्याख्या करता है कि जहाँ मन्दकुलवाली अर्थात् छोटे कुल की स्त्रियों के चरित्र हों अर्थात् यदि प्रकरण में कुलाङ्गना हो तो वह भी छोटे कुल की होना चाहिए।

५५–५६. प्रकरण के भेदों को दिखलाने के लिये कहते हैं—'सचिवश्रेष्ठी' इत्यादि के द्वारा। सचिवादि सम्बन्धी वार्ता से युक्त पुरुषार्थसाधक इतिवृत्त हो वहाँ वेश्या नायिका नहीं रहे परन्तु जहाँ विटादि नायक हों तो गार्हस्थ चिन्ता में वेश्या का उपनिबन्धन हो सकता है। इसी तरह यदि श्रेष्ठी या सार्थवाह की गृहस्थचिन्ता का वर्णन न हो तो विप्रादि की तरह वेश्या का सम्बन्ध दिखलाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में कुलस्त्री का संगम न दिखलाया जाए। इस प्रकार श्रेष्ठी या सचिव तथा कुलस्त्री एवं वेश्या के नायकादि से सङ्कीर्ण प्रकरण भेद होते हैं।

५७. यहाँ कारण शब्द से यह बतलाया कि कुलस्त्री का सम्बन्ध माता-पिता के अनुरोध से होता है। जब कि विट के यहाँ वेश्या प्रमुख रहती है। कुलस्त्री की अविकृता (विकार रहित) भाषा संस्कृत तथा वेश्या की शौरसेनी प्राकृत हो सकती है। कुलस्त्रियों में आचार तथा विनय प्रधानतः रहता है तथा इससे भिन्न स्त्री में इसके विपरीत होता है।

५८–५६. अङ्कान्तरानुसारी तथा अङ्क के मध्य में इसके द्वारा प्रस्तावना तथा अङ्क के मध्य में विष्कम्भक को प्रवेशक की तरह सामान्यतः रखने की बात कह दी गयी है। प्रवेशक तथा निष्कम्भक के विषय में लिङ्ग तथा वचन अतन्त्र है, अतः स्त्रियों का अनुप्रवेश और पात्रों का संख्याधिक्य भी हो सकता है।

६०–६१. इस प्रकार नाटक के द्वारा राजप्रधान पुरुष की सकलपुरुषार्थ विषयक व्युत्पत्ति होती है। प्रकरण के द्वारा अपूर्व कुतूहलशाली मध्यम पुरुष की व्युत्पत्ति की जाती है तथा प्रकरण के विविध रूपक प्रकारों से चित्र व्युत्पत्ति होती है। इसमें भी रूपक के लक्षणों से सङ्कीर्ण होने के कारण अनेक प्रभेद हो जाते हैं यह बात सामान्य लक्षण में कही गयी थी। अतः जब रूपकों के प्रसारण करने वाले प्रधानभूत प्रभेद नाटक एवं प्रकरण के लक्षणों के साङ्कर्य को दिखा कर सभी प्रकार के रूपकों का दर्शन करा दिया गया है। अतः इसी अभिप्राय से सभी रूपकों को दिखलाना उचित है जिसे (आगे) नाटिका के स्वरूप में बतलाएँगे। लक्षण के भेद से नाटिका प्रकरण

तथा नाटक से भिन्न होती है। यहाँ यदि 'नाटकप्रकरणभेदात्' पाठ रखे तो सरल रहेगा तथा 'अल्पाच तरम्' के अनुसार भी उचित होगा। वस्तु और नायक नृपति ये दोनों कल्पित होने चाहिए। यह नायक अन्तःपुर में स्थित या सङ्गीत-शाला की अभ्यासिका कन्या को प्राप्त करे ऐसी (नाटिका को या) नायिका को रखा जाए।

६२. इसमें बाहुल्येन स्त्रीपात्र होते हैं तथा चार अङ्क रहते हैं। इसमें चित्रित किसी भी अवस्था का सरसयोग रखा जाता है, ललित अभिनय रहता है तथा इसी कारण कैशिकी वृत्ति रहती है, जिसका अपने चारों अङ्गों के साथ सौन्दर्य तथा पूर्णता से विधान रखा जाता है। इसमें रति की प्राप्ति स्वरूप सम्भोग के प्रधान फल की योजना रहती है, इसलिये कहा गया कि नाटिका राजकीय उपचारों से युक्त होती है। यहाँ जब अन्य नायिका के साथ नायक का अनुराग रखा जाता है तो पूर्व या ज्येष्ठा नायिका में क्रोध, प्रसाद तथा वञ्चना रहेगी। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्रुद्ध को मनाया जाता है तब आचार्य ने प्रसादन तथा क्रोध का क्रम क्यों रखा? उत्तर—यहाँ कारिका में ऐसा पाठ रखा गया है परन्तु वस्तु स्थिति में पहिले क्रोध तथा बाद में ही प्रसादन रहता है। प्रश्न—यहाँ क्रोध तथा प्रसादन तो बतलाया परन्तु यह किसे हो यह तो दिखाया ही नहीं? उत्तर—नायिका को ही—जो महादेवी है तथा देवी से अन्य नायिका—विषयक जब अभिलाष हो तो ही। इसमें दूती प्रभृति परिजन या सहायिकाओं की समृद्धि रहती है। सन्धि के शेष सभी अङ्गादि रखें जाते हैं। एक नायिका ख्यात तथा अन्य जो अख्यात कन्या इस प्रकार चार भेद, फिर कन्या के अन्तःपुरगता तथा सङ्गीतशालागता इस प्रकार और दो भेद होकर छः प्रकार की नाटिका हो जाती है; ऐसा सङ्ग्रह के अनुगामी भट्ट लोल्लट प्रभृति आचार्यों का मत है। परन्तु श्रीशङ्कुक के मत में यह मत ठीक नहीं है क्योंकि नाटिका के इस प्रकार नायिका गत भेद से ही आठ प्रभेद हो जाते है। श्री घण्टक आदि आचार्य का मत हैं कि इसका नायक नृपति होता है। इतना ही नाटक से उपजीवित प्रख्यातत्व है ऐसा नहीं है, अतः उन दो भेदों से अन्य ये आठ भेद होते हैं जो सोलह भेद बन जाते हैं। इसके स्वरूप के विषय में व्याख्या है कि प्रकरण के लक्षण के अंश के ग्रहण रहने से वस्तु उत्पाद्य तथा नाटक के लक्षण के अंश के ग्रहण के कारण नायक प्रख्यात नृपति होता है, अतः नाटिका इन दोनों के योग से बनती है। अन्य आचार्यों का का मत है कि नायक तथा प्रकरण के भेद से नाटिका भिन्न होती है। नाटक शब्द से यहाँ सभी

अभिनेय रूपकों का ग्रहण समझना चाहिए, किन्तु उनमें सौकुमार्य दिखलाने के लिये स्त्रीरूप में निर्देश किया गया है। अत; प्रकरणिका भी सार्थवहादि नायकों के योग से कैशिकी वृत्ति प्रधाना हो सकती है।

६४. यद्यपि यहाँ (ऐसी) नायिका ही बतलायी गयी तथापि नाटक तथा प्रकरण के स्वरूप में भी किसी प्रकार वह अवस्थित है, इसी अभिप्राय से कहा है—'लक्षणमुक्तम्' इत्यादि। और भी रूपकों के स्वरूप बतलाना है अतः कहा गया 'वक्ष्याम्यतः परम्' इत्यादि। प्रश्न :—यहाँ उद्देश्य क्रम को क्यों छोड़ दिया गया ? उत्तर :—यहाँ उद्देश्य वस्तु परिगणनार्थ नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि नाटिका के स्वरूप निरूपण के कारण भी यह क्रम विच्छिन्न है। परन्तु इसके अतिरिक्त जैसे नाटक तथा प्रकरण में अधिकतर तथ्य व्युत्पाद्य हैं वैसे ही यहाँ समवकार में भी हैं तथा इसमें भी त्रिवर्ग को उपाय के रूप में दिखलाया गया है। अन्य रूपक त्रिवर्गोपाय नहीं क्योंकि वे एकाङ्क वाले होते हैं। इसलिये त्रिवर्ग के व्युत्पादक तथा अनेक अङ्कों वाले रहने के कारण नाटक तथा प्रकरण के बाद इसी (नाटिका) का अभिधान करना उचित था।

६५–६६. देव तथा असुरों का जो बीज अर्थात् फल के सम्पादन का उपाय उससे विरचित। यद्यपि देवता पुरुषों की अपेक्षा उद्धत होते हैं, किन्तु देवता होने के कारण उनका प्रधान गुण गाम्भीर्य है अतः वे उदात्त होते हैं, जैसे–भगवान् त्रिपुरारि आदि। प्रशान्त ब्रह्मादि, उद्धत नृसिंह आदि। यहाँ इतिवृत्त इतने में ही समाप्त हो जाता है अतः त्र्यङ्क कहा है। तीन अर्थ हैं—कपट, विद्रव तथा शृङ्गार। ये भी प्रत्येक तीन प्रकार के हो जाते हैं। जैसे कपट उपायांश में, विद्रव व्यापत्ति सम्भावनांश में तथा शृङ्गार फलांश में, इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय अङ्क में भी समझना चाहिए। द्वादशनायक बहुलः- कुछ आचार्य के मत में ये सभी प्रत्यंक में रहते हैं। अन्य के मत में नायक, प्रतिनायक तथा एक एक उनके सहायक होकर इस प्रकार चार नायक होकर समुदाय में कुल १२ हो जाते हैं।

६८–७०, यहाँ 'सप्रहसनः' पद से प्रथम अङ्क में कामशृङ्गार का प्रयोग सूचित किया गया क्योंकि उसी में हास्य आता है। 'क्रियोपेतः' पद से कामशृङ्गारात्मक यह (होता) है यही दिखलाया है। इसका प्रथम अंक बारह नाडिका का होने से इसमें कपट, विद्रव एवं प्रहसन रूप उपायों से युक्त

निवन्धन किया जाता है। द्वितीय अङ्क में चार नाडिका में कपटादि उपायों का निवन्धन रखा जाए तथा तृतीय अङ्क में सम्पूर्ण वस्तु को समाप्त कर दिया जाए। यद्यपि दो घटिकाओं के बीच में सम्पादनीय उपायों के द्वारा प्रत्यङ्क में वस्तु की समाप्ति हो जाती है, तथापि तृतीय अङ्क में वस्तु समाप्ति से यह भी कहा गया है कि बीच के विषय में तीन अङ्कों के अर्थ का उपक्षेप करना चाहिए, फिर दो अङ्कों के परस्पर सम्बन्ध रखने वाले अवान्तर वाक्यार्थों की समाप्ति का विधान होकर अन्त में तृतीय अङ्क में अवान्तर वाक्यार्थ की पूर्णतः समाप्ति की जाय, क्योंकि तृतीय उन दोनों से सम्बद्ध है। अतएव जहाँ अर्थ सम्बद्ध है तथा अवकीर्ण भी वहाँ समवकार है ही। यदि सम्बन्ध नहीं मानेगें तो समवकार में एक कार्य है यह कैसे कहा जाएगा। अप्रतिसम्बन्ध अर्थात् अतिसम्बद्ध नहीं होता है। •

७१. त्रिविद्रव से तीन अनर्थात्मक वस्तु ली गयी है जिनमें एक अचेतन अनर्थ, दूसरा चेतनकृत अनर्थ एवं तीसरा दोनों से मिश्र। जिससे जनता भगदड़ में आ जाए वह विद्रव इस प्रकार त्रिभेद है। इसमें अचेतनकृत विद्रव का उदाहरण जल वायु आदि से, चेतनकृत का ग्रहण गजेन्द्र के उदाहरण से तथा दोनों का नगरोपरोध से दिया गया है।

७२. कपट का अर्थ है—छल या धोखा देना। यह त्रिविध है। यह कपट कभी बुद्धि से हो तो उसका वस्तुगतक्रम से विधान होता है, यहाँ वस्तु अर्थात् फल उसे प्राप्त करने का जो साधक या कर्ता है उसका क्रम उपायचिन्तन द्वारा किया हुआ हो। जहाँ काकतालीय न्याय से फल का अभिसन्धान हो वहाँ एक की समृद्धि और दूसरे का अपचय या हानि हो तो यह दैवकृत कपट है। ऐसी स्थिति में एक का सुखी होना दूसरे के लिये दुःख का कारण या सम्पादक हो जाता है।

७३. धर्म—अर्थ आदि में प्रयुक्त सप्तमी कार्यकारणभाव को सूचित करती है, अतः जहाँ नायिका की प्राप्ति में धर्म हेतु या साध्य हो वहाँ धर्मशृङ्गार होगा, इसी प्रकार अर्थ तथा काम को भी समझना चाहिए।

७४. शृङ्गार का विषय (सदा) अङ्गना रहेगी ही तो जहाँ नायक किसी व्रतादि तपोऽनुष्ठान से प्राप्त होता हो तो धर्मशृङ्गार होगा या साधनभूत धर्म के फल स्वरूप पत्नी का संयोगकारी यज्ञादि का अनुष्ठान किया जाए।

७५. अर्थ के हेतु रति का बहुमान दोनों (पुरुष एवं स्त्रियों) का ही होता है। प्रश्न—फिर देवताओं में अर्थार्थिता क्यों कर होगी ? इस पर कुछ आचार्य कहते हैं कि गान्धर्व तथा यक्ष में तो यह होती है। दूसरों के अनुसार अर्थनीय वस्तु की देवताओं में भी संभावना रहती ही है। भट्ट तोत के अनुसार नायक-नायिका के एक दूसरे को प्राप्त कर लेने पर किसी अन्य उद्देश्य या फल को प्राप्ति हो जाना। जैसे-शिव पार्वती के संयोग होने पर कार्तिकेय प्राप्ति के कारण स्वर्ग के राज्य की इन्द्र को पुनः प्राप्ति रूप फल होना अर्थ-शृङ्गार है।

७६. यहाँ शृङ्गार के योग रहने पर तथा काम की सत्ता के रहने से कैशिकीवृत्ति हो यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि रौद्रप्रकृति में भी काम होता है परन्तु यहाँ उपरञ्जक सामग्री के अभाव के कारण कैशिकी की हीनता रह सकती है। विलास प्रधान रूप है कैशिकी, न कि चरित। जिस रूप का अनुप्रवेश होगा उसी से व्यवहार होता है, क्योंकि व्यवहार सदा प्राधान्य कृत होता है, अतः ऐसे स्थानों पर भारतीवृत्ति अथवा भिन्नवृत्तियों का भी अभिधान या संयोजन उपयुक्त हो सकता है।

७७. बन्धकुटिल पद का अर्थ है विषय तथा अर्धसमवृत्त छन्द का प्रयोग। समवकार में इनकी योजना की जाय। उद्भटादि के मत में छोटे छन्दों की समवकार में योजना नहीं की जानी चाहिए।

७८. इसमें नायक के रूप में दिव्य पुरुष का आश्रय लिया जाता है तथा इसी के कारण दिव्य स्त्री के निमित्त वहाँ युद्ध की प्राप्ति होती है। यह यहाँ संश्लिष्ट वस्तु से निबद्ध होने से समवकार की तरह अनिबद्धार्थता से मुक्त होता है। विप्रत्यय अर्थात् प्रत्यय के आपादक हेतुओं का कारक या अभाव रखनेवाला।

८०. यहाँ पुरुष उद्धत प्रकृति के होने से स्त्रियों के निमित्त रोष हो जाता है। संक्षोभ का अर्थ है आवेग।

८१. यहाँ स्त्रियों के भेदन, अपहरण आदि के कारण उसे प्रमदा रूप वस्तु तथा उद्यानादि अधिष्ठान की प्राप्ति हो, ऐसा शृङ्गाररस का सुन्दरता से उपनिबन्धन रखा जाता है। यह सुसमाहित होने का ही फल रहने से वहाँ वीथी के अङ्गों की योजना रखी जाती है।

८२. अङ्कों का परिमाण, नायकों की संख्या, वृत्तियों एवं रसों का विभाग ये सभी व्यायोग के अतिदेश से समान है। कार्य शब्द से अङ्क को

कहा गया है। अतः यहाँ अङ्क एक ही रहता है तथा नायक बारह। यह समवकार के अतिदेश से स्पष्ट है।

८३. युद्ध तथा अवमर्दन का प्रत्यक्ष प्रयोग यहाँ नहीं होता तथा जिसका वध ईप्सित है, उसके वध की भी संभावना होती है। मृग की चेष्टा की तरह चेष्टा रहने से इसका नाम ईहामृग है। क्योंकि यहाँ नायक की स्त्रीप्राप्ति के लिये ऐसी चेष्टा रहती है।

८४-८६. अब डिम का स्वरूप बतलाते हैं—'प्रख्यात' इत्यादि से। इसमें सभी नाटक के समान रहता है केवल सन्धियाँ और रस समग्रतः नहीं रहते। यहाँ शृङ्गार तथा हास्य रस को छोड़कर शेष रस होते हैं तो पर्याय से या क्रमशः शान्त रस की भी योजना हो सकती है। यही बात 'दीप्त-रस' इत्यादि से कही गयी है। काव्य की योनि अर्थात् वस्तु। देवादि की बहुलता से सात्वती तथा आरभटी दो वृत्तियाँ होती हैं।

९१-९४. व्यायोग डिम का ही शेष भूत है। यहाँ दिव्य नायक के न रहने से उदात्त राजादि की नायकता रहती है तथा दीप्तरसवाले अमात्य या सेनापति की नायकता भी होती है। यहाँ उदात्त पद का ग्रहण नहीं होता। यहाँ एवकार से केवल एकाह चरित की विषयता से एकाङ्कत्व न्याय प्राप्त है यह सूचित होता है। इसमें प्रख्यात वस्तु रहती है तथा दिव्य पुरुषों को छोड़ कर शेष सभी प्रकार के पुरुष रहते हैं। प्रायः करुणरस के रहने से युद्ध एवं उद्धत प्रहार आदि भी नहीं रहते हैं तथा स्त्रियों का विलाप भी अधिक रखा जाता है। प्रश्न—इसे व्यायोग क्यों कहते है? उत्तर—युद्ध तथा नियुद्ध की बहुलता के कारण। व्यायाम युद्ध तथा नियुद्ध की बहुलता के कारण। व्यायाम युद्ध प्राय होता है अतः यहाँ पुरुष नियुद्ध या बाहुयुद्ध करते हैं। इसी कारण यह व्यायोग है। नियुद्ध अर्थात् बाहुयुद्ध तथा सङ्घर्ष का अर्थ है-शौर्य, विद्या, कुल तथा रूप से होने वाली स्पर्धा।

९४-९७. रौद्ररस के अनन्तर रौद्र के कर्म करुण रस को प्रधानतः बतलाने की भावना से करुणरसप्रधान 'अङ्क' का स्वरूप बतलाते हैं—'प्रख्यातवस्तु' इत्यादि से। प्रख्यात अर्थात् महाभारतादि में युद्ध के निमित्त होने पर वही करुणबहुल प्रसंग जो हों वे ले लिये जावें। उत्क्रमण करने के योग्य हों सृष्टि अर्थात् जीवित जिनके ऐसी उत्सृष्टि का अर्थात् शोक करने वाली स्त्रियाँ जिनमें अङ्कित हों वह रूपक उत्सृष्टिकाङ्क होता है। कुछ आचार्य जो वृत्तियों से उत्सृष्ट हो अतः उसे उत्सृष्टिकाङ्क कहेंगें—कहते हैं। ऐसी दशा में उद्देश्य

के एकदेश के अनुसार वृत्तियों का द्वित्व–त्रित्व होगा ही। वृत्त के अनुरोध पर यहाँ एकाङ्क का निर्देश रखा गया है।

९८–१०१. उत्सृष्टिकाङ्क में करुणरस का बाहुल्य है अतः इसमें देवताओं का विलोप रहता है, क्योंकि देवता तो सुखबहुल होते हैं अतः उनके सन्निधान में दूसरों को भी शोक के अवसर हट जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों के देखने से—'दुःखी दुःखाधिकान् पश्येत्' की नीति के अनुसार दुःख का बोझ हलका हो जाने से वे सुखपूर्वक विनेय हो सकते हैं। यही बात कही भी गयी है कि 'स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च' (ना० शा० १।१११) दुःख से पीड़ित को यह नाट्य धैर्य प्रदान करता है।

१०२–१०५. रञ्जन की अप्रधानता वाले करुणरस से युक्त रूपक के स्वरूप को दिखला कर अब रञ्जनाप्रधान हास्यरस बहुल प्रहसन को दिखलाते हैं—'प्रहसनमतः परम्' इत्यादि से। प्रहसन के प्रकार बतलाते हैं—एक शुद्ध तथा दूसरा सङ्कीर्ण। यहाँ अपि शब्द का अर्थ अतिक्रम है। प्रहसन का पद निर्वचन करते हैं कि यहाँ परिहास प्रधान आभाषण अधिकतर होते हैं अतः जहाँ एक ही व्यक्ति का चरित प्रधानरूप से हास्य का विषय बने वह 'शुद्ध' प्रकार है। जहाँ वेश्यादि का सम्बन्ध हो तथा वस्त्र, भूषणादि उज्ज्वल हों वहाँ एक के द्वारा अनेक वेश्याओं के चरित्र हास्य का विषय बनने से 'सङ्कीर्ण' प्रकार होता है या जिनका स्वाभाविक चरित शिष्टजन के बीच अतीव असभ्य रहने से हँसने के योग्य रहें तो वह विशुद्ध नहीं होने से 'सङ्कीर्ण' भेद होता है। इसके अतिरिक्त जो भगवत्तापस आदि के स्वभाव गर्हित चेष्टित नहीं हैं किन्तु प्राकृत पुरुषों के संक्रमण से जहाँ प्रहसनीयता आ जाए अर्थात् अन्यों के सम्बन्ध से जो दूषित हो जाएँ तो वे भी 'शुद्ध' हैं तथा उनके योग से रूपक भी 'शुद्ध' कहलाता है।

१०७. काव्य तथा लोक (उभय में) साधारणी शिक्षा को अब कवि के लिये बतलाने के लिये कहते हैं—'लोकोपचार' इत्यादि से। जो वार्ता प्रसिद्धि यदि लोकव्यवहार से सिद्ध हो, जैसे—बौद्धों का स्त्री सम्पर्क जो प्रहसनीय है तो ऐसे वृत्त प्रहसनीय होते हैं। इस प्रकार के या धूर्त, विट आदि के वृत्त के अवलोकन से संस्कृत व्युत्पाद्य फिर इन वञ्चकों के कपट में नहीं फँसाता है।

१०८. वीथी के अङ्क आगे कहेंगे। 'यथायोगं' पद के द्वारा संख्या के क्रम में कोई नियम नहीं यह दिखलाते हैं। प्रहसन के अङ्कों में नियम नहीं होता है,

अतः शुद्ध प्रहसन एकाङ्क होता है तथा वेश्यादि के चरित्र को संख्या के बल से सङ्कीर्ण रूप के कारण अनेक अङ्कों का भी हो सकता है। अन्य आचार्य प्रहसन को एक अङ्क के चरित्र के कारण एकाङ्क ही मानने में औचित्य देखते हैं।

१०६. अब हास्य रस के उपयुक्त तथा विट एवं धूर्त पात्र के अनुप्रवेश से प्रहसन के समान योगक्षेम वाले भाण का स्वरूप बतलाते हैं—**'आत्मानुभूतशंसी'** इत्यादि से। एक पात्र के द्वारा सम्पादनीय तथा सामाजिक के हृदय में प्रापयितव्य अर्थ जहाँ कहा जाए वह 'भाण' है। रङ्ग पर अप्रविष्ट पात्रविशेष भी यहाँ एक पात्र के मुख से ही कहते हैं तथा उनके कथन भी श्रोता तक पहुँचते हैं—अतः 'भाण' है।

११०. इसमें पात्र अपने अनुभूत अर्थ को अथवा दूसरे की बात या चरित्र का वर्णन करता है। इसके प्रयोग की युक्ति यह है कि वह दूसरों के कहे गये वाक्य को अपने अङ्गविकारों से अभिनीत करे। वह आकाश में जो परपुरुष के कथन सुने या देखे उनको कहे या वर्णन करे या कोई देखता है या सुनता हो वैसे उनके वाक्य का अनुवाद करता हुआ सामाजिकों को बतलावे। इसमें दूसरे के वचन का अभिनय नहीं होता किन्तु अपने ही कहे हुए प्रतिवचनों के साथ तथा उत्तरोत्तर ग्रथित योजनाओं से उपलक्षित कर अभिनय किया जाता है।

१११. रङ्गमञ्च पर प्रविष्ट यह पात्र धूर्त या विट होता है। यह भाण अनेक विध अवस्थाओं के वैलक्षण्य से लोकव्यवहार के उपयोगी और अनेक चेष्टाओं से युक्त रहता है जिसे मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। क्योंकि यह सकल सामान्यजन के उपयोगी वेश्या तथा विटादि के वृत्तान्त का निरूपण करता है अतः ऐसे वृत्तान्त को जानना चाहिए जिससे जीवन में धोखा न खाना पड़े। फलतः कुट्टनियों के भी वृत्तान्तों का नाट्य प्रयोग आवश्यक (होता) है और यह भाण में ही संभव है।

अब यहाँ एक बात पर विचार आवश्यक है कि ये जो उत्सृष्टिकाङ्क आदि रूपकों के प्रभेद हैं वे सब एक रस वाले हैं और यद्यपि नाटक भी इसी प्रकार के हैं तो फिर इन्हें कैसे दिखलाया जावे ? नाटक एवं प्रकरण में सभी रसों के होने की योग्यता होती है तब भी धर्मवीर, युद्धवीर आदि वीररस ही उसमें प्रधान होता है। अतः नायक के सभी प्रभेदों में वीरता का अनुगम दिखता है। समवकार में यद्यपि शृङ्गारादि रस कहा गया है फिर भी वीर या रौद्ररस वहाँ प्रधान होता हैं। डिम और व्यायोग की भी यही स्थिति है।

यदि ईहामृग में भी रौद्र की प्रमुखता है तो नाटिका में श्रृङ्गाररस की। इस प्रकार वीर, रौद्र तथा श्रृङ्गाररस धर्म, अर्थ तथा काम के प्राणभूत होकर इन प्रयोगों में विद्यमान हैं और शान्त तथा बीभत्स रस इन प्रयोगों में चरम पुरुषार्थ के (मोक्ष के) योग से सम्बद्ध रहते हैं। मोक्षरूपी फल की प्रधानता से यद्यपि शान्त और बीभत्स की प्रधानता का अवलम्बन कर सकते हैं तथापि मोक्ष का प्रचुर प्रयोग नहीं होता अतः धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थों में प्रवर पुरुषार्थ मोक्ष से अनुप्राणित शान्त एवं बीभत्स रस का वीरादि से भिन्न रसों के अध्यावाप से अवस्थापन होता है। इस प्रकार रूपकों में रस का स्थान पुमर्थ के आश्रय से ही होता है तब भी यहाँ इतिवृत्त की विस्तीर्णता के कारण अङ्ग के रूप में रसान्तरों का भी प्रयोग रहता ही है। अतएव इतिवृत्त के प्रधानभूत नायकादि की चेष्टाओं के सम्बन्ध से वृत्तियों में भी वैचित्र्य होता है, जो उचित भी है। उत्सृष्टिकाङ्क, प्रहसन तथा भाण का करुण, हास्य तथा विस्मय युक्त अद्भुत क्रमशः मुख्यरस रहने से जिनका रंजन ही फल है अतः इनके अधिकारी स्त्री, बाल एवं मूर्ख हैं।

इनमें इतिवृत्त भी विस्तीर्ण नहीं होता तथा वैचित्र्य भी नहीं होता। जैसे उत्सृष्टिकाङ्क में तीनों वृत्तियों का शब्दतः निषेध रहने से भारतीवृत्ति भी कैसे होगी? चेष्टा करुणरस में अप्रधान रहती है तो परिदेवनात्मिका भारतीवृत्ति तो उपकरण होती है, इसलिये यहाँ फलसंविति नामक वृत्ति रहनी चाहिए। इस वृत्ति का स्वरूप है—"जहाँ वाणी और चेष्टा से भी फल का अनुभव हो वहाँ फलानुभवरूपा फलसंविति वृत्ति" होती है। यहाँ यह आवश्यक है। यदि इसे नहीं लेंगें तो मूर्च्छा तथा मरण आदि में वाणी तथा चेष्टा के न होने के कारण कोई वृत्ति नहीं हो सकेगी तथा ऐसी स्थिति में मरणादि भाव बिना वृत्ति वाले मानने पड़ेगें। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि यदि कामरूप पुरुषार्थ के उद्देश्य से रूपकों में कैशिकी वृत्ति का अभिधान करेंगे तो फिर धर्म तथा अर्थ के उद्देश्य से भी दो वृत्तियों को बतलाना पड़ेगा। अतएव जब चेष्टात्मिका वृत्ति अन्य और वाणीरूपा वृत्ति अन्य मानते हैं तो फलस्वरूपा तीसरी वृत्ति फलसंवित्ति भी मानना चाहिए। ये ही तीन वृत्तियाँ उपयुक्त हैं ऐसा आचार्य भट्टोद्भट का मत है।

जैसा कि कहा भी है कि वाणी एवं चेष्टाओं का चारों पुरुषार्थों से सम्बन्ध रहने पर प्रथम तो आठ प्रकार की वृत्तियाँ होंगी फिर इन दोनों में फलवृत्तियाँ हों तो आठ के दुगुने सोलह प्रभेद वृत्तियों के होंगे। यदि फिर रसों के भेद से वृत्तियों के भेद करेंगे तो वृत्तियों के अनन्त प्रभेद करने होंगे।

इस विषय पर अन्य आचार्य कहते हैं कि यद्यपि सात्वती में कैशिकी का अन्तर्भाव सम्भव है तथापि मनोरंजन के प्राचुर्यवश वाचिक अभिनय के स्वरों की तरह कैशिक का पृथग् उपादान किया गया है। इन स्वीकृत वृत्तियों से भिन्न या अतिरिक्त वृत्तियों में वृत्तित्व का स्वरूप कैसा होगा ? क्योंकि इनमें चारों पुरुषार्थों के योग की उपपत्ति नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त फल-वृत्ति में भी वृत्तित्व कैसा होगा ? यदि वृत्तियों का सामान्य लक्षण व्यापार उनमें नहीं हो तो। और यदि यह कहा जाए कि वृत्तियों का सामान्य लक्षण व्यापारत्व उनमें विद्यमान है तो फिर वाणी तथा चेष्टा से भिन्न मानस व्यापार लोकप्रसिद्ध नहीं; अतः वाणी और चेष्टा में ही कोई विशिष्ट सूक्ष्म व्यापार मानना पड़ेगा। अतः मरण तथा मूर्च्छा आदि में भी प्राणीय या कार्मिक व्यापार की सम्भावना होगी, जिसके अनुस्मरण करने पर लय, ताल या गान की प्रवृत्ति होती है। यदि मूर्च्छा में संवेदना नहीं तो फिर वहाँ फलवृत्ति है यह कैसे होगा ? अतः वहाँ सात्वती वृत्ति है।

इसमें अतिरिक्त यदि 'बहूनामनुरोधो न्याय्यः' के अनुसार रूपक समुदाय की अपेक्षा कर सभी काव्य वृत्तिमय है ऐसा मान ले तो ऐसी स्थिति में खण्डकाव्य के वृत्तिशून्य होने पर भी समुदित रूपक तो वृत्तिमय होंगें ही। और जो इन उद्भटाचार्य के अनुगत विद्वान् मूर्च्छा आदि में सभी कार्यों की निवृत्ति के कारण अनुमेय मूर्च्छा कर्म के अनुभाव रूप फल से युक्त आत्मव्यापार रूप आत्मसंवित्ति लक्षणा पञ्चमी वृत्ति (भी) स्वीकार करते हैं। इनके मत में परिस्पन्द ही एक व्यापार नहीं है ऐसा मन में रख कर भावों में बाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्व रूप स्वभाव का उपपादन करने वाले भट्ट लोल्लट आदि ने ही इस मत को आमान्य कर दिया अतः यह स्पष्ट ही है कि फलवृत्ति नामक अतिरिक्त वृत्ति कोई नहीं है तथा इस प्रकार सिद्ध है कि भरतानुमत चार वृत्तियाँ ही मान्य तथा उपयुक्त हैं।

यहाँ इस विचार को देख कर हम तो इसे अकारण उत्पन्न विवाद मानते हैं, क्योंकि यदि ऐसी ही बात हो कि जो कुछ भी यहाँ नाट्य में है वह सभी वृत्ति में अन्तर्भाव्य है, तब तो ऐसा हो सकता है कि चौथी या पाँचवीं वृत्ति भी मानना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि रङ्गमञ्च कौन सी वृत्ति है या फिर मृदङ्ग, पणव एवं वंशी कौन वृत्ति हो सकती हैं ? अतः पुमर्थसाधक व्यापार ही वृत्ति है। इनका ही सर्वत्र वर्णन हुआ है, इसीलिये वृत्ति है और ये ही काव्य की (नाट्य की भी) मातृभूता मानी जाती है, क्योंकि कोई भी

कार्य (पदार्थ) व्यापारशून्य नहीं होता है। मद जनित मूर्च्छा एवं मरणादि के वर्णन में भी सात्वती नामक मनोव्यापार (हो सकता) है तथा करुणादि में भी मानस तथा दैहिक व्यापार रहते हैं अतः वहाँ भारतीवृत्ति को कहा गया। वृत्यन्तर का निषेध तो उनके अङ्गों के पूर्ण न होने के आधार पर किया जाता है। शरीर, मन तथा वाणी का व्यापार उनके वैचित्र्य को छोड़कर नहीं हो सकता है यह बात कही गयी भी है। अतएव करुणप्रधान काव्य में परिदेवन की बहुलता के होने पर भी भारतीवृत्ति रहेगी ही यह स्पष्ट है। और जो कोहलाचार्य ने यह कहा कि–'श्रृङ्गारहास्यकरुणैरिह कैशिकी स्यात्' यह तो भरतमुनि के मत से विरुद्ध होने के कारण ग्राह्य ही नहीं है। इसका आशय तो यही होगा कि जहाँ जहाँ अनुल्वणा चित्तवृत्ति है, वही कैशिकी वृत्ति है। इस प्रकार प्रहसन तथा भाण में वाणी के व्यापार की प्रमुखता होने से भारतीवृत्ति ही है। मूर्च्छा आदि में तो व्यापार ही नहीं है तो फिर यहाँ व्यापार रूप वृत्ति कैसे हो सकती है? अतः ऐसे स्थान पर कोई वृत्ति नहीं है। यह भी कोई नियम नहीं कि सभी नाट्य वृत्तिमय हैं अतः वृत्तिमय होने से ही वे समर्थनीय हैं ऐसी भी बात नही (होती) है।

११२–११४. अव सभी रूपकों के अन्त में अतिविस्तृत स्वरूप न होने, सर्वरसमय होने तथा संक्षेप में व्युत्पत्ति प्रदान करने में समर्थ होने के साथ साथ इसके अङ्गों के सभी रूपकों के अपजीव्य रहने से प्रमुखता रखने के कारण भी अन्त में वीथी का स्वरूप बतलाते हैं—'वीथ्याः सम्प्रति' इत्यादि के द्वारा। एक हार्या अर्थात् एक पात्र के द्वारा प्रयुक्त आकाशभाषित के द्वारा तथा द्विहार्या अर्थात् दो पात्रों के उक्ति-प्रत्युक्ति के वैचित्र्य के द्वारा। अङ्गों का संकीर्तन आगे करते है।

११५–११६. वीथी के १३ अङ्गों का (उद्देश्य कथन के क्रम में) कथन किया गया है।

११७–११८. अव क्रमशः इसके लक्षणों को दिखलाते हैं 'पदानि त्वमतार्थानि' इत्यादि से। प्रश्न :—वीथी के ये उद्घात्यकादि अङ्ग यदि उक्ति वैचित्र्य रूप है तो फिर लक्षण तथा अलङ्कारों से इनका भेद किस रूप में है ? यदि इन्हें इतिवृत्त के उपकरण मानें तो फिर सन्ध्याङ्गों से इनका भेद कैसे रहेगा ? इसी प्रकार यदि इन्हें रस के उपकरण माने तो फिर इनका वृत्ति के अङ्गों में अन्तर्भाव हो जाता है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि उपर्युक्त

से भिन्न इनका सामान्य लक्षण भी कोई नहीं हो सकता। उत्तर–उक्त लक्षणों के ही ये वीथ्यङ्ग विशेष रूप हैं ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं, किन्तु समीक्षक विद्वान् इन्हें लक्षणादि से भिन्न ही मानते रहे हैं। प्रश्नोत्तर के भिन्न अभिप्राय के योग से जो वैचित्र्य उत्पन्न होता है वह वीथी का अङ्ग समझना चाहिए। इसीलिये कारिका में 'उदाहृतानि' पद कहा गया है। उदाहृतानि पद का अर्थ है–प्रतिवचन या उत्तर। अतएव प्रतिवचनों से शून्य काव्य में इनका अभाव है और इसी कारण ये विचित्रता सम्पन्न भी होते हैं। इसी कारण यह वीथी अर्थात् पंक्ति कहलाती है, क्योंकि इसमें अन्य के उत्तर नहीं है या यह अन्य के उत्तरों को सहन नहीं करती तथा विचित्र कथोपकथन या उक्तिप्रत्युक्ति से मिश्रित रहती है। परन्तु लक्षण तथा अलङ्कारों का उक्ति-प्रत्युक्ति से कोई रूप नियत नहीं होता है अतः इससे उसका वैलक्षण्य है। वहाँ यह बात है कि प्रतिवक्ता जब विवक्षित उत्तर देने में शक्त होगा मेरे मन में जो है उसे यह कहेगा या नहीं इत्यादि कारणों के द्वारा जब प्रश्नकर्त्ता व्यक्ति अपने ही मन में विचित्र उत्तर का अनुसन्धान कर पूछता है और प्रतिवक्ता उसके उत्तर को देता है तो ऐसा उत्तर (प्रतिपादन) उद्घात्मक कहलाता है। प्रश्नोत्तर उद्घात में जो साधु हो वह उद्घात्मक। यहाँ अज्ञातार्थ में कन् प्रत्यय हुआ है। अज्ञातार्थ अर्थात् जिसका अर्थ ज्ञात नहीं रहे और जो सादर प्रस्तुत प्रश्न रूप है ऐसे पदों की उत्तरभूत योजना के पद समूहात्मक वाक्य को उद्घात्मक समझना चाहिए (जो नट द्वारा पदान्तर-योजना से प्रस्तुत होती है)। उद्घात्मक का उदाहरण जैसे पाण्डवानन्द के इस पद्यमें :—

का भूषा बलिनां क्षमा परिभवः कोऽयं सकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे च्छन्नस्थितैः पाण्डवैः॥

[प्रश्न– शक्तिशालिजन का भूषण क्या है? उत्तर—क्षमा। परिभव क्या है? जो अपने कुटुम्बियों के द्वारा किया जाए। प्रश्न—दुःख क्या है? उत्तर–दूसरे के आश्रय में रहना। संसार में श्लाघ्य कौन है? जिसका आश्रय लिया जाए। मृत्यु क्या है? व्यसन। शोक मुक्त कौन है? जिसने शत्रुओं को जीत लिया हो। इस तथ्य को किसने जान लिया है? विराट नगर में प्रच्छन्न रहनेवाले पाण्डवों ने।]

११९. यदि किसी के द्वारा किये गये प्रश्न के अन्य के द्वारा दिये गये उत्तर में अन्य अर्थ का अनुसन्धान कर उत्तर देने पर दूसरा कार्य भी सिद्ध हो जाए तो वहाँ दूसरे कार्य से अवलगन रहने से यह अवलगित नामक वीथी का अङ्ग कहलाता है। जैसे—रत्नावली में विदूषक के द्वारा राजा को पूछा गया कि—'अपि सुखयति ते लोचने'। तब राजा ने उत्तर दिया—'सुखयतीति किमुच्यते' कहकर नायिका का वर्णन किया—'कृच्छ्रेणोरुयुगम्' (रत्ना० २।११) इत्यादि से। यहाँ राजा के द्वारा दिया गया उत्तर यद्यपि वसन्तक को विश्वास दिलवाने के लिये था किन्तु उसने सागरिका विषयक कार्य को भी सिद्ध किया तथा सागरिका की आशा को दृढ़ किया जो इसका जीवनभूत तत्व है अतः अवलगित है।

१२०. जहाँ अबुद्धिपूर्वक कहे गये वचन से किसी अर्थ का आक्षेप हो जाए या अनजाने में कहे गये तथ्य को छिपाने के लिये चतुराई से जब दूसरा ही उत्तर दिया जाय यह दूसरा उत्तर अवस्यन्दित या अवस्पन्दित कहा जाएगा। इसको अवस्पन्दित कहने का कारण यह है कि जैसे नेत्र के स्फुरण से किसी अज्ञात अर्थ की सूचना मिलती है इसी तरह यहाँ अर्थ की स्थिति होती है। जैसेवेणी संहार के इस पद्य में :—

सत्पक्षाः मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान् मेदिनी-पृष्ठे॥ (वे० सं० १।६)

[सुन्दर पक्षसम्पन्न, मधुरालापी तथा हर्ष के कारण शीघ्रगामी राजहंस दिशाओं को सुशोभित करते हुए भूतल पर अवतीर्ण हो रहे हैं अथवा उत्तम प्रभावशाली राजाओं की सहायता के पक्षों से सम्पन्न, वाणी से मधुरभाषी तथा सम्पूर्ण विश्व पर अधिकार जमा लेने वाले उद्दण्डस्वभाव के धृतराष्ट्र पुत्र मृत्यु वश पृथ्वी पर गिरते जा रहे हैं।]

यहाँ दैववश यह दूसरा अर्थ आया है। इस पर नट का उत्तर है—'प्रतिहतममङ्गलम्' (अमलङ्ग नष्ट हो गया)। तब पुनः सूत्रधार कहता है—अरे! शरद ऋतु की वेला में हंस नभस्थल से पृथ्वी पर उतर रहे हैं यह मैंने कहा है—इत्यादि अवस्पन्दित को सूचित करता है।

१२१-१२२. यदि एक उत्तर को शब्दच्छल के द्वारा किसी मूढ़जन के प्रति उसके हित में कहा जाता है और जो उत्तर बिना समझ के उस मूढ़ के द्वारा अपने प्रियांश में लिया जाय तथा जिसके हितकारी पक्ष को उपेक्षा की जाती

हो तो इस प्रकार उत्तरादि की शैली से प्राप्त तथ्य में (से) वह दो में एक का ही (सिद्ध होने के कारण) आश्रय लेता है जिसका फल होता है प्रिय मधुर वाक्य होने से तात्कालिक कोप का न होना किन्तु यथार्थ कथन रहने से ऐसे कथन से कालान्तर में कोप का होना संभव रहता है। उदाहरणार्थ-किसी व्यसनी राजपुत्र से पूछा गया कि सुख क्या है? तो उसने इस प्रकार कहा—

सर्वथा　योऽक्षविजयी　सुरासेवनतत्परः ।
तस्यार्थानां सुखार्थानां समृद्धिः करगामिनी ।।

[जो सर्वथा अक्ष विजयी [इन्द्रिय जयी या पासों से खेल कर विजय प्राप्त करने वाला] है तथा जो सुरासेवन में तत्पर [देवताओं की आराधना में लीन या मदिरा के सेवन में लीन] है तो उसके लिये सुख तथा धन की समृद्धि सदा करगामिनी [हाथों में स्थित या हाथों में चलने वाली] होती है ।]

यहाँ काव्यभङ्गी में दो अर्थों का आश्रय लेकर कहा गया जिसमें दूसरा अर्थ हितावह है। यहाँ असाधुभूत वस्तु का प्रलपन होने से यह 'असत्प्रलाप' नामक अंग है।

१२३. प्रपञ्च का उदाहरण रत्नावली में—सुसङ्गते, कथमहमिहस्थोऽहं ज्ञातः? [सुसङ्गते, मैं यहाँ हूँ यह तुमने कैसे जाना?] तब सुसङ्गता ने कहा मैं केवल आपको ही नहीं इस चित्रफलक के साथ आपको समझी हुई हूँ, से 'जाकर महारानी से कहती हूँ' तक में आभरण देने तक के अंश में प्रपञ्च है जिसका विश्लेषण इस प्रकार है—यहाँ संस्तव अर्थात् प्रशंसा भी है, 'स्वामी की प्रसन्नता से बहुत पाया' में परिहास भी है तथा राजा के साथ सागरिका के मिलन रूप अर्थ में यह हेतु भी है परन्तु अन्यथा विधान से प्रस्तुत होने से यहाँ 'प्रपञ्च' हो गया है।

१२४. जहाँ किसी तथ्य की परिहास में ही उपलब्धि हो जाए तो वह प्रहेलिका है। जहाँ अन्य को वितरण या छलने वाला रहे इसलिये हास्य युक्त होने से वह नालिका होती है। प्रकर्ष से जो हेलिका हो वह प्रणालिका अर्थात् जहाँ व्याज रहता हो ऐसी। जैसे रत्नावली से—

सुसङ्गता—सखि यस्य कृते त्वमागता सोऽत्रैव तिष्ठति ।
सागरिका—सखि कस्य कृते !
सुसङ्गता—(सहासम्) अयि आत्मशङ्किते, ननु चित्रफलकस्य !

[सुसङ्गता—सखि, जिसके लिये तू आयी वह तो यहीं हैं।

सागरिका—सखि ! मैं किसके लिये आयी ?

सुसङ्गता—अरी आत्मशंकिते, इसी चित्रफलक के लिये।]

इस प्रकार यहाँ इस शैली से अपने मन की बात छिपा ली जाती है तथा जिसमें दोनों के लिये एक ही उत्तर हो वहाँ इसे प्रयोग में 'वाक्केली' होती है। यहाँ द्विपद उपलक्षण मात्र है अतः इससे समग्र प्रश्न वर्ग तथा उत्तर वर्ग का ग्रहण (तथा स्वीकार) होता है।

जैसे—"नदीनां मेघविगमे का शोभा प्रतिभासते।
वाह्यान्तरा विजेतव्या के नाम कृतिनोऽरयः ॥"

[मेघों के चले जाने पर नारियों की शोभा होती है ? कौन कृति है जिसके लिये अन्तःशत्रु तथा वाह्यशत्रु विजेतव्य है ?]

यहाँ प्रश्न का उत्तर है वर्षा बीत जाने पर नदियों की शोभा कैसी है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। दूसरे का उत्तर है जिनके लिये वाह्य तथा अन्तःशत्रु विजेतव्य हो वह कैसे कृति होगा अर्थात् कभी नहीं।

१२५. पर का वचन तथा आत्मवचन इन दोनों से अर्थविशेष का लाभ होता है अतः जहाँ उत्तर एवं प्रयुत्तर के द्वारा अधिक अर्थ का समुद्भव हो तो वहाँ 'अधिवल' होता है। यहाँ यह समझना चाहिए कि जहाँ उत्तर तथा प्रत्युत्तर के क्रम को रखा जाता है वहाँ एक को दूसरे की जानकारी से तथा स्वपक्ष के सुघटित किये गये अधिक वल के होने से वह अङ्ग अधिवल कहलाता है। जैसे, नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन का—'रागस्यास्पदमित्यवैमि' से आरम्भ कर विदूषक के साथ रहने वाले उत्तर-प्रत्युत्तर में अपने पक्ष को दृढ़ता से रखने तक जो कहा गया है —'ननु शरीरतः प्रभृति सर्वमेव मया पयरार्थं प्रतिपाल्यते' [मैं तो अपने शरीर तक को परोपकार के लिये ही सुरक्षित करता हूँ।] इत्यादि में अधिवल है।

१२६. एक वाक्य जो किसी अन्य प्रयोजन के लिये कहा गया हो परन्तुउससे किसी को हास्य तथा अन्य को रोष हो तो ऐसा कथन 'छल' कहलाता है। जैसे—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
अभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

[अपनी प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देख कर किसे रोष नहीं होता अतः रोकने पर भी विपरीत काम करने वाली अपने भ्रमर युक्त कमल के सूंघने के परिणाम को अब तुम स्वयं भोगो ।]

यह वाक्य सखी के प्रति उसके स्वामी के विश्वासार्थ कहा गया है परन्तु यह कथन विदग्धजन को हंसाता है तथा सौतों के मन में डाह भी पैदा करता है।

१२७. यहाँ प्रत्यक्षशब्द भावि प्रत्यक्ष को बतलाने के लिये है अतः जहाँ भावी प्रत्यक्ष अर्थ में दैववशात् में जिसकी वृत्ति हो वह 'व्याहार' अर्थात् जिससे विविध अर्थ आहरणीय या अभिनेय हो वह । जैसे, रत्नावली में—

'उद्दामोत्कलिका विपाण्डुररुचिम्' इत्यादि पद्य ।

१२८. जहाँ गुणों को दोष अथवा दोषों को गुण कर देते हों तो 'मृदव' होता है। यहाँ पद विवादकृतम् पद से विशेष बात कही गयी है अर्थात् यह वृत्यन्तर या स्वभाव है। जैसे, वेणीसंहार में—'शिरः श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' (वे० सं० ३।) [पितृपाद के मस्तक को चाहे श्वान, कौआ या धृष्टद्युम्न छुवें, यहाँ किसी महापुरुष के मस्तक को स्पर्श करना दोष है परन्तु विरागमूलक होने से यहाँ वही कथन गुण बन गया है। विवाद के सुनने के फलस्वरूप भी यह होता है; इस विशेष स्थिति में उदाहरण होगा— 'यदि शस्त्रमुज्झितमशस्त्रपाणयः' इत्यादि । यहाँ कर्ण की उक्ति में प्रतिज्ञात परिपालन रूप गुण भी दोष हो गया है, क्योंकि यह विचार के फलस्वरूप हुआ है। 'मृदव' पद में मृत् तथा अव दो शब्द हैं जिनमें मृत् का अर्थ है मर्दन तथा अव का अर्थ होगा रक्षण । अतः जहाँ परपक्ष का उपमर्दन कर अपने पक्ष का रक्षण किया जाता हो तो वहाँ 'मृदव' होगा ।

१२९. शब्दों की समानता से अनेक प्रश्न या उत्तर जहाँ काकु की युक्ति से किये जाते हैं वह 'त्रिगत' है। यह अर्थ पाठान्तर में स्थित 'श्रुति सारूप्याद् यस्मिन् बहवोऽर्था, युक्तिभिः नियुज्यन्ते ।' पाठ के अनुसार होता है। त्रिगत पद अनेक का उपलक्षण है। जो अनेक अर्थों में गत है अतः त्रिगत है। यहाँ वाक्य में उत्तर होता है जो अनेक प्रश्नों के लिये साधारण या समान होता है पर यहाँ जो प्रश्न है वही प्रतिवचन होता है यही विशेष बात है। जैसे; विक्रमोर्वशीय में—

सर्वक्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।
रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिम् त्वया विरहिता मया ॥

यहाँ जो प्रश्न वाक्य है वही उत्तर हो जाता है, जब त्वया मया में वैप-रीत्य कर दिया जाय। यहाँ साकाङ्क्ष काकु में भी यही उत्तर होता है। जैसे बिम्ब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब में दाये बाये का वैपरीत्य होता है वैसे ही यहाँ त्वया मया में वैपरीत्य है। इसी से यहाँ निराकांक्ष काकु हो रही है, क्योंकि यहाँ हास्य भी है।

१३०. संरम्भ अर्थात् आकृति विशेष से जो सम्भ्रम या आवेग हो तो उससे युक्त जो विरुद्ध वस्तु का कथन जो पूर्वदृष्ट अर्थ से गर्भित हो तो 'गण्ड' कह-लाता है जो गण्ड की तरह ही 'गण्ड' है। यहाँ बहुवचन का अर्थ है जो कुछ-कुछ अपूर्ण वचन हो तो ऐसे वचन से विहित जो आक्षेप हो उससे कृत अर्थात् स्वयं पूर्ववचन प्रतिवचनता को जो प्राप्त हो। जैसा कि आचार्य कोहल ने भी कहा है—

"वचसां सम्बद्धानामन्ते यत् स्यान् पदे त्वसम्बन्धः।
सम्बद्धमिवाभाति हि तद् गण्डो नाम वीथ्यङ्गम्॥"

[अनेक सम्बन्ध पदों के अन्त में जो पद हो तथा उसमें न घटने वाला सम्बन्ध जहाँ सम्बन्धवत् प्रतीत होता हो तो उसे 'गण्ड' नामक वीथी का अङ्ग कहते हैं] इससे वचन की ईषद् समाप्ति दिखलाई गयी। जैसे, वेणीसंहार में दुर्योधन भानुमती को कहता है :—

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य
पर्य्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्। इति (ततः प्रविश्य)

कञ्चुकी-देव भग्नम् भग्नम्।
भग्नं भीमेन मरुता भवता रथकेतनम्। इत्यादि

[हे करभोरु, चिरकाल तक तुम्हारे जघनस्थल को बैठने के लिये मेरा ऊरुयुग पर्याप्त है। कञ्चुकी—महाराज! वह भग्न हो गया। भीम वायु ने आपके रथ के केतन को तोड़ डाला।

यहाँ पूर्व में विश्रान्त ऊरुयुग का ऊरुभंग के साथ उपयुक्त सम्बन्ध साधा गया है (अतः यहाँ वीथी का अंग 'गण्ड' है)।

१३१-१३२. इस प्रकार के अंगों से युक्त वीथी होती है, जिससे सभी रसों का निरूपण किया जाता है। अतः रसों के प्राधान्य के अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम नायक होता है। जैसा कि आचार्य कोहल ने कहा भी है :—

"उत्तमाधममध्याभिर्युक्ता प्रकृतिभिस्तथा ।
एकहार्या द्विहार्या वा सा वीथीत्यभिसंज्ञिता ॥" इति ।

[उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के एक या दो पात्रों से जो सम्पाद्य हो वह 'वीथी' कहलाती है]

यदि यह कहा जाए कि अधम प्रकृति का नायक नहीं होता—यह ध्रुव है तो फिर, प्रहसन और भाण में क्या कहा जाएगा ? इसलिये जहाँ हास्यरस की प्रमुखता होगी वहाँ नायक अधम रहेगा ही । कथावस्तु के शरीर-भूत इतिवृत्त तथा उसके फल से जो सम्बद्ध होता है वह नायक ही है । यदि नायक न रहे तो उसमें अधमत्व उपादेय कैसे होगा ? और नाट्य में इसी नायक का परिवार होने से (उसका) प्रवेश तो सर्वत्र विना प्रतिबन्ध के रहेगा ही, उसे कौन रोक सकेगा ?

१३३–१३४. कैशिकी वृत्ति के आविर्भावक होने से काव्यादि के आत्मभूत रसभावादि के अभिनिवेश से सम्पन्न रहने वाले लास्याङ्ग (जो कि कवि तथा प्रयोक्ता के द्वारा अभिनेतव्य हैं) नाट्य में संयोजित किये जाते हैं । उन्हें दिखलाते हैं—'अन्यान्यपि' इत्यादि के द्वारा । इससे आगे अध्याय के अन्त तक कहे गये अङ्गों में जो लास्याङ्ग कहे जाएँगे वे अङ्ग नाटकादि के भी उपयोगी होते हैं । यदि अङ्गों के अभेद से अङ्गियों के अभेद होने के कारण लास्याङ्ग का नाटकादि से क्या विभेद होगा ? इसके उत्तर में यही कहा जाएगा कि ये नाटक से निकले तथा एक पात्र के द्वारा अभिनेय भाण रूपक के समान हैं । भाण में नाट्य के रूप की समानता रहती है परन्तु यह नाट्य में नहीं, क्योंकि वह इस नाट्य से भिन्नता वाला होता है ।

१३५–१३६. नाट्य में स्थित ये लास्याङ्ग कौन (से होते) हैं ? इन्हें दिखलाते हैं—'गेयपदमित्यादि' से । ये नाट्य के उपयोगी होते हैं, यह दिखलाने के लिये स्वरूप बतलाएँगे । इसका आशय यही कि जिन लास्याङ्गों को दिखलाया जा रहा है उनमें कुछ विचित्रता का ऐसा अंश भी होता है, जिसे लोक में न देखने पर भी कवि तथा प्रयोक्ता को रञ्जनगत वैचित्र्य को उत्पन्न करने के लिये नाट्य में प्रयुक्त किया जाता है ।

१३७–१३८. अब आगे उपयोगी नाट्यांश वाले लास्यांगों को दिखलाते हैं—'आसनेषूपविष्टै' इत्यादि के द्वारा । जहाँ आसन पर अर्थात् स्वस्थभाव से बैठकर । तन्त्रीभाण्डादि का आशय है कि सभी उपयुक्त वाद्यों से युक्त

होकर। आशय यही कि ध्रुवागान तथा अन्तरालाप के स्वरों को छोड़ कर, जहाँ प्रयोग योग्य पद हो वह काव्यप्रयोग 'गेयपद' है, जिसके प्रयोग में सामाजिक का रञ्जन तथा अभिनिवेश रहता है। गेयपद का अन्य लक्षण भी प्राप्त रहने से दे दिया गया है।

१३९. प्रिय से वियुक्त होकर नारी सन्तप्त दशा में जब प्राकृतभाषा में सरस पद्य का गान करती है तो ऐसा रसोपयोगी लौकिक लास्याङ्ग से उपजीव्य 'स्थितिपाठ्य' है। अन्य पाठ में इसका बहुचारी से तथा अन्त में चच्चत्पुट के द्वारा जो गीत करें वह 'स्थितपाठ्य' है। इसका उदाहरण है—रत्नावली नाटिका के द्वितीयांक में राजा के द्वारा 'उद्दामोत्कलिकाम्' इत्यादि पद्य का कहना स्थितपाठ्य है। लास्याङ्ग में इसमें त्र्यस्र या चतुरस्र ताल का योग रहता है।

१४०. अब आसीन-पाठ्य नामक लास्याङ्ग दिखलाते हैं—'आसीनमास्यते' इत्यादि से। अतिशय शोकावेश में जब अभिनयशून्य दशा में बैठा जाता है तो ऐसी स्थिति में अति सुकुमार काकली प्राय किसी प्रमदा का गीत मात्र हो तो आसीन पाठ्य करुणादि रस में रञ्जनोपयोगी होता है।

१४१. अब पुष्पगण्डिका नामक लास्याङ्ग बतलाते हैं—'यत्र स्त्री' इत्यादि से। अन्य पाठ के अनुसार जिसमें गीत को कभी तत वाद्य से, बीच में वंशी जैसे सुषिरवाद्य, अवनद्ध वाद्य तथा मिश्रित भाव से तथा पात्रों के सुकुमार प्रयोग को अभिनेय में भी रञ्जक रूप में रखे तो अलौकिक भाव तथा वैचित्र्य सम्पन्न माला की समानता को धारण करने के कारण यह 'पुष्पगण्डिका' होता है। [इसी प्रकार जब विविध नृत्त के साथ वाद्यवादन में गीत रहे तथा स्त्रियों का पुरुषायित अभिनय प्रयोग हो तो भी 'पुष्पगण्डिका' होता है।]

१४२. प्रच्छेदक नामक लास्याङ्ग का स्वरूप बतलाते हैं—'प्रच्छेदकः स' इत्यादि से। यदि चन्द्रज्योत्स्ना से प्रकाशित रात्रि में जलक्रीड़ा के समय जल में, प्रसाधन के समय दर्पण में तथा पानगोष्ठी में पान पात्र में प्रतिफलित उन उन आकृतियों के प्रतिबिम्ब दर्शन से प्रिया के प्रहर्ष होने से यह प्रच्छेदक तीन स्थितियों का होता है, जिसमें प्रणयकोप स्त्रियों का दूर हट जाता है। इन तीनों दशाओं में चन्द्रज्योत्स्ना ही उपकारिणी या पृष्ठभूमि में रहती है, जिससे प्रिया प्रिय के विप्रिय या अपराध को भूल जाए। विश्वनाथ

कविराज के अनुसार यदि प्रेमविच्छेद के रोष से भरी हुई नायिका के द्वारा अपने प्रिय के अन्यासक्त रहने पर वीणावादन के साथ गीत गाया जाता हो तो प्रच्छेदक होता है। (सा० द० ६।२४६ ।)

जैसे रत्नावली में वर्णित चन्द्रोदय 'सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः' (र० १।२३) तथा 'उदयतटान्तरितम्' (र० १।२४) में। यहाँ रस के उपयोगी समय के योग्य कालविशेष का ग्रहण 'प्रच्छेदक' से साधा जाता है।

१४३. त्रिमूढ़क नामक लास्याङ्ग का स्वरूप बतलाते हैं—'अनिष्ठुर-श्लक्ष्णपदम्' इत्यादि से। इस त्रिमूढ़क में नायक के अपराधवश एक (के प्रति दूसरी नायिका) के द्वेषवश अभिनव नायिका को प्रथमानुराग के कारण लज्जा से मोह होना। इनमें नायक का अवश्य ही मृदुल वचन रहता है। इससे इसके वचनों में रसोपयोगी गुण तथा अलङ्कार के अंश रहते हैं। 'सम-वृत्तः' पद से छन्दोगत विचित्रता के रहने का तथा 'पुरुषभावाढ्यम्' पद से पात्र के द्वारा किये जाने वाले हेला, भाव आदि तथा इनकी विशेषता से युक्त वैचित्र्य जब नाट्य में सौन्दर्य को दिखलाता है तो वहाँ गुणों का प्रभाव दिखलाता है।

१४४. जहाँ सैन्धवी भाषा का प्रयोग रहने से लोकरञ्जन बना रहे तो ऐसे रञ्जनगत प्राचुर्य के कारण 'सैन्धवक' होता है। यही मान कर शृङ्गाररस में अतिशय उपयुक्त प्राकृतभाषा में राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी सट्टक की रचना की, भेज्जल ने राधाविप्रलम्भ नामक रासक को सैन्धवी की बहुलता से निर्मित किया। अतएव जहाँ उन उन रसों में उपयुक्ततावश भाषागत तारतम्य को देखकर भाषा प्रयोग रहे तो वहाँ उनकी आवश्यकता वश प्रमुखता रखी जाए। 'करणेन' अर्थात् वीणा वाद्यादि क्रिया से युक्त। अतः दशरूपकों की जो कोह-लाचार्य ने भाषाभेद से होने वाली विचित्रताएँ संकेतित की वे यहाँ मुनि ने 'सैन्धवक' के निरूपण से प्रायः मान ली हैं। वैसे सैन्धव का अर्थ होगा—सिन्धु-देशोद्भव लवण तथा अश्व। इसमें जब प्रयोक्ता, खिन्नता की स्थिति में रहता है तो ऐसा लगता है कि जैसे किसी सरस वस्तु में नमक डाल दिया हो या जो अश्व की तरह व्याकुल हो। इस व्याख्या में 'सैन्धव' शब्द बड़ा ही व्यञ्जक तथा अपने लक्षण को भी दिखलाने में समर्थ हो जाता है।

१४५. अब द्विमूढ़ को दिखलाते हैं—जिसमें नायक तथा नायिका दोनों का मोह दिखलाया जाय तो यह 'द्विमूढ़' होता है। इसमें चतुरस्र अर्थात्

चारों दिशाओं में पदन्यास विचित्रता से युक्त रखा जाता है। यह अपने सौम्य भाव तथा रस से चित्तवृत्ति को रस के अनुगत स्पष्टतः दिखलाता है अतः 'द्विमूढ' है। यहाँ 'पाठान्तर' में 'मुखप्रतिमुखोपेतं' है, जिसका अर्थ होगा—ताल निरूपण में एक ताल का चारों ओर गतिशील पाद चक्रक से युक्त आवृत्त किया जाना। इसमें चारों ओर गीति का समापन रहता है तथा इस साम्य या संम से आनन्दांश के साथ रसांश को (रसौपयोगी) उपयुक्त बना दिया जाता है। इसमें प्रथम 'मुख' को सामाजिक से आगे रख कर तब अन्य दिशा में लास्यांग में 'प्रतिमुख' को करते हैं। ये गीतक के अङ्ग के रूप में प्रस्तुत कर साथ रखे जाते हैं, जिनका स्वरूप ना० शा० अध्याय ३१ में दिया गया है। श्री शङ्कुक आदि का मत है कि इसमें गीतक के मुख तथा प्रतिमुख नामक अङ्गों के द्वारा तथा अङ्गसौष्ठव से रस तथा भावों से दो नायिका को दिखलाया जाता है। यहाँ मुख तथा प्रतिमुख को नाट्य-सन्धि बतलाना भी अनुचित है, यह आचार्य भट्टतोत का मत है।

१४६. अब उत्तमोत्तमक की नाट्य में स्वरूप स्थिति बतलाते हैं—'**उत्तमोत्तमकम्**' इत्यादि से। आगे 'उत्तमोत्तमकं त्वादौ नकुंटं सम्प्रयोजयेत्' के द्वारा लास्यांग को दिखलाया भी है। अतः जो हेला, हाव आदि चेष्टालंकारों के द्वारा विद्यमान या स्थित चित्तवृत्ति का परिपोष है वह यहाँ उपजीव्य होता है। यद्यपि लास्य के अङ्ग स्वयं उत्तम होते हैं परन्तु यह उनमें भी उत्तम तथा रसपर्यायी होता है। इसमें हेला तथा भाव आदि की विशेषता से दीप्ति आ जाती है तथा सर्वत्र सात्विकभाव तथा अनुभावों की भी प्रोज्वल स्थिति रहती है। जैसे—विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा के अनुराग कथन के 'नवजलधरसन्नद्धोऽयम्' इत्यादि पद्य में है।

१४७. अब विचित्रपद नामक लास्यांग को दिखलाते हैं—"**यदि प्रतिकृतिं**' इत्यादि से। इसे भावित भी कहते हैं।

१४८. अब उक्तप्रत्युक्त नामक लास्यांग को दिखलाते हैं—'**कोपप्रसादजनितम्**' इत्यादि से। कोपप्रसादादि पद से इस अङ्ग की रसगत चित्तवृत्त्यावेश स्थानता सूचित की गयी है।

१४९. अब भावित का स्वरूप बतलाते हैं—'**दृष्ट्वा स्वप्ने**' इत्यादि से। यहाँ लोक में जैसे न हो उस प्रकार प्रत्यक्षप्रतीति को नाट्यरूपता का उपयोग रहना ही लास्याङ्गभाव हो जाता है।

१५०. यहाँ लास्य के अङ्ग से जिस भाग की उपजीव्यता होती है उतनी ही बात कही गयी है, यह तथ्य बतलाते हुए लास्यांगों का उपसंहार करते हैं—'एतेषाम्' इत्यादि से।

१५१. इस प्रकार दशरूपक लक्षणों को कविजन के सुखबोधनार्थ बतलाते हुए उपसंहार में कहते हैं—'नाटकभेदानामिह' इत्यादि से।

१५२. इस अध्याय का उपसंहार तथा आगामी अध्याय के अर्थ का अनुसन्धान करते हैं—'इति दशरूप' इत्यादि से। लक्षणतः कहने का आशय यही है कि लक्षण ये ही हैं, उदाहरण तो अनन्त हो सकते हैं। उनमें अपने लक्षणों के अवसर पर इनके साथ धर्मादि चतुर्विध पुरुषार्थ का उपयोग दिखलाया ही है अतः पुनः यहाँ कथन पुनरुक्ति होगी। यह इस अध्याय की समाप्ति का मङ्गल है।

एकविंश अध्याय

(सन्धिसन्ध्यङ्ग-निरूपण)

१. पिछले अध्याय में 'पुनरस्य' इत्यादि से 'इतिवृत्तात्मक नाट्यशरीर' तथा उसके विधानरूप प्रकार की तथा सन्धि आदि की लक्षणीयत्व रूप में प्रतिज्ञा की थी। अब नाट्यशरीर को दिखलाने के साथ अध्याय का आरम्भ करते हैं—'इतिवृत्तं तु' इत्यादि से। 'तु' शब्द से इसकी विशेषता को संकेतित किया गया है क्योंकि काव्यमात्र का शरीर वृत्त या घटना होती ही है परन्तु यहाँ इतिवृत्त शब्द से जो वस्तु या कथावस्तु कही है वह—अभिनेय रूप में जो घटनाएँ रहें—उनके लिये प्रयुक्त है, जिसके शरीर में रस आत्मा के रूप में आविर्भावक तत्त्व के रूप में रहते हैं। अतएव जो इतिवृत्त के अर्थ को ही योगक्षेम के रूप में रखता है ऐसी शाब्दिक रचना ही यहाँ 'इतिवृत्त' है, जिसे वागभिनय के प्रकरण में मुनि ने ही 'वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यो'' (ना० शा० १५।२) के द्वारा कहा भी है। ऐसे इतिवृत्त का पाँच सन्धियों में विभाजन किया गया है। यह वैचित्र्य तथा विभाग दोनों की अपेक्षा से हुआ है। यह परम्परा है कि इसका विभाजन पाँच सन्धियों में रहे; अतः कहीं संख्या में न्यूनता रहने पर भी कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। अन्य आचार्यों का मत है कि पूर्णरूपक में पाँच सन्धियाँ रहें तथा अपूर्णता की स्थिति में या अन्य कारणवश हीनसन्धि भी हो सकती है।

२. इस प्रकार इतिवृत्त रूप शरीर का अभिधान कर उसके (विधान शब्द से उद्दिष्ट) प्रकार को दिखलाते हैं—'इतिवृत्तं द्विधा' इत्यादि से। यहाँ इतिवृत्त पद की स्थितं सत् द्वारा व्याख्या की जाय अर्थात् जो इतिवृत्त रूपक में हो उसीको विवेचक जन दो प्रभेद में जानें तथा यहाँ 'च' पद से ऐसे इतिवृत्त को प्रकरणमें कल्पित करें, यह भी सूचित होता है। ''एकम्'' ''अपरम्'' पदों से यह भी यहाँ सूचित होता है कि यह सहजरूप में किञ्चिन् आधिकारिकम् या अन्य नहीं होता क्योंकि कवि की स्व बुद्धि से जो आधिकारिक वृत्त निर्मित किया जाता है वहाँ दूसरे के लिये प्रासङ्गिकता ही रहती है यह बात भी यहाँ 'द्विधा' पद से दिखलाई गयी है। अतः एक ही इतिवृत्त की दो शाखाएं हैं, यही समझना चाहिए।

३-४. इन दोनों 'इतिवृत्तों' के प्रकारों को दिखलाते हैं—"यत् कार्यम्" इत्यादि के द्वारा। प्रधानरूप में सम्पादन के योग्य फल में जो ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न की क्रियाओं से सम्पाद्य 'आरम्भ' होता है उसे कार्य कहते हैं, जिसका आगे 'यदाधिकारिकं वस्तु (२१।२५) से विवरण दिया जा रहा है। इस प्रकार का जो आरम्भ हो तथा जिसकी मुख्य फल की प्राप्ति के लिये परिकल्पना की जाए तो ऐसा इतिवृत्त 'अधिकारिक' कहलाता है। अर्थात् जहाँ पूर्णतः अधिकार या सर्वत्र अनुयायित्व या हृदयानुयायित्व इसका प्रयोजन हो, वह आधिकारिक है तथा प्रासङ्गिक में भी इसकी अन्तर्लीन दशा की स्थिति रहती है। प्रासङ्गिका निर्वचन प्रसक्ति अर्थात् प्रसङ्ग तथा उससे प्राप्त इतिवृत्त प्रासङ्गिक कहलाता है, अथवा जो प्रधानफल की निष्पत्ति के लिए संयुक्त किया जाए उसे भी प्रासङ्गिक समझा जाए। (प्रसक्तिर्हि प्रसङ्गः, तत आगतं प्रासङ्गिकमथवा प्रसज्यते प्रधानफलनिष्पत्तये इति प्रसङ्गः तत आगतम इति)। अतः 'आधिकारिक' वह है जहाँ इतिवृत्त (सीधा) फल से सम्बन्ध रखता हो तथा जो चरित्र कवि के वर्णन के द्वारा उत्थान को दिखलाते हुए समर्थ या सफलता की प्राप्ति को दिखलानें में प्रयुक्त हो, वह इतिवृत्त आधिकारिक होगा। यही बात 'कारणात्' इत्यादि से दिखलाई गयी है तथा इसी इतिवृत्त के उपकार या सहायता के लिये आनुषङ्गिक या प्रासङ्गिक इतिवृत्त को कहा गया है।

५. विशेष रूप में फलप्राप्ति के स्वरूप को दिखलाते हैं—'कवेः प्रयत्नात्' इत्यादि से। कवि जिस फल के उत्कर्ष को दिखलाता है उसी को प्रधान-फल समझना चाहिए। क्योंकि धीरोदात्त आदि प्रकारों वाले नायकों में जो भी नायक समुचित माना जाए उसकी सम्पाद्य वस्तु के प्रयत्न को कवि द्वारा कारणीभूत बनाने से कवि के द्वारा दिखलाया जाने वाला फल मुख्यता लेता है। यह फल जितने अंश में उत्कर्ष को रखता है या उस उत्कर्ष का अवलम्बन लेता है उसी स्थान पर कवि उसके सकारण औचित्य की कल्पना करे। उदाहरणार्थ—रावण के उच्छेद की अवधि में सीता का लौटा कर लाना समुत्कृष्ट वृत्त है क्योंकि इसी के सम्पादन के लिये अन्य प्रवृत्तियाँ हैं। इस प्रकार नायक का आधिकारिक इतिवृत्त जो उचित हो तथा फल हो, वह यदि कविप्रयत्न से कहना अभीष्ट हो तथा सम्पाद्य रहे तो उसकी प्रधानफलता है; जैसे रामाभ्युदय में सीता का प्रत्यानयन। 'विध्यपाश्रयात्' पद से यह भी स्पष्ट है कि जिस प्रकार की पुरुषार्थगत

व्युत्पत्ति हो तदनुरूप ही नायक को कवि रचना में निबद्ध करे केवल स्वेच्छा मात्र से ही नहीं। इसके उपरान्त एक निम्न पद्य भी मिलता है जो प्रक्षिप्त है। यथा—

"लौकिकी सुखदुःखाद्या यथावस्था रसोद्भवा।
दशधा मन्मथावस्था व्यवस्था त्रिविधा मता॥"

[यह व्यवस्था-लौकिक सुख–दुखादि की यथोपयुक्त दशाओं को रसों से उत्पन्न कर तथा दशविध कामदशाओं के युक्त कर तीन तरह से रखी जाती है।]

६–७. इस प्रकार कवि के प्रयत्न से साध्य व्यापार के परिस्पन्द में स्थित वाणी तथा मानसगत व्यापार तथा उसकी अवस्थाएँ उद्देश्य क्रम से रखी जाती है। अतः इनका क्रमशः उद्देश्यक्रम से अभिधान भी रखा गया है।

८. अब इन अवस्थाओं का क्रमशः स्वरूप बतलाते हैं—'औत्सुक्यमात्र' इत्यादि के द्वारा। प्रधानभूत, प्रयुज्यमान एवं नायक के समुचित जो बीज है वह उपायसम्पत् की औत्सुक्यमात्र या उस विषय की स्मरणगत उत्कण्ठा रूपता (उपाय से यही सिद्ध होती है।); उसका बन्ध अर्थात् हृदय में रूढ़ता ही आरम्भ है।

९. 'अपश्यतः' इत्यादि। असंभाव्यमान फल प्राप्ति को विवेचित करने वाले नायक का फल को लक्ष्य कर जो व्यापार है, अर्थात् उपाय विषयक परम-औत्सुक्य का रहना, क्योंकि इसके बिना यह फल भी नहीं होता। अतएव इसी उपाय का अन्वेषण किया जाता है, अतः उपाय विषयक स्मरण तथा इच्छा का क्रमशः धारावाहिक रूप में रहने वाला व्यापार 'प्रयत्न' कहलाता है।

१०. यहाँ भाव शब्द का अर्थ है उपाय तथा उसका सहायक आन्तरिक कार्य का संयोग बनना या प्रतिबन्धों का हटना। यह तथ्य यहाँ 'मात्र' शब्द से दिखलाया गया है। अतः उपायमात्र की प्राप्ति के द्वारा जब कदाचित् अल्पमात्रा में विशिष्ट फल की प्राप्ति की कल्पना हो तो ऐसी संभावना (की स्थापना) प्राप्ति संभव या प्राप्त्याशा होती है, न कि विशिष्टफल का विनिश्चय।

११. सगुणा अर्थात् उपचरिता अवस्था। यहाँ नियतफलप्राप्ति का अर्थ है नियत अर्थात् नियन्त्रित या फल में अव्यभिचरित जो फल प्राप्ति

वह दशा। नियत फल तथा कर्त्ता के विषयत्व से नियत फलप्राप्ति शब्द अभेदोपचार से विषय तथा विषयी दोनों में है।

१२. यहाँ अभिप्रेत पद से इतिवृत्त में नायक की उचित तथा कालान्तर की अपेक्षा रखने वाली अवस्था– जिसमें फलयोग हो उसे–सूचित किया गया है; परन्तु नायक की फलयोग में सहायक सचिवादि की अवस्था भी हो तो उन्हें नाटक में साक्षात् नहीं दिखलानी चाहिए। किन्तु सचिवादि के द्वारा कार्य साधन होने पर भी फलयोग नायक गत ही साक्षात् दिखलाया जाए, यह बात भी 'अभिप्रेत' पद से दिखलाई गयी है। जैसे रत्नावली में 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनः सिद्धिहेतोः' इत्यादि से मुनि के इसी आशय को दिखलाया गया है।

१३. दैवायत्त भाग्य के फल के रहने पर इन अवस्थापञ्चकों की स्थिति या योजना कैसे संभव होगी ? ऐसी आशंका के उत्तर में कहा गया कि— 'सर्वस्यैव हि कार्यस्य' इत्यादि। "सर्वस्य" पद से दैवागत होने पर भी अवस्थाएँ होंगी यह दिखलाया है। यहाँ यद्यपि नायक प्रयत्न नहीं करता फिर भी जहाँ फलयोग हो वहाँ भी अवस्थाएँ तो अवश्य होंगी ही।

१४. यहाँ स्वभावभेद के द्वारा कालभेद भी उपलक्षण से समझना चाहिए। अतः परस्पर संगति से जो निश्चित रूप में प्राप्ति हो तो उसके विन्यास से फल योग होगा ही। परन्तु यहाँ निश्चित रूप में उत्तरोत्तर कार्यों के होने पर भी उनकी कारणता में कारणपरम्परा रहने पर भी अन्तर नहीं पड़ता। एकभाव अर्थात् सम्बन्ध।

१५. अवस्थापञ्चक को दिखला कर अब इतिवृत्त की आधिकारिता को समर्थन देने की बात दिखलाते हैं—'इतिवृत्तम्' इत्यादि से। क्योंकि कार्य को फल प्राप्ति पर्यन्त पहुँचाने की अपेक्षा से जैसे पञ्च अवस्थाओं के अनुगत इतिवृत्त को रखा जाता है तो ऐसा इतिवृत्त ही "आधिकारिक" होता है। यहाँ पूर्व परिभाषित आधिकारिक इतिवृत्त पद आगे अन्य बातों के दिखलाने की दृष्टि से भी प्रयुक्त है।

१६–१७. क्या सभी प्रयुज्यमान रूपकों में पाँच ही सन्धियाँ इतिवृत्त में संयोजित हों ? इसको बतलाने के लिये कहते हैं—'पूर्णसन्धि' इत्यादि। यहाँ भट्ट तोत का मत है कि इतिवृत्त तो सर्वत्र पाँच सन्धियों से युक्त रहता ही है क्योंकि कोई भी व्यापार आरम्भादि अवस्था पञ्चक के बिना सिद्ध नहीं होता

है। जैसा कि—'सर्वस्यैव हि' (२१-१३) से कहा भी गया है। इसी कारण अवस्थापञ्चक के अनुगत रहने से सन्धिपञ्चक भी अवश्य रहेंगे अतः सभी में नियमतः पाँचों सन्धियाँ रहेंगी। किसी करणवश अंगों की अपूर्णता के कारण हीन सन्धि भी इतिवृत्त को रखा जाता है तथा लक्षण भी किया जाता है। जैसा कि डिम तथा समवकार में चार सन्धियाँ रहती हैं तथा अवमर्श सन्धि यहाँ नहीं होती। इसीप्रकार व्यायोग तथा समवकार में तीन सन्धियाँ होने पर वहाँ गर्भ तथा विमर्श को नहीं रखा जाता है तथा प्रहसन, वीथी, अङ्क तथा भाण में दो सन्धियाँ रखने पर वहाँ प्रतिमुख, गर्भ तथा अवमर्श का लोप होता है (या दूसरी, तीसरी और चतुर्थ सन्धि का लोप होता है)।

१८. प्रासङ्गिक में पूर्णसन्धि जैसा नियम नहीं होता अतः आधिकारिक के जो अविरुद्ध (यहाँ प्रासङ्गिक में) वृत्त सम्भव हो तो आरम्भ में से एक को प्रासङ्गिक में योजना के योग्य रखा जा सकता है।

१९-२०. पूर्व में 'औत्सुक्यमात्रवन्धस्तु' से जो उपाय तथा उसके सहयोगियों का उपक्षेप किया गया था उसके स्वरूपादि को दिखलाने के लिए अब यहाँ 'इतिवृत्ते यथावस्था' से उसी उपाय को दिखलाते हैं। जिस प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त में पाँच अवस्थाएँ कही गयीं, उसी प्रकार यहाँ पाँच अर्थप्रकृति भी कही गयीं हैं, क्योंकि इनके बिना उपायादि के स्वरूप का ठीक से बोध नहीं होता और आरम्भादि अवस्थाओं के पारमार्थिक रूप में ज्ञान न होने पर आधिकारिक का पूर्ण ज्ञान नही हो सकता है। अतः जहाँ प्रयोजन फल है तो उसकी प्रकृति या कारण उपाय है जो फल के हेतु कहलाते हैं। इनकों भी जड़ तथा चेतन रूप में दो-दो भागों में बाँटा जा सकता है। इनमें जड़ मुख्यकारणभूत तथा दूसरा गूढ़तर होता है, इनमें प्रथम बीज तथा दूसरा कार्य है। चेतन भी दो प्रकार का है—मुख्य तथा उपकरणभूत; इनमें दूसरे को दो प्रभेद में विभक्त किया जाता है—स्वार्थसिद्धि तथा परार्थसिद्धि से युक्त रहने के कारण। इनमें प्रथम को विन्दु, द्वितीय को पताका तथा तृतीय को प्रकरी कहा जाता है। इस प्रकार इन पाँच उपायों से पूर्णफलता को साधा जाता है। इसी तथ्य को 'ज्ञात्वा योज्या' पदों से बतलाया है।

२१. इस पञ्चक के स्वरूप को उद्देश क्रम से बीज के स्वरूप द्वारा दिखलाते हैं—'स्वल्पमात्र' इत्यादि से। "यत्" अर्थात वस्तु जो आरम्भ में गम्भीर प्रयोजन के संवेदन के अभाव के कारण छोटे रूप में होता है तथा प्रक्षिप्त होकर अवश्य फलावसायी होता हुआ अनेक प्रकार से (सर्वथा) प्रसार करता

है। यह कहीं तो उपायमात्र, कहीं फलमात्र तथा कहीं दोनों तथा कहीं हेय या विपत्ति का निवारक या कहीं इन दोनों कार्यों का आपादक होता है। इसी प्रकार कहीं नायक के उद्देश से तथा कहीं प्रतिनायक के उद्देश से यह अनेक प्रभेदों को धारण करता है। यह फल भी आगामी उपायों से अविना-भावी रहने से 'बीज' कहलाता है।

२२. अब 'बिन्दु' का स्वरूप दिखलाते हैं—'प्रयोजनानां विच्छेदे' इत्यादि से। जिनसे फल की संयोजना की जाती है ऐसा उपाय या अनुष्ठानों से इस इतिवृत्त के वश आवश्यक कर्तव्यता के साथ विच्छेद हो जाने पर भी जो प्रधान नायकगत सन्धि द्रव्य का बिन्दुभूत होकर रहता है, क्योंकि जब तक अनुसन्धान के विरुद्ध अविच्छेद न बने तब तक कार्य का निर्वाह सम्भव नहीं होता। अब यहाँ प्रश्न होगा कि बीज तो फल की समाप्ति तक रहता है तब इस बिन्दु की स्थिति कैसी हो? इसी के उत्तर में कहा गया कि 'यावत् समाप्ति'। अर्थात् जब तक इस निबध्यमान फल की ठीक से समाप्ति नहीं हो। इसका आशय यही कि जब तक नायक के द्वारा उपाय के सभी अनु सन्धानों को प्रत्यनुसन्धानों के साथ न किए जाएँ तब तक जडाजड रूप सभी उपायधर्म विना उपाय के या उपायरहित के सदृश ही है। बीज मुखसन्धि से ही अपने रूप का उन्मेषण करता है तो बिन्दु उसका अनन्तर भावी होता है, यह इन दोनों में विशेष प्रभेद भी है जब कि दोनों ही समस्त इतिवृत्त में व्यापक रूप से रहते हैं। यह प्रधानवृत्त के अनुसन्धान में चेतन व्यापार तथा कारण का अनुग्राही होता है तथा स्वयं परमकारण स्वभाव होकर तैल बिन्दु के समान सर्वत्र प्रसरण शीलता लिये हुए होता है। इसी कारण 'बिन्दु' संज्ञा भी इसकी रखी गयी।

२३. जिसका सम्बन्धि वृत्त अन्य या दूसरों के प्रयोजन की सम्पत्ति या या पूर्ति के लिये रह कर भी अपने उद्देश्य की (भी) पूर्ति करता हो। इसी कारण कहा गया कि—'प्रधानवच्च कल्प्येत'। यह सचेतन के अनुसन्धान की सूचिका तथा सिद्धि की प्रधानतः उपकारक होती हैं। इस प्रकार औचित्य या अनौचित्य के ज्ञान में उपयोगी रहने से इसकी 'पताका' अन्वर्थ संज्ञा है।

२४. जहाँ परार्थ ही सब कार्य अनुष्ठित होता हो वह 'प्रकरी' है। यथा—वेणीसंहार में भगवान् वासुदेव। कृत्य के उपाय या अनुष्ठान को यहाँ फल कहा गया है।

२५. 'प्राज्ञैः' अर्थात् प्रधान नायक, पताका नायक या प्रकरी नायकों के जो चेतनरूप हैं, के द्वारा जो फल रूप वस्तु प्रयुक्त होती है या सम्पादित की जाती है यह चेतनों से किया जाने वाला फल 'कार्य' है। सम्यक् का आशय है कि (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति रूप) शक्तित्रय से जो सम्पन्न हों। इसलिये जनपद, कोश, दुर्ग आदि व्यापार तथा साम आदि उपाय वर्ग ये सभी 'कार्य' में अन्तर्भूत होगें। इनमें भी जो पूर्व में परिगृहीत प्रधानभूत उपाय है उसे बीज रूप में बतलाया जा चुका है।

२६. यहाँ यह आशंका हो सकती है कि आरम्भादि के समान इन अर्थ-प्रकृतियों में क्या सभी को या अर्थप्रकृति, सन्धि तथा अवस्थाओं के साथ यथासंख्य नियमतः योजना हो—इसके लिये विशेषरूप से कहते हैं—'एतेषां यस्य' इत्यादि से। आरम्भादि के समान सभी अर्थप्रकृति को भी, अर्थात् जहाँ नायक का जिस अर्थप्रकृति विशेष से अधिक प्रयोजन रहे तो उसे प्रधान तथा अन्य नियमतः रहने वाली भी अर्थप्रकृति हो तो उसे 'गौण' या कम मात्रा में स्थित रहने वाली रखे। किन्तु विन्दु, बीज एवं कार्य सभी स्थानों पर रूपक में रहेंगे। यहाँ भी सन्धि, अवस्था तथा अर्थप्रकृति के गुण प्रधान भाव का विचार रहना चाहिए। अर्थात् जहाँ किसी विशेष गुण या उपकार को शीघ्र दिखलाना हो उसी अर्थप्रकृति को प्रमुखता से पाँचों अर्थप्रकृतियों में रखा जाय या अधिक विस्तार दिया जाए। अन्य भी जो प्रधान के अधीन सिद्धिवाली होने से गौणता लिये हुए हों तो उन्हें भी जिस अंश में उपकारक हो वहीं तक प्रमुखता लिये हुए रखनी चाहिए।

२७–२८. 'अनुबन्ध' को अनुसन्धि भी कहा है, जो पदार्थ के साधने योग्य पताकानायक के इतिवृत्त का अंश होती है। यह सभी सन्धियों के भाग के रूप में समायोजित की जा सकती है। इसीलिये सभी अवस्थाओं में (पाँचों में) इसे रखा जाता है परन्तु मुख, गर्भ या निर्वहण में रखना अधिक (मात्रा में) उपयुक्त है। इतना होने पर भी इसका विशेष कोई प्रयोजन 'अनुसन्धित्व' के लिये स्पष्ट नहीं है परन्तु अपने फल या उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील रहने वाले इस पताकानायक के वृत्त का पृथक् रूप में रहना भी आवश्यक (होता) है। इस प्रकार प्रधानसन्धि में इसकी अनुयायिता या सहायक स्थिति बनती ही है। अतएव जितने भाग से पताका नायक के अर्थ की पूर्ति हो उतने अंश में उसकी अपनी फल सिद्धि को उपनिबद्ध किया जाए तथा अपने फल की सिद्धि के बाद यही प्रधान फल में सहायक होकर पताका शब्द वाच्य होता है तथा

मुख्यता नहीं रखता। क्योंकि बहुलता से दूरतक चलने वाले इतिवृत्त में नायक के इतिवृत्त की व्यापकता रहती है तथा परिमित इतिवृत्त में पताका नायक की प्रमुखता। यही इन दोनों में विशेष पार्थक्य है।

२६. पताकानायक के प्रसङ्ग से पताकास्थानक के सामान्यलक्षण को भी दिखलाते हैं—'यत्रार्थे चिन्तिते' इत्यादि से। यहाँ 'अर्थ' शब्द प्रयोजन तथा उपाय का बोधक है। आशय यही कि किसी दूसरे ही उपाय या प्रयोजन की चिन्ता करने पर दूसरा ही उपाय या प्रयोजन बीच में ही विशेष रूप में आकर सम्बद्ध हो जाता है तो ऐसे स्थान पर 'पताकास्थानक' होता है। पताका को आधार या निदर्शन बनाकर उपचार द्वारा इतिवृत्त को भी 'पताकास्थानक' के नाम से दिखलाया गया है। यह अन्य-अर्थ मुख्य अर्थ में विचित्रता को लाता है।

प्रश्न—यहाँ पताका की समानता कैसे? उत्तर—आगन्तुक भाव के द्वारा। यहाँ भाव पद का अर्थ है कारण। यह कारण दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूप के द्वारा होने वाला तथा (२) सहकारी के द्वारा होने वाला। इनमें जो सहकारी के द्वारा होता है वही आगन्तुक होता है। अन्य अर्थ का आशय ही उपायभूत अर्थ है।

३०. अब इनके भेद दिखलाते हैं—'सहसैवेत्यादि' से। जहाँ किसी उपकारक की अपेक्षा से उत्कृष्ट या गुणवती उत्कण्ठा फल की सहसा अचिन्तित प्राप्ति से होती हो तो साध्यफल के योग के कारण यह प्रथम या प्रधान 'पताका स्थानक होता है। जैसे—रत्नावली नाटिका में सागरिका के द्वारा अपने गले में पाश बांध कर आत्महत्या में प्रवृत्त होने पर जब नायक वत्सराज उसे वासवदत्ता मान कर उसके पाश को छुड़वाता है तभी उसके कथन से उसे पहचान कर—'हा हा कथं प्रिया में सागरिका' तथा 'अलमलमतिमात्रम्' (रत्ना०) इत्यादि। यहाँ चिन्तित प्रयोजन अन्य हीं था परन्तु उसी से उसकी अपेक्षा भी अधिक वैचित्र्यकारी प्रयोजन सम्पन्न हो जाता है।

३१. काव्य अर्थात् प्रकृति एवं वर्णनीय का जो बन्ध अर्थात् अतिशयोक्ति आदि के द्वारा योजना उसके कारण जो अतिशय श्लिष्ट या अप्रकृत के योग्य वचन या वैसे अर्थ का उच्चारण करने वाला जब सहजभाव में प्रकृत के उपयुक्त कथन कर दे। यह सहकारीभूत कथन द्वितीय पताकास्थानक होगा। जैसे—रामाभ्युदय में सीता के प्रति सुग्रीव के इस सन्देश में है :—

बहुनात्र किमुक्तेन पारेऽपि जलधेः स्थिताम् ।
अचिरादेव देवि त्वामाहरिष्यति राघवः ॥

[अब अधिक क्या कहें । हे देवि, यदि तुम समुद्र के उस पार भी स्थित हो तो भी भगवान् श्रीराम तुम्हें शीघ्र ही वहाँ से भी ले आवेंगे ।]

यहाँ सामान्यतः अन्य उद्देश्य से कहे गये कथन में भी 'पारेऽपि' इत्यादि से प्रकृत का उपयोग हो जाने के कारण द्वितीय पताकास्थानक है ।

३२. लीन अर्थात् अस्फुट तथा उपक्षेपादि से प्रस्तुत अर्थ को । श्लिष्ट अर्थात् सम्बन्ध के योग्य अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त रहने पर भी उसके प्रत्युत्तर से जो युक्त हो जाए । सविनयम् अर्थात् जो विशेष निश्चय की प्राप्ति से सम्पादित किया जाता हो तो यह तृतीय पकाकास्थानक होता है । जैसे, मुद्राराक्षस नाटक में— चाणक्य :—"अपि नाम राक्षसो दुरात्मा गृह्येत" के द्वारा अस्पष्ट रूप में अर्थ के उपक्षिप्त करने पर (प्रविश्य सिद्धार्थकः) अय्य गहिदो (आर्य, गृहीतः) इस प्रकार के प्रत्युत्तर के मिल जाने पर जो कि सन्देश के आशय से प्रयुक्त होकर भी औचित्यवश विशेष अर्थ की प्राप्ति सम्पादित कर देता है क्योंकि इसे सुनकर चाणक्य—(सहर्षमात्मगतम्) 'हन्त गृहीतो दुरात्मा राक्षसः' कहता है ।

यह प्रकृत अर्थ की साध्यता में सहायक या उपयोगी अङ्ग होने के कारण पताका स्थानीय होता है तथा इसी कारण इसका वीथ्यङ्ग से भेद भी हो जाता है ।

३३. 'द्व्यर्थो वचन' इत्यादि । द्व्यर्थ = अनेक अर्थों से प्रयुक्त होकर भी जो उपन्यास अर्थात् अन्य वस्तु के उपक्षेप को ठीक से सम्पादित करता हो, वह चतुर्थ पताकास्थानक होता है । जैसे रत्नावली में—

'प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्ष्यते' (रत्ना० १।२३)

[आनन्द को अतिशय उत्पन्न करने वाले तुङ्ग उदयन के·········चरणों की सेवा करने की प्रतीक्षा कर रहा है ।]

यहाँ काव्य के श्लेष रूप में प्रस्तुत यह कथन प्रधान वस्तु के अर्थ को बतलाकर सागरिकागत अर्थ को भी उपक्षिप्त करता है, जिसे सागरिका— "अअं सो राआ उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा" [अयं स राजा उदयनः यस्याहं तातेन दत्ता] कह कर संकेतिक भी करती है । यहाँ 'उद्दामोत्कलिः

काम् (रत्ना० १।४) इत्यादि उदाहरण उचित नहीं क्योंकि द्व्यर्थता के अवबोध होने पर भी यह अर्थ के साथ कोई उचित सहयोग नहीं करता अतः यह वीथ्यङ्ग के कथन में ही उपयुक्त होगा, यहाँ नही।

३४. इनका उत्कर्ष दिखलाने के लिये कहते हैं—'चतुःपताका' इत्यादि से। आशय यही कि नाटकादि में इन पताकास्थानकों से उत्कर्ष आता है, अतः इनकी नाटकादि में योजना रखी जानी चाहिए।

इस प्रकार इतिवृत्त की व्याख्या कर, उसके दो भेद बतला कर तथा प्रसङ्गवश आधिकारिक की सिद्धि के लिये अनुवृत्ति स्थान रखने वाली पाँचों अवस्थाएँ और अर्थप्रकृतियों को भी दिखलाया गया तथा इसी प्रसङ्ग में पताकास्थानकों की भी विवेचना की गयी। इसी प्रसंग में अब पाँच सन्धियों को बतलाते हैं—'पञ्चभिः सन्धिभिः' इत्यादि से।

३५. अब उद्देश्य क्रम से सन्धियों को बतलाते हैं—'मुखम्' इत्यादि से। यहाँ समुच्चय (पदों) से पांचों सन्धियों की अनिवार्यता को दिखलाया (भी) है तथा यहाँ नियम को क्रम के द्वारा भी दिखलाया गया है। नाटकपद यहाँ अभिनेय सभी रूपकों के लिये है। यहाँ महावाक्यार्थ रूप रूपकार्थ की बाँटी गयी पाँच अंशभूत अवस्थाएँ सन्धियों के रूप में कल्पित की गयी हैं। अतः अर्थ के अवयव परस्पर सन्धित होने पर 'सन्धि' हो जाते हैं।

३७. सन्धि के सामान्यतः क्रम को बतलाने के पश्चात् अब उसके विशेष स्वरूप को दिखलाने के लिये प्रथमतः 'मुख' का स्वरूप बतलाते हैं—'यत्र बीज' इत्यादि के द्वारा। जैसे रत्नावली के प्रथम अङ्क में मुख सन्धि है। यहाँ अमात्य का वीर रस, वत्सराज उदयन के शृङ्गार तथा अद्भुत रस और पुनः शृङ्गार, इस प्रकार सागरिका के राजदर्शन में अमात्य के आरम्भ द्वारा इसी अर्थ को उपयोगी बनाया जाना 'मुखसन्धि' हो गया है।

३८. बीज के उद्घाटन से आशय है कि उसका फल के अनुकूल विशेष दशा में आना, जो दिख कर भी विरोध की सन्निधि से नष्ट-सा हो जाता है। यहाँ धूल से आच्छादित बीज की तरह अङ्कुर रूप में उद्घाटन रहता है। जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी का यह कथन :—

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैःशायितः।
प्रौढ़ानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिनन्योर्वधात्॥ (वे० सं २।२)

[परशुराम जैसे वीर मुनि के—जिनका कुठार कभी कुण्ठित नहीं हुआ था—उनके विजेता भीष्म पितामह को पाण्डुपुत्रों ने अपनी वाणवृष्टि के द्वारा धराशायी कर दिया, उसकी महाराज दुर्योधन को लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है, और असहाय तथा बालक अभिमन्यु के वध से वह प्रसन्न है, जिसके धनुष की प्रत्यंचा को काट डाला गया था और जो अनेक धनुर्धर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से थका हुआ भी था]

यहाँ मुखसन्धि में उपक्षिप्त बीज अर्थात् पाण्डवों के अभ्युदय का उद्‌घाटन भीष्म के वध से दृष्ट होकर भी अभिमन्यु के वध से नष्ट हो गया है।

३९. गर्भसन्धि में प्राप्ति नायकगत तथा अप्राप्ति प्रतिनायक गत होती है तथा इसका अन्वेषण दोनों के द्वारा समान रूप में होता है। जैसे रत्नावली में :—

सुसङ्गता—अदक्खिणा दाणिं तुमं जा एव्वं भट्टिणा हत्थेण ग्गहिदा वि कोवं ण मुंचेसि। [अदक्षिणा इदानीं त्वं यैवं भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोपं न मुञ्चसि।]

यहाँ प्राप्ति है तथा फिर वासवदत्ता की तृतीय अङ्क में अप्राप्ति भी है। 'तद्वृत्तान्वेषणाय गतश्चिरयति वसन्तकः' इत्यादि में अन्वेषण है। तथा—

विदूषक—ही ही भोः कोसंबी रज्जलंभेण वि ण तारिसो पिअवअस्सस परितोसो जारिसो मम सहासादो पिअवअणं सुणिय भविस्सदि। [ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशः प्रियवयस्यस्य परितोषो यादृशो मत्सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति।]

में पुनः नायक के द्वारा 'किं पद्मस्य रुचिं न···इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' कहने पर

विदूषकः—'भो वअस्स किं अपरम्'—

यहाँ वासवदत्ता के पहचान लेने पर अप्राप्ति है। फिर सागरिका के सङ्केत स्थान पर न आने से अन्वेष है तथा फिर लतापाश के द्वारा आत्म-हत्या के करने वाली सागरिका की प्राप्ति हो जाने से यहाँ गर्भसन्धि है।

४०. यहाँ 'अपि' शब्द से विघ्न के अन्य निमित्तों का भी—जो शब्दों से बार-बार नहीं कहे गये हों—संग्रह हो जाता है। जैसे, रत्नावली में देवी वासवदत्ता के द्वारा सागरिका को कारागार में डालने से लेकर चतुर्थ अङ्क में राजा के इस कथन तक—

कण्ठाश्लेषं समासाद्य तस्याः प्रभ्रष्टयानया ।
तुल्यावस्था सखीवेयं तनुराश्वास्यते मम ॥ (र० ४।४)

[उसके कण्ठ का आलिंगन प्राप्त कर अलग हो जाने वाली यह माला समान दशा वाले मेरे इस शरीर को सखी से समान सान्त्वना दे रही है ।]

यहाँ विघ्न में वासवदत्ता का क्रोध (ही) निमित्त है ।

४१. यहाँ 'नानाभावोत्तराणाम्' पाठ भी है, इसकी व्याख्या होगी कि नानाविध सुखदुःखात्मक हास, शोक, क्रोध आदि भावों से चमत्कार उत्पन्न करते हुए उत्तर अर्थात् उत्कर्ष को पहुँचने वाले भावों की जो फल की निष्पत्ति में योजना (समानयनम्)। इसी प्रकार—'महौजसां फलोपसङ्गतानाञ्च' पाठ के अनुसार 'महौजसां—उपायों का फल की सम्पत्ति में साधक होना' अर्थ होगा। जैसे रत्नावली नाटिका में ऐन्द्रजालिक के प्रवेश से आरम्भ होकर समाप्ति तक की स्थिति में निर्वहण सन्धि है ।

४२-४५. अब इनके विनियोग को विभक्त करके दिखलाते हैं—'एते हि' (२१।४२) से 'मुखनिर्वहणे' (२१।४५) तक। इसे पहले ही इसी अध्याय में 'एक लोपे चतुर्थस्य' इत्यादि में (२१।१७) दिखलाया जा चुका है। प्रश्न डिम तथा समवकार में चार ही सन्धियाँ क्यों हैं ? उत्तर—इनमें अवमर्श सन्धि नहीं होने से या उसकी योजना की गुंजाइश न रहने के कारण ।

४६. अङ्ककल्प = अर्थात् अङ्कों की कल्पना के प्रकार। इस प्रकार के अन्य अङ्क भी इतिवृत्त के उपयोगी हो सकते हैं ।

४७-४९. सन्ध्यन्तर का विवरण अनुबन्ध टिप्पणी तथा प्रस्तावना में द्रष्टव्य ।

५०. अर्थ की विभागगत राशि सन्धि कहलाती है, अतः सन्धियों के सम्बन्ध के योग्य जो वृत्त अर्थात् संविधानक के अंश। अनुपूर्वशः—अर्थात् मुख्यप्रयोजन के सम्पादन के कारण होने वाले क्रम के द्वारा प्रदेश अर्थात् अन्त या मध्यवर्ती स्थानों में से किन्ही स्थानों पर। स्वसम्पद्—स्व अर्थात् सन्धि की जो सम्पत्ति—अर्थात् निष्पत्ति उसकी गुणवत्ता या सम्बन्ध के उपयुक्त सम्बन्ध के सम्पादक अर्थात् अङ्गों को। अन्य आचार्य इसकी व्याख्या करते हैं कि जहाँ स्वसम्पद् अर्थात् बीज की उत्पत्ति या उद्घाटन आदि गुण या शब्द और अर्थ-गत वैचित्र्य या अपनी सम्पत्ति के जो गुण हों उन्ही से पूर्ण ।

५१-५२. इष्ट या अभीष्ट प्रयोजन का रस के अस्वाद से किया जाने वाला विस्तार। प्रयोग अर्थात् इतिवृत्त का परस्पर भी, रागप्राप्तिः अर्थात् व्युत्पत्ति या अवस्थादि के संयोग से होने वाली रंजनगत योग्यता की उपलब्धि तथा जो व्युत्पत्ति में अतिशय उपयोगी हो इसी को प्रकट या प्रस्तुत करना या विस्तीर्ण बनाना। शास्त्रे अर्थात् नाट्य-शास्त्र या नाट्यवेद में।

५३. इन प्रयोजनों का सन्धियों के अङ्गभूत लक्षणादि में वर्णन रहेगा, जिसे 'प्रयोजनक्षम' पद से दिखलाया गया है।

५४. अब अन्वयव्याप्ति के द्वारा दिखलाते हैं—'काव्यं यदपि' इत्यादि से। हीनार्थम्-अर्थात् स्वल्प प्रयोजन से युक्त प्रहसन जैसी रचना। दीप्त अर्थात् स्फुट।

५५. अब व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा दिखलाते हैं—'उदात्तम्' इत्यादि से। क्योंकि जब प्रयोग या नाट्य की हीन स्थिति से अयोग्यता आ जाती हो तो वह कवि, अभिनेता या सामाजिक के मन को कभी रंजित नहीं कर पाएगा।

५७-६८. अब सन्धियों से अङ्गों के उद्देश्यक्रम को दिखलाते हैं—'उपक्षेपः परिकरः' इत्यादि के द्वारा। ये सन्ध्यङ्ग मुखसन्धि के बारह, प्रतिमुख तथा गर्भसन्धि के तेरह, अवमर्श सन्धि के बारह तथा निर्वहण सन्धि के चौदह होते हैं जो कुल मिलाकर (१२ + १३ + १३ + १२ + १४ = ६४) चौसठ हो जाते हैं।

६८-६६. इनमें कुछ अङ्ग तो अपने स्वरूप के बल से ही नियम को दिखलाते हैं, जैसे मुखसन्धि में 'उपक्षेप' का नाम क्योंकि बिना वस्तु के उपक्षेप के कुछ भी सम्भव नहीं होता। यहाँ यह समझा जाए कि 'चौसठ अंगों से युक्त' अर्थात् जहाँ सभी अंग हो यह उचित नहीं केवल यहाँ तो सम्भावना ही मानी जाए नियम नहीं। क्योंकि सन्धियों के औचित्य के आधार पर ही इन अङ्गों का क्रम भी विवक्षित नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा ही हो तो फिर सन्ध्यन्तरों तथा लास्यांगों का निवेश कहाँ रहे। अतः इन सभी अंगों का आगे स्वरूप दिया जा रहा है, जिनसे इनकी स्थिति (को) यथासम्भव उपयुक्तता से पूर्ण रखा जा सके।

६६. उपक्षेप—प्रस्तावना के पश्चात् काव्यार्थ अर्थात् अभिधेय इतिवृत्त (क्योंकि इसके पूर्व प्रस्तावना में नटी के वृत्त से या कार्य से पूर्ण इतिवृत्त

रहता है जो रूपक को सूचित करने मात्र का कार्य सम्पन्न करता है। इसमें संक्षेप में प्रयोजन को रखा जाता है। जैसे वेणीसंहार नाटक में भीमसेन का निम्न कथन :—

लाक्षागृहानलविषान्नगृहप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः। (वे० सं० १। ८)

[धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाक्षा से निर्मित भवन में आग लगा कर, विष मिश्रित आहार तथा द्यूतक्रीडा के लिये सभा प्रवेश आदि कार्यों के द्वारा हमारे प्राणों और धन के अपहरण की चेष्टाएं कर तथा द्रौपदी के वस्त्र और केशों को खींचा है। अब वे मेरे जीते रहते हुए स्वस्थ रह सकेंगे।]

यहाँ नाट्यार्थ या विषय की अर्थात् कुरुकुलवध के प्रतिपादन की उत्पत्ति या संक्षेप में कथन के कारण 'उपक्षेप' है।

७०. परिकर—यही विषय थोड़ा और विस्तीर्ण हो तो 'परिकर'। जैसे वेणीसंहार में:—

भीम—प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभिः
न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम्।
जरासन्धस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत॥ (वे० सं० १।१०)

[कौरवों के साथ मेरी शत्रुता तो शैशव काल से ही बढ़ी थी परन्तु उसमें न ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर, न अर्जुन और न तुम दोनों ही कारण हो। देखो, जरासन्ध के विशाल वक्षः स्थल की तरह क्रोध में भीम इस सन्धि को विछिन्न कर रहा है। तुम चाहे इस सन्धि को सम्पन्न करो।]

यहाँ लाक्षागृहादि कथन से उपर्युक्त विषय को अधिक बढ़ाना ही 'परिकर' है।

७१. परिन्यास—इसी काव्याभिधेय इतिवृत्त की निश्चय रूप में हृदय में स्थापना या उसका उल्लेख 'परिन्यास' होता है। जैसे —

भीमः—चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥ (वे० सं० १।२१)

[देवि, यह भीम अपने चपल भुजदण्डों से घुमाये गये भीषण गदा के प्रहार से दुर्योधन के अङ्गों को चकना चूर कर निकाले गये गाढ़े रक्त से निश्चल हाथों को रंगते हुए तुम्हारे केश पाशों को सँवारेगा ।

यहाँ भावी उरुभङ्ग रूप कार्य को निष्पन्न-सा कहने से 'परिन्यास' है ।

७२. विलोभन—गुणशाली जब उसकी ही दिखलाकर प्रशंसा की जाए तो यह श्लाघा ही लोभ का हेतु होने से 'विलोभन' होता है । जैसे द्रौपदी—अणुगह्णन्तु मए एदं वअणं देवदाओ । [अनुगृह्णन्तु में एतद्वचनं देवताः] (मेरे इस विचार पर देवताओं की कृपा हो जाए) इत्यादि । या फिर नायिका की प्राप्ति में हेतुभूत या लक्ष्य गुणाधिक्य का प्रदर्शन भी । जैसे विक्रमोर्वशीय के इस पद्य में :—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं तु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजड़ः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।।

(वि० व० १।१०)

[इस उर्वशी की रचना में कान्तिदायक चन्द्र ही प्रजापति है अथवा जिसका शृङ्गार ही प्रधान रस है वह कामदेव ही स्वयं इसका सृष्टा है, अथवा पुष्पों का विधानभूत वसन्त मास इसका निर्माता है । क्योंकि वेद के अभ्यास से कुण्ठित, सुन्दर विषयों में औत्सुक्यहीन पुरातन मुनि ब्रह्मा ऐसे इस रमणीय रूप के निर्माण में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?]

इस प्रकार ये उपक्षेप से लेकर चारों सन्ध्यङ्ग प्रायः मुखसन्धि में क्रमशः ही रखे जाते हैं । यहाँ पौर्वापर्य का या आनन्तर्य का नियम नहीं होता, क्योंकि सामादि सन्ध्यन्तरों में इनका भी प्रवेश रह सकता है । इनमें परिकर का प्रयोजन इष्टार्थ की रचना भी होता है ।

७२. युक्ति—जैसे वेणीसंहार में—

सहदेवः—आर्य, किञ्च महाराजसन्देशोऽयमार्येणणाव्युत्पन्न एव गृहीत ।
से लेकर भीम के इस कथन तक—

युष्मान् ह्रेपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः ।
न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम् ।। (वे० सं० १।१७) तक

[शत्रुवंश का क्रोध में आकर विनाश करना आपको लज्जित कर रहा है परन्तु सभा में अपनी भार्या के केशों का खींचना आपको लज्जित नहीं करता ।]

इसका प्रयोजन प्रकाश्य अर्थ का प्रकाशन भी होता है [यहाँ उद्देश्य को उपपादक युक्ति का आश्रय लेने से]

७२. प्राप्ति—जो सुख देता हो ऐसी वस्तु या व्यक्ति की प्राप्ति भी । जैसे—वेणीसंहार में—

"एष खलु भगवान् वासुदेवः पाण्डवपक्षपातामर्षितेन सुयोधनेन संयमितुमारब्धः"—से "कुमारमविलम्बितं द्रष्टुमिच्छामीति"

इस अर्थ या घटना से भीम के चित्त को सुख की प्राप्ति होने से तथा सन्धि के भङ्ग होने से यहाँ 'प्राप्ति' है।

७२. समाधान—प्रधान नायक के अनुकूल ठीक से जहाँ बीज उपस्थापित होता हो । जैसे—वेणीसंहार में—

(नेपथ्ये) भोः विराटद्रुपदप्रभृतयः, श्रूयताम्—
यत् सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसम्भृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते । (वे० १।२४)

[जिस क्रोध की ज्वाला को सत्यव्रती तथा व्रतभंग की आशंका से भरे मन से बड़े श्रम के साथ मन्द किया था, जिसकी शान्ति के लिये तथा कुल कल्याण की भावना के कारण उसे भूल जाने की इच्छा रखी थी वही द्यूतरूपी अरणी से निकली हुई युधिष्ठिर के क्रोध की ज्योति अब द्रौपदी के केश और वस्त्रों के आकर्षण की हवा पाकर इस कौरववन में भड़क चुकी है ।]

यहाँ अभिहित उद्देश्य बीज के प्रधान नायक के द्वारा सम्मत हो कथन किये जाने से 'समाधान' है (अर्थात् भीम के द्वारा उक्त बीज का युधिष्ठिर द्वारा भी समर्थन हो जाने से 'समाधान') ।

७३. विधान—अर्थात् जहाँ मिश्रभाव से सुख दुःखों को कहा जाता हो । जैसे—वेणीसंहार में—

भीमः—तत् पाञ्चालि, गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय ।

द्रौपदी—णाह णं असुरसमराहिमुहस्स हरिणो मंगलं तं तुहाणं भोदु' से लेकर 'अणवेक्खिदसरीरा संचरह। जदो अप्पमत्त संचरिणिज्जाइं रिपुवलाइं सुणीअंति।' तक। [मा यदसुरसमराभिमुखस्य हरेर्मङ्गलं तत्तव भवतु] [मा अनपेक्षितशरीराः सञ्चरथ। यतोऽप्रमत्त-सञ्चारणीयानि रिपुवलानि श्रयन्ते] तक—['दैत्यों के साथ युद्ध के लिये प्रस्थित भगवान् श्री विष्णु की भाँति आपका मंगल हो'—'आप अपने शरीर का ध्यान रख कर युद्ध में जाइये। क्योंकि बड़ी सावधानी से शत्रुसैन्य में अवतरण करना चाहिए, यह सुना जाता है'।]

यहाँ द्रौपदी के हर्ष तथा भय को मिश्ररूप में रखने से एक विचित्रता के कारण रसवत्ता आ गयी है। इस प्रकार यहाँ इष्टार्थ की रचना तथा निगूह्य भाव का निगूहन रूप प्रयोजन भी है।

७३. परिभावना—कुतूहल अर्थात् कौतुक या जिज्ञासातिशय के द्वारा मिश्र जो आवेश हैं 'वही परिभावना' है। 'जैसे वह क्या है' इत्यादि। जैसे वेणीसंहार में संग्राम से आशंकित द्रौपदी तूर्य के नाद को सुनकर कहती है :—

द्रौपदी—णाह, किं दाणिं एसो पलअंतजलहरत्थणिदमंसलो खणे-खणे समरदंदुभि ताडीअदि। [नाथ किमिदानीमेष प्रलयान्तजलधरस्तनितमांसलो क्षणे क्षणे समरदन्दुभिस्ताड्यते।]

यहाँ द्रौपदी को कुतूहल पूर्ण इस वाणी से युद्धेच्छा मिश्रित होने से 'परिभावना'।

७४. उद्भेद :—जैसे वेणीसंहार में—

द्रौपदी—णाह पुणो वि तुए अहं समस्सइदव्वा। [नाथ, पुनरपि त्वयाऽहं समाश्वासयितव्या।]

भीमः—भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनिश्शेषितकौरव्यं स पश्यसि वृकोदरम्॥ (वे० १।२५)

[निरन्तर अपमान से उत्पन्न दुःख और लज्जा से म्लान मुखवाले भीम को अब तुम कौरवों की समाप्ति के बाद ही देखोगी]

यहाँ भीम के कौरववध की उत्पाद्यता के निश्चय से 'उद्भेद' है। यह 'उद्घाटन' नहीं है जिससे 'प्रतिमुख' का अङ्ग हो परन्तु यह शत्रुक्षय को

आरम्भ रूप में होने से बीज का अङ्कुर है जो बीज के भूमिसंश्लेष या आधार मात्र लेने की तरह है।

७४. करण :—जैसे वेणीसंहार में—

सहदेव :—गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलानुज्ञाताः विक्रमानुरूपमाचरितुम्। (आर्य, अब हम पूज्यजन की आज्ञा पाकर अपने बल के अनुरूप कार्य करने के लिये प्रस्थित हों)

यहाँ अग्रिम अंक में भावी संग्राम के आरम्भ किये जाने से 'करण'।

७५. भेद :—पात्र के संघात या समुदाय का जो स्वयं के प्रयोजन के उपस्थापन के द्वारा रंगभूमि से निष्क्रमण या पार्थक्य की सिद्धि के लिये भेदन (पृथक्ता) हो वही 'भेद' है। जैसे वेणीसंहार में—

भीमः—अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥
(वे० १।२६)

[जिस समरसागर के गम्भीर जल में परस्पर अभिहत गजों के फूटे हुए मस्तकों से निकलने वाले रक्त, मांस, बसा और मस्तिष्क के कीचड़ में धँसे हुए रथों पर पैर रख कर पैदल योद्धा आक्रमण कर रहे होते हैं और विशुद्ध रक्त की प्रीति के सहभोज में आस्वादन कर अमंगल शब्द करने वाली शृगालियों को तुरही मान कर नृत्य करते हुए कबन्ध हों वहाँ विचरण करने में पाण्डव अतिदक्ष हैं।]

इस कथन के द्वारा क्रोध तथा उत्साहरूप बीज के अनुरूप ही विषण्ण द्रौपदी को प्रोत्साहित किया जाकर रंगमञ्च से निष्क्रमण है अतः 'भेद' है।

७६. अब क्रमशः प्रतिमुख सन्धि के उद्देशक्रम से कथित अङ्गों को दिखलाते हैं।

विलास :—नायकादि के रति या अनुराग के कारणीभूत विषय नायिकादि की इच्छा करना 'विलास' है। जिन रूपकों का काम (भी) फल रखा जाता है ऐसे रूपकों में—रति के आस्थाफलत्व रूप रहते हैं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में—

तापसः—अनसूये, कस्येदमुशीरानुलेपनम् । इत्यादि
तथा—

राजा—कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥ (अ० शा० २।१)

प्रकृत में शकुन्तला के भावदर्शन के कारण उसकी प्रार्थना से प्रार्थित दुष्यन्त की रति की चेष्टा या इच्छा 'विलास' है। यहाँ रति रूप स्थायीभाव का ग्रहण उपलक्षण है अतः वीररस प्रधान रूपकों में आस्था या उत्साह को प्रतिमुख्यसन्धि में 'विलास' के अङ्ग में समझना चाहिए तथा उसी उत्साह की इच्छा मात्र को दिखलाना उचित है।

७६. परिसर्प :—जैसे वेणीसंहार में :—

कञ्चुकी—आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः ।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥
(वे० २।२)

(इसका पूर्व कारिका ३८ पर अर्थ दिया जा चुका है)

यहाँ 'कुरुकुलक्षय' भीष्म के वध के द्वारा सूचित करने के साथ ही दुर्योधन की अयोग्य चेष्टाओं के कारण वही आगे भी होगा, इस तथ्य को प्रकृत अर्थ के परिसर्पण के द्वारा दिखलाने के कारण 'परिसर्प'। अथवा अभिज्ञान-शाकुन्तल में इस पद्य के द्वारा सम्भावना के द्वारा भी 'परिसर्प' दिखलाया गया है। जैसे :—

अभ्युन्नता परस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा । (अ० शा० ३।५)

यहाँ पूर्व दृष्ट शकुन्तला के अनुसरण के कारण 'परिसर्प' है।

७७. विधूत—आदौ अर्थात् प्रथमतः किये गये साम आदि वचनों से अनुनय को अङ्गीकार न करना और बाद में उसे ही स्वीकार कर लेना 'विधूत' है। आदि शब्द से 'उपरोध' का भी ग्रहण होता है। जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल में :—

शकुन्तला—अलं वो अंतेउर-विरहपज्जुसिएण राअसिणा अवरुद्धेण [अलं वो अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा अवरुद्धेन ।]

यहाँ सखी के उपरोधवश आदि में शकुन्तला की प्रीति तथा उपरोध के निषेध से उसी का निषेध दिखलाने से 'विधूत' है।

७८. तापन :—जैसे रत्नावली में—

सागरिका—दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गुरई परपसो अप्पा।
पियसहि विसमं पेम्म मरणं सरणं णवरि एक्कम् ॥
[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम् ॥] (र० २।७)

[दुर्लभजन के प्रति प्रेम है, इधर भारी लज्जा है और शरीर दूसरे के अधीन है। प्रिय सखी, इन स्थितियों में प्रेम संकट में है। इस कारण अब मृत्यु ही केवल एक शरण है।]

यहाँ अनिष्टचिन्ता के कारण 'तापन' है।

७८. नर्म :—जो क्रीड़ा के लिये हास्य वचन कहे जाएँ वे 'नर्म' हैं। जैसे रत्नावली में—

विदूषक :—भो मा पाण्डिच्चगव्वं उव्वह। अहं एदाहा मुहादो सुणिय बक्खाणइस्सं। [भोः मा पाण्डित्यगर्वमुद्वह। अहमेतस्या मुखात् श्रुत्वा व्याख्यास्यामि।] (अरे पाण्डित्य का अभिमान मत कीजिये। मैं इसी के मुख से सुनकर आपको सब समझा दूँगा)

यहाँ 'नर्म' है।

७९. नर्मद्युति :—जिस कथन से दोष को प्रच्छादित किया जाय या करना चाहा जाए उसका भी हास्य के साथ नर्म द्योतित होने से वह 'नर्मद्युति' होगा। जैसे रत्नावली के द्वितीयाङ्क में—

विदूषकः—चउव्वेइ व्रह्मणो विअ रिअइं पठिदुं पवुत्ता। [चतुर्वेदी ब्राह्मण इव ऋचः पठितुं प्रवृत्ता।]

राजा—नावधारितं मया। (ततो विदूषकः—'दुल्लहजणाणुराओ—(२।७ इत्यादि पठति)

यहाँ पर विदूषक के द्वारा अपनी मूर्खता को दिलाने के लिये जो कहा गया वही राजा के लिये परिहास का जनक होकर नर्म को ही द्योतित करता है अतः यहाँ 'नर्मद्युति' है। जहाँ राजा उसे सुनकर कहता है—महाब्राह्मण, कोऽन्य एवमृचामभिज्ञः। इति।

७६. प्रगम (य) न (ण) :—जैसे रत्नावली के द्वितीय अङ्क में

विदूषकः—किणु खु दाणिं। [किन्नु खल्विदानीम्] राजा—ननु गाथेयम् ?

राजा—कयापि श्लाघ्ययौवनया प्रियतममनासादयन्त्या जीवितनिरपेक्षयेदम् उक्तम् ।

विदूषकः—भो किं एदेहिं पवकमणितेहिं ।

[विदूषक—तब फिर यह क्या है ? राजा—यह गाथा है । विदूषक—क्या गाथा है ? राजा—हाँ, किसी प्रशंसनीय यौवन वाली ने अपने प्रिय को न पाकर जीवन से उदासीन होकर यह बात कही है ।

यहाँ प्रगयण शब्द रूढ़ि है । अन्य विद्वान् प्रागयन पाठ मान कर प्राग् अर्थात् पूर्ववचन के पश्चात् अयनम् अर्थात् प्राप्ति होना उत्तरवचन की ऐसी व्याख्या करते हैं ।

८० निरोध :—यहाँ कहीं 'विरोध' तथा कहीं 'रोध' पाठ भी है । जैसे—रत्नावली के द्वितीय अङ्क में—

राजा—उच्चैर्हसता त्वयेयं त्रासिता ।

(जोर से हँस कर तुमने इसे डरा दिया)

यहाँ व्यसन अर्थात् खेदमात्र की प्राप्ति है जिससे अभीष्ट की प्राप्ति में विघ्न होता हो तो 'निरोध' है ।

८१. पर्युपासन :—जैसे रत्नावली में—

विदूषकः—भो मा कुध । एसा हि कदलीघरान्तरं गदेति [भो मा कुप्य । एषा हि कदलीगृहान्तरं गतेति ।]

तब राजा अनुनीत होकर कहता है—

राजा—दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या
कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम् ।
तद्भूयः शुकशिशुसारिकाभिरुक्तं
धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ।। (र० २।८)

(दुष्परिहरणीय कामव्यथा को धारण करने वाली सुन्दरी के द्वारा जो वचन अपनी सखियों के समक्ष कहा जाता है, बालक, तोते या सारिका के द्वारा फिर से कहा गया वही कथन किन्हीं भाग्यशाली पुरुषों के ही कर्णपथ के अतिथिभाव को प्राप्त करता है ।)

८१. पुष्प :—जैसे रत्नावली में—

विदूषकः—एसो को वि चित्तफलहओ। [एषः कोऽपि चित्रफलकः] (मित्र, यह चित्रफलक है)

कहने से लेकर

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्
किं शोषमायासि मृणालहार।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य
तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात्। (रत्ना० २।१५) इत्यादि तक—

[अरे मृणालहार, उसके स्तनरूपी कलशों के मध्य से गिर कर तू क्यों खिन्न हो रहा है। वहाँ तेरे सूक्ष्म धागे के लिये भी स्थान नहीं हैं तो फिर तेरे लिये वहाँ स्थान कहाँ बनेगा ?]

जैसे प्रेम विकासी पुष्प होता है उसी प्रकार यहाँ भी राजा के उत्तरोत्तर अनुराग विशेष का सूचक वचन का विकास अनुराग को दिखलाता है। जैसा कि सुसङ्गता का यह वचन—सहि गुरुआणुराअविक्खित्तहिअओ असंवद्ध भट्टा मन्तेदुं पवुत्तो। [सखि गुर्वनुरागविक्षिप्तहृदयोऽसम्बद्धं भर्त्ता मन्त्रयितुं प्रवृत्तः।] [अतिशय अनुराग से व्याकुल हृदयवाले महाशय ने अब असम्बद्ध कहना आरंभ कर दिया] इत्यादि है।

८१. वज्र :—जैसे रत्नावली में—

राजा—कथमिहस्थोऽहं भवत्या ज्ञातः। इस प्रकार राजा के कहने पर सुसङ्गता—ण केवलं तुमं समं चित्तफलहेण। ता जाव गदुअ देवीए पिवेदेमि। [न केवलं त्वं समं चित्रफलकेन। तद् यावद् गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि।] राजा—सुसंगते, हमारे यहाँ रहने की बात तुमने कैसे जानी ?

सुसंगता—स्वामिन्, आपको ही नहीं, बल्कि चित्रफलक के साथ सारी बातें भी जानती हैं। और अब जाकर यह सभी महारानी को कर रही हूँ) सुसङ्गता का यह कथन साक्षात् निष्ठुर होने से 'वज्र' है।

८२. उपन्यास :—जैसे रत्नावली में—

विदूषकः (ससाध्वसम्) अदिमुहरा क्खु एसा गब्भदासी। [अतिमुखरा खल्वेषा गर्भदासी] (यह गर्भदासी बड़ी वाचाल है)

यहाँ मुखरत्व की उपपत्ति रखी गयी है अतः 'उपन्यास'।

८२. वर्णसंहार—यहाँ चातुर्वण्य पद से पात्रों को दिखलाया गया है अतः जहाँ पृथक्-पृथक् अवस्थित पात्र भी लाये जाएँ तो 'वर्णसंहार' होगा। श्री भट्ट तोत के मत में—जब वीररस प्रधान रूपक में नायक तथा प्रतिनायक और उनके सचिवों का प्रमुख रूप में वर्णन रहने से कारिका में 'वर्णाः' कहा गया है तथा कामप्रधान रूपक में नायक तथा नायिका भी 'वर्णाः' होंगे। उनका एकीभाव इष्ट प्रयोग की रचना को तथा प्रकाश्य को प्रकाशित करता है जो प्रयोजन है। यहाँ जो ब्राह्मणादि वर्णों के एकीभाव को वर्णसंहार मानते हैं वह असंगत है।

जैसे रत्नावली में—सुसङ्गता के—'अदो में अअं गरुओ पसाओ [अतो ममायं गुरु प्रसादः] (अतः यह मुझ पर बड़ी कृपा है।)

से लेकर—

राजा—क्वासौ।

सुसङ्गता—इत्थे गेण्हअ सहिं पसाहहि णं। [हस्ते गृहींत्वा सखीं प्रसादयैनाम्] इत्यादि। (राजा—वह कहाँ है ? सुसङ्गता—हाथों से सम्हाल कर इस सखी को प्रसन्न कीजिये)

८३. अब गर्भसन्धि के अङ्गों का उद्देश्यक्रम से लक्षण करते हैं। इनमें सर्वप्रथमः—अभूताहरण। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के (जब) चित्रफलक को देखने पर विदूषक का यह कथन–अप्पा किल दुक्खेण आलिहिदुत्ति मम वअणं सुणिय पिअवअस्सेण आलेक्ख विण्णाणं दंसिअं। [आत्मा किल दुःखेनालिखितुमिति मम वचनं श्रुत्वा प्रियवयस्येन आलेखविज्ञानं दर्शितम्।] (अपना चित्र कठिनाई से बनाया जाता है यह सुनकर प्रियमित्र ने अपनी चित्रकला की ऐसी प्रवीणता प्रदर्शित की है)

यहाँ कपटाश्रित वाक्यों के प्रयोग के कारण 'अभूताहरण' है।

८३. मार्ग :—जैसे रत्नावली में—

काञ्चनमाला—भट्टिणि, कदा वि घुणक्खरं वि संभावीअदि [भर्त्रि, कदापि घुणाक्षरमपि सम्भाव्यते।] (काञ्चनमाला—स्वामिनी, कभी संयोगवश भी यह हो सकता है)

इस प्रकार काञ्चनमाला के द्वारा समय के अनुसार कहे जाने पर वासवदत्ता ने कहा—'अइ उज्जुए वसंदओ क्खु एसो। [अयि ऋजुके, वसन्तकः खल्वसौ]

यहाँ मार्ग की तरह प्रसिद्ध एवं परमार्थ को कहने से 'मार्ग' है।

८४. रूप :--जैसे रत्नावली में--

राजा--प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि च ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिपि न वेद्मि प्रियतमे ॥ (र०२।२२)

[यदि मैं 'प्रसन्न हो जाओ' यह कहूँ तो यह बिना कोप के ठीक नहीं है और यदि 'फिर ऐसा नहीं करूँगा' यह कहूँ तो अपने दोषों की स्वीकृति हो जाएगी यदि 'यह मेरा दोष नहीं' कहता हूँ तो तुम इसे झूठ समझोगी। अतः हे प्रिये, ऐसी स्थिति में क्या कहना उचित है, यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ।]

यहाँ विचित्रार्थ की संभावनाओं के बाद नियत प्रतिपत्ति न होने के कारण 'रूप' है। इसी कारण अन्यत्र 'वितर्कवत् वाक्य' का रूप आशय मान कर इसका लक्षण किया गया है—'रूपं वाक्यं वितर्कवत्' (सा० द० ६।९८)। यहाँ सम्भावनाओं की आकृति अनियत रहती है।

८५. उदाहरण :—लोक प्रसिद्ध वस्तु की अपेक्षा जो अतिशय उत्कर्ष को बतलाता या लाता हो तो 'उदाहरण'। जैसे रत्नावली में—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यञ्च तथापि मे।
कामेनैतत् कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥ (रत्ना० ३।२)

[मन स्वभाव से ही चञ्चल तथा दुर्भेद्य होता है, फिर भी अनङ्ग ने मेरा यह मन सभी वाणों से एक साथ कैसे बींध दिया, यही आश्चर्य है।]

८५. क्रम :—भावी वस्तु को भावना के कारण जो तर्कना करते हुए परमार्थ की उपलब्धि होती हो। क्योंकि उस ओर चलने वाली बुद्धि या विचार फिर आगे ही बढ़ते हैं, उनमें कोई प्रतिरोध नहीं होता। जैसे रत्नावली में—

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरम् ॥ (रत्ना० ३।४)

[मेरे विषय में सभी ने जान लिया इससे लज्जा के कारण वह सभी से अपना मुँह छिपाती है, किन्हीं दो की बात सुनकर वह उसे अपनी ही कथा

समझने लगती है। सखियों के मुसकराने पर अतिशय खिसिया जाती है और इस प्रकार प्रिया सागरिका प्रायः अपने हृदय में स्थित आतङ्क से ही व्याकुल रहती है।]

८६. सङ्ग्रह :—जैसे शान्ति या साम के द्वारा सङ्केत आदि की समाचार जान कर राजा व वत्सराज के द्वारा—साधु वयस्य, इदं ते परितोषिकम् (अच्छा मित्र यह तो तुम्हारा पुरस्कार) कहते हुए उसे अपना कटक प्रदान करना 'सङ्ग्रह' है।

८६. अनुमान :—रूप्यमान या प्रत्यक्षतः दृष्ट के द्वारा रूप या व्यापक या अविनाभावी का ज्ञान या निश्चयात्मक ऊह करना क्योंकि उपाय भूत युक्ति यही है। जैसे रत्नावली में—

पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्दुवारः
सान्द्रा वीथी तथेयं वकुलविटपिनां पाटला पङ्क्तिरेषा।
आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन्
व्यक्तिं पन्थाः प्रयाति द्विगुणतरतमो निह्नुतोऽप्येष चिह्नैः॥
(रत्ना० ३।८)

[निश्चय ही यह चम्पक वृक्षों की श्रेणी है, यह सुन्दर सिन्दुवार का वृक्ष है, यह मौलसिरी के वृक्षों की घनी पंक्ति है और यह पाटल (गुलाब) के पौधों की पंक्ति है। इस प्रकार इस उद्यान में अन्धकार के दुगुने होने से छिपा हुआ यह मार्ग अनेक प्रकार की गन्धों को सूँघकर पहचाने जाने वाले वृक्षों के चिह्नों से ही प्रकट हो रहा है।]

यहाँ गन्ध के सूँघ-सूँघ कर चलने से पुष्पों का, फिर उससे वृक्षों का तथा उनसे मार्ग का राजा ने अनुमान कर विदूषक को कहने से 'अनुमान' है।

८७. प्रार्थना :—जब साध्यफल में प्रमुखतः भाव विषयक उत्कर्ष से की गयी जो अभ्यर्थना वही 'प्रार्थना' है। जैसे रत्नावली में सङ्केतस्थान पर जाकर प्रतीक्षारत नायक कहता हैं :—

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथादौ बाधते यथासन्ने।
तपति प्रावृषि हि तरामभ्यर्णजलागमो दिवसः॥ (रत्ना० ३।१०)

[उत्कट कामजनित सन्ताप आरंभ में उतनी बाधा नहीं देता जितना प्रिया मिलन के सन्निकट होने पर कष्ट देता है। वर्षा ऋतु में वही दिन अधिक तपता है जिसमें वर्षा सन्निकट होती है।]

८७. आक्षिप्ति :—हृदय में अवस्थित भाव की किसी कारण न छिपा पाने के कारण स्फुट रूप में प्रकट हो जाना। क्योंकि वहाँ उस अभिप्राय को बाहर ले जाया जाता या क्षेपण किया जाता है। अतः 'आक्षिप्ति' है। जैसे, रत्नावली नाटिका में—

राजा—प्रिये सागरिके,

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निशङ्कमालिङ्ग मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय॥ [र० ३।११]

[प्रिये, तुम्हारा मुख चन्द्र है, आँखें नील कमल हैं, हाथ कमल है, उरु-युगल कदली के मध्यभाग के समान हैं और भुजाएँ कमलनाल के तुल्य हैं। इस प्रकार हे आनन्दायि! सभी अंगों वाली तू आ और निशंक होकर मेरा आलिंगन कर; मेरे अनंग के ताप से व्याकुल अंगों को शान्ति प्रदान हो जाए।]

यहाँ आलिङ्गन के आधीन आनन्द की प्रार्थना करने से 'आक्षिप्ति' है।

८८. तोटक :—जो आवेश से गर्भित वचन हो वह 'तोटक'। यह आवेग हर्ष, क्रोध या अन्य कारण से भी हो जाता है। क्योंकि यह हृदय को विदीर्ण करते हुए आता है अतः 'तोटक' है। जैसे रत्नावली में विदूषकः—अज्ज वि दाव से देवीए णिच्चरुट्ठाए वासवदत्ताए वअणेहिं कडुइये कण्णे सुहावीअदु। [अद्यापि तावत्तस्या देव्या नित्यरुष्टाया वासवदत्ताया वचनैः कटूकृते कर्णे सुखयतु।]

(अब तक सदा रुष्ट रहने वाली महारानी वादवदत्ता की कटूक्तियों से कटु इसके कानों को अब मीठे वचनों के प्रसंग से सुखी कीजिये।)

यहाँ विदूषक की क्रोधपूर्ण वचनावली के कारण 'तोटक' है।

८८. अधिबल :—जब परस्पर सम्भाषण में लगे हुए दो व्यक्तियों में किसी एक के अधिक सहायक तथा सामर्थ्य के कारण वही दूसरे को छल सकता है, ऐसा पता लगाना या ज्ञान करना 'अधिबल' है। जैसे रत्नावली में सागरिका का वेषधारण करने वाली महारानी वासवदत्ता ने विदूषक को बुद्धिदौर्बल्य से राजा उदयन को छल लिया। यह प्रसङ्ग—'किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति' (गर्भसन्धि में पूर्व उद्धत) तक है।

८६. उद्वेग :—जैसे रत्नावली में—

राजा—कथं देवी वासवदत्ता । वयस्य, किमेतत् ।

विदूषकः—णं अह्माणं जीविअसंसओ [नन्वस्माकं जीवितसंशवः]

(राजा—अरे यहाँ तो महारानी वासवदत्ता है । मित्र, यह कैसे ?

विदूषक—अरे यह हमारे लिये प्राणों का संकट है ।) इत्यादि ।

८६. विद्रव :—भय या त्रास की उत्पादक वस्तु से आशङ्का होने पर 'विद्रव' । क्योंकि वह हृदय में विद्रवयति = विलीन रहने से 'विद्रव' है । जैसे रत्नावली में :—

समारूढ़ा प्रीतिः प्रणयबहुमानादनुदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य ध्रुवमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्ण्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥ (रत्ना० ३।१५)

[प्रणय के अतिशय आदर के कारण हमारी प्रीति प्रतिदिन बढ़ रही थी । पूर्व में न किये गये इस अपराध को मेरे द्वारा किया हुआ देखकर न सहने वाली प्रिया (वासवदत्ता) आज निश्चय ही अपना प्राण त्याग देगी क्योंकि उत्कट प्रेम का स्खलन असह्य होता है ।]

९०. अपवाद :—अवमर्श सन्धि के अङ्गों के लक्षणों में अब सर्वप्रथम 'अपवाद' बतलाते हैं । जैसे रत्नावली में सागरिका के कथन के वाद । राजा का यह कथन :—

राजा—श्वासोत्कम्पिनि कम्पितं स्तनयुगे मौने प्रियं भाषितं
वक्त्रेऽस्या कुटिलीकृतभ्रुणि रुषा यातं मया पादयोः ।
इत्थं नः सहजाभिजात्यजनिता सेवैव देव्याः परं
प्रेमाबद्धविवर्धिताधिकरसा प्रीतिस्तु या सा त्वयि ॥
(रत्ना० ३।१८)

[उच्छास से इसके उरोज युगुल के काँपने पर मैं भी काँप उठा, मौन होने पर प्रिय वचन कहा; मुख के कुटिल भ्रूवाले होने पर पैरों पर गिर गया । इस प्रकार महादेवी के प्रति जन्मजात कुलीनता के कारण की जाने वाली हमारी यह सेवा मात्र थी । किन्तु जिसमें प्रेम के बन्धन से अधिक रस बढ़ रहा हो, ऐसी प्रीति तो केवल तुम में ही है ।]

यहाँ देवी के गुणों को अतिशय कोप के द्वारा आच्छादित कर वर्णन करने से 'अपवाद'।

६१. सम्फेट :—अन्य आचार्य 'स्फोट्' अनादरे धातु को इस शब्द की श्रुति मानकर 'संस्फोट' पाठ उचित ठहराते हैं। जैसे रत्नावली में—

वासवदत्ता—(सरोषं सहसोपसृत्य) अज्जउत्त, जुत्तं एदं। सरिसं एदं [आर्यपुत्र, युक्तमिदम्। सदृशमिदम्। ;] (आर्यपुत्र, क्या यह ठीक और योग्य है।) इत्यादि में 'सम्फेट' है।

६१. अभिद्रव (या द्रव) :—जैसे रत्नावली में अपने स्वामी उदयन के सम्मुख ही विदूषक और सागरिका को बंधवा लेना अथवा तापसवत्सराज के षष्ठ अङ्क में वासवदत्ता के द्वारा यौगन्धरायण के वचनों का उल्लंघन कर मरने की तैयारी करना। मार्ग या अपनी मर्यादा से द्रवण या चलित होना ही 'द्रव' है। जैसे—वेणीसंहार में युधिष्ठिर का—'ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता' इत्यादि वचन भी।

६२. शक्ति :—विरोधी अर्थात् कुपित का प्रशम या प्रसन्न करना 'शक्ति' है, जो बुद्धि या विभव आदि शक्ति का कार्य होने से होती हैं।

जैसे रत्नावली में—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्या भृशं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः।
प्रत्यापत्तिमुपागता मम तथा देवी रुदत्या तथा
प्रक्षाल्यैव तथैव वाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम्॥

[युक्ति पूर्वक की गयी शपथों से, प्रिय वचन से अतिशय मनोनुकूल आचरण से, अति लज्जित होने से, चरणों में पड़ने से तथा सखियों के बार बार कहे गये वचनों से देवी वासवदत्ता उतनी प्रकृतिस्थ नहीं हुई जितनी कि रोती हुई उसने स्वयं आँसुओं के जल से धोकर मानो कोप को दूर कर लिया।]

६८. व्यवसाय :—प्रतिज्ञात या अङ्गीकृत अर्थ के जो कारण हैं उनकी प्राप्ति 'व्यवसाय'। जैसे रत्नावली में ऐन्द्रजालिक के प्रवेश से लेकर—'एक्को उण खेडओ अवस्सं पेक्खिदव्वो [एकं पुनः खेलनमवश्यं प्रेक्षितव्यम्।] तक यौगन्धरायण ने जो कार्य स्वयं करना निश्चित किया उसकी प्राप्ति से 'व्यवसाय'।

६२. प्रसङ्ग :—जैसे रत्नावली में—

वासवदत्ता—उज्जयणीदो आअदीत्ति अत्थि मे तस्सिं इन्दआलिए पक्ख-वादो। [उज्जयिन्या आगत इत्यस्ति मे तस्मिन्नैंद्रजालिके पक्षपातः।] (उज्जैन से आने के कारण मेरा उस ऐन्द्रजालिक में पक्षपात है) इत्यादि। यहाँ अपने सम्बन्धी कुल से आना ही इसके सम्मान का कारण हो जाने से 'प्रसङ्ग'।

६३. द्युति :—आधर्ष अर्थात् तिरस्कार तथा उससे संयुक्त। जैसे रत्ना-वली में—

विदूषक :—हा दासीए उत्त इंद-जालिअ। [आः दास्याः पुत्रक, ऐन्द्र-जालिक] (अरे दासीपुत्र, ऐन्द्रजालिक) इत्यादि।

६४. खेद :—मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार का श्रम। इनमें प्रथम का—जैसे सिंहलेश्वर के कुशल प्रश्न के पूछे जाने पर—

वसुभूतिः—(निःश्वस्य) देव न जाने किं कथयामि [महाराज, अब मैं क्या कहूँ ?] से लेकर रत्नावली के समुद्र में गिर जाने और सुनकर उससे वासवदत्ता के रोने तक।

तथा दूसरे का—जैसे विक्रमोर्वशीय में—

पुरूरवा—अहो श्रान्तोऽस्मि। यावत् तस्या गिरिनद्यास्तीरे इत्यादि।

यद्यपि श्रम, उद्वेग, वितर्क तथा लज्जा आदि को भावाध्याय में व्यभि-चारी भावों में कहा जा चुका है फिर भी ये अवसर आने पर पूर्वकथित प्रयो-जन की सिद्धि के लिये होते हैं, इसी कारण इन्हें पृथक् प्रयोग के योग्य मान कर इन्हें सन्ध्यङ्ग भी स्वीकार किया गया है। या शाकुन्तल में 'स्रस्तासावति-मात्रलोहिततलौ' इत्यादि में घड़ा उठाने से शकुन्तला को कायिकश्रम है अतः खेद।

६४. निषेध (या प्रतिषेध) :—जैसे रत्नावली में सागरिका के वृत्तान्त वर्णन में इष्टार्थ में बाधा हो जाने से बाभ्रव्य के द्वारा उसका अन्तःपुर दाह से प्रतिघात हो जाना।

६५. विरोधन :—जैसे रत्नावली में—

राजा—कथमन्तःपुरेऽग्निः। हा हा धिक् कष्टम्। दग्धा देवी वासवदत्ता। इत्यादि से लेकर सागरिका को समाप्ति तक। इस कार्य में वासवदत्ता

सागरिका के प्रेम और विश्वास का समाप्ति का होना। इसे ही निरोध भी कहा गया है। जैसे वेणीसंहार में—

युधिष्ठिर—तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम्।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः॥

[भीष्मरूपी महासागर को पार कर लेने पर, द्रोण रूप अग्नि के बुझ जाने पर, कर्णरूप विषैले सर्प का दमन कर दिये जाने पर और शल्य के परलोकगामी हो जाने से विजय थोड़ी ही शेष रह गयी थी किन्तु साहस प्रिय भीम ने अपने आवेश के कारण अपनी प्रतिज्ञा की वाणी से हम सभी के जीवन को संशय में डाल दिया है।]

९५. आदान :—अर्थात् बीज के फल की समीपता की स्थिति। जैसे रत्नावली में—

सागरिका—(राजानं दृष्ट्वा स्वगतम्) अज्जउत्त, इत्यादि।

यहाँ वान्धवकुल के व्यक्तियों के आने पर जब तक राजा की यह उक्ति है :—

व्यक्तं लग्नोऽपि भवतीं न धक्ष्यति हुताशनः।
यतः सन्तापमेवायं स्पर्शस्ते हरति प्रिये॥ (रत्ना० ४।१८)

[प्रिये, स्पष्ट रूप से लिपटी हुई भी यह अग्नि तुम्हें नहीं जला रही है क्योंकि तुम्हारा यह स्पर्श ही ताप को हर लेता है।]

तक का विवरण 'आदान' है।

९६. छादन :—यहाँ 'वाक्य' से उसके वाक्यार्थ को लेना अभीष्ट है। अतः दुष्ट या अनभीप्सित पद से 'अपमान' अर्थ लिया जाएगा और ऐसे अपमान के कलङ्क को सहन करने या हटाने के कारण यह 'छादन' है। जैसे रत्नावली में—

सागरिका—दिट्ठिआ पज्जलिदो भअवं हुतासणो। अज्ज करिस्सदि से सअलदुक्खावसाणम्। [दिष्ट्या प्रज्ज्वलितो भगवान् हुताशनः। अद्य करिष्यति मे सकलदुःखावसानम्।] इत्यादि।

९६. प्ररोचना :—संह्रियमान अर्थात् निर्वाह किये गये अर्थ की जो दर्शिका होने से अधिक रोचने वाली अतः 'प्ररोचिका'। जैसे रत्नावली में—

क्वासौ ज्वलन् हुतवहस्तदवस्थमेत-
दन्तःपुरं कथमवन्तिनृपात्मजेयम् ।
बाभ्रव्य एष वसुभूतिरयं वयस्यः
स्वप्नो मतिभ्रममिदं तुकिमिन्द्रजालम् ।। (रत्ना० ४।१९)

[वह जलाने वाली आग कहाँ गई । यह अन्तःपुर तो उसी स्थितिवाला दिखाई दे रहा है और यह अवन्तिराजपुत्री वासवदत्ता भी यहाँ है । यह बाभ्रव्य है, यह वसुभूति और यह वयस्य भी है । मेरी बुद्धि क्या स्वप्न में घूम रही है, अथवा क्या यह कोई इन्द्रजाल है ।]

इस अङ्ग को अन्य आचार्य 'युक्ति' के नाम से बतलाते हैं । यहाँ मुनि ने उद्देश्यक्रम को छोड़कर कुछ अंगों का लक्षण दिखलाया, वह क्रम के नियम न रहने की सूचना देने वाला है । अब उद्देशक्रम से निर्वहणसन्धि के अङ्गों के लक्षण बतलाते हैं ।

९७. सन्धि :—जैसे रत्नावली में—

वसुभूतिः—बाभ्रव्य, सदृशीयं राजपुत्र्या [बाभ्रव्य यह तो हमारी राजकुमारी जैसी है] इत्यादि से जो आरम्भ में कहा गया वही यहाँ निकट आकर मिल जाने से 'सन्धि' है ।

९८. निरोध :—जैसे रत्नावली में—

वसुभूति :—कुतः पुनः इयं कन्यका ? (यह कन्या कहाँ से आयी ?) इत्यादि ।

९८. ग्रथन :—जैसे रत्नावली में—

यौगन्धरायण—देव, क्षम्यतां यन्मयाऽनिवेद्य कृतम् । (महाराज, उसे क्षमा कीजिये जो मैंने बिना कहे किया था) इत्यादि ।

यहाँ रत्नावली लाभ रूप कार्य के उपक्षेप के कारण 'ग्रथन' ।

९९. निर्णय :—अनुभूत अर्थात् प्रमाण से सिद्ध वस्तु का कथन करना । जैसे रत्नावली में—

वसुभूतिः—अयि रत्नावली, ननु त्वमीदृशीमवस्थां प्राप्तासि ।

सागरिका—(सप्रत्यभिज्ञम्) तुमंपि किं अमच्च वसुभूदी । [त्वमपि किममात्यो वसुभूतिः ।]

वसुभूतिः—स एवाहं मन्दभाग्यः से लेकर विदूषक के—"सविहवो होदु। [सविभवो भवतु]" वाक्य तक निर्णय है।

[वसुभूति—अरे रत्नावली, तुम ऐसी अवस्था में हो रही हो।

सागरिका—(पहचानती हुई) आप क्या अमात्य वसुभूति हैं ?

वसुभूति—हाँ, मैं वही भाग्यहीन हूँ।

विदूषक—अब यह विभवसहित हो जाए।]

९९. परिभाषणम् :—जैसे रत्नावली में :—

सागरिका—किदापराहा ख्खु अहं देवीए ता ण सख्खुणोमि मुहं दंसेदुं। [कृतापराधा खल्वहं देव्यास्तन्न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्]

वासवदत्ता—(अपवार्य) अय्यउत्त, लज्जामि ख्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण। ता अवणेहि से बंधणे। [आर्यपुत्र, लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेव तदपनयास्याः बन्धनम्।]

तथा इस प्रकार इनके द्वारा एक दूसरे के अपराधों की उद्घोषणा करने वाले कथन को सुन कर यौगन्धरायण का भी यह कथन :—

देव्या मद्वचनाद् यदाभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा चाप्यन्यकलत्रसङ्घटनया दुःखं मया प्रापिता।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया॥ (रत्ना० ४।२०)

[मेरे ही कहने पर जब महारानी वासवदत्ता ने पूर्व में अपने स्वामी का वियोग स्वीकार किया था तब भी मैंने महाराज का अन्य पत्नी से सम्बन्ध करवा कर इन्हें दुःख ही दिया था। यह सत्य है कि महाराज को इस जगत् के सम्राट् होने का लाभ उन्हें सन्तोष देगा फिर लज्जावश मैं उन्हें अपना मुख दिखलाने में समर्थ नहीं हूँ।]

यहाँ 'परिवादन' है।

१००. द्युति :—अपने सामर्थ्य से शान्त करने योग्य क्रोधादि के प्राप्त होने पर भी जो उनकी शान्ति है वही 'द्युति'। जैसे रत्नावली में—

यौगन्धरायणः—देव, श्रूयतामिदम्। सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धैरादिष्टा" से लेकर जब तक महारानी वासवदत्ता का यह कथन कि—

अय्य अमच्च, फुडं एव्व किं ण भणेसि पडिवाढेहि रअणावलिं त्ति। [आर्य अमात्य, स्फुटमेव किं न भणसि प्रतिपादय रत्नावलिमिति]

१००. प्रसाद :—जैसे रत्नावली में—

वासवदत्ता—एत्तिअं दाव मह बहिणिआ अणुरूवं होदु। [एतावत् तावन्मम भगिन्यनुरूपं भवतु] (इति स्वैराभरणैरलङ्करोति) इति (अभी इतना ही मेरी बहिन के योग्य बन जाए।)

यह अन्यपाठ में समय के बाद रखा गया है।

१०१. आनन्द :—अर्थित अर्थात् अनेक उपायों या प्रकारों से प्रार्थना किये गये और आगे भी निरन्तर वियोग रहित स्थिति में आ जाना आनन्द का कारण बनने से 'आनन्द' है। जैसे रत्नावली में—

राजा—को देव्याः प्रसादं न बहुमन्यते।
(महारानी की कृपा को कौन अधिक नहीं मानता) इत्यादि में आनन्द है।

१०१. समय :—दुःख का अपगम अर्थात् दूर हो जाना। जैसे रत्नावली में—
वासवदत्ता—अय्यउत्त, दूरे क्खु एदाए णादिउलं, ता तह अणुच्चिअ जहा बंधुजणं ण सुमरेदि। (आर्यपुत्र, दूरे खल्वस्याः ज्ञातिकुलं, तत्तथानुतिष्ठ यथा बन्धुजनं न स्मरति।] (आर्यपुत्र, इसका पितृगृह अधिक दूर है। इसलिये ऐसा कीजिये कि यह अपने बन्धुजन का स्मरण न करे।)

१०२. उपगूहन :—जैसे रत्नावली में—

विदूषक :—ही ही भो कहं कहं सम्पुण्णमणोरहा संउत्तह्म। [ही ही भोः कथं कथं सम्पूर्णमनोरथाः संवृत्ताः स्म। (इत्युत्थाय नृत्यति) अरे, अब भी हम सम्पूर्ण अभीष्ट के प्राप्त करने वाले नहीं हो गये हैं।)

१०३. भाषण :—यद्यपि संग्रह नामक अंग पूर्व में कहा गया परन्तु यहाँ भी ऐसे कार्य की अवश्य योजना रखने की भावना से शब्दान्तर द्वारा उसी कार्य को ग्रहण किया गया है। जैसे रत्नावली में—

वसुभूतिः—देवि, स्थाने देवीशब्दमुद्वहसि। इत्यादि

इसमें साम तथा दान का उदाहरण नागानन्द में भगवती गौरी का जीमूतवाहन को वरदान देते हुए यह कथन —

"त्वां विद्याधरचक्रवर्तिनमहं प्रीत्या करोमि क्षणात्"।
(अब मैं तुम्हें इसी क्षण विद्याधरों का चक्रवर्ती बनाती हूँ।)

अन्य आचार्यों का मत है कि भेद, दण्ड आदि उपायान्तर का भी संग्रह होना चाहिए जिससे 'भाषण' की पूर्णता हो।

१०३. पूर्ववाक्य (या पूर्वभाव) :—जैसे रत्नावली में—

वाभ्रव्यः—इदानीं सफलपरिश्रमोऽस्मि सम्पन्नः। (अब मेरा श्रम आज सफल हुआ।) इत्यादि में 'पूर्वभाव' है।

१०४. काव्यसंहार :—जैसे रत्नावली में—

यौगन्धरायणः—देव, तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपहरामि। (मैं आपका और क्या प्रिय करूँ)

नीतो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्यैकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोशलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मिन् करोमि स्पृहाम्॥
(रत्ना० ५।२१)

(आपने विक्रम बाहु को अपने समान आत्मीय बना दिया, पृथ्वी की सार-भूत तथा सागर समेत पृथ्वी की प्राप्ति में एकमात्र निमित्त यह सागरिका प्रिया प्राप्त हुई, अपनी बहन के मिल जाने से महादेवी वासवदत्ता भी सन्तुष्ट हो गयी और कोशल देश भी जीत लिया गया। अतः आप जैसे श्रेष्ठ मन्त्री के होने पर अब और क्या अभीष्ट वस्तु शेष रही, जिसकी मैं आगे इच्छा करूँ।)

१०४. प्रशस्ति :—जैसे रत्नावली में—तथापीदमस्तु—

उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टाम्
इष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत् प्रीणनं विप्रमुख्याः।
आकल्पान्तं क्रियायाः क्रमसमुपचितं सङ्गमं सज्जनानां
निर्विश्लेषावकाशंपिशुनजनवचोवर्जनाद् वज्रलेपः॥
(रत्ना० ५.२२)

(फिर भी यह हो जाए—कि इन्द्र अभिलषित वृष्टि को करते हुए इस पृथ्वी को समृद्ध धान्य वाली बनावें। श्रेष्ठब्राह्मण जन विधिपूर्वक यज्ञों को करते हुए देवों को प्रसन्न करें। सुख की वृद्धि करने वाला सज्जनों का समागम कल्प पर्यन्त निरन्तर बना रहे और दुर्जय तथा वज्र के समान कठोर या चुभने वाले दुर्जनों के वचन पूर्ण रूप से नष्ट या शान्त हो जाएँ।)

१०५. ये अङ्ग योग्यता के अनुरूप प्रत्येक सन्धि में समायोजित किये जाते हैं। ऐसी योजना प्रबन्ध योजना में समर्थ नाट्यकार या कवि ही कर सकता है। इस तथ्य को कारिका में 'कविभिः' पद से दिखलाया है। क्योंकि लेखक या रचयिता के दृष्टिकोण से भी सन्ध्यङ्गों की योजना रखी जाती है।

१०६. नाट्य की आवश्यकता के अनुसार एक सन्धि में उसके किसी भी सन्ध्यङ्ग का किसी स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है, अतः उनके प्रदर्शन का क्रम (भी) दिखलाये गये उद्देश्यक्रम के अनुसार रहना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार एक सन्धि में एक सन्ध्यङ्ग का प्रयोग एकाधिक बार (या दो बार) भी किया जा सकता है। जैसे रत्नावली में प्रतिमुखसन्धि में विलास को सागरिका तथा नायक में बार-बार संयोजित किया गया है जो प्रधानरस शृङ्गार को उद्दीप्त करता है। वेणीसंहार नाटक में भी सम्फेट तथा विद्रव अङ्गों को वीर तथा रौद्र रस के उद्दीपक दिखलाते हुए रखा गया है। परन्तु अतिशय पुनरावृत्ति से प्रयोग में विरसता आ सकती है और दो—तीन बार एक ही अंग को कौशल से रखा जा सकता है। इसी प्रकार यदि दो सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन एक से ही पूर्ण हो जाए तो दूसरे की उपेक्षा कर देना उचित है। इसके अतिरिक्त एक सन्धि के अन्तर्गत उल्लेख किये जाने वाले सन्ध्यङ्ग का आवश्यकतानुसार दूसरी सन्धि में भी प्रयोग किया जा सकता है। सन्धि के अतिरिक्त उद्देशक्रम में सन्ध्यन्तरों के २१ प्रकारों के पाठ हैं। एतदर्थं सम्बन्ध टिप्पणी नीचे यथास्थान देखें।

१०७. अर्थोपक्षेपकों का उद्देशक्रम तथा नामादि को दिखलाया है— 'विष्कम्भक' इत्यादि से।

१०८–११४. अब अर्थोपक्षेपकों के लक्षण क्रमशः दिखलाते हैं। इसमें क्रमशः विष्कम्भक, चूलिका, प्रवेशक, अङ्कावतार तथा अङ्कमुख के स्वरूप रखे गये हैं।

११५–११८. यहाँ नाटक पद अभिनेय रचना मात्र के लिये प्रयुक्त है। यहाँ पाँचों सन्धियों का विधान यथासम्भव एवं लक्षणानुसारी समझना चाहिए। महारस पद से पुरुषार्थ के उपयोगी जहाँ रस हो ऐसा, उदात्तवचनपद से श्लेष तथा प्रसाद आदि गुणों से युक्त स्वरूप रहना तथा सुप्रयोगम् अर्थात् जिसमें लास्य के अंगों की योजना की गयी हो ऐसा तथा सुखाश्रयम् पद से छन्दो वृत्त-गत विचित्रता का आधान इष्ट है। मृदु शब्दों से जिसमें अभिधान अर्थात् विवक्षित अर्थ का वर्णन हो। इससे माधुर्य, प्रसाद तथा अर्थव्यक्ति जैसे गुणों

की प्रकर्ष सम्पन्न स्थिति व्यक्त होती है। ऐसा 'नाटक' रचा जाए अर्थात् जो ऐसे नाटक की रचना करे वह 'कवि' है।

११६. अनेक पुरुषों को जो विभिन्न प्रकृति वाले हों उनमें रस के द्वारा एक भाव के प्रवेश से जो कार्य की सम्बद्धता आवे वही नाटक में रसरूपता को लाने वाली होती है, जिसे पूर्व में ही विस्तार से कहा जा चुका है।

१२०–१२१. नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के ही दो पद्यों को यहाँ स्थितिवश पुनः उद्धृत करते हैं—'न तज्ज्ञानं' तथा 'योऽयं स्वभावो' इत्यादि। इसकी व्याख्या भी वहीं १।११६ तथा १।११७ पर द्रष्टव्य।

१२२–१२६. नाटक में 'पूर्ववृत्तानुचरित' ही अभीष्ट है, यही दिखलाते हैं—'यस्मात् स्वभावम्' इत्यादि से। नट् धातु का नमन अर्थ है अर्थात् अपने सहज रूप से झुक जाना या परिवर्तित होना। अन्य आचार्य नट् वृत्तौ धातु से नाटक शब्द निष्पन्न मानते हैं उनके मत से भी नमन अर्थ (उपर्युक्त) निकलता ही है। 'साङ्गापाङ्गा' अर्थात् नियमानुसार जो पादक्रम अर्थात् गति वैचित्र्य हों उनसे। यह सभी नाट्याङ्ग का उपलक्षण है, जिसका प्रयोग नट करते हैं तथा सहृदय सामाजिक को भी जिसका ज्ञान रहता है। अतः यहाँ इन दोनों का ही नाटक में 'नमन' अभीष्ट है तथा यही सम्भावनागत औचित्य भी है।

१२७. नाटक को मृदु शब्द वाला कहने का प्रयोजन बतलाते हैं—'भविष्यति' इत्यादि से। अर्थात् त्रेतायुग की अपेक्षा द्वापर या कलियुग में भी।

१२६. सुखार्थम् पद से यहाँ अर्थव्यक्ति को लिया गया है।

१३१. इस प्रकार प्रकृत अध्यायार्थ का उपसंहार कर आगे के अध्यायान्तर से उसकी सङ्गति प्रदर्शित करते हैं—'इतिवृत्तं ससन्ध्यङ्गम्' इत्यादि से।



द्वाविंश अऽध्यायः

वृत्तिविधानाध्याय

१. वृत्ति के भेद से रूपक के प्रभेद होते हैं यह तथ्य दशरूपक निरूपण के अध्याय में आरम्भ में ही बतलाया गया, परन्तु वृत्ति का स्वरूप नहीं विदित होने से अब उसी के लिये कहते हैं—'समुत्थानं तु' इत्यादि से। यद्यपि कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टाएँ समग्र विश्व में व्याप्त हैं तथा ये प्रवाहरूप में संचरणशील भी परन्तु ये त्रिविध वृत्तियाँ विशिष्ट हृदयावेश से युक्त होकर ही नाट्य की उपकारिणी होती हैं। यह आवेश भी दो प्रकार का होता है—लौकिक तथा अलौकिक। इनमें प्रथम ज़ो लौकिक आवेश है वह सुख दुःखादि के तारतम्य से विहित रहने के कारण आस्वाद्य नहीं होता, परन्तु अलौकिक आवेश हृदय के अनावेश की दशा में भी कवि के समान सामाजिक को भी एक समान रहता है। अतएव हृदय की संवेदना के अनुकूल होने से चमत्कार का आपादक यह व्यापार रस का विशेष उपकारक या उपकरण बन जाता है। ऐसा व्यापार सर्वप्रथम कृतयुग में भगवान् श्री विष्णु के द्वारा किया गया था, क्योंकि उनका कार्य लोकानुग्रह को छोड़ कर अपने निजी लक्ष्य या लाभ के लिये नहीं होता। यही तथा श्रीभगवद्गीता में भी—'न में पार्थास्ति कर्तव्यम्' (श्री मद० गीता ३।२२) दिखलाया गया है। अतएव जो साधारण भावों से अना विष्ट भी आविष्ट की तरह सर्वप्रथम हुए अतः वे ही वृत्ति के स्रष्टा हैं।

२–७.इसी को आगे बतलाते हैं—'एकार्णवं जगत्' इत्यादि कथा से। यहाँ असाधारण भावाविष्टता के कारण भगवान् विष्णु ही वृत्तियों के स्रष्टा हैं मधु कैटभ दैत्य नहीं, क्योंकि वे लौकिक भावावेश से ही व्याप्त थे और उनका हृदय अतिशय उद्रिक्त तमोगुण से तथा अविद्या से व्याप्त था। परन्तु इसके विपरीत श्रीविष्णु का हृदय-कमल विद्या से व्याप्त था। इसलिये यह स्पष्ट है कि आनन्द के सारभूत रसोपयोगी अनाविष्ट व्यापार की श्रीविष्णु में ही सम्भावना है, दैत्यों में नहीं। अतएव नट के समान ही अनाविष्ट स्थिति के भगवान् में ही दर्शन होते हैं। यहाँ भारतीपद से 'वाग्' ही कही गयी है।

८–९. जो यहाँ 'कार्यहेतोः' कहा गया था उसका कार्य भी दिखलाते हैं—'वदताम्' इत्यादि से। वदताम् = अर्थात् वाणी के प्रयोक्ता कवियों के।

११–१३. अतिभारः अर्थात् वाणी के जल्पनादि की बहुलता के कारण। सत्वाधिकैः अर्थात् मनोव्यापार के आधिक्य में ही सात्वती वृत्ति होती है। सत् सत्वरूपं विद्यते येषां सत्वम् तेषामयं सात्विकम्।

१४–१५. 'यां याम्' इत्यादि की वीप्सा से सभी व्यापार वृत्तिचतुष्टय से व्याप्त हैं क्योंकि कोई भी कर्म वाङ्मनश्चेष्टा से अतिरिक्त नहीं होता। समग्र कार्यसन्दर्भ रस तथा भावों का पर्यवसायी होता है तथा रस और भाव चेतनों में ही होते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार त्रय से शून्य कोई काव्यांश नहीं होता।

१७–१८. विषमः अर्थात् शास्त्रागम की विधि से जो सर्वथा अगम्य रूप (की) है। स्फुटः = सभी प्रसिद्ध स्वरूप से युक्त। विचित्र—जिसके अपने रूप में विचित्रता की संभावना दिखती हो। सललित अर्थात् दिखलाई पड़ने वाले और अतिशय भ्रमणशील। न्याय को आङ्गिक अभिनय के प्रसंग में दिखलाया जा चुका है।

२१–२३. इस प्रकार वृत्तियों की उत्पत्ति की व्याख्या दी गयी; अब नाट्य में इनका प्रत्यवतरण दिखलाते हैं—'चरितैर्यस्य' इत्यादि से। भगवान्० के अनेक चरितों के द्वारा पूर्व में ब्रह्मा ने जो उपलक्षण से देखा था उन्हीं आधेयभूत चरितों से। तादृशी अर्थात् वैसे ही भावादि चेष्टाओं से युक्त। ऋषिभिः अर्थात् ब्रह्मा के पुत्रों द्वारा पाठ्यादि से युक्त करतेहुए परम्परानुसारी अनुसरण किया गया। जैसे पाठ्य प्रधान भारती, अभिनय प्रधान सात्वती, अनुभावादि आवेश की प्रमुखता वाली आरभटी और गीत एवं वाद्य जैसी उपरञ्जक की प्रमुखता से युक्त कैशिकी वृत्ति। प्रक्षिप्ता अर्थात् विशेषतः रखी गयी जिससे अभिनेय तथा अनभिनेय काव्य गत वैलक्षण्य बना रहे।

२४. इस प्रकार काव्य की स्वरूपता के आपादन में कारणीभूत ये वृत्तियाँ कहाँ से उत्पन्न हुईं इसे दिखलाते हैं—'ऋग्वेदात्' इत्यादि से। छन्दोमय परमेश्वर अर्थात् वेद से। इनके परस्पर सङ्कीर्ण हो जाने से, लक्ष्य में अनेकरूपता के हो जाने से जहाँ जिसकी प्रमुखता रही वहीं उसका अन्यतम प्रधान रूप में अवभासन होने से—ही इन वृत्तियों के नामकरण किये गये। क्योंकि वाणी, मन तथा कायगत चेष्टाओं में कोई एक चेष्टांश नहीं है क्योंकि कायचेष्टाएँ भी मानसी और सूक्ष्मवाचिकी चेष्टाओं से व्याप्त होती हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने भी—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते' (वा० प० १।१२४) में कहा है। इसी प्रकार मानसी और वाचिकी चेष्टाएँ

द्वाविंश अऽध्यायः

वृत्तिविधानाध्याय

१. वृत्ति के भेद से रूपक के प्रभेद होते हैं यह तथ्य दशरूपक निरूपण के अध्याय में आरम्भ में ही बतलाया गया, परन्तु वृत्ति का स्वरूप नहीं विदित होने से अब उसी के लिये कहते हैं—'समुत्थानं तु' इत्यादि से। यद्यपि कायिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टाएँ समग्र विश्व में व्याप्त हैं तथा ये प्रवाहरूप में संचरणशील भी परन्तु ये त्रिविध वृत्तियाँ विशिष्ट हृदयावेश से युक्त होकर ही नाट्य की उपकारिणी होती हैं। यह आवेश भी दो प्रकार का होता है—लौकिक तथा अलौकिक। इनमें प्रथम जो लौकिक आवेश है वह सुख दुःखादि के तारतम्य से विहित रहने के कारण आस्वाद्य नहीं होता, परन्तु अलौकिक आवेश हृदय के अनावेश की दशा में भी कवि के समान सामाजिक को भी एक समान रहता है। अतएव हृदय की संवेदना के अनुकूल होने से चमत्कार का आपादक यह व्यापार रस का विशेष उपकारक या उपकरण बन जाता है। ऐसा व्यापार सर्वप्रथम कृतयुग में भगवान् श्री विष्णु के द्वारा किया गया था, क्योंकि उनका कार्य लोकानुग्रह को छोड़ कर अपने निजी लक्ष्य या लाभ के लिये नहीं होता। यही तथा श्रीभगवद्गीता में भी—'न में पार्थास्ति कर्तव्यम्' (श्री मद० गीता ३।२२) दिखलाया गया है। अतएव जो साधारण भावों से अना विष्ट भी आविष्ट की तरह सर्वप्रथम हुए अतः वे ही वृत्ति के स्रष्टा हैं।

२-७.इसी को आगे बतलाते हैं—'एकार्णवं जगत्' इत्यादि कथा से। यहाँ असाधारण भावाविष्टता के कारण भगवान् विष्णु ही वृत्तियों के स्रष्टा हैं मधु कैटभ दैत्य नहीं, क्योंकि वे लौकिक भावावेश से ही व्याप्त थे और उनका हृदय अतिशय उद्रिक्त तमोगुण से तथा अविद्या से व्याप्त था। परन्तु इसके विपरीत श्रीविष्णु का हृदय-कमल विद्या से व्याप्त था। इसलिये यह स्पष्ट है कि आनन्द के सारभूत रसोपयोगी अनाविष्ट व्यापार की श्रीविष्णु में ही सम्भावना है, दैत्यों में नहीं। अतएव नट के समान ही अनाविष्ट स्थिति के भगवान् में ही दर्शन होते हैं। यहाँ भारतीपद से 'वाग्' ही कही गयी है।

८-९. जो यहाँ 'कार्यहेतोः' कहा गया था उसका कार्य भी दिखलाते हैं—'वदताम्' इत्यादि से। वदताम् = अर्थात् वाणी के प्रयोक्ता कवियों के।

११-१३. अतिभारः अर्थात् वाणी के जल्पनादि की बहुलता के कारण। सत्वाधिकैः अर्थात् मनोव्यापार के आधिक्य में ही सात्वती वृत्ति होती है। सत् सत्वरूपं विद्यते येषां सत्वम् तेषामयं सात्विकम्।

१४-१५. 'यां याम्' इत्यादि की वीप्सा से सभी व्यापार वृत्तिचतुष्टय से व्याप्त हैं क्योंकि कोई भी कर्म वाङ्मनश्चेष्टा से अतिरिक्त नहीं होता। समग्र कार्यसन्दर्भ रस तथा भावों का पर्यवसायी होता है तथा रस और भाव चेतनों में ही होते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यापार त्रय से शून्य कोई काव्यांश नहीं होता।

१७-१८. विषमः अर्थात् शास्त्रागम की विधि से जो सर्वथा अगम्य रूप (की) है। स्फुटः = सभी प्रसिद्ध स्वरूप से युक्त। विचित्र—जिसके अपने रूप में विचित्रता की संभावना दिखती हो। सललित अर्थात् दिखलाई पड़ने वाले और अतिशय भ्रमणशील। न्याय को आङ्गिक अभिनय के प्रसंग में दिखलाया जा चुका है।

२१-२३. इस प्रकार वृत्तियों की उत्पत्ति की व्याख्या दी गयी; अब नाट्य में इनका प्रत्यवतरण दिखलाते हैं—'चरितैर्यस्य' इत्यादि से। भगवान् के अनेक चरितों के द्वारा पूर्व में ब्रह्मा ने जो उपलक्षण से देखा था उन्हीं आधेयभूत चरितों से। तादृशी अर्थात् वैसे ही भावादि चेष्टाओं से युक्त। ऋषिभिः अर्थात् ब्रह्मा के पुत्रों द्वारा पाठ्यादि से युक्त करते हुए परम्परानुसारी अनुसरण किया गया। जैसे पाठ्य प्रधान भारती, अभिनय प्रधान सात्वती, अनुभावादि आवेश की प्रमुखता वाली आरभटी और गीत एवं वाद्य जैसी उपरञ्जक की प्रमुखता से युक्त कैशिकी वृत्ति। प्रक्षिप्ता अर्थात् विशेषतः रखी गयी जिससे अभिनेय तथा अनभिनेय काव्य गत वैलक्षण्य बना रहे।

२४. इस प्रकार काव्य की स्वरूपता के आपादन में कारणीभूत ये वृत्तियाँ कहाँ से उत्पन्न हुईं इसे दिखलाते हैं—'ऋग्वेदात्' इत्यादि से। छन्दोमय परमेश्वर अर्थात् वेद से। इनके परस्पर सङ्कीर्ण हो जाने से, लक्ष्य में अनेकरूपता के हो जाने से जहाँ जिसकी प्रमुखता रही वहीं उसका अन्यतम प्रधान रूप में अवभासन होने से-ही इन वृत्तियों के नामकरण किये गये। क्योंकि वाणी, मन तथा कायगत चेष्टाओं में कोई एक चेष्टांश नहीं है क्योंकि कायचेष्टाएँ भी मानसी और सूक्ष्मवाचिकी चेष्टाओं से व्याप्त होती हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने भी—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते' (वा० प० १।१२४) में कहा है। इसी प्रकार मानसी और वाचिकी चेष्टाएँ

भी अवश्य ही सूक्ष्म कायिक परिस्पन्द रूप व्यापार का अतिक्रमण नहीं करती है। जैसा कि कहा भी है—

"अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥"

(वा० प० १।१२७ की वृत्ति में उद्धृत)

[अर्थक्रियाओं में वाणी सभी प्राणियों को प्रेरित करती है तथा इसके अभाव में यह प्राणी काष्ठ और भीत्ति की (कुड्य) तरह चेष्टाहीन दिखलाई देते हैं।]

इस प्रकार नाट्य में कोई भी स्पन्द या व्यापार अर्थक्रिया से शून्य तथा रसोपयोगी लालित्य से रहित नहीं होता। अतः परस्पर मिश्रित वृत्तियाँ केवल कहीं किसी अंश की अधिकता से या प्रमुखता के कारण अपने-अपने नाम को धारण करती हैं।

२५. अब इनमें सर्वप्रथम प्रधानता के कारण भारती वृत्ति को बतलाते हैं 'या वाक्प्रधाना' इत्यादि के द्वारा। स्त्रीवर्जिता से कैशिकी की प्रमुखता को हटाया गया है, क्योंकि स्त्रीपात्रों की प्रमुखता से कैशिकी का स्वरूप बनता है। संस्कृतपाठ्य पद से प्राकृत पाठ्य के लालित्य से युक्त कैशिकी को अवश्य ही रखे, यह भी सूचित होता है।

२६. इस त्रैलोक्य व्यापिनी भारतीवृत्ति के प्रभेदों में कोई अंश प्ररोचना रूप तथा इसी प्रकार आमुख आदि स्वरूपवाला भी होता है। इसीलिये कहा गया है—अङ्गत्वमागताः। अर्थात् अंशत्व को प्राप्त है। अन्यथा यदि ये रूपक के अङ्गत्व को प्राप्त करें तो फिर वीथी और प्रहसन तो रूपक के प्रभेद हैं, रूपक के अङ्ग नहीं।

२७-(क). प्ररोचना—जिसे पूर्व में कहा जा चुका है यह भारतीवृत्ति का अङ्ग होती है। पूर्वरङ्ग अर्थात् उसके विषय में।

२८. अब आमुख का स्वरूप दिखलाते हैं—'नटी' इत्यादि से। यहाँ 'एव' शब्द से सूत्रधार की स्थिति आवश्यक होती है यही दिखलाया गया है। चित्रैः अर्थात् रूपक के भावी अर्थों के अनुरूप विषय का अनुसरण करने वाले कार्यों से अर्थात् अभिनेता के व्यापारों के द्वारा। अन्यथापि वा अर्थात् स्पष्ट उक्ति या प्रत्युक्ति के द्वारा भी। जैसे-नागानन्द में—'नाटयितव्ये किमित्यका

रणमेव रुद्यते' [अभिनयकाल के समय विना ही कारण के क्यों रो रही हो] इत्यादि। इस प्रकार जब स्थापक भी सूत्रधार के समान इसका प्रयोग करे तो ऐसा 'आमुख' कवि कृत होता है।

३१-३२. उस आमुख के पञ्चाङ्गानि अर्थात् पाँच प्रभेद होते हैं। यद्यपि प्रस्तावना में अन्य वीथ्यङ्ग भी रहते हैं क्योंकि आमुख के सामान्य लक्षण में उन्हें दिखलाया गया है परन्तु इनमें भी उद्‌घात्यक और अवलगित ही भावी काव्यार्थ की सूचना में प्रबल अंग माने गये हैं।

३३. इनमें वाक्य को लेकर प्रवेश जैसे—रत्नावली में —

(यौगन्धरायण)—'द्वीपादन्यस्मादपि' कह कर यौगन्धरायण का प्रवेश। वाक्यार्थ को लेकर जैसे—प्रतिमानिरुद्ध में—'पीताम्बरगुरु शक्त्या इरत्युषाम्' इत्यादि में। कहा (अर्थात् काव्यार्थ रूप जो कथा उसे) ऊर्ध्वमेव इन्यते गम्यते तत्रेति 'कथोद्धातः' अर्थात् जहाँ काव्यार्थरूप कथा को ऊपर ले जाया या बोधगम्य बनाया जाता हो तो वह 'कथोद्धात' है।

३४. अर्थात् जब सूत्रधार ही प्रयोग की योजना करे तो उद्‌घाटित दो कपटों की तरह प्रयोग द्वय के संयोग से 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना का प्रभेद हो जाता है। जैसे विक्रमोर्वशीय में—

अथ कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते। आः ज्ञातम्—
ऊरुद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमुपसृत्य निवर्तमाना।
वन्दीकृता विबुध-वैरिभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम्॥ (वि० व० १।४)

३५. जब किसी कालप्रवृत्ति का अवलम्बन कर सूत्रधार के द्वारा किसी वस्तु के वर्णन करने पर उसी को लेकर पात्र का प्रवेश हो तो प्रवृत्त काल के अपने अर्थ से प्रवृत्त होने के कारण 'प्रवृत्तक' कहलाता है। जैसे—अस्यां शरदि—

सत्पक्षा मधुगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्टे॥ (वे० सं० १।६)

[अच्छे पक्ष (पङ्ख) वाले; मधुरभाषी, दिशाओं को प्रसाधित (भूषित, अधीन) करने वाले ये धार्तराष्ट्र (हंस, धृतराष्ट के पुत्र कौरव गण) आज

कालवश (शरदृऋतु के या मृत्यु के उपस्थित हो जाने के कारण) पृथ्वी पर आ रहे हैं (उतर रहे हैं, गिर रहे हैं ।)

३६–३७. पात्रग्रन्थैरसम्बाधम्—अर्थात् जहाँ अधिक पात्र न हों, अल्प-पात्र के रहने पर भी ग्रन्थ वहुल रूप का आमुख किया जाए वह । 'विविधा-श्रयम्' अनेक भेदों वाला । पूर्वमुक्तम् अर्थात् दशरूपकनिरूपण में कहा जा चुका है ।

४८. न्याय अर्थात् भरतादिन्यायो से जिनके चार प्रभेद में पूर्व में दिखलाये गये हैं । (द्र० ना० शा० ११।७२–८५) । सात्वत गुण मानस व्यापार है (सत् सत्वं विद्यते यत्र तत् सत्वं मनस्तत्र भवः सात्वतः) ।

३६. सत्वोत्थान अर्थात् सत्व का आधार लेने वाली । प्रकरण अर्थात् काव्य के भाग में उन वागङ्गाभिनय से युक्त होकर सात्विक अभिनय के आधिक्य से सात्वती वृत्ति होती है ।

४०. इनमें शृङ्गार रस में मन विषयासक्त, करुण रस में भय त्रस्त या पलायन परायण, निर्वेद में मूढता युक्त व्यापार होने पर भी क्रोध, विस्मय और उत्साह की तरह अतिशय स्फुरित नहीं होता; इस तथ्य को दिखलाते हैं—'वीराद्भुतरौद्र' इत्यादि से ।

४३. जो मानस-परिस्पन्द को उत्थापित करता हो वह 'उत्थापक' तथा ऐसे कार्य का सूचक व्यापार भी उपचार से 'उत्थापक' कहलाएगा । जैसे वेणीसंहार में—

भीमः—भो भोः शृण्वन्तु भवन्तः—

कृष्टा येन शिरोरुहे नृ पशुना पञ्चालराजात्मजा
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां गुरूणां पुरः ।
यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवः ।। (वे० सं०३।४७)

[जिस मानवपशु ने द्रौपदी के केशों को खींचा था और जिसने राजाओं तथा गुरुजन के समक्ष उसे विवस्त्र करने की चेष्टा में वस्त्र भी खींच लिया था, जिसके वक्षरूप रुधिर को पीने की मैंने तब प्रतिज्ञा की थी अब वही मेरे भुजपञ्जर में आ फँसा है, यदि कौरवों में सामर्थ हो तो उसे यहाँ आकर बचा लें ।]

४४. इसी प्रकार परिवर्तक भी । जैसे वहीं वेणीसंहार में—

भीमः—सहदेव, गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व। अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्य आयुध-सहायो भवामि।

सहदेवः—आर्य, नेदमायुधागारम् पाञ्चाल्याश्चतुश्शालकमिदम्।

भीमः—किं नामेदम् आयुधागारम्। अथवाऽऽमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली।

[भीमः—सहदेव तुम जाओ बड़े भैय्या की आज्ञा का पालन करो। मैं शस्त्रागार में जाकर सहायतार्थ शस्त्र ले लेता हूँ।

सहदेव—आर्य यहाँ शस्त्रगार नहीं हैं। यह तो कृष्णा का आवास है।

भीम—क्या यह शस्त्रागार नहीं। अथवा मुझे भी द्रौपदी से बात करनी ही है।]

यहाँ अस्त्रागार में प्रवेश के परित्याग के द्वारा पाञ्चाली के दर्शन रूप अन्य कार्य के सम्पादक मानस व्यापार से कार्य में परिवर्तन से यह 'परि-वर्तक' (उपचार से रुढ़) है।

४५. सल्लापक शब्द की व्युत्पत्ति है जो वाक्य सत् या अपमान करने वाला अर्थात् साधर्षंज या इसके विरुद्ध निराधर्षज हो तो दुष्टवचन को छोड़ कर जो हो वह सत् तथा अनन्तर निन्दा या अपमान युक्त वचन को रखने से जो मानस को अभिभूत करता हो ऐसा कर्म 'सल्लापक' कहलाएगा। जैसे वेणीसंहार में—

'अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा
स्वैरं शेषे गज इति किल व्याहृतं सत्यवाचा' (वे० सं० ३।११)

[कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा स्पष्ट रूप में जोर से कह कर फिर सत्यभाषी होने के कारण धीरे से 'गज' भी कह दिया।]

यहाँ सत्यवाचा पद में 'सल्लापक' है।

४६. जो युद्ध में अथवा समूह में भेद को उत्पन्न करने वाला हो वह 'सङ्घात्यक'। सम्यक् घात्यः शत्रुवर्गो येन—जिससे शत्रुवर्ग ठीक से घातित हो सके या संघात का विषय होने से भी 'सङ्घात्यक' हो सकता है। यह संघात-भेद शत्रु के द्वारा प्रयुक्त सामादि उपाय से किया जाता है। जैसे भीम को युधिष्ठिर ने साम के द्वारा भिन्न किया, और शिखण्डी को आगे रख कर युद्ध किया। यह दैव से भी सम्पादित होता है। जैसे द्रोण ने कहा कि—पुत्र के मारे जाने पर शस्त्र छोड़ दूंगा। या अपने कपट रूप से कर्ण के द्वारा कहे जाने

पर उससे कलह कर अश्वत्थामा ने शस्त्रत्याग कर दिया। यहाँ सभी में सत्वाधिक्य ही है।

४७. अथ = इसके पश्चात्। अतः परम् इससे अलग।

४८–५१. श्लक्ष्णः—श्लिष्यति हृदयमिति कृत्वा-अर्थात् जो हृदय को लगने वाला या सुकुमार हो। नेपथ्य विशेष जैसे वस्त्र या माल्य आदि उनसे जो चित्र अर्थात् विशेष रुचियुक्त हों। जिसमें विपुल गीतादि तथा नृत्त हों, कामोपभोग अर्थात् रति तथा उसके प्रभाव से उत्पन्न होने वाला जो श्रृङ्गार उसके आधिक्य से जहाँ व्यवहार रहे ऐसी। इसके चारों अङ्ग नर्म के उपपादक हैं अतः इससे श्रृङ्गार की स्थापना और हास की प्रमुखता ये दोनों स्वरूप सामान्यतः प्रगट होते हैं। इनमें इस नर्म के हास या ईर्ष्या को सूचित करने के लिये या दूसरे को उपालम्भ देने या दूसरे के हृदय को आक्षिप्त करने के कारण (इसके) तीन प्रभेद हो जाते हैं। स्वयं के या अन्य के चित्त को उपक्षेप अर्थात् अपने समीप लाना। जैसे रत्नावली में (प्रथम का उदाहरण) वासवदत्ता— (फलकमुद्दिश्य सहासम्) एसा वि अवरा तस्य समीवे जाआ लिहिदा अअं वि अय्यवसंतअस्स विण्णाणम्। [एषाप्यपरा तस्य समीपे जायाऽऽलिखित एतदपि (किं) आर्यवसन्तकस्य विज्ञानम्]

द्वितीय का उदाहरण भी वही जैसे—'शीतांशुर्मुखम् (रत्ना०) इत्यादि को सुनती हुई वासवदत्ता जब राजा के द्वारा 'प्रिये वासवदत्ते' कही जाती है तो वह उनके कथन पर उपालम्भ देती हुई हासपूर्वक कहती है कि—

'अय्यउत्त मा एव्वं भण। [आर्यपुत्र, मैवं भण।]
(आर्यपुत्र, ऐसा मत कहिये।)

इत्यादि।

तीसरे प्रभेद का भी उदाहरण वही है। जैसे :—

सुसङ्गता—(विहस्य) जादिसो तुए कामदेवो आलिहिदो मए वि तारिसी रई आलिहिदा। ता असंभाविणी, कहेहि दाव वुत्तंतं। [यादृशस्त्वया कामदेव आलिखितः मयापि तादृशी रतिरालिखिता। तदसंभाविनि, कथय तावद्वृत्तान्तम्]

५२. इस प्रकार त्रिभेद नर्म को दिखला कर अब नर्मस्फुञ्ज को बतलाने के लिये—'नवसङ्गम' इत्यादि से कहते हैं। जहाँ नवसङ्गम मात्र में ही मिलन रहे। प्रश्न—यदि ऐसा ही हो तो फिर इस सङ्गम को सम्भोग क्यों नहीं कहा गया? उत्तर—यहाँ अन्योन्य स्थापित रति का उदय स्फुट हो रहा है

अतः यह जब वैसे वाक्य या वेशादि से स्फुट हो तो वह 'नर्मस्फुञ्ज' ही है। यहाँ अवसान में आने वाला भय भी ज्येष्ठ नायिका की ओर से आने वाला होता है। जैसे रत्नावली में उदयन तथा सागरिका के नर्म में स्फुञ्ज अर्थात् विघ्न उपस्थित हो जाना।

५३. विविध भाव जैसे भय, हास, हर्ष, त्रास तथा रोष आदि। यहाँ लवैः पद से उनकी अंश रूप में स्थिति रहने से उनकी स्थायित्व या स्थायीभाव की स्थिति रहने के कारण भयानक, हास्य, रौद्र आदि रसों के रूप में स्थिति नहीं बन सकती है यह स्पष्ट है। तथा यहाँ हर्षादि के उल्लेख से शृङ्गार-रस की स्थिति पूर्व में ही रहती है अतः यहाँ हास्य का अंश मात्र रहने से हास्यरस पुष्ट भी नहीं होता (और यह हास-भाव केवल शृङ्गार को पुष्ट करता है)। जैसे रत्नावली में—

सुसङ्गता—सहि, जस्स किदे तुमं एत्थ आअदा सो एत्थ एव्व चिट्ठदि। [सखि, यस्य कृते त्वमत्रागता सः अत्रैव तिष्ठति।]

सागरिका—सहि कस्स किदे अहं एत्थ आगदा। [सखि, कस्य कृतेऽहमत्रागता]

इस प्रकार सागरिका की इस उक्ति में रोष के कारण रौद्र का अंशमात्र है, रौद्ररस नहीं। नर्म के रूप में उपलक्षित शृङ्गार का जहाँ स्फोट अर्थात् प्रकट होने से विचित्रता रहती हो या उसके चमत्कार की अभिव्यक्ति के कारण स्फुटता आ जाती हो तो वहाँ 'नर्मस्फोट' है।

५४. शृङ्गार में उपयोगी विज्ञान आदि से जब नायक नवसमागम के सम्पादन हेतु व्यवहार में स्थित रहता है तो 'नर्मगर्भ' होता है। अथवा जहाँ नर्म के उपयोगी विज्ञान आदि प्रच्छन्न रूप में स्थित रहते हैं ऐसा प्रच्छन्न रूप वाला नायक जब संकेत स्थान पर जाता है तो भी 'नर्मगर्भ' हो जाता है।

५५-५६. उद्धत अर्थात् जहाँ दीप्तरस रौद्रादि हों तो। आरभट के जो गुण अर्थात् क्रोध और आवेग आदि हो तो ये प्रायेण आधिक्यरूप में जहाँ रहते हों। बहुभिः कपटैः—अर्थात् अनेक कपटों से जो वञ्चना रहे। कपटत्रय का स्वरूप समवकार के लक्षण में (२०।७२) दिखलाया जा चुका है। तथा जब यहाँ कपट का योग रहता है तो इसी कारण दम्भ की प्रधानता रहने से असत्यभाषण आदि की भी संभावना रहती है।

५८. संक्षिप्तक की व्याख्या है—संज्ञया क्षिप्तानि वस्तूनि विषयो यस्य अर्थात् जहाँ किसी संकेत से विषय को रखा जाए तो वह 'संक्षिप्तक' है।

५९. अब यहाँ संक्षिप्तक की वस्तु या विषय को दिखलाते हैं—'अन्वर्थ' इत्यादि से। जहाँ अर्थ अर्थात् प्रयोजन से अनुगता कुशलशिल्पिविरचितता अर्थ या पदार्थ हों यही दिखलाया है—'बहुपुस्त' इत्यादि से। बहु अर्थात् विपुलता से पुस्त या पलस्तर का उत्थान अर्थात् प्रकटन या विचित्रता से भरा हुआ नेपथ्य या वेष। पुस्त के योग के कारण खड्ग, चर्म, वर्म आदि पात्रों के पास रहते हों ऐसा नेपथ्य। जैसे रामाभ्युदय में माया निर्मित मस्तक के रखने में विचित्र वेष का रहना या अश्वत्थामा का वेणीसंहार में विचित्रवेष धारण।

६०. भयातिशय से या हर्षातिशय से या शीघ्रता से जब पात्रों का प्रवेश और निर्गम होता हो और वाक्य आदि के कारण या द्वारा जहाँ भगदड़ होती हो, विनिपात तथा अवस्कन्द अर्थात् दूर भागने से गिर जाने या पकड़े जाने के डर से भागने के कारण और भ्रमयुक्त आचरण करने के कारण जहाँ चेष्टाएँ या व्यवहार में शीघ्रता और आकुलता रहती हो तो वह 'अवपात' है। अर्थात् 'अवतरन्ति पात्राण्यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ पात्रों का गिरना आदि हो जाए। जैसे कृत्यारावण के षष्ठ अङ्क में—'प्रविश्य खड्गहस्तः सप्रहारः पुरुषः' से लेकर जब तक उसका निष्क्रम होता है। यह सभी 'अवपात' है।

६१. वस्तु अर्थात् अनेक अर्थों का उत्थापन प्रसङ्गवश आने की स्थिति जिस कार्य में हो वह 'वस्तूत्थापन' है। अब ऐसी वस्तुओं को दिखलाते हैं—'सर्वरस' इत्यादि से। यहाँ रस शब्द से स्थायी तथा सञ्चारी भावों का संक्षेप में रहना जहाँ हो यह दिखलाया है, तथा विद्रव अर्थात् अग्नि आदि के विघ्नों से जो रहित हो। जैसे कृत्यारावण में अङ्गद से पीछा की गयी मन्दोदरी का भय, अङ्गद का उत्साह और उसी का रावण को देख कर 'एतेनापि सुरा जिताः' कह कर उसका परिहास करना, रावण का अतिक्रोध करना, अङ्गद के द्वारा 'यस्तातेन निगृह्य बालक इव प्रक्षिप्य कक्षान्तरे' कह कर जुगुप्सा, हास विस्मय को प्रकट करना तथा 'विध्वंसनं नाटयति' से रावण का शोक ये सभी विद्रवाश्रय रहने से 'वस्तूत्थापन' है।

६२. सम्फेट का उदाहरण कृत्यारावण में जटायु के साथ युद्ध की सारी स्थिति है।

६४. अब इन वृत्तियों का संक्षेप से स्वरूप बतलाते हैं—'श्रृङ्गार हास्य' इत्यादि से। यहाँ शम शब्द से शान्तरस का स्वीकारना भी मुनि ने किया है ऐसी शान्तरस के समर्थक आचार्यों की मान्यता है। यहाँ तब पाठ होता है—'वीराद्भुतशमाश्रया'। कुछ स्थानों पर यहाँ 'समाश्रया' पाठ भी मिलता है।

६६. अब प्रकृत अध्याय की वृत्तियों से अभिनय की बातें दिखलाकर अध्याय का उपसंहार कर भावी अध्याय के अर्थ को दिखलाते हैं—'वृत्यन्त' इत्यादि से। वृत्ति अर्थात् अभिनय का दशरूपक स्वरूपवाला विषय भी है अर्थात् वृत्तियों के अभिनय का एक भाग आहार्य अभिनय भी होता है, जो बाह्य होता है तथा जिसकी शरीरगत चेष्टादि से अतिरिक्त या भिन्न स्थिति होती है। जहाँ अभिनेता के द्वारा सत्वाभिनय तथा वागभिनय को साक्षात् प्रयत्न के द्वारा प्रस्तुत करना अभीष्ट होता है। अतः यहाँ 'तु' शब्द से मुनि ने इनसे भिन्न (व्यतिरिक्त) आहार्य को विभेद पूर्वक दिखलाया है। यह आहार्य नेपथ्य या वेषभूषादि से होता है जो अगले अध्याय में वर्णित होगा।

त्रयोविंशोऽध्यायः

(आहार्य अभिनयाध्याय)

१. 'प्रयोगः सर्वोऽयं' से आशय है, वाग् अङ्ग तथा सत्व के अभिनय से युक्त।

२. 'नेपथ्य की विधि' अर्थात् आहार्य-अभिनय जो कि अलंकारभूत विधान है। नाट्य के शुभ अर्थात् सिद्धि की अभिलाषा रखने वालों के द्वारा इस अभिनय का प्रयोग किया जाए।

३. इसी विषय में उपपत्ति दिखलाते हैं—'नानावस्था' इत्यादि से। नानाभूत अवस्थाएँ अर्थात् रति, शोक आदि भाव अथवा नानाभूतों का आश्रय लेकर रहने वाली जो स्थितियाँ या प्रकृतियाँ जैसे धीरोदात्त आदि तथा उत्तम, मध्यम या अधम जैसी जो नेपथ्य से प्रकाशिक हों तो वे बाद में अंगादि के एवं देश काल अदि के विभागों से युक्त दिखलाने पर वे स्पष्टता को अनायास प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण यह आहार्य अभिनय नाट्च-प्रयोग का आधार होकर अपना महत्त्व रखता है, क्योंकि यह पात्रों की बात को तुरन्त कहकर रस के प्रति अन्तरंगभाविता की स्थिति प्राप्त करते हुए रहता है।

१०. समायोग अर्थात् योजना। अलङ्कारों की यह योजना मस्तक, हस्त आदि अंगों एवं ललाट, अंगुली आदि उपांगो पर की जाती है।

११. वेष्टिम अर्थात् बीच में दूर्वा आदि लगाकर या लपेटे से बनाया हुआ। वितत—अनेक मालाओं के समुदाय का धारण जिससे वस्त्रधारण के भयवश कोई शरीर का अवयव न दिखलाई दे, इस प्रकार फैलाना। संघात्य—जिनके बिधे हुए रहने से बीच में सूत्र को पिरो कर उन्हें एक माला के रूप में मिलाया जा सके, जैसे मौक्तिक आदि के हार। ग्रन्थिम—गठान लगाकर या वट लगा कर बनाया गया। प्रालम्बित—दूर तक फैलने वाला या जालीदार काम वाला।

१३. आवेध्यादि के स्वरूप को दिखलाने के लिये कहते हैं—'आवेधाम्' इत्यादि से।

२१. केवल पुरुष ही इस प्रकार के भूषणो से अलंकृत नहीं किये जाते यह दिखलाने के लिए कहा है—'अयम्' इत्यादि के बाद 'देवानाम्' इत्यादि से।

४०. 'सघोषे कटके' अर्थात् ध्वनि करने वाले ऐसे कटक जिनमें लगी छोटी-छोटी किंकणियों से ध्वनि होती हो।

४२. 'आनखात्' अर्थात् स्त्रियों के धारण योग्य सभी अलंकार जो महावर लेपन तक के रूप में दिखलाये गये हैं।

४३. 'आगम' पद से यहाँ उपादान कारण का संकेत किया गया है। प्रमाण—अर्थात् जो अंगुली आदि के नाम वाला हो इसका विवरण। सुबुद्धि अर्थात् लोक प्रसिद्धि से भी यह लिया जा सकता है।

६५. सालककुन्तल अर्थात् कुंचित केश वाला। आभीरी के वस्त्रों का रंग अधिकतर नीला रखा जाए।

८०. संयोगज वर्ण वे हैं जो दो रंगों के मिश्रण से बने हों तथा जो अनेक रंगों के मिश्रण से बनें उन्हे 'उपवर्ण' समझना चाहिए।

८१. बलस्थ से यहाँ आशय है कि जो रंग दूसरे को दबा दे या जो उसके अतिरिक्त दुगुना हो।

८४. वर्तना का कार्य होता है आच्छादन तथा यही इसका पर्याय भी है। 'प्रकृति स्थितम्' का आशय है कि जो देव, मानुष आदि पात्रगत स्वभाव से विभक्त रहते हों।

८६. यहाँ वर्तन का प्रयोजन दिखलाया गया है।

८८. संजीव आहार्य भेद को दिखलाने के लिये देवदानवगन्धर्व इत्यादि कहा गया है। शैल, प्रसाद आदि सभी यद्यपि निर्जीव रूप में प्रस्तुत करने योग्य होते हैं पर ये भी सजीव प्राणियों के द्वारा अवस्था विशेष में परिणत कर नाट्यधर्मी प्रकार से दिखलाये जा सकते हैं।

१५३. प्रहरणोपेताः—अर्थात् जो युद्ध के कार्य के लिये उपयोगी रहें ऐसे शस्त्र। जैसे नागास्त्र को सर्पाकृति प्रदर्शित करना चाहिए इत्यादि।

१५५. अब आयुधों का प्रमाण दिखलाते हैं—'भिण्डिद्वदिशतालः' इत्यादि से।

१८८–१९०. 'महात्मना' पद से विश्वकर्मा तथा इनके प्रणीतशास्त्र का संकेत है, क्योंकि नाट्य में अनुकृत वस्तुएँ जो हलकी हों उन्हें प्रयुक्त करना अधिक उपयुक्त रहता है। (क्योंकि इससे कार्य सरलता से या बिना अधिक भार के बन जाता है)।

१९३. (क० ख०)—ये दो श्लोक यहाँ सन्दर्भ के अनुरोध से लगाये गये हैं।

२००. मधुच्छिष्ट = मोम।

२११–२१२. योगशिक्षा—अर्थात् नाट्ययोग के विधान को समझ कर। माया—नजर बांधने जैसा कोई जादूई कार्य।



चतुर्विंशोऽध्यायः

(सामान्य अभिनयाध्याय)

१–२. यहाँ सामान्याभिनय के स्वरूप में वाक्यार्थ के बल पर सामान्य शब्द से ही उसके स्वरूप का प्रसिद्धि के अनुरोध से संकेत मिल जाता है फिर भी वाक्, अङ्गाद्यवयव तथा सत्व इन सभी से उत्पन्न होने वाला 'सामान्याभिनय' विशेष रूप है अतः उसे आंगिक, वाचिक तथा आहार्य से भिन्न मानते हुये समझना चाहिए। क्योंकि यह अभिनय विशेष प्रयत्न या अभ्यास के द्वारा सिद्ध होता है। क्योंकि यह अभिनय विशेष प्रयत्न या अभ्यास के द्वारा सिद्ध होता है। क्योंकि नाट्य सत्व में प्रतिष्ठित है। इसका कारण यह है कि नाट्य रसमय होता है तथा इसमें सात्विक अन्तरंग माना जाता है, इसलिये वही यहाँ अधिक अपेक्षित या अभ्यहित माना जाता है। इसी तथ्य को मुनि ने दिखलाया है।

३. जब चित्तवृत्ति संवेदन भूमि पर संक्रमित होकर शरीर में भी संचार करती है तो वही 'सत्व' बन जाती है। इसके गुण धर्म (स्वेद) रोमाञ्च आदि होते हैं, वे भी 'सत्व' के ही नाम से अभिहित होते हैं। यथास्थानम् का आशय है रस का जो स्थान या अधिष्ठान हो उनसे युक्त या सम्बद्ध। जैसे शृङ्गार रस के पुरुष तथा स्त्री, रौद्र के राक्षस दानव आदि, भयानक के अधमप्रकृति के जन रस के आलम्बन या अधिष्ठान होते हैं। (यह सभी पूर्व में भी कहा जा चुका है)।

४–७. यौवनेऽभ्यधिकाः—वक्त्र गात्रज–विकार यौवनावस्था में ही अतिशय उद्रिक्त रहते हैं, ये बाल्यकाल में अनुद्रिक्त रहते हैं तथा वृद्धदशा में तिरोहित हो जाते हैं।

१२–१३. स्वभावज दस अलंकारों का उद्देशक्रम से निर्देश करते हैं—'लीलाविलास' इत्यादि से। रति भाव में विशिष्ट बिभावत्व की स्थिति को देने के कारण इसकी विशेषरूप में प्रकट रहने की स्थिति रहने में तथा उसके द्वारा विस्तीर्ण देह के विकार ये लीला आदि बनते हैं।

१४. अब क्रमशः इनके लक्षण बतलाते हैं 'वागङ्ग' इत्यादि से। लीलादि के कविगण के प्रयोग भी देखे जा सकते हैं; जैसे—'गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु' (कु० सं० १।३३) इत्यादि।

१५. स्थान अर्थात् स्थिति या खड़े होना। आसन उपवेशन है।

१६. अल्प भी अतिशय शोभा उत्पन्न करने का आशय है उसका सौभाग्य और गर्व की महिमा से युक्त होना।

१७. यह विभ्रम कभी कुछ अन्यथा कथन की स्थिति में अन्यथा भाषण रूप होगा या फिर जो कार्य हाथों से होना है उसे पैरों से करने लगने की स्थिति या अन्य कोई विपरीत स्थिति के कार्य करने में होने वाली उतावली में होना होता है।

२१. इष्ट वस्तु अर्थात् वस्त्र अलङ्कार आदि।

२२. (क) हस्त, पाद आदि का कर्तव्यवश जो सुकुमारता से संचालन होना वही विचित्रता का आपादक रहने से 'ललित' है।

२३. स्वभावतः अर्थात् मुग्धभाव के कारण, बाल्य भाव के कारण या अन्यचित्तता के कारण।

२४. रूप आदि के पुरुष द्वारा सेवन किये जाने पर उनसे एक विशेष सौष्ठव बनता है यह जब क्रमिक रूप में मन्द, मध्य और तीव्र स्थिति में होता है तो शोभा, कान्ति आदि का आश्रित रहता है (और यही कार्य इनके स्वरूप की स्थिति भी बनाता है)।

७२. यहाँ विशिष्टीभूत सामान्याभिनय का स्वरूप तथा उसका सभी अभिनयों के साथ बनने वाले समभाव को सूचना भी मिलती है जो अलातचक्र के रूप में रहे।

८७. मनसः इत्यादि। दार्शनिक विद्वानों की मान्यता के अनुरूप आत्म-मनःसंयोग से होने वाला त्रिविध भाव जो इच्छा, द्वेष तथा माध्यस्थ से युक्त मन का भाव हो तो वह क्रमशः इष्ट, अनिष्ट और मध्यस्थ कहलाता है।

९४. 'इच्छा' गुण, कार्य तथा प्रयत्न आदि के द्वारा कार्य या व्यापार आदि सहित तथा सभी कार्यों का सम्पादक जो हो वही काम है जो बहुधा धर्मादि भेद से अनेक रसों वाला हो जाता है। स्त्री तथा पुरुष का जो संयोग है वह साक्षात् ही सुख का साधन होने से यहाँ उसी की इच्छा अभीष्ट है।

९८-१००. यहाँ भूयिष्ट अर्थात् ऐसा अधिक सुख जो नित्य प्राप्त होने वाले सुख से अधिक रहे, क्योंकि यही परमानक का लाभ होता है तथा लोके

वृत्ति भी क्योंकि इससे कम प्राप्त होने पर सन्तुष्टि नहीं होती। उपचार अर्थात परस्पर हृदय ग्रहण का कार्य या व्यापार। इसी के लिये अनेक स्त्रियों के विविध शीलादि का यहाँ विवरण दिया गया है।

१४३. विज्ञाय इत्यादि। यही शील ज्ञान की उपयोगिता है कि उन्हें सत्वों के अनुसार सेवित किया जावे।

१४८–१४९. नाटक शब्द से यहाँ तात्पर्य है कि नाटक में अथवा नाटिका में भी ऐसा कार्य दिखलाया जावे, तथा इनमें भी काम के इंगित, अवस्था, विप्रलम्भ, दूतीप्रेषण, प्रच्छन्नकामिता आदि निबद्ध किये जा सकते हैं।

१५६–१५७. आकर्षण के श्रवण का उदाहरण—जैसे सीता के गुणादि के श्रवण से राम में प्रीति होना या शकुन्तला के प्रथम दर्शन से दुष्यन्त का अनुराग हो जाना इत्यादि।

१५८–१६०. रूप अर्थात् सुन्दर चित्रादि प्रतिकृति। गुण माधुर्यादि। 'च' कार से अन्य भी निमित्त अनुराग में समझना चाहिए। कामभाव—काम मयी चित्तवृत्ति तथा उससे होने वाले इंगित विकार रूप होते हैं।

१६८–१७०. अभिलाष के कामगत रहने पर तथा मिलन के न होने पर अभिलाष आदि दस अवस्था या स्थितियाँ आती हैं, क्योंकि मिलन के समय ये विकार उत्पन्न होने की कोई बात ही नहीं होगी। ये काम की अवस्थाएँ शृङ्गार नहीं, उसकी अंगभूता मानी जाती हैं।

१६४–१६६. पुरुष के उपायकारी एवं समर्थ रहने के कारण समागम में अधिक बाधा नहीं होती परन्तु स्त्रियों के लिये समागम के अतिशय प्रयास पूर्ण एवं क्लेशसाध्य रहने के कारण कामावस्थाओं का विवरण स्त्रियों की स्थिति को दिखलाते हुए दिया गया और पुरुष में भी अतिदेश के द्वारा दिखलाया गया।

२००–२०५. प्रच्छन्नकामित—जो नायक या पुरुष अन्य नायिकाओं से रोका गया हो या जो अन्य नायिका में आसक्त रहा हो तथा इसीलिये जो अपने अनुराग को दबा कर रखे वह।

२०८–२०९. वासक की व्याख्या है—'वासयति तत्र स्थाने रात्रमिति वासकः' अर्थात् जहाँ सुखोपभोगार्थ रात्रि बितायी जाए वह, जहाँ कामोपचार का औचित्य रहता है।

२१०. वासक के भाव तथा अभाव के कारण भिन्नता प्राप्त करने वाले नायिकाओं के भेद दिखलाते हैं—'तत्र' इत्यादि से।

२१४. आमोद गुण का अर्थ है हर्ष या सौभाग्य का अभिमान।

२२१–२२३. यहाँ विप्रलंभ से युक्त नायिकाभेदों की सामान्याभिनय की भाव स्थिति दिखलाई है तथा आगे भी पठित अनुभाव एवं संचारि भावों की स्थिति दिखलायी है।

२२५. अभिसार करने की विधि दिखलाते हैं—'वेश्याया' इत्यादि से।

२३४. नायिका के हृदयग्रहण के योग्य तथा अपनी विदग्धता को प्रकट करने के लिये नायकगत उपचारों को दिखलाते हैं—'नानालङ्कार' इत्यादि से।

२४०–२४२. प्रसंगवश यहाँ रंगमंच पर निषिद्ध कार्य का संकेत करते हैं—नाम्बरगहणम्' इत्यादि से। वासोपचार की स्थिति दिखलाने की अपेक्षा से भी ये कार्य मंच पर न दिखलाये जावें। अधमा प्रेष्या आदि नायिकाओं की दशा में यथासंभव रंगमंच पर ऐसा दिखलाना आवश्यक हो तो भी उसे रोका जाए।

२५६–२६०. यहाँ तक के विवरण में मुनि ने वासकसज्जा आदि नायिकाओं का वाणी तथा अङ्ग आदि से मिश्रित प्रिय-सम्प्राप्तिपर्यन्त सायान्याभिनय दिखलाया। आगे—'यदि स्यादपराद्धस्तु' इत्यादि से खण्डिता आदि नायिकाओं को दिखलाते है।

२६६–२७४. नायक के अपराध के कारण नायिका के ईर्ष्यागत कारणों को दिखलाते हैं—'वैमनस्यं' इत्यादि से। तथा उन्हीं के क्रमशः लक्षण आगे दिखलाते हैं।

२९५–३००. यहाँ रंगमंच पर निषिद्ध कार्य दिखलाते हुए उसी के कुछ प्रदेश दिखलाये गये हैं जिनका रंगमंच पर प्रदर्शन अनौचित्य के कारण निषिद्ध है।

३०१–३१८. पूर्ववर्णित सामान्याभिनय की स्थिति में कुछ विशिष्ट वाचिक अभिनय को दिखलाने के लिये सम्बोधनों को दिखलाते हैं—'प्रियः कान्तः' इत्यादि से तथा उन्हीं के लक्षण भी।

३२०. अब संक्षेप से पुनः उसी की विधि उपसंहार के साथ दिलाने के लिये कहते हैं—'एष गीतविधाने' इत्यादि से।

३२२. राजा जैसे नायकों के देवांगना से भी अनुराग के सम्बद्ध होने की स्थिति में सामान्याभिनय का निर्देश करते हैं—'नित्यमेव' इत्यादि से।

३२७. नायक की उन्मादग्रस्तता तथा दिव्य नायिका से मिलन का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में है।

पञ्चविंशोऽध्यायः

(वैशिकोपचार अध्याय)

१. सामान्याभिनय का शेष वक्तव्य 'बाह्योपचार' प्रभृति का पिछले अध्याय में उपसंहार करते हुए कहा गया था 'बाह्यमप्युपचारम्' इत्यादि से। अतएव अब इस वैशिक अध्याय में इसी विषय का प्रतिपादन होना अभीष्ट है, यही इसकी अध्याय संगति भी है। 'वैशिक' शब्द की व्युत्पत्ति आदि का स्वयं मुनि ने ही निर्देश कर दिया है।

३. यहाँ आहार्य पद से शास्त्रज्ञता आदि तथा सहज पद से रूपलावण्य आदि समझना चाहिए।

८. चित्राभिधायी—जो व्यक्ति वक्रोक्ति में चतुर हो या बातचीत में कुशल हो।

११. प्रोत्साहने इत्यादि सभी दूतीजन के गुण के रूप में अपेक्षित है। वह नायिका को प्रोत्साहित करती है या नायक उसी के द्वारा प्रोत्साहित—सम्मुख या भेंट योग्य होने की स्थिति प्राप्त करता या करवाता है।

१३. यहाँ 'यथोक्तकथन' के द्वारा सन्देश कथन तथा 'भावप्रदर्शन' पद के द्वारा आशय की टोह लगाना ये दो कार्य दूती के दिखलाये गये हैं।

१४. 'नानादर्शितकारण' के द्वारा प्रोत्साहन कार्य को दिखलाया था अब उन्हीं कारणों को दिखलाने के लिये—'कुलभोग धनाधिक्य' इत्यादि कहते हैं।

१६. यहाँ स्वभावे भावे से सुरत कर्म में जो अतिशय अर्थात् नख, रदन क्षत की सहिष्णुता आदि दिखें तो उनके द्वारा 'अनुरक्ता की स्थिति समझना चाहिए।

१८. व्यापार चेष्टित—हृदयग्रहणार्थ किये जाने वाली कामतन्त्र में बतलायी गयी चेष्टाएँ या कार्य।

३३. इनमें किस की कैसे तुष्टि होती है यह दिखलाते हैं—'लुब्धाम्' इत्यादि के द्वारा।

३५. शिलादर्शन अर्थात् ऐसी आश्चर्यकारी वस्तुएँ दिखलाना जिससे वह चकित और सन्तुष्ट हो सके।

४३. यौवन की चार अवस्था या स्थितियाँ होती हैं। आयु के भेद से जिनमें प्रथम यौवनावस्था-प्रथम बीस वर्ष तक, दूसरी, तीसरी और चौथी क्रमशः तीस, चालीस और पचास वर्ष तक मानी गयी है। अन्य आचार्यों के मत में यह क्रमशः सोलह वर्ष, पच्चीस, पैंतीस तथा पैंतालीस वर्ष तक होती है। यही इनका विभाग भी है।

४६. यहाँ अतिशय क्लेश न रहने से तात्पर्य है कि जो दन्तादिक्षतों को सह न सकती हो।

५१. रतिगुणाढ्या अर्थात् जो रति के गुणातिशय को दिखलाने वाले कामशास्त्र गत अनेक स्थितियों तथा शास्त्रीय रहस्यों की प्रयोग विधि में प्रौढ़ता रखती हो।

५४. उपचारविधि के लिये अब पुरुष के भेद दिखलाते हैं—'चतुरोत्तमौ' इत्यादि से।

६४. गूढ़ार्थहृदयेप्सिताः—गूढ़ अभिप्राय वाले हृदय हो जिनके ऐसी दुर्लभ तथा इष्ट।

६६. विषय—बन्धन युक्त या अनुकूल। इसी को साध्य करने के लिये साम आदि पाँच उपायों को किया जाता है।

६७. उपक्षेप—आत्मीय भाव या अपनी दशा का प्रदर्शन या प्रस्तुत करना।

७१. दुष्टाचार—अपने स्थान से चले जाना या अन्य पुरुष के घर पर रहने लगना जैसे कार्य। इस समय भी निरपेक्ष रह कर मृदु ताड़ना, बन्धन आदि रखे।

७४. वेश्या का चित्त सदा ही दुर्लक्ष या प्रयत्नपूर्वक परीक्षा करने के योग्य होता है यह दिखलाते हुए कहते हैं—अर्थहेतोः इत्यादि से। यह विधि या स्थिति सभी की नहीं होती, इसे 'मुक्त्वा दिव्यनृपस्त्रियः' से दिखलाया गया है।

७८. वैशिकपुरुषाधिकारगत अध्याय का उपसंहार करते हुए उसकी योजना का संकेत करते हैं—'योषिताम्' इत्यादि से। इसकी स्थिति प्रकरण या नाटक में दिव्यस्त्री की कथा रखने पर रखी जाए जो नायक या पताका-नायकादिगत हो।



षड्विंशोऽध्यायः

(चित्राभिनयाध्याय)

१. सामान्य अभिनय का शेष 'चित्राभिनय' है, यह कहा गया। सामान्याभिनयाध्याय में केवल रसात्मक पदार्थ विशेष को अभिनय में समानीकृत करने का विवरण दिया गया था। अब यहाँ विशेष उपयोगों के साथ दिखलाया जा रहा है कि यहाँ विभावादि को भी यह उपयोगी हो जाए। और भी एक बात है कि जो अभिनय पूर्व में दिखलाये गये वे ही अन्य कार्य के प्राप्त होने पर विपरीत अर्थ को भी अभिनीत कर सकते हैं,यह चित्राभिनय ही दिखलाता है। अतः इसी विशेषता को निरूपण करना अध्याय संगति है। इसी को 'अङ्गाद्यभिनयस्येह' इत्यादि से दिखलाया है।

२-४. **नानादृष्टि**—अर्थात् कभी विस्मिता या विहीना आदि दृष्टि को रखना चाहिए। **स्वस्थ**—अर्थात् जो आकाश स्थित पदार्थ हों उन्हें जैसे चन्द्र, सूर्य आदि नक्षत्रों को।

१०. **मुखविकुण्ठन**—मुँह को झुकाना या संकुचित करना।

१६. **उद्वेष्टितपरावृत्तौ**—अर्थात् इसमें पूर्व में मुष्टि-कर और बाद में पराङ्मुख स्थिति में अराल-कर को रखा जाता है। यही यहाँ उद्वेष्टित तथा परावृत्तता है।

१८. पद्मकोष—हस्त का शेष अभिनय यहाँ दिखलाया गया जो कि पूर्व में अनुक्त था। यही इसका चित्रत्व है।

१९. यहाँ प्रतोदग्रहण का विशेष विवरण खटकामुख के साथ स्वस्तिक हस्त की योजना के लिये है।

२०-२१. सभी के व्यवहार में उपयोगी रहने वाली संख्या के अभिनय में पूर्वकथित हस्तमुद्राओं के विवरण में अनुक्त तथ्यों को दिखलाते हैं—'एकं द्वित्रीणि' इत्यादि से।

२२. दश पर्यन्त गणना से अधिक यदि दिखलाना हो तो उसे बहुत्व दिखलाने मात्र से संक्षेप में दिखलाया जावे। यहाँ वाक्यार्थ का आशय है संक्षेप में दिखलाना क्योंकि यहाँ पदार्थ या वस्तु का संक्षेप (संख्या से) दिखलाया जाता है। यह परोक्षाभिनय में किया जाता है परन्तु प्रत्यक्षा-

भिनय की स्थिति में एक-एक को भी निर्देश या गणना के द्वारा दिखलाया जा सकता है ?

२३. किसी आयत दण्ड का ग्रहण 'खटकामुख' का सामान्यकर्म पूर्व में (९।६२) दिखलाया था उसी का विशेष कर्म यहाँ बतलाते है। यहाँ 'च' शब्द के द्वारा पूर्व सूचित या अन्य अभिनय को भी लिया जा सकता है यह दिखलाया है।

३९. भावों का विभावों से अभिनय करने की स्थिति में जैसे परस्पर क्रोध का अभिनय सूचीमुख की अंगुली को दिखला कर, इसी प्रकार स्नेह भाव का 'हंसपक्ष' के द्वारा विभावों से (भाव का) अभिनय होता है।

४०-४१. विभाव के कार्य्य को अनुभावों के द्वारा ही दिखलाया जाता है यह बात इसके 'करणत्व' की भी सूचना देती है। क्योंकि ऐसा माना जाता है कि भावसिद्धि से प्रवर्तित अनुभावों का अभिनय होता है। शृंगग्राहिकविधि से यहाँ भाव तथा विभाव को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् जो सुख दुःख की संवित् आत्मविश्रान्त होकर अनुभव की जाए तो वही 'भाव' है अथवा जो अस्तित्वमय सा लगते हुए अनुभव हों वह सुखादि 'भाव' होता है।

यहाँ यह आशङ्का होती है कि जो भी अतिरिक्त वस्तु का ज्ञान तथा सुखादि देता हो तो यही विभाव मान लिया जाए इसको बतलाने के लिये कहते हैं—परदर्शन आदि। इसी को उदाहरण के द्वारा दिखलाते हैं—'गुरुमित्र' इत्यादि से। गुरु के दर्शन होने पर सर्वप्रथम उत्साह होता है तथा इसी प्रकार मित्रादि के दर्शन होने पर हर्ष आदि होते हैं वे भी इसी प्रकार विभावादि हैं।

४३. केवल प्रत्यक्ष दृश्य अनुभव ही चित्तवृत्ति की सूचना या ज्ञान नहीं करवाता किन्तु अन्य शब्दादि प्रमाण से भी अविदित की सूचना हो सकती है इसे दिखलाने के लिये कहते हैं—'यस्त्वपि' इत्यादि से। यही अनुमान का भी उपलक्षण है। कभी कभी आँसुओं के चलने से भी शोकादि का ज्ञान हो जाता है।

४४-४५. इसी बात को उपसंहार करते हुए 'एवम्' इत्यादि से बतलाया है। इस अभिनय को पुरुष या स्त्री के द्वारा सम्पन्न किया जाता है, इसको भी यहाँ मुनि ने दिखलाया है।

४६–४७. पुरुष तथा स्त्रीपात्रों के द्वारा भावादि का अभिनय बतलाने के बाद उनमें रहने वाले स्वाभाविक स्थान आदि को दिखलाने के लिये कहते हैं—'स्वभावाभिनय' इत्यादि से तथा गति का भी इसी प्रकार विधान दिखलाया है। शेषाणि पद से अन्य स्थान भी यहा रखे जा सकते हैं जो ना० शा० में बतलाये जा चुके हैं।

५१. पूर्व में सामान्याभिनय को शृङ्गाररस के द्वारा दिखलाने के बाद अब संचारी भाव से दिखलाने के लिये कहते हैं—'आलिंगनेन' इत्यादि से।

६६–७०. 'अङ्गहारै' इत्यादि। चतुर्थ अध्याय में निर्दशित अंगहारों तथा गतिप्रचार के द्वारा तथा इसी के अनुरूप शिरग्रीवादि कर्मों के द्वारा दानवादि को दिखलाना चाहिए।

८१. यहाँ 'अङ्गाद्यै' में आदि ग्रहण से दृष्टि आदि अंगादि अभिनय तथा तदुचित सात्विकादि को समझना चाहिए।

८४. वाचिक अभिनय के प्रसंगवश चित्राभिनय को दिखलाने के लिये उनको बतलाते हैं—'आकाशवचनानीह' इत्यादि से।

८५. यहाँ 'अशरीर निवेदन' से रंग में अप्रविष्ट या दूरस्थ पात्र का संकेत किया गया है।

६६. हस्त चेष्टाओं द्वारा अभिनय नहीं करने का आशय है कि ऐसे प्रदेशों में 'हस्ताभिनय' निषिद्ध होता है।

१०४. आकाशभाषितादि के बाद मरण के प्रसंग में रहने वाले वाचिक अभिनय को चित्राभिनय के रूप में प्रस्तुत करने का विवरण देते हैं—'नानाभावोपगतम्' इत्यादि से।

१२०. नाट्य में त्रिविध प्रमाण मान्य हैं, इसे दिखलाने के लिये कहा है—'लोको वेद' इत्यादि से। नाट्य में त्रिविध प्रमाण हैं—लोक, वेद तथा अध्यात्म।

१२१. 'लोकप्रमाण' की शक्तिमत्ता को दिखलाने के लिये कहते हैं—लोकसिद्धम्' इत्यादि से। यह लोक को प्रमुख रूप से प्रमाणित करने के उद्देश्य से कहा गया है। क्योंकि लोक-प्रसिद्धि को दबाने की सामर्थ्य किसी में भी अधिक नहीं रहती है।



सप्तविंशोऽध्यायः

(नाट्य सिद्धि-निरूपण)

१. चित्राध्याय के अन्त में जिस 'सिद्धि' का उल्लेख किया गया उसका निरूपण करते हैं—'सिद्धिनाम्' इत्यादि से। सिद्धि की द्विविधता रहने पर भी उसके अवान्तर भेदों के कारण अनेक रूपता हो जाने की दशा को बहुवचन के द्वारा बतलाया गया। सिद्धि का स्वरूप है—'जो कि असाध्य प्रयोजन की प्राप्ति करवावे'। यह प्राप्ति नटों को और सामाजिक दोनों को यद्यपि होती है पर इसको नटाश्रित ही मुनि ने अधिकांशतः दिखलाई, सामाजिकगत नहीं।

१७. भूकम्प, वात, वर्षा आदि विघ्नों की अदृष्ट प्रेरित प्राप्ति होने से यहाँ पुरुष के कार्यों की अव्याघातकता आ जाती है—इसी कारण 'न शब्दों य' इत्यादि से दिखलाते हैं।

१८–२१. प्रयोग में उपस्थित घातादि विघ्नों को दिखलाते हैं—'घातान् दैवसमुत्थितान्' इत्यादि से।

३६. 'जर्जरमोक्षस्यान्त' इत्यादि से 'पूर्वरंग प्रयोग' का भी परीक्षण करना चाहिए, नाट्यप्रयोग की तरह ही यह भी सूचित होता है।

४६–५२. अब प्राश्निकों (असेसर्स) का स्वरूप दिखलाते हैं—'चारित्राभिजनोपेताः' इत्यादि से। 'प्रश्ने भवाः प्राश्निका' इस व्युत्पत्ति से जो अभिनय चतुष्टय तथा गीत एवं आतोद्य आदि के प्रयोगगत रूप को पूछ कर उसके औचित्यादि का निर्णय लेते हों वे प्राश्निक हैं। इनका स्वरूप तथा महत्वपूर्ण स्थिति दोनों का यहाँ संकेत है।

८८–९४. तत् तत् रस प्रधान नाट्य-प्रयोग को किन समयों पर करना उचित है, इसकी विधि को यहाँ दिखलाया है।

१०१. 'यदा समुदिताः' इत्यादि से सामान्याभिनयत्व की स्थिति का संकेत है, जिसे पूर्व में दिखलाया भी है। नाट्योत्पत्ति तथा पूर्वरंग तक की पाँच अध्यायों की विवेचना (१–५ अध्याय तक) में सामान्याभिनय की भी गूढ़ रूप में प्रयोगगत स्थिति समझना चाहिए, यह समुचितभाव और नाट्य-प्रयोग की अधिक शोभा बढ़ाता है।

इस प्रकार श्री आचार्य बाबूलाल शुक्ल शास्त्री प्रणीत नाट्यशास्त्र प्रदीप हिन्दी व्याख्या के तृतीय भाग की अतिरिक्त टिप्पणियाँ सम्पूर्ण।

परिशिष्ट

पद्यार्धानुक्रमणिका

ओ-औ

क

ख

ग

घ

च

आधार एवं सन्दर्भ ग्रन्थसूची

(आकर ग्रन्थ)

अभिनयदर्पण । नन्दिकेश्वर । म० मो० घोष । कलकत्ता ।

अभिनवभारती-(नाट्यशास्त्र व्याख्या) गा० ओ० सि० बड़ौदा ।

अर्थशास्त्र । कौटिल्य । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्यादर्श । दण्डी । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्यालङ्कारसूत्र । वामन । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्यालङ्कारसूत्र । भामह । चौखम्बा, वाराणसी ।

काव्यालङ्कारसूत्र । उद्भट । बड़ौदा तथा बम्बई ।

काव्यप्रकाश । मम्मट । वामनाचार्य झलकीकर । पूना ।

काव्येन्दु प्रकाश । कामराज दीक्षित । चौखम्बा, वाराणसी ।

दशरूपक । धनिक तथा धनञ्जय । निर्णयसागर, बम्बई ।

नाटकचन्द्रिका । श्री रूपगोस्वामी । चौखम्बा, वाराणसी ।

नाटकलक्षणरत्नकोश । सागरनन्दी । चौखम्बा, वाराणसी ।

नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । जे-ग्रासे संस्करण-पेरिस ।

नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । काव्यमाला संस्करण, बम्बई ।

नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । काशी संस्करण-चौखम्बा, वाराणसी ।

नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । अभिनवगुप्त व्याख्या सहित । बड़ौदा ।

नाट्यशास्त्र । भरतमुनि । अंग्रेजी अनुवाद सहित । म० मो० घोष । कलकत्ता ।

नाट्यसर्वस्वदीपिका । हस्त० प्रति । पूना ।

नाट्यशास्त्रसंग्रह । मद्रास । भाग १ तथा २ ।

नारदीय शिक्षा । मैसूर ।

नृत्तरत्नकोश । कुम्भ नृपति । भाग–१-२ । राजस्थान पुरातत्व ग्रन्थमाला ।

नृत्तरत्नावलि । जाय सेनापति ।

पाणिनीय शिक्षा । चौखम्बा, वाराणसी ।

भरतकोष । रामकृष्ण कवि । पूना ।

भरतार्णव । नन्दिकेश्वर । मद्रास ।

भरतभाष्य । नान्यदेवभूपति । भाग १ तथा २ । खैरागढ़ संगीत विश्व वि० ।

भावप्रकाशन । शारदातनय । बडौदा ।

मानसार शिल्पशास्त्र । डॉ० पी० के० आचार्य ।

रस-कौमुदी । श्रीकण्ठ कवि । बडौदा ।

रसार्णवसुधाकरः । सिंहभूपाल । त्रिवेन्द्रम् ।

राजतरङ्गिणी । कल्हण, जोनराज तथा श्रीवर ।

श्रृङ्गारप्रकाश । भोजनृपति । ज्योश्यार सम्पा० भाग १-४ ।

सरस्वतीकण्ठाभरण । भोज । कलकत्ता, बम्बई तथा चौखम्बा, वाराणसी संस्करण ।

साहित्यदर्पण । विश्वनाथ कविराज । चौखम्बा, वाराणसी ।

सङ्गीतमकरन्द । नारद । बडौदा ।

सङ्गीतरत्नाकर । शार्ङ्गदेव । अड्यार मद्रास, खण्ड १-४ ।

अंग्रेजी ग्रन्थ

(समालोचनात्मक)

1 Ancient Indian Theatre. D. R. Mankad

2 Bharata's Nāṭya and Costume. Dr. G. S. Ghurye

3 Bibliography of Sanskrit Drama. Schuler

4 Classical Sanskrit Literature. A. B. Keith

5 Classical Indian Dance in Literature and Arts. Dr. Kapila Vatsyayana

6 Comparative Aesthetics. Vol. I. (Indian), Dr. K. C. Pandeya

7 Contribution to the History of the Hindu Drama. Dr. M. M. Ghosh

8 Dictionary of Hindu Architecture. P. K. Acharya

9 Drama in Sanskrit Literature. R. V. Jahagirdar

10 History of Indian Literature. I-III, A. M. Winternitz

11 History of Classical Sanskrit Literature. Krishnamachariar

12 History of Sanskrit Classical Literature. Dr. S. K. De and S. N. Dasgupta

13 History of Sanskrit Literature. A. B. Keith

14 History of Sanskrit Poetics. Dr. S. K. De

15 History of Sanskrit Poetics. Dr. P. V. Kane
16 Indian Theatre. C. B. Gupta
17 Laws and Practice of Sanskrit Drama. Late Dr. S. N. Shastri
18 Number of Rasas. Dr. V. Raghavan
19 Select Specimen of the Hindu Theatre. (I-II vols.) H. H. Wilson
20 The Types of Sanskrit Drama. D. R. Mankad
21 Tandava Lakshanam. V. V. Narayan Swami Naidu
22 Abhinava Gupta. (A Historical & Philosophical Study) Dr. K. C. Pandey
23 Sanskrit Drama : Its Origin and Decline. Dr. Indushekhar



शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२१	वही प्रश्नलित हो गया	वही प्रचलित हो गया
४	१८	अतिरिक्त प्रयोंगयोग्यता	अतिरिक्त प्रयोगयोग्यता
५	९	सभी वृत्तियाँ के द्वारा	सभी वृत्तियों के द्वारा
६	३	जिसमें कथावस्त का	जिसमें कथावस्तु का
६	१४	पताका या प्रकारी नायक	पताका या प्रकरी नायक
९	११	प्रत्यक्षजानि स्युः ॥ २० ॥	प्रत्यक्षजा न स्युः ॥ २० ॥
१०	२२	आधार मानकार श्री	आधार मानकर श्री
१३	३०	न भेवेदङ्के-क०, ग० ।	न भवेदङ्के-क०, ग० ।
१५	२७	ना० शा० अध्याय १२ में गतिप्रचाराध्याय में	ना० शा० अध्याय १३ में (गतिप्रचाराध्याय में)
१६	२३	पर्याप्त ऊहापोह कहते हुए	पर्याप्त ऊहापोह करते हुए
१७	२४	का पुनर्मिलन अदुभुत रस की योजना	का पुनर्मिलन अद्भुतरस की योजना
१९	२५	२. सम्बोगः—ख० ।	२. सम्भोगः—ख० ।
२१	२१	कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त	कुछ विद्वान् प्रक्षिप्त
२७	१८	उष्णिक् आदि संश्रिलष्ट या लम्बे	उष्णिक् आदि से भिन्न संश्लिष्ट या लम्बे
२८	११	यत्र तु वधोप्सितानां	यत्र तु वधेप्सितानां
३५	२३	अन्तर्गत 'धूर्तसमागन' तथा	अन्तर्गत 'धूर्तसमागम' तथा
३९	२१	स्तवस्पन्दितं भवेत् ॥ १२० ॥	स्तद्वस्पन्दितं भवेत् ॥ १२० ॥
४३	२६	विषय के अनुरोध इसे यहीं	विषय के अनुरोध से इसे यहीं
४५	१७	अनिष्ठुरस्वल्पदं	अनिष्ठुर-स्वल्पपदं
४७	११	भाविति	भावित
४९	१३	कार्यं हि फलप्राप्त्याः	कार्यं हि फलप्राप्त्या
५०	१८	नाटक प्रकरणोद्धताः	नाटकप्रकरणोद्धृताः

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२	२५	यह अवस्था दो विरोधियों का	से यह अवस्था दो विरोधियों का
६३	१	बीज का जो कभी लक्ष्य	बीज का—जो कभी लक्ष्य,
६३	१२	प्रदर्शित किय गया	प्रदर्शित किया गया
६३	१९	बीज की अङ्कुरित	बीज की अङ्कुरित
७७	२	गर्भं चापि निबोधत	गर्भे चापि निबोधत
८९	२३	संभवतः शरीर के	संभवतः यहाँ शरीर के
९४	१५	अन्गंत ही कहलाता है,	अन्तर्गत ही आता है
९७	१५	विचित्ररङ्गहारैस्तु	विचित्रैरङ्गहारैस्तु
१००	२६	में दी ही जा चुका है।	में दी ही जा चुकी है।
१११	१८	आरभी का एक अतिरिक्त लक्षण भी	आरभटी का एक अतिरिक्त लक्षण भी
११२	१०	सवरसंसमासक्तं	सर्वरससमासक्तं
११५	१७	प्रतिभासित होता रहता है।	प्रतिभासित करवाता रहता है।
१२२	२१	नागगन्थिभिरुपनिबद्धो मध्ये कणिकास्थानम्	नागग्रन्थिभिरुपनिबद्धो मध्ये फणिकास्थानम्
१२६	२१	स्तेच्छ्रितिका और खर्जूर	सोच्छ्रितिका और खर्जूर
१२७	२१	कौन्तुकहस्तसूत्रम् कलाई पर बाँधा जाने वाला भूषण या रक्षासूत्र	कौतुकहस्तसूत्रम्-कलाई पर बाँधा जाने वाला भूषण या रक्षासूत्र है
१५३	१३	जटामुकुटबद्ध तु	जटामुकुटबद्धं तु
१५५	५	अतस्तैभूषणैश्चित्रैर्माल्यैरथाति च।	अतस्तैर्भूषणैश्चित्रैर्वस्त्रैर्माल्यै-रथापि च।
१५६	२	उरगानपदाद् विद्याद्	उरगानपदान् विद्यात्
१५६	२२	ताल=वाहर अंगुल की दूरी	ताल=बारह अंगुल की दूरी
१६१	१५	न बहुत वतली तथा न बहुत	न बहुत पतली तथा न बहुत
१६४	८	जो भी पर्दार्थ हो उनकी 'प्रतिकृति' का इस (हमारे) नाट्यप्रदर्शनों में	जो भी पदार्थ हों उनकी 'प्रतिकृति' का इन नाट्यप्रदर्शनों में
१६६	१७	लाँक्षियाभ्रदलेन च।	लाँक्षयाऽभ्रदलेन च।
१६७	२	लक्षया वापि कारयेत् ॥ १९९ ॥	लाक्षया वापि कारयेत् ॥ १९९ ॥
१६७	२८	१०. तामपत्रो—क (म०)।	१०. ताम्रपत्रो—क (म०)।

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६९	७	का उन पर प्रलस्तर आदि चढ़ाया जाए ॥ २०६–२०८ ॥	का उन पर पलस्तर आदि चढ़ाया जाए ॥ २०६–२०८ ॥
१७०	१०	अब मैं सामान्याभिनय प्रदर्शन को	अब मैं अगले अध्याय में सामान्याभिनय प्रदर्शन को
१७५	९	हावः स्थितसमुत्थित ॥ १० ॥	हावः स्थितसमुत्थितः ॥ १० ॥
१७५	१७	चेष्टाओं का अभिव्यंजक ही उसे	चेष्टाओं का अभिव्यंजक हो उसे
१७६	७	(३) विच्छति, (६) मोहायित, (७) कुछमित, (१०) विहक्त,	(३) विच्छित्ति, (६) मोट्टायित, (७) कुट्टमित, (१०) विहृत
१७६	१६	उदा० हाव भाव । पर तथा हेला	उदा० हाव भाव पर तथा हेला
१८५	२१	समानीकृत इसके छः विभेद	समानीकृत हैं जिसके छः विभेद
१८५	२२	१. तुलना-मालविकाग्निन में कालिदास द्वारा प्रमुख	१. तुलना-मालविकाग्निमित्र में कालिदास द्वारा प्रयुक्त
१९१	८	सप्त एव तु ॥ ५८ ॥	सप्त एव तु ॥ ५९ ॥
१९८	२२	पञ्चानाभिन्द्रियार्थानां	पञ्चानामिन्द्रियार्थानां
१९९	३	(भावों की अनुमति में)	(भावों की अनुभूति में)
२०३	१३	स्निग्धैङ्गैरुपाङ्गैश्च	स्निग्धैरङ्गैरुपाङ्गैश्च
२०६	१४	चपला बहुवाक्छीग्रा	चपला बहुवाक्शीला
२२४	१७	त (ज्ञ) तस्ततश्च भ्रमति	त (र) तस्ततश्च भ्रमति
२३५	२१	अवगुण्ठनशंवीता	अवगुण्ठनसंवीता
२४४	६	विश्रतम्भस्नेहरागेषु	विस्तम्भस्नेहरागेषु
२५०	२०	एतद्धीतविधानेन	एतद्गीतविधानेन
२५३	११	(सम्बोधन शब्दों के)	(सम्बोधित शब्दों के)
२६१	७	त्र्यस्त्रिंशत् समासतः ॥ ३ ॥	त्रयस्त्रिंशत् समासतः ॥ ३ ॥
२६४	२	नार्थवन्तन्त चातुरम् ।	नार्थवन्तं न चातुरम् ।
२६७	५	अनिष्टाच्च कथां	अनिष्टाश्च कथां
२६८	१५	''रागीत्यन्यमुखेनाभिधानं भावापचेः ।'	रागीत्यन्यमुखेनाभिधानं भावोपक्षेपः ।'
२६८	१९	(पाठान्तर से अर्थो)	पाठान्तर से अर्थ
२६९	२	कारणैस्तु विरज्येत ॥ ३१ ॥	कारणैस्तु विरज्यते ॥ ३१ ॥
६९२	१७	पुरुद्वेषिणीमिष्टैः	पुरुषद्वेषिणीमिष्टैः

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७०	१२	उत्तमामभ्या नीचा	उत्तमा मध्यमा नीचा
२७१	७	अनेक पुरुषों द्वारा चाही चाए,	अनेक पुरुषों द्वारा चाही जाए,
२७१	१८	अपने शत्रदों से द्वेष रखती हो, ...ईर्ष्या से अभिमूल हो जाती हो,	अपने शत्रुओं से द्वेष रखती हो, ...ईर्ष्या से अभिभूत हो जाती हो,
२७२	३	चपला पुरुषा चैव	चपला परुषा चैव
२७३	५	चञ्चल कठोर वृत्ति वाली हो	चञ्चल तथा कठोर वृत्तिवाली हो
२७६	२	समदुःश्वक्लेशसहः	समदुःखक्लेशसहः
२७८	९	नानाशीलाः ज्ञेया	नानाशीलाः स्त्रियो ज्ञेया
२७८	१०	मुपसर्त्तेत्तथैव ताः ॥ ६४ ॥	मुपसर्पेत्तथैव ताः ॥ ६४ ॥
२७९	२	(३) भेद तथा (४) दण्ड ॥ ६६ ॥	(३) भेद (४) दण्ड तथा (५) उपेक्षा ॥ ६६ ॥
२८५	१४	आचार्य अभिनगुप्त ने	आचार्य अभिनवगुप्त ने
२८६	२२	और मह को झुकाकर रखते हुए	और मुँह को झुकाकर रखते हुए
२८७	१७	अलपङ्मकपीडायाः	अलपल्लवपीडायाः
२८८	१५	जिह्महष्टेन कारयेत् ॥ १६ ॥	जिह्मदृष्टेन कारयेत् ॥ १६ ॥
२९१	१०	शिरहस्थाने समुद्वाह्य	शिरःस्थाने समुद्वाह्य
२९५	९	विभावैः परदर्शनम् ॥ ४० ॥	विभावः परदर्शनम् ॥ ४० ॥
२९७	१८	करपादाङ्गसञ्चारास्त्रीणां तु ललिताः	करपादाङ्गसञ्चाराः स्त्रीणां तु ललिताः
३००	२	भूमिपाताभिवातैस्त्र	भूमिपाताभिघातैश्च
३०१	१९	वापि भावोः ह्यभिनयम्प्रति ॥६४॥	वापि भावो ह्यभिनयं प्रति ॥ ६४ ॥
३०८	२०	परन्तु जो वृत्ति एक के लिये प्रकाश्य और	परन्तु जो वृत्त एक के लिये प्रकाश्य और
३१२	४	वृद्धमात्र के संवाद—	वृद्धपात्र के संवाद—
३१३	१७	विलज्ञिका स्थाच्चतुर्थे	विलक्षिका स्याच्चतुर्थे तु ॥ १०७ ॥

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२५		पङ्क्ति दो के बाद जोड़िये—	

जब अभिनेताओं के द्वारा अपने कर्तव्यों को अपना (ही) धर्म बतलाते हुए शब्दों से तथा अतिशय दक्षता से प्रस्तुत किया जाता है तो प्रेक्षक 'साधु' शब्द का उच्चारण करते हैं ॥ ९ ॥

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२८	१३	······प्रवक्ष्यामि ॥ ३३ ॥	प्रवक्ष्यासि ॥ २३ ॥
३३०	११	पुनरुक्तो ह्यसमासो तिभक्तिभेदो	पुनरुक्ति ह्यसमासो विभक्तिभेदो
३३९	२२	प्रेक्षक सदा मानसिक दृष्टि के निष्क्रिय नहीं होते हैं,	प्रेक्षक सदा मानसिक दृष्टि से निष्क्रिय नहीं होते हैं,
३४८	१०	नाट्यज्ञैविविधाश्रराः।	नाट्यज्ञैर्विविधाश्रयाः।

—○○✿○○—



हमारे कतिपय प्रमुख प्रकाशन